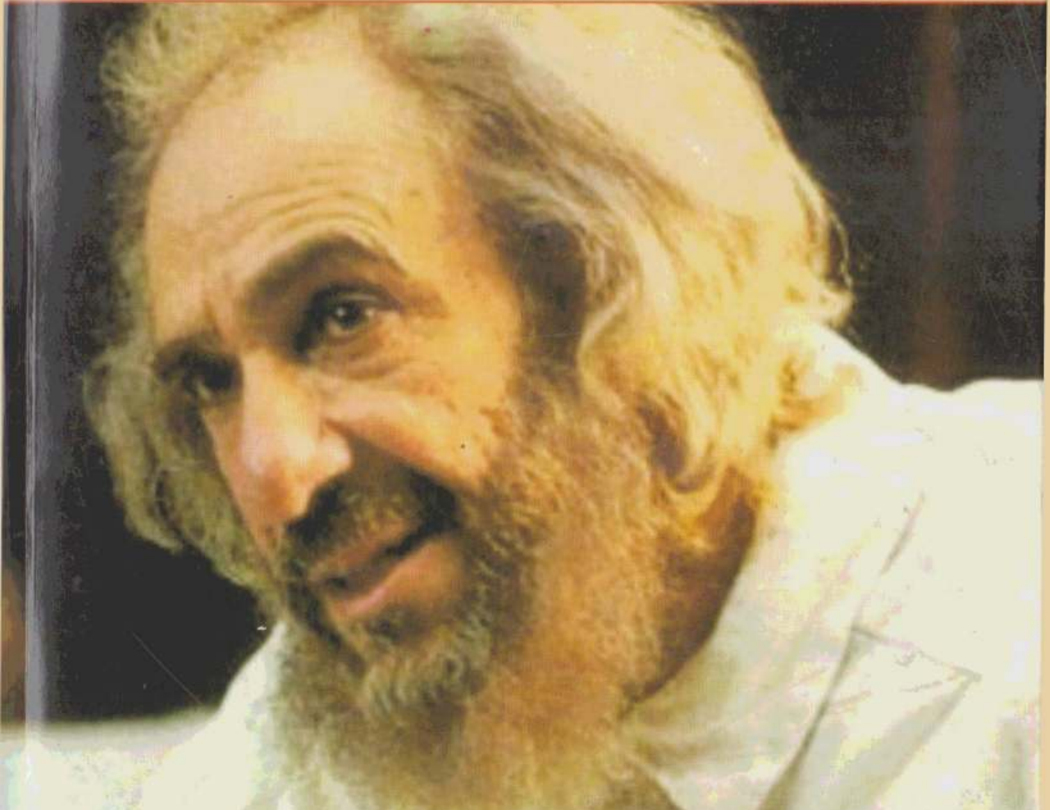
लियो टॉल्सटॉय

प्रतिनिधि रचनाएँ

भाग-1



सामाजिक कुरीतियाँ
जीवन साधना

धर्म और सदाचार
स्त्री और पुरुष

लियो टॉल्सटॉय : प्रतिनिधि रचनाएँ

(भाग - 1)

संपादक

कृष्णदत्त पालीवाल

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

ISBN 978-81-7309-432-3 (PB)

•

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

एन-77, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001

Publisher

Sasta Sahitya Mandal Prakashan

N-77, First Floor, Connaught Circus, New Delhi-110 001

फोन / Phone : 23310505, 41523565

Visit us at : www.sastasahityamandal.org

E-mail : sastasahityamandal@gmail.com

शाखा : कमला सदन, पटना साइंस कॉलेज के सामने,

अशोक राजपथ, पटना-800 006 (बिहार)

फोन : 0612-2678025

•

संस्करण : 2018

मूल्य : 220/-

•

आवरण सज्जा : अंतिका आर्ट्स

मुद्रक : आर.के. ऑफसेट प्रोसेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

LEO TOLSTOY : PRATINDHI RACHANAYEN *PART-1* (ESSAYS)

Edited by Krishna Dutt Paliwal

Price : Rs. 220/-

प्रकाशकीय

विंश्वप्रसिद्ध चिंतक टॉल्सटॉय के साहित्य से हिंदी के पाठक भलीभाँति परिचित हैं। 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित उनके साहित्य का हिंदी अनुवाद अपार लोकप्रियता हासिल कर चुका है। वस्तुतः टॉल्सटॉय के साहित्य की उपादेयता देश-काल तक सीमित नहीं है, वह सब काल और सबके लिए समान रूप से उपयोगी है।

टॉल्सटॉय की प्रतिनिधि रचनाओं को तीन भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। पहले भाग में उनकी पुस्तकें—*धर्म और सदाचार, जीवन-साधना, सामाजिक कुरीतियाँ* तथा *स्त्री और पुरुष*, दूसरे भाग में—*हम करें क्या, बुराई कैसे मिटे, हमारे जमाने की गुलामी* और *मेरी मुक्ति की कहानी* तथा तीसरे भाग में—*ईसा की सिखावन, कितनी जमीन, प्रेम में भगवान, बालकों का विवेक, कलवार की करतूत* और *अँधेरे में उजाला* संकलित की गई हैं।

इन रचनाओं के माध्यम से जो लेखक के उदात्त विचार सामने आते हैं वे आज भी हर व्यक्ति के लिए प्रेरक और ग्राह्य हैं। आशा है डॉ. पालीवाल के संपादन में ये पुस्तकें पाठकों के लिए संग्रहणीय सिद्ध होंगी।

—मंत्री

अहिंसा के प्रवर्तक टॉल्सटॉय

साहित्य मर्मज्ञ तो हर देश और काल में मिल जाएँगे लेकिन जीवन के मूल स्रोतों तक जाकर रचना-कर्म करनेवाले, अतीत और वर्तमान को एक समग्र परिप्रेक्ष्य में देख और दिखा सकनेवाले रचना-मनीषी इक्के-दुक्के ही होते हैं। लियो टॉल्सटॉय ऐसे ही विरल मनीषियों में थे जिनके बारे में तुर्गनेव ने कहा था—"मैं उनकी तुलना में क्या कहूँ? समकालीन यूरोपीय साहित्य में उनका कोई जोड़ नहीं है। उनकी कलम में यह जादू है कि वह जो कुछ लिखते हैं, वह जैसे जी उठता है। और उनकी रचना शक्ति का क्षेत्र कितना विराट् है! उसे देखकर आश्चर्य होता है।" यह एक रचनाकार के द्वारा अपने क्षेत्र के अग्रगामी दूसरे रचनाकार के प्रति अर्पित श्रद्धांजलि भर नहीं है: बल्कि एक ऐसा तथ्य है जिसे हम सबको आज के दिशाहीन मूल्यमूढ़ समय में स्वीकार करना पड़ता है। लियो टॉल्सटॉय के व्यक्तित्व और कृतित्व के इस प्रेरणादायी अर्थ को नए सिरे से आज जानना और पहचानना जरूरी है। काल उन्हें पुराना-निरर्थक नहीं बना सका है—इसका अर्थ है कि वे विश्व के कालजयी रचनाकार और चिंतक हैं। हमारे राष्ट्रपिता गांधी ने टॉल्सटॉय का पूरे अध्ययन-मनन से प्रभाव ग्रहण ही नहीं किया है—बल्कि वे टॉल्सटॉय को अपना प्रेरणा गुरु मानते हैं।

हमारे देश के रचनाकारों, आलोचकों और पाठकों पर जितनी अमिट छाप टॉल्सटॉय के रचना-कर्म और चिंतन की है उतनी शायद ही किसी विदेशी रचनाकार की हो। टॉल्सटॉय के प्रति कृतज्ञ इस देश ने उन्हें 'ऋषि', 'मनीषी', 'प्रेरणा-गुरु', 'जागरण के देवदूत' की संज्ञा से याद किया है। इतना ही नहीं, भारतीय सर्जनात्मकता के अवचेतन में टॉल्सटॉय के सृजन चिंतन का निवास बना ही इसलिए है कि उनकी कृतियों का भारतीय भाषाओं में निरंतर अनुवाद हुआ है। महात्मा गांधी तो उनसे इतने अभिभूत थे कि उन्होंने टॉल्सटॉय की दो कहानियों का स्वयं अनुवाद या रूपांतर किया है—वे दो कहानियाँ हैं—'मनुष्य को कितनी जमीन चाहिए' तथा 'मूर्ख इवान'। हिंदी के विश्वप्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद की तो टॉल्सटॉय में इतनी गहन आस्था थी कि उन्होंने उनकी तेईस कहानियों का अनुवाद किया है। प्रसिद्ध कथाकार और चिंतक जैनेंद्र कुमार के मन में टॉल्सटॉय और गांधी दोनों के प्रति आकर्षण है और जैनेंद्र कुमार ने टॉल्सटॉय की कहानी 'कितनी जमीन' का अद्भुत

सर्जनात्मक अनुवाद किया है। टॉल्सटॉय के उपन्यास 'वार एंड पीस' तथा 'अन्ना कैरेनिना' के तो न जाने कितने अनुवाद हिंदी में मौजूद हैं।

लेव निकोलायविच टॉल्सटॉय का जन्म रूस के यास्नाया पोल्याना में 9 सितंबर, 1828 में एक संपन्न रईस परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम इलियच टॉल्सटॉय और माता का नाम मारिया निकोलायब्ना था। टॉल्सटॉय के पूर्वज पहले जर्मनी में रहते थे और पीटर द ग्रेट के शासनकाल में रूस आए। इस यशस्वी वंश के अधिकांश लोगों ने राज-कार्य की दक्षता से अपना सिक्का जमाया। दुर्भाग्य यह रहा कि जब टॉल्सटॉय की माता का देहांत हुआ उनकी उम्र तीन वर्ष की थी। टॉल्सटॉय ने अपने 'मेरे संस्मरण' में लिखा है कि "मेरी दादी पेटागेया निकोलेब्ना टॉल्सटॉय उस अंधे राजकुमार निकालस इवोनेविच गोर्शकोव की लड़की थी जिन्होंने अपार संपत्ति जोड़ रखी थी। दादी के संबंध में मुझे जितना याद है उससे मैं कह सकता हूँ कि उनमें थोड़ी बुद्धि थी और उनकी शिक्षा भी थोड़ी ही हुई थी। अपने वर्ग की अन्य महिलाओं की तरह वह भी रूसी भाषा की अपेक्षा फ्रेंच अच्छी तरह जानती थीं।" लेकिन उनके पति और पिता ने उन्हें बिगाड़ दिया था। दादा मामूली बुद्धि के मामूली हँसमुख आदमी थे, लेकिन मुक्तहस्त से दान देने और कर्ज देने के कारण उन्होंने जागीर पर कर्जा चढ़ा दिया था। गरीबी से तंग आकर दादा ने अंत में कजान की गर्वनरी स्वीकार कर ली और उच्च पदाधिकारियों के संपर्क में रहे। दादी को कहानी सुनने का शौक था और एक अंधा व्यक्ति दास बनाकर खरीदा इसलिए गया कि वह रोज कहानियाँ सुनाए। टॉल्सटॉय को माँ की याद नहीं है लेकिन पता है कि "वह अच्छी-पढ़ी लिखी थी। रूसी भाषा के साथ (जिसे वह उस समय की प्रथा के विरुद्ध भी शुद्ध लिख सकती थीं) फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी और इटालियन चार भाषाएँ जानती थीं और ललितकलाओं के लिए भी उसके हृदय में अवश्य प्रेम रहा होगा। वह पियानो बहुत अच्छी तरह बजाती थीं और उन्हीं की समान अवस्था वाली स्त्रियों ने मुझे बताया है कि वह बड़ी रोचक कहानियाँ सुनाया करती थीं। वह कहानियाँ गढ़ती जाती थीं और सुनाती जाती थीं।" उसके पास सर्जनात्मक प्रतिभा का जादू था और वे नैतिक मूल्यों को बहुत महत्त्व देती थीं।

माता की मृत्यु के कुछ समय बाद ही पिता भी चल बसे। अनाथ बालक टॉल्सटॉय का मन पढ़ने में न लगता था लेकिन वे यशस्वी बनने का अरमान लेकर संसार में आए थे। बचपन की उनके पास धुँधली स्मृतियाँ हैं। पिता की स्मृति उन्हें है कि अपने बचपन में ही वह अपने पिताजी के इकलौते लड़के रह गए थे। उनके छोटे भाई एलेंका रीढ़ की हड्डी टूट जाने से कुबड़े हो गए थे और बाल्यावस्था में ही मर गए। सन् 1812 में पिता की आयु केवल 17 वर्ष की थी और पूरे परिवार के

विरोध करने पर भी वे फौज में भर्ती हो गए थे। उस समय टॉल्सटॉय की दादी के एक निकट संबंधी राजकुमार एलेक्से के यहाँ युद्धमंत्री थे। पिता ने सन् 1813-14 के युद्धों में भाग लिया और खरीते देकर फ्रांस भेजा गया। वहाँ वे कैद कर लिए गए और तभी छूटे जब हमारी सेनाओं ने पेरिस में प्रवेश किया। युद्ध की समाप्ति के बाद पिताजी कजान लौट आए और खेती के धंधे के साथ मुकदमेबाजी करते रहे। वे बड़े स्वाभिमानी थे और नम्र भी। वे बालक टॉल्सटॉय से पुश्किन की कविताएँ पढ़वाकर सुनते थे—जिन्हें टॉल्सटॉय ने कंठस्थ कर लिया था। पिता के साथ घूमने जाना, शिकार के लिए निकलना सभी कुछ उन्हें याद था। पिता के साथ बुआ का प्रभाव भी टॉल्सटॉय पर पड़ा था—जिसे वे काव्यमय स्मृति कहते हैं।

ग्यारह वर्ष की अवस्था में टॉल्सटॉय के लिए एक फ्रांसीसी शिक्षक नियुक्त हुआ। सन् 1840 में जब उनकी उम्र पंद्रह वर्ष की थी वे कजान के विश्वविद्यालय में प्रवेश हुए। यह वह समय था जब रूस के संभ्रांत परिवारों के बच्चे विश्वविद्यालय में पढ़ने नहीं जाते थे बल्कि समाज में मिलकर रहने के गुण सीखने जाते थे। संयोगवश टॉल्सटॉय को पंद्रह वर्ष की उम्र से ही समाज के विभिन्न स्तरों की जटिल समस्याओं से परिचित होने का अवसर मिला। इसी समय नाच-गान की मौज से ऊबे टॉल्सटॉय ने फ्रांसीसी उपन्यासकार ड्यूमा के उपन्यास पढ़े और गंभीर समस्याओं से टकराए। उनका रचनाकार मन सक्रिय हुआ और टॉल्सटॉय ने 'बचपन' और 'युवावस्था' नामक दो जीवन स्मृतियाँ लिखीं। इसी समय उनकी मानसिकता पर फ्रांसीसी राज्य क्रांति (1789) का बहुत गहरा असर हुआ। यही असर उनकी बाद की रचनाओं में कई रंगों-छवियों-सिद्धांतों के साथ सामने आया। फिर टॉल्सटॉय के मन में रूसो को देवता की तरह पूजने का भाव रहा है। यह रूसो का ही प्रभाव है कि वे 'साधारण' और 'साधारण की दृष्टि' की ओर आकृष्ट रहे। इसी दृष्टि की पूर्ति के लिए उन्होंने प्राच्य शिक्षा विद्यालय में झपटकर प्रवेश ले लिया। किंतु प्रथम बार में उत्तीर्ण न हो सके। किंतु दूसरी बार में अरबी और तुर्की भाषा में उत्तीर्ण हो गए। सन् 1844 में कानून विद्यालय में दाखिला ले लिया लेकिन विद्यालय में अव्यवस्था के कारण विशेष लाभ नहीं हुआ। लेकिन उन्होंने हिम्मत पस्त नहीं की और विश्वविद्यालय में इतिहास, कानून तथा धर्म से संबंधित अध्ययन किया। इस अध्ययन काल में धर्म के विषय में उनका मत बदल गया।

'मेरी मुक्ति की कहानी' शीर्षक अपनी आत्मकथा में टॉल्सटॉय ने लिखा है कि "मेरा बपतिस्मा और पालन-पोषण ईसाई मत में हुआ था। मुझे बाल्यावस्था में तथा किशोर और युवावस्था में इसी मत के धार्मिक विश्वासों की शिक्षा-दीक्षा दी गई थी। परंतु जब मैं अठारह साल की उम्र में यूनिवर्सिटी से निकला तो जो बातें

सिखाई-पढ़ाई गई थीं, उनमें से किसी पर मेरा विश्वास नहीं रह गया था।'' बुजुर्गों की बातों से विश्वास उठ गया और धर्म पर अनास्था हो गई। अपने अनुभव से उन्होंने एक खास युवाकाल में इतिहास के ज्ञान को निरर्थक ज्ञान माना था। उनका कथन है कि हजार वर्ष पहले क्या हुआ था इसे जानने का क्या लाभ? इसलिए वे इतिहास की कक्षा में नहीं जाते थे और अनुपस्थित रहने के कारण कॉलेज में दंडित भी किए गए थे। बड़ी दुर्दशा के साथ परीक्षा में पास हुए। सन् 1847 में स्वास्थ्य बिगड़ गया और उन्होंने किसी गाँव में जाने की अनुमति माँगी। पढ़ाई छोड़कर कजान से यास्नाया पोल्याना लौट आए और यहीं पर 17 मार्च, 1847 से 'दैनन्दिनी' लिखना शुरू किया और यह क्रम सन् 1910 तक जीवन-पर्यन्त चलाया। इस डायरी में जीवन की वैयक्तिक, सामाजिक, साहित्यिक जीवन पर पढ़नेवाली पुस्तकों की चर्चा आदि का भंडार हैं। अपनी साहित्यिक टिप्पणियों में बार-बार नैतिक मूल्यों की चर्चा करने में कभी चूक नहीं की है। एक प्रकार से यह डायरी उनकी तमाम योजनाओं का दस्तावेज है और रचनात्मक कर्म की सर्जनात्मक प्रयोगशाला।

टॉल्सटॉय गाँव क्या लौटे, शहरों से नफरत करने लगे। उनके मन में गाँव के किसानों के साथ मिलकर 'नव-संस्कार' करने का भाव था। किसानों की दुर्दशा देखकर उन्होंने उनकी दशा सुधारने का संकल्प किया। सन् 1847 में भयंकर अकाल पड़ा—त्राहि-त्राहि मच गई। टॉल्सटॉय ने अकाल में बड़ा कार्य किया पर कुछ संतोषजनक फल नहीं पाया। निराश होकर सेंटपीटर्सबर्ग लौट गए और वहाँ 'लेंड लाड्र्स मार्निंग' शीर्षक उपन्यास लिखा और यहाँ के विलास-हास में फँसकर कर्जदार हो गए। आखिर सन् 1851 में वे ककासस पहुँचे जहाँ उनके भाई निकोलस फौज में नौकरी करते थे। वहाँ पर्वत के नीचे एक झोंपड़ी किराये पर लेकर रहने लगे। एक दिन भाई तथा उच्च पदस्थ आत्मीयजनों के अनुरोध से वे फौज में भर्ती हो गए। सैन्य-विभाग की परीक्षा उत्तीर्ण कर वे सैनिक का कार्य करने लगे। परंतु उनके मन में सृजन-शक्ति जोर मार रही थी और सर्जनात्मकता के जोर मारने पर एक पुस्तक लिखी जिसे रूस के प्रसिद्ध मासिक पत्र में छपने को भेज दिया। इस पुस्तक को पाकर संपादक बहुत प्रसन्न हुआ और उसने टॉल्सटॉय की बहुत प्रशंसा की तथा पत्र में छापना सौभाग्य समझा। दरअसल सन् 1850 में ही उन्होंने 'खानाबदोश जीवन की कहानी' लिखने की योजना बनाई और अपने आत्मकथात्मक उपन्यास 'विकास की चार अवस्थाएँ' (बचपन, शैशव, युवावस्था, पुनः युवावस्था) की योजना में पिल गए और उसके तीन भाग तैयार किए। सन् 1851 में अनुभवों को निचोड़कर 'फैलिंग टिंबर', 'नोट्स ऑफ ए मार्कर' आदि कहानियाँ लिखीं। सन्

1852 में सेना में भर्ती होने पर 'दी रेड' कहानी का सृजन किया और उनकी पहली पुस्तक 'मेरे बचपन की कहानी' सेंटपीटर्सबर्ग की पत्रिका 'सोवरेमेनिक' में प्रकाशित हुई जिसकी रूस के साहित्यकारों ने खुले मन से तारीफ की। थोड़े समय बाद उनका तबादला क्रीमिया में हो गया। वहाँ क्रीमिया के युद्ध के दौरान ब्रिटेन, फ्रांस और तुर्की के विरुद्ध सेवास्तोपोल की रक्षा में सक्रिय रूप में भाग लिया। इसी अनुभव पर उन्होंने बहुत-सी कहानियों का सृजन किया और युद्ध के भयावह सत्य को उजागर किया। उनके मत से यह सत्य रक्त-यातना और मृत्यु से लिथड़ा हुआ है। उन्होंने अत्यंत प्रबल भाव-विधान, बिंबविधान में मातृभूमि प्रेम को अभिव्यक्ति दी। सन् 1855 में वे सेंटपीटर्सबर्ग आ गए और वहाँ तुर्गनेव, नेक्रासोव, यर्नेश्वेवस्की आदि रचनाकारों से मिले। यहाँ अगले वर्ष वे सैनिक से लेफ्टीनेंट बना दिए गए। लेकिन सृजन का देवता इस स्थिति से प्रसन्न हुआ। यही कारण था कि वे फौज की नौकरी को लात मारकर यास्नाया पोल्याना में जाकर स्थायी रूप से बस गए। 'जनसाधारण' उनके मन में घूम ही रहा था। इस 'साधारण' या किसान की दुर्दशा से पीड़ित होकर उन्होंने 'पोलिकोयोशुका' नामक ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ में कृषक-यातना का विस्तार से यथार्थ वर्णन है। टॉल्सटॉय ने किसानों को शिक्षित करने का संकल्प लिया और जर्मनी जाकर इस विषय की शिक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

टॉल्सटॉय ने सन् 1857 में फ्रांस, जर्मनी और स्विट्जरलैंड की यात्रा की और इस यात्रा में वे यूरोपियन जीवन में व्याप्त सामाजिक स्वतंत्रता की भावना से बड़े प्रभावित हुए। सन् 1861 में वे अपने गाँव आए और अपनी विपुल संपदा को—उस संपत्ति के अधीन जितने दास-कृषक थे, सभी को मुक्त कर दिया। उनकी इस असाधारण वदान्यता-दानभावना से सभी विस्मय विमुग्ध हो गए।

टॉल्सटॉय ने ऐसा महत् कार्य किया कि रूस के सम्राट् ने उनके अनुकरण पर रूसी छात्रों को स्वाधीनता देने की घोषणा की। जर्मनी की ग्राम-विद्यालय प्रणाली को उन्होंने रूस में प्रवर्तन करना चाहा और किंडर गार्डन प्रथा का अनुसरण करते हुए उन्होंने पलियाना में एक विद्यालय खोला। यह सजामुक्त विद्यालय था और छात्रों को कोई भी विषय पढ़ने की छूट थी। टॉल्सटॉय स्वयं यहाँ संगीत, चित्र-विधा और बाइबिल का इतिहास पढ़ाते थे। उनके इस विद्यालय की सराहना हुई लेकिन दुष्ट शक्तियों ने विघ्न डालना शुरू कर दिया। अत: दो वर्ष चलाकर विद्यालय को बंद करना पड़ा। इसके बाद वे समाजवाद की ओर प्रवृत्त हुए और अनुभव से कहा कि जनसाधारण ही सबकुछ है। केवल पढ़ने से ही मनुष्य के चरित्र का निर्माण नहीं है। साधारण कम शिक्षित लोगों में भी न्याय, करुणा और स्वाधीनता का तत्त्व होता है। इस बीच उन्होंने 'ल्यूसने' जैसी कहानियाँ लिखीं और बुर्जुआ समाज की कड़ी

आलोचना की। 'तीन मौतें' में महिमा, किसान और धरती पर गिरे वृक्ष की यातना का बिंब प्रस्तुत किया। सन् 1860 में विदेश चले गए तथा ब्रिटेन, बेल्जियम, जर्मनी और स्विट्जरलैंड की यात्रा की। लंदन में रूस के क्रांतिकारी लेखक अलेक्जैंडर हर्जन से मिलकर क्रांति का नया मंत्र पाया। इसी बीच वे भूपतियों और किसानों के बीच के विवाद को सुलझाने के लिए मध्यस्थ बनाए गए।

सन् 1862 में सोफिया आंद्रिबना के साथ उनका विवाह हुआ। अठारह वर्ष की सोफिया के पिता राजचिकित्सक थे। सोफिया ने टॉल्सटॉय के लिखने में बहुत सहायता पहुँचाई। सोफिया से तेरह बच्चे पैदा हुए—पहला लड़का सन् 1863 में पैदा हुआ और अंतिम पुत्र इवान सन् 1888 में। सोफिया ने लगभग आधी शताब्दी तक टॉल्सटॉय का साथ दिया। सन् 1863 में उन्होंने विश्वप्रसिद्ध उपन्यास 'वार एंड पीस' लिखना शुरू किया। यह उपन्यास विश्व साहित्य को उनका सबसे बड़ा प्रदेय है। इस उपन्यास के सृजन में उन्होंने छह वर्ष का समय लगाया और महाकाव्यात्मक उपन्यास की आठ बार प्रतिलिपि तैयार की गई। टॉल्सटॉय के हाथ से लिखे हुए की सोफिया फिर नकल तैयार करती थी। फिर टॉल्सटॉय काँट-छाँट करते और सोफिया फिर श्रम से नकल करती। कहते हैं कि आरंभिक अंशों को अंतिम रूप देने के लिए पंद्रह बार लिखा गया। यह उपन्यास रूसी लोगों के उस साहस पर केंद्रित है कि कैसे सन् 1817 में जनता ने देशभक्ति की प्रेरणा से विदेशी आक्रमणों का प्राण देकर सामना किया और अपनी स्वाधीनता की रक्षा की। यह उपन्यास छपते ही टॉल्सटॉय लेव (केहरी) बन गए। पूरे रूस में उनकी सराहना का सूर्य निकल पड़ा। सच्चे अर्थों में यह एक महान कालजयी रचना है तथा विश्व साहित्य का गौरव। अपनी तरह का अकेला सर्वोत्तम ऐतिहासिक उपन्यास। फिर 'अन्ना कैरेनिना' लिखकर उन्होंने सर्जनात्मकता के चरम को छू लिया। इन दोनों उपन्यासों का प्रभाव आधुनिक युग के यूरोपीय उपन्यासों पर भी पड़ा।

'युद्ध और शांति' जैसे विशालकाय महाकाव्यात्मक उपन्यासों को लिखने के बाद वे अपनी थकान दूर करने के लिए कहानियाँ लिखते रहे तथा अपनी 'क ख ग' पुस्तक का प्रकाशन किया। उन्होंने पशुओं पर कहानियाँ लिखीं और नीति-कथाओं को स्थान दिया। एक पत्र में टॉल्सटॉय ने लिखा है—''एकमात्र पुस्तक 'क ख ग' मुझे सौ वर्ष तक कार्यरत रख सकती है। इसे लिखने के लिए ग्रीक, भारतीय तथा अरबी साहित्य का ज्ञान आवश्यक है। साथ ही प्रकृति-विज्ञान, ज्योतिष तथा रसायनशास्त्र का। फिर उसे लिखना भी भारी मशक्कत का काम है। उसके लिए सुंदर-सरल-स्पष्ट भाषा भी आवश्यक है। सन् 1872 में उनकी 'दि काकेशस' नामक कृति अंग्रेजी में न्यूयार्क से प्रकाशित हुई और कुछ वर्ष बाद 'युद्ध और शांति'

का फ्रांसीसी रूपांतर निकला फिर जर्मन में अनुवाद आया। लंदन से अंग्रेजी संस्करण निकलते ही उनकी कीर्त्ति आकाश छूने लगी। सन् 1878 में 'अन्ना कैरेनिना' का प्रकाशन किया। टॉल्सटॉय ने कहा है कि "मेरे जीवन में यह पहला उपन्यास है जिसने मेरी आत्मा को जकड़ लिया है। मैं उसमें एकदम डूब गया हूँ हालाँकि इस वसंत में मैं अनेक दार्शनिक प्रश्नों से घिरा हुआ हूँ।" प्रश्न तो थे ही लेकिन आज भी कोई व्यक्ति प्रेम पर केंद्रित उपन्यास लिख रहा हो तो टॉल्सटॉय के इस महान प्रेमाख्यान 'अन्ना कैरेनिना' की ओर देखना अवश्य पड़ेगा। यह प्रेम से उपजी मोहभंग की कथा है। कुछ समीक्षक कहते हैं कि यह अवैध प्रेम संबंध का महाख्यान है। एक समृद्ध-संभ्रांत परिवार की विवाहिता नारी की प्रेमकथा और त्रासदी। यहाँ अन्ना अंत में ट्रेन से कटकर प्राणांत करती है। अन्ना और ब्रान्स्की के प्रेम का यह अंत पाठक का कलेजा कँपा देता है।

यह वह समय है कि समाका में भयंकर अकाल पड़ा। टॉल्सटॉय ने पीड़ित मन से मास्को की एक पत्रिका को एक पत्र लिखा। इस पत्र का ऐसा अद्‌भुत प्रभाव पड़ा कि भूख से पीड़ित किसानों की सहायता के लिए दान की। वर्षा होने लगी। अनाज की 21,000 बोरियाँ और 18,67,000 रूबल प्राप्त हुए। इसी बीच टॉल्सटॉय अन्य लोकहितकारी कार्य में सक्रिय रहे। उन्होंने ग्रीक भाषा के अध्ययन को अधिकाधिक समय दिया तथा दर्शनशास्त्र को भीतर से समझने की कोशिश की। उन्होंने हिब्रू भाषा सीखी और पुत्रों के सन् 1873 में निधन पर बाइबिल पढ़कर सांत्वना पाई। यह सब पढ़ने पर भी उनकी भीतरी बेचैनी बढ़ती गई। और उन्होंने 'कनफेशंस' सन् 1879 में लिख डाली। साथ ही कहा, "मुझे अब किसी बात की इच्छा नहीं है। इच्छा करने को भी कुछ नहीं है। और तो क्या, सत्य जानने की इच्छा भी नहीं है।" लेकिन एक दिन टॉल्सटॉय पर ईश्वर का चमत्कार हो गया। उन्होंने लिखा, "एक दिन वसंत ऋतु में मैं अकेला जंगल में बैठा हुआ पत्तों की मर्मर ध्वनि सुन रहा था—अपने जीवन के अंतिम तीन वर्षों के दुखों की याद कर रहा था। —भगवान की खोज इत्यादि न जाने क्या सोच रहा था, सहसा मैंने पाया कि जिस क्षण मैं भगवान पर विश्वास करता हूँ उसी समय मालूम होता है कि मैं जीवित हूँ। भगवान का स्मरण करते ही हृदय में आनंद का स्रोत बह निकला। चारों ओर के सभी पदार्थ सजीव दिखाई देने लगे—जीवन सार्थक लगने लगा। मैंने पाया भीतर से किसी ने कहा, 'तुम उसे खोज रहे हो जिसके बिना मनुष्य जी नहीं सकता। भगवान को जानना और जीवित रहना दोनों एक ही बात है।' मैं अंधकार से मुक्त हो गया।"

एक समय ऐसा आया जब वे धर्म के रूढ़िवाद का विरोध करने लगे और सत्ताधारी स्वार्थी वर्ग से चिढ़कर नैतिकता की ओर उन्मुख हो गए। उन्होंने यह भी

सत्य कमाया कि अभिजात लोगों की संपत्ति सबसे बड़ी बुराई है जो विषमता की जननी है और मानव के नैतिक स्वभाव को पथभ्रष्ट करती है। उनका जीवन किसानों की सेवा में समर्पित होता गया और अपार मानवीय करुणा के वे प्रतीक बन गए। सन् 1879-80 में उन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'रेजरेक्शन' या 'पुनर्जीवन' को लिखना शुरू किया और पूरा करके सन् 1899 में उसे प्रकाशित करवा दिया। इस उपन्यास में उन्होंने जार, भूस्वामी वर्ग और अफसरशाही की दुष्ट शक्ति की आलोचना की है। मानव करुणा के इस देवदूत ने सन् 1881 में सम्राट एलेक्जैंडर तृतीय को एक पत्र लिखकर आग्रह किया कि वे उन क्रांतिकारियों को फाँसी न दें जिन्होंने एलेक्जैंडर द्वितीय की हत्या की थी। लेकिन इस पत्र की सम्राट ने अनसुनी कर दी।

कुछ समय बाद टॉल्सटॉय का परिवार मास्को के घर में रहने चला गया और टॉल्सटॉय यास्नाया पोल्याना को छोड़कर सामान्य लोगों और किसानों के बीच रहने को निकल पड़े। उन्होंने एक मित्र की सहायता से 'पोस्टेदनिक' नामक प्रकाशन गृह की स्थापना की और उससे लोकहितकारी कृतियों के प्रकाशन का मन बनाया। सन् 1885-86 में उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखीं जिनमें दो बहुत प्रसिद्ध हुईं—1. मूर्ख ईवान और 2. आदमी को कितनी जमीन चाहिए। इन दो कहानियों ने महात्मा गांधी को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने स्वयं इनका अनुवाद किया। करुणा के प्रतीक टॉल्सटॉय ने 'अँधेरे की शक्ति' शीर्षक नाटक लिखा जिस पर प्रतिबंध लगा दिया गया—उसके बाद उन्होंने 'क्रूजर सोनाता' लिखा जो सन् 1899 मे पूरा हुआ था। इस कहानी में उन्होंने सत्ताधारी वर्ग की नैतिकता की कलई खोलकर रख दी। फलत: जार के अफसरों ने उस पर प्रतिबंध लगा दिया। कठिन-से-कठिन प्रयत्न करके टॉल्सटॉय की पत्नी ने उसे प्रकाशित करने की अनुमति प्राप्त की। इसी बीच टॉल्सटॉय ने पत्रों में प्रकाशित किया कि उनकी कृतियों पर उनका कोई स्वत्वाधिकार नहीं है। वे सन् 1895 में चेखव से मिले और 'पुनर्जीवन' पढ़ने को दिया। सन् 1900 में मैक्सिम गोर्की से उनकी अंतरंगता बढ़ी और इस अंतरंगता को उन्होंने अपनी डायरी में भी दर्ज किया। इसी समय उन्होंने जार को एक लंबा अनुरोध पत्र भेजा कि वह भूमि के निजी स्वामित्व को समाप्त कर दे। लेकिन जार ने इस पत्र का नोटिस तक न लिया। सन् 1902 में वे फिर अपने गाँव यास्नाया पोल्याना चले गए। सन् 1905 में जार्ज बर्नार्ड ने उनके पास अपनी पुस्तकें भेजीं। सन् 1891-92 में भीषण अकाल पड़ा जिसमें टॉल्सटॉय और उनके परिवार ने गरीबों के लिए जी-जान लगा दी।

किसानों की सेवा में अपना जीवन अर्पित करनेवाले इस करुणा-नायक ने

सबसे पहले अहिंसा-असहयोग के सिद्धांत की नींव को दृढ़ किया। सितंबर 1909 में टॉल्सटॉय और गांधी का पत्र-व्यवहार शुरू हुआ। टॉल्सटॉय ने 'एक हिंदू के नाम पत्र' गांधी को लिखा जिसका एक इतिहास ही बन गया। गांधी जी उन दिनों दक्षिण अफ्रीका में थे और दक्षिण अफ्रीका की सरकार की रंगभेद नीति का विरोध कर रहे थे। गांधी जी ने अपने पत्र में सत्याग्रह-पद्धति के प्रयोग की चर्चा की थी जिससे टॉल्सटॉय उन पर मुग्ध हो गए एवं दक्षिण अफ्रीका में संघर्ष कर रहे भारतीयों का समर्थन किया।

टॉल्सटॉय का सबसे बड़ा गुण है—सादगी और 'साधारण' की सेवा। गांधी जी ने लिखा है—"वह अमीर वर्ग के मनुष्य थे। इस जगत के हलाहल भोग उन्होंने भोगे थे। धन-दौलत के विषय में मनुष्य जितनी इच्छा रख सकता है उतना उन्हें मिला था। फिर भी उन्होंने भरी जवानी में अपना ध्येय बदला। दुनिया के विविध रंग देखने पर भी, उसके स्वाद चखने पर भी, जब उन्हें प्रतीत हुआ कि इनमें कुछ नहीं है तो उनसे मुँह मोड़ लिया और अंत तक अपने विचारों पर पक्के रहे।" (गांधी : संस्मरण और विचार, पृ० 37) हमारे देश में 'विचारों के पक्के' व्यक्ति का हमेशा बड़ा आदर रहा है। विचारों की दृढ़ता के गांधी कम कद्रदान न थे। इसलिए उन्होंने लिखा, "टॉल्सटॉय युग की मूर्ति थे। उन्होंने सत्य को जैसा माना वैसा ही पालने का उग्र प्रयत्न किया। सत्य को छिपाने या कमजोर करने का वैसा प्रयास नहीं किया। लोगों को अच्छा लगेगा कि दुःख होगा इसका विचार किए बिना ही उन्हें जिस माफिक जो वस्तु दिखाई दी, उसी माफिक कह सुनाई। टॉल्सटॉय अपने युग के लिए अहिंसा के बड़े भारी प्रवर्तक थे। अहिंसा के विषय में जितना साहित्य टॉल्सटॉय ने लिखा है जहाँ तक मैं जानता हूँ, उतना हृदयस्पर्शी साहित्य दूसरे किसी ने नहीं लिखा है। और उससे भी आगे जाकर मैं कहता हूँ कि अहिंसा का सूक्ष्म-दर्शन जितना टॉल्सटॉय ने किया था और उसका पालन करने का जितना प्रयत्न टॉल्सटॉय ने किया था, उतना प्रयत्न करनेवाला आज हिंदुस्तान में भी कोई नहीं। ऐसे किसी आदमी को मैं नहीं जानता।" (वही, पृ० 37)

सन् 1910 में टॉल्सटॉय का निधन हो गया। रात के घने अंधकार में डॉक्टर के साथ घोड़ागाड़ी पर सवार उन्होंने अपना घर छोड़ दिया। स्टेशन पहुँचकर रेलगाड़ी से अज्ञात दिशा में चल पड़े। उनकी वृद्धकाया सर्दी बर्दाश्त न कर सकी। उनकी तबीयत बिगड़ गई—निमोनिया हो गया। वहीं स्टेशन मास्टर के यहाँ 9 नवंबर, 1910 को उनके प्राण पखेरू उड़ गए। जब उनके शव को उनके गाँव लाया गया तो सभी को उनकी कहानी पर ध्यान गया—'आदमी को कितनी जमीन चाहिए।' इस करुणा-नायक ने जीवन भर अपरिग्रह की महिमा का गायन किया था। उनकी

समाधि कच्ची मिट्टी से वृक्षों के नीचे निर्मित की गई। कोई तामझाम नहीं। वहाँ मानवता का संत विश्राम लेते हुए कह रहा था कि सच तो गौतम बुद्ध का दर्शन ही है। आज का उपभोक्तावादी संस्कृति की गुलामी की ओर बढ़ता आदमी बर्बर व्यक्तिवाद में फँस गया है। टॉल्सटॉय के संपूर्ण जीवन-संघर्ष और जीवन-दर्शन की धुँध से एक धुन उठ रही है कि याद रखो—अकेले में कभी मुक्ति नहीं होती—यदि वह है तो सभी के साथ होने में है।

आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की जहरीली हवा से हमें टॉल्सटॉय और गांधी ही बचा सकते हैं। "यदि तुम्हें लगता है कि टॉल्सटॉय ने जीना और मरना जाना था तो तुम देख सकते हो कि दुनिया में सबके लिए और विशेषत: युवकों के लिए संयम का मार्ग ही सच्चा मार्ग है। हिंदुस्तान में तो खासतौर पर है ही। देश में पश्चिम से तरह-तरह की हवाएँ, मेरी दृष्टि में जहरीली हवाएँ आती हैं।" परदेशी सामान, परदेशी साहित्य आ रहा है—उनके विचार मनुष्य को चकनाचूर करनेवाले हैं, स्वेच्छाचार की ओर ले जानेवाले होते हैं।" गांधी जी ने टॉल्सटॉय विचार चिंतन के जोश में कहा है कि "व्यभिचारी के लिए, लंपट के लिए, 'कांश्यंस' क्या हो सकता है? इसीलिए तिलक महराज ने 'कांश्यंस' की जड़ ही उड़ा दी। हमारे ऋषियों-मुनियों ने कहा है कि अंतर्नाद सुनने के लिए अंतर्कर्ण भी चाहिए, अंतर्चक्षु भी चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए संयम की आवश्यकता है। इसलिए पातंजल योगदर्शन में योगाभ्यास करनेवाले के लिए, आत्मदर्शन की इच्छा रखनेवाले के लिए, पहला पाठ यम-नियम पालन का सिखाया है।' यह संयम का पाठ टॉल्सटॉय ने पढ़ लिया था और उसकी 'क्लोज रीडिंग' से पाया था—प्रेम और अहिंसा, मनुष्यता और पावनता का विवेक। वे 'ब्रेड लेबर' यज्ञ के साधक रहे। इसी भावभूमि से गांधी जी ने कहा, "महान टॉल्सटॉय ने लगभग तिरासी वर्ष की पक्की अवस्था में देहत्याग किया है। 'वे मर गए हैं'—उसकी अपेक्षा यह कहना कि उन्होंने 'देहत्याग किया है।' अधिक उचित जान पड़ता है। टॉल्सटॉय की आत्मा का मरण तो हो ही नहीं सकता। टॉल्सटॉय का नाम तो अमर ही है। केवल उनका शरीर जो मिट्टी से पैदा हुआ था मिट्टी में जा मिला है।" (वही) वे संसार के साधु पुरुष थे, बड़े रचनाकार थे, महान क्रांतिकारी योद्धा थे, गरीब किसानों के सहचर थे और सभी धर्मों के सत्य सार के पालक थे। टॉल्सटॉय ने अपनी जीवन-साधना से यह सिद्ध कर दिखाया कि शरीरबल की अपेक्षा आत्म-बल अधिक शक्तिशाली होता है।

उपन्यास सम्राट प्रेमचंद ने टॉल्सटॉय के सृजन चिंतन पर लिखा है कि "ऊँची-से-ऊँची या निष्कृष्ट-से-निकृष्ट सोसायटी का चित्रण वह समान बारीकी और सच्चाई के साथ करते हैं। आपको कहीं कोई अस्वाभाविकता, कहीं कोई अनाड़ीपन

न मिलेगा। अमीरों के नाच और दावतों में, सैनिकों की छावनियों और गरीबों की झोंपड़ियों में, ऐय्यासों के विलास और विहार में, त्यागियों की साधना और संयम में, कहीं भी वे बंद नहीं हैं, कहीं भी वे अजनबी नहीं हैं, कहीं भी वे भटकते नहीं; और मानव-चरित्र का ऐसा वैचित्र्य तो आपको साहित्य में कहीं मिल ही नहीं सकता। उनके 'वार एंड पीस' को ही लीजिए। हजारों चरित्र आए हैं, सब अपने-अपने व्यक्तित्व के साथ। बड़े-से-बड़ा वीर, बड़े-से-बड़ा कायर, सज्जन, दुर्जन, लुच्चे, शोहदे, साधु-सज्जन सभी उनकी कलम के नीचे आकर सजीव हो जाते हैं, बोलने लगते हैं। आपको उनसे उतनी दिलचस्पी हो जाती है, मानो वे आपके घनिष्ठ हों, आप सम्मोहित हो जाते हैं।" ('अन्ना' की भूमिका, प्रेमचंद, अनु० छबिनाथ पांडेय।)

टॉल्सटॉय जैसे महान सर्जक और चिंतक से आज की पीढ़ी प्रेरणा पा सकती है। उनके चिंतन का पुनर्भाष्य, पुनर्विचार और अंत:पाठ करने की आवश्यकता है। इस अँधेरे समय में वे हमें प्रकाश पर्व के उल्लास से भर सकने में समर्थ हैं।

गांधी और टॉल्सटॉय

भारत के उत्तर-आधुनिक समाज की राजनीति तथा साहित्य-संस्कृति में क्या गांधी का कोई अर्थ-संदर्भ प्रासंगिकता रखता है? क्या गांधी का 'हिंद-स्वराज' बीते समय की स्मृति से ज्यादा कोई चीज है? क्योंकि आज अराजक राजनीति की मूल्यांधता ने गांधी और उनके सांस्कृतिक-धार्मिक गुरु टॉल्सटॉय की चिंतन-परंपरा को बटोरकर किनारे कर दिया है। नई पीढ़ी के लोग ज्यादातर चौंककर पूछते हैंङ्क कौन टॉल्सटॉय और उनका गांधी से क्या लेना-देना। हमारे छात्र भूल तो यह भी गए हैं कि गांधी अपना राजनीतिक गुरु गोपाल कृष्ण गोखले को मानते थे। यह कैसा नव सांस्कृतिक साम्राज्यवाद पैर फैला रहा कि दिमागों से भारत का स्वाधीनता संग्राम धुँधला होकर बिखर रहा है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने देश की स्मृति में ऐसे छेद कर दिए हैं कि विस्मृति-ही-विस्मृति। इस दशक के अनुभव से यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि आज की दुनिया न टॉल्सटॉय की विचारधारा की ओर जानेवाली है, न गांधी जी की विचारधारा की ओर।

सन् 2009 के अक्टूबर 2 से लेकर पूरे माह राष्ट्रपिता गांधी को लेकर बौद्धिकों-राजनीतिज्ञों, साहित्यकारों में गांधी पर विचार-विमर्श और उनके प्रेम-अहिंसा-सविनय अवज्ञा आंदोलन, 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' की चर्चा-परिचर्चा। इस चर्चा का अंत:सूत्र टॉल्सटॉय से जुड़ा हुआ रहता है। मध्य रूस में एक सामंत

(काउंट) उन्हीं समस्याओं-चिंताओं से जूझ रहा था जिन पर दक्षिण अफ्रीका के एक सनातनी हिंदू वकील का ध्यान लगा था। बात यह थी कि महाद्वीपों के उस पार से लियो टॉल्सटॉय हमारे राष्ट्रपिता मोहनदास करमचंद गांधी को नई सूझ, नई प्रेरणा दे रहे थे। टॉल्सटॉय से गांधी के प्रेम-परिचय का श्रीगणेश टॉल्सटॉय की पुस्तक 'दि किंगडम ऑव गॉड इज विदिन यू' अर्थात् ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में है—इस बीज-भाव से हुआ। गांधी ने टॉल्सटॉय को लंबा पत्र लिखा। यह पत्र वेस्टमिंस्टर पैलेस होटल, 4 विक्टोरिया स्ट्रीट, एस० डब्ल्यू० लंदन से 1 अक्टूबर, 1909 को लिखा गया और मध्य रूस में यास्नाया पोल्याना को टॉल्सटॉय के पास रवाना किया गया था। इस पत्र में गांधी जी ने रूसी निबंधकार, कथाकार टॉल्सटॉय को ट्रांसवाल के सविनय अवज्ञा आंदोलन से अवगत कराया। टॉल्सटॉय ने अपनी डायरी के 24 सितंबर, 1909 के विवरण में लिखा था—"ट्रांसवाल के एक हिंदू (गांधी) से एक मनोहारी पत्र प्राप्त हुआ।" इस पत्र ने टॉल्सटॉय को भीतर तक भिगोते हुए इतना ज्यादा प्रभावित किया कि उन्होंने चार दिन बाद अपने एक घनिष्ठ मित्र ब्लादीमीर जी० शर्टकॉफ को पत्र लिखा कि "ट्रांसवाल के एक हिंदू के पत्र ने मेरे हृदय को छुआ है।"

यास्नाया पोल्याना से 7 अक्टूबर, 1909 के पत्र में टॉल्सटॉय ने रूसी भाषा में गांधी जी को उत्तर भेजा—इस पत्र को टॉल्सटॉय की पुत्री ताशियाना ने अंग्रेजी अनुवाद करके गांधी को भेजा—"मुझे अभी आपका बड़ा दिलचस्प पत्र मिला, जिसे पढ़कर मैं आनंदित हुआ। ट्रांसवाल के हमारे भाइयों तथा सहकर्मियों की ईश्वर सहायता करें। कठोरता के विरुद्ध कोमलता का और अहंकार तथा हिंसा के विरुद्ध विनय तथा प्रेम का यह संघर्ष हमारे यहाँ हर साल अपनी अधिकाधिक छाप डाल रहा है।... मैं बंधुत्व की भावना से आपका अभिवादन करता हूँ और आपसे संपर्क होने में मुझे हर्ष है।" प्रसन्न भाव से गांधी ने जोहान्सबर्ग से 4 अप्रैल, 1910 को दूसरा पत्र टॉल्सटॉय को लिखा और अपनी पुस्तिका 'इंडियन होम रूल' (हिंद-स्वराज) भेजी—इसका अंग्रेजी अनुवाद स्वयं गांधी ने किया। पत्र में गांधी ने विनम्रभाव से लिखा—"आपका एक नम्र अनुयायी होने के नाते मैं आपको अपनी लिखी हुई एक पुस्तिका भेज रहा हूँ। यह मेरी गुजराती रचना का मेरा ही किया हुआ (अंग्रेजी) अनुवाद है... मैं आपको बिल्कुल परेशान नहीं करना चाहता, परंतु यदि आपका स्वास्थ्य इजाज़त दे, और आपको यह पुस्तिका पढ़ने को मिल सके, तो कहने की आवश्यकता नहीं कि पुस्तिका पर आपकी आलोचना की मैं बहुत कद्र करूँगा।" फिर 19 अप्रैल, 1910 को टॉल्सटॉय ने अपनी डायरी में यह नोट किया कि आज सुबह दो जापानी आए, यूरोपीय सभ्यता पर दीवाने होनेवाले भावावेशी।

दूसरी ओर हिंदू का पत्र और पुस्तक यूरोपीय सभ्यता की तमाम कमियों का, और उसकी संपूर्ण अपूर्णता का भी, बोध प्रकट करते हैं।' गांधी ने यूरोपीय सभ्यता की संपूर्ण अपूर्णता का विचार-बिंब टॉल्सटॉय के सामने प्रस्तुत किया था। उसका इतना गहरा असर पड़ा कि टॉल्सटॉय ने अपनी डायरी में दूसरे दिन फिर लिखा—"कल मैंने सभ्यता पर गांधी के विचार पढ़े। बहुत बढ़िया है—एकदम यथार्थ।" और फिर गांधी पर एक पुस्तक पढ़कर कहा—"बहुत महत्त्वपूर्ण।" गांधी के बारे में यह पुस्तक जे. जे. डॉक ने 'बायोग्राफी ऑफ गांधी' शीर्षक से लिखी थी और टॉल्सटॉय के पास भेजी थी।

गांधी से टॉल्सटॉय इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने 25 अप्रैल, 1910 को यास्नाया पोल्याना से एक आत्मीय पत्र लिखा—"प्रिय मित्र, मुझे आपका पत्र और आपकी पुस्तक 'इंडियन होम रूल' अभी मिले। जिन बातों और प्रश्नों की आपने अपनी पुस्तक में विवेचना की है—उनके कारण मैंने उसे बहुत एकाग्र भाव से पढ़ा। निष्क्रिय प्रतिरोध केवल भारत के लिए ही नहीं, बल्कि सारी मानवता के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इन दिनों मेरी तबीयत ठीक नहीं है, इसलिए आपकी पुस्तक और आपके कार्यों के संबंध में, जिनकी मैं बहुत सराहना करता हूँ, मुझे जो कुछ कहना है—वह लिखने से रुक गया हूँ। परंतु तबीयत ठीक होते ही लिखूँगा। आपका मित्र और भाई—एल० टॉल्सटॉय।"

गांधी का तीसरा पत्र 15 अगस्त, 1910 को 21-24, कोर्ट चैंबर्स, कार्नर रिसिक ऐंडरसन स्ट्रीट्स, जोहांसबर्ग से भेजा गया। इस पत्र में टॉल्सटॉय के 8 मई, 1910 के पत्र का धन्यवाद ज्ञापन है और यह भी "मैं पुस्तक की जिस क्रमबद्ध आलोचना का वादा आपने कृपापूर्वक अपने पत्र में किया है—उसकी प्रतीक्षा करूँगा।" इस पत्र में गांधी ने वहाँ 'टॉल्सटॉय फार्म' की स्थापना की सूचना भी दी जिसे गांधी जी ने कैलेनबक के साथ मिलकर स्थापित किया था। इस टॉल्सटॉय फार्म के विषय में कैलेन ने टॉल्सटॉय को अलग से पत्र भी लिखा। साथ ही 'इंडियन ओपीनियन' साप्ताहिक के कई अंक भी भेजे। 6 सितंबर, 1910 को टॉल्सटॉय ने अपनी डायरी में यह टिप्पणी लिखी—"निष्क्रिय प्रतिरोध उपनिवेश के बारे में ट्रांसवाल से प्रसन्नता देने वाला समाचार है।" यह वही समय है जब टॉल्सटॉय गंभीर रूप से बीमार थे और आध्यात्मिक निराशा की स्थिति से गुजर रहे थे। फिर भी टॉल्सटॉय ने पत्र गांधी को लिखा और शर्टकॉफ के पास रूसी से अंग्रेजी अनुवाद के लिए भेज दिया। टॉल्सटॉय का यह पत्र शर्टकॉफ ने भिजवाया और लिखा कि टॉल्सटॉय की अनुमति से उनका आपके नाम यह पत्र लंदन से निकलनेवाली छोटी-सी पत्रिका में प्रकाशित किया जाएगा। और पत्रिका की एक प्रति पत्र के साथ

आपके पास भेजी जाएगी और साथ ही 'फ्रीएज प्रेस' द्वारा प्रकाशित टॉल्सटॉय की रचनाओं के कुछ अंग्रेजी प्रकाशन भी। दुर्भाग्यवश गांधी जी को टॉल्सटॉय का यह लंबा पत्र ट्रांसवाल में टॉल्सटॉय की मृत्यु के बाद मिला। पत्र में लिखा था—"वह प्रेम सर्वोच्च है तथा मानव-जीवन का एकमात्र नियम है और अपनी आत्मा की गहराई प्रत्येक मानव अनुभव करता है। इसे सिद्धांत की घोषणा संसार के भारतीय, चीनी, हिब्रू, यूनानी, रोमन अदि सभी मनीषियों ने की है।" इस तरह मृत्यु के द्वार पर खड़े टॉल्सटॉय युवा गांधी को प्रेम-सिद्धांत की शक्ति का संदेश दे रहे थे।

टॉल्सटॉय गहन जीवनानुभव से इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि साधारणतया जो राजनीति प्रचलित है वह दोषपूर्ण है। उसका मुख्य यह है कि लोगों में बदला लेने का संकल्प प्रबल है यह सभी धर्मों के विरुद्ध कृत्य है। नुकसान पहुँचानेवाला जो नुकसान पहुँचाता है और नुकसान करने की लत है—उससे दोनों पक्षों की हानि होती है। गुलामी अन्यायपूर्ण आला मानने में है, लात खाने में नहीं। लात खाने पर भी हम बदले में लात न मारें, यही सच्ची वीरता और सच्ची मनुष्यता है। टॉल्सटॉय की शिक्षा का मूलमंत्र यही है।

टॉल्सटॉय ने 'एक हिंदू के नाम पत्र' का रूसी से अंग्रेजी में स्वयं अनुवाद किया और 'फ्री हिंदुस्तान' के संपादक तारकनाथ दास (वैकूवर से प्रकाशित पत्रिका) को छपने भेजा। 'फ्री हिंदुस्तान' के संपादक के विचार टॉल्सटॉय से भिन्न थे। उन्होंने यह पत्र नहीं छापा। एक मित्र ने यह पत्र गांधी के पास 'इंडियन ओपीनियन' में छपने भेजा तो गांधी ने टॉल्सटॉय से इसके छपने की अनुमति ली और यह भी पूछा कि यह पत्र उनका है या नहीं। टॉल्सटॉय ने यह पत्र अपना घोषित करते हुए अनुमति दे दी। गांधी ने यह पत्र अंग्रेजी और गुजराती में तर्जुमा करके 'इंडियन ओपीनियन' में छापा और कहा, "मैं टॉल्सटॉय के पत्र को कीमती मानता हूँ। जिसने ट्रांसवाल की लड़ाई का रस चखा है, वह उस पत्र की कीमत सहज ही समझ सकेगा। ट्रांसवाल की सरकार के तोपबल के मुकाबले में, मुट्ठी भर भारतीय सत्याग्रह, प्रेमबल या आत्मबल की आजमाइश कर रहे हैं। यह टॉल्सटॉय की शिक्षा का रहस्य है। यह सभी धर्मों का सार है। हमारी आत्मा में-रूह में परमात्मा ने-खुदा ने ऐसी शक्ति दी है कि उसकी तुलना में निरा शारीरिक बल किसी काम नहीं आता। हम आत्मबल को व्यवहार में लाते हैं, सो ट्रांसवाल की सरकार का तिरस्कार करने या उससे बदला लेने के लिए नहीं, बल्कि केवल इसलिए कि हमें उसकी अन्यायपूर्ण आज्ञा नहीं माननी है।

किंतु जिन्होंने सत्याग्रह का रस नहीं चखा, जो आधुनिक सभ्यता के महापाखंड में वैसे ही चक्कर काटते हैं जैसे पतंगें दीपक के आस-पास चक्कर काटते रहते हैं,

उनको टॉल्सटॉय के पत्र में एकाएक रस नहीं मिलेगा। ऐसे लोगों को जरा धैर्य से विचार करना चाहिए। जो भारतीय भारत से गोरों को निकाल बाहर करने को अधीर हो रहे हैं उन्हें टॉल्सटॉय सीधा-सा जवाब देते हैं। (उनके कथनानुसार) ''हम अपने ही गुलाम हैं, अंग्रेजों के नहीं। यह हृदय में अंकित कर लेने योग्य बात है। यदि हम गोरों को न चाहें तो वे नहीं रह सकते। यदि गोला-बारूद से गोरों को निकालना हो तो गोला-बारूद से यूरोप के हाथ क्या लगा, इस पर हरएक भारतीय को विचार करना चाहिए। भारत स्वतंत्र हो यह बात सबको अच्छी लगती है किंतु वह स्वतंत्र कैसे हो इस संबंध में जितने लोग उतने मत हैं। उनको टॉल्सटॉय ने सीधा मार्ग बताया है।''(दे० गांधी वाङ्मय, खंड 9, पृ० 444)

गांधी जी को ध्यान है कि 'यह पत्र टॉल्सटॉय ने एक हिंदू को लिखा है, इसलिए इसमें मुख्यत: हिंदू धर्मग्रंथों के विचारों का उपयोग दिया गया है। किंतु ऐसे विचार हरएक धर्म के ग्रंथों में हैं। ये विचार हिंदू, मुसलमान और पारसी सब पर लागू होते हैं। धर्म के आचार-विचार जुदा हो सकते हैं किंतु उनके नैतिक सिद्धांत तो एक ही होते हैं। इसलिए सभी पाठकों को धर्म-नीति पर विचार करने की सलाह देता हूँ।' गांधी ने टॉलस्टॉय के पुनर्जन्म संबंधी विचारों से असहमति व्यक्त की है। (दे० वही, खंड 9, पृ० 445) उन्होंने लिखा है—''टॉल्सटॉय के सब विचार मुझे मान्य हैं ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए। टॉल्सटॉय को मैं अपना शिक्षक मानता हूँ। किंतु उनके सब विचार मुझे मान्य हों, ऐसी कोई बात नहीं है। उनकी शिक्षा का मूलमंत्र मुझे पूर्णयता मान्य है और वह मूलमंत्र इस पत्र में आ गया है। गांधी ने टॉल्सटॉय का 'एक हिंदू के नाम पत्र' को 'इंडियन ओपीनियन' के 25-12-1909, 1-1-1910 तथा 8-1-1910 के अंकों में प्रकाशित किया था और लिखा कि ''टॉल्सटॉय इस पत्र में किसी भी धर्म के अंधविश्वासों का खंडन करने में चूके नहीं हैं।'' इसलिए किसी भी हिंदू को अथवा अन्य धर्माभिमानी को उनकी शिक्षा का विरोध नहीं करना चाहिए। हमारे लिए इतना काफी होना चाहिए कि वे सभी धर्मों के सार को मानते हैं। ध्यान में रखना होगा कि वे संसार के एक महान विचारक और लेखक हैं। उन्होंने एक सैनिक की हैसियत से यह देखा है कि हिंसा क्या है और वह क्या-क्या कर सकती है। जब वे आधुनिक विज्ञान के नियम का—जिसे झूठमूठ ही नियम कहा जाता है—अंधानुकरण करने के लिए जापान की भर्त्सना करते हैं और उस देश के लिए बड़े-से-बड़े संकटों की आशंका करते हैं तब हमें रुकना और सोचना ही चाहिए कि कहीं अंग्रेजी शासन से अधीर होकर हम एक बुराई के बदले दूसरी, उससे भी बड़ी बुराई को तो दाख़िल नहीं करना चाहते।'' (दे० गांधी वाङ्मय, खंड 9, पृ० 5) गांधी ने बार-बार संत-भाव से कहा कि यदि हम चाहते

हैं कि अंग्रेज भारत में न रहें तो हमें उसकी कीमत चुकानी होगी। हम बुराई से स्वयं बचें, न्यायालयों, कर संग्रह में, सैनिकों के हिंसक कार्यों में भाग न लें तो आपको संसार की कोई ताकत गुलाम नहीं बना सकती। गांधी साफ कह रहे थे कि एक व्यापारी कंपनी ने बीस करोड़ लोगों के राष्ट्र को गुलाम बना रखा है। इसका रहस्य क्या है ? इसका रहस्य है कि भारतीयों को अंग्रेजों ने गुलाम नहीं बनाया, वे स्वयं गुलाम बने हैं। फिर इसमें संदेह नहीं कि टॉल्सटॉय ने जो कुछ कहा है, उसमें कुछ नया नहीं है। परंतु पुरातन सत्य को प्रस्तुत करने का उनका ढंग स्फूर्तिदायक और ओजपूर्ण है। उनका तर्क अकाट्य है। और सबसे बड़ी बात यह है कि वे अपने उपदेशों के अनुसार आचरण करने का प्रयास करते हैं।

रोमां रोलां ने गांधी के विषय में ये शब्द कहे हैं—"तरुण भारतीय गांधी ने मृत्यु का आलिंगन कर रहे टॉल्सटॉय के हाथ से वह दिक ज्योति सँभाल ली जिसे वृहद् रूसी देवदूत ने अपने हृदय में प्रदीप्त किया था। उस दिव्य ज्योति को गांधी ने अपने प्यार और दर्द से पोषित किया और एक मशाल का रूप दे दिया। उससे भारत आलोकित हो उठा।" रूस में बैठे चिंतन-साहित्यकार टॉल्सटॉय से गांधी के हृदय के तार ऐसे मिले कि ऋषि टॉल्सटॉय गांधी के लिए प्रेरणा और प्रतिमान बन गए। गांधी से पूर्व भारत के बहुत से लोग रूसी साहित्यकारों के रचना-कर्म से परिचित थे और कला-संवेदना के प्रसार की शक्ति को मान चुके थे। लेकिन टॉल्सटॉय से भारतीयों का विशेष हृदय-संवाद रहा है। इसका कारण है कि टॉल्सटॉय ने चित्त की पूरी एकाग्रता से बौद्ध साहित्य एवं चिंतन का अध्ययन किया था और उस समय पूरे रूस में टॉल्सटॉय जैसा बौद्ध चिंतन का विद्वान कोई दूसरा न था। साथ ही टॉल्सटॉय ने वेद-उपनिषद्-रामायण-महाभारत-गीता की चिंतनधारा में भी गहन अवगाहन किया था, इसलिए वे भारतीय चिंतन-परंपराओं और सांस्कृतिक झंकृतियों की अनुगूँजों की व्यंजना समझते थे। उनमें भारतीय चिंतन की ऐसी निर्वैयक्तिक निष्पत्ति हुई थी कि वे सच्चे अर्थों में ऋषित्व को प्राप्त हो गए थे। इसलिए टॉल्सटॉय और गांधी की मनोभूमिका में जीवन-दर्शन, धर्म कला, संस्कृति साहित्य, राजनीति को लेकर गहरी समानताएँ थीं। समान आध्यात्मिक-नैतिक मूल्य-चेतना के कारण भी दोनों के विचारों की व्यंजकता में दूरी न थी।

यह न भूलना चाहिए कि गांधी रूढ़ अर्थों में कवि नहीं थे, लेकिन व्यापक अर्थों में कवि थे—साहित्यकार थे। वे जिस समय महान चिंतन और साहित्यकार की ओर आकृष्ट हुए उस समय वे भारतीय स्वाधीनता संग्राम के नेता भी नहीं थे। वे तो दक्षिण अफ्रीका में चल रहे भारतीयों के मुक्ति-संघर्ष के दिनों में टॉल्सटॉय के संपर्क में आए। घोर संकट और अपमान में पड़े भारतीयों को मुक्ति दिलाने के लिए बैरिस्टर

गांधी ने प्रेरणा-गुरु के रूप में रूसी चिंतक की ओर देखा था। इस समय तक वे टॉल्सटॉय की कृतियों का गहरी यात्रा कर चुके थे। लेकिन एक जागरूक पाठक के रूप में यह परिचय साधारण न होकर 'अपूर्व' था। सन् 1905 में गांधी ने टॉल्सटॉय की चार कहानियों का अनुवाद करके 'इंडियन ओपीनियन' में प्रकाशित किया था। टॉल्सटॉय की कहानी 'ईश्वर का राज्य तुम्हारे भीतर है' ने गांधी के हृदय को भावना से भिगो दिया था। टॉल्सटॉय ने सन् 1908 में 'एक हिंदू के नाम पत्र' लिखा तो संबंधों की प्रगाढ़ता अटूट हो गई। टॉल्सटॉय द्वारा संकेतित आध्यात्मिक-नैतिक-धार्मिक मूल्य भारतीय चिंतन में न जाने कब से प्रवाहित थे, लेकिन गांधी ने उन्हें टॉल्सटॉय में एक नए रूप, एक नए अर्थ-संदर्भ में पाया। बात यह भी कि टॉल्सटॉय इन मूल्यों के तप में तपस्वी बनकर सिद्धता प्राप्त चुके थे और गांधी के मन में इस तपबल का अपार आदर था। फिर उन दिनों गांधी कई तरह के संकटों के भीतर से गुजर रहे थे और संकट के इस दौर में टॉल्सटॉय का चिंतन 'तपन में शीतल मंद बयार' का झोंका बनकर आया था। इसलिए इस चिंतन ने गांधी की भीतर की आँखों को खोल दिया। 'उघरहि विमल विलोचन हिके' का सही भाष्य गांधी के लिए तब बना जब 18 अगस्त, 1909 में अपने एक सगे संबंधी की गिरफ्तारी पर टॉल्सटॉय ने हृदय हिला देनेवाला वक्तव्य दिया। गांधी ने इस मार्मिक वक्तव्य से अभिभूत होकर लिखा, "जो व्यक्ति इस प्रकार लिख सकता है, सोच सकता है, उसने जगत को जीत लिया है, दुख पर विजय प्राप्त कर ली और अपना जीवन सार्थक बना लिया है।" (गांधी वाङ्मय, खंड 10, पृ० 5) इस प्रेरणा से भरे गांधी अपना जीवन भी सार्थक बनाने के संकल्प को लेकर मुक्ति संग्राम में समर्पित भाव से चल पड़े। साबरमती का संत एक टॉल्सटॉयी दिव्य-प्रेरणा के वरदान को मानो पा गया।

इसी मनोभूमिका में गांधी ने 1 अक्टूबर, 1909 को टॉल्सटॉय के लिए पहला पत्र लिखा अर्थात् आषाढ़ के बादलों से पहला दौंगड़ा धरती पर बरसा। दक्षिण अफ्रीका रंगभेद से बेचैन था और लोग रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे। पत्र लिखने के समय गांधी जी लंदन आए हुए थे और चाहते थे कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों की ओर से दक्षिण अफ्रीका की सरकार पर दबाव डाले कि रंगभेद की आड़ में दी जानेवाली यातना को समाप्त करें। लेकिन गांधी की विनय पर ब्रिटिश सरकार ढीली। अंततः गांधी ने टॉल्सटॉय को यह चिट्ठी लिखकर बताने का फैसला किया कि दक्षिण अफ्रीका में तेरह हजार भारतीय रंगभेद की यातना झेल रहे हैं और वे किस तरह रंगभेद के खिलाफ आवाज़ उठा रहे हैं। इन भारतीयों के खिलाफ एक कानून पास हुआ है जिसका उद्देश्य भेदभाव करना, अपमान करना है। जब इन लोगों ने इस काले कानून का विरोध किया तो उन्हें जेल में डाल दिया गया। इस तरह

सरकार ने उन्हें हर तरह से बर्बाद करने की ठान ली है। विशेष बात यह कि ये लोग हिंसा किए बगैर अधिकारियों के आदेशों को मानने से इनकार कर रहे हैं। यह संघर्ष जारी है—कब खत्म होगा पता नहीं है। परंतु हमलोगों को विश्वास है कि पशुबल की हार निश्चय है, अनाक्रामक प्रतिरोध विजयी होगा। इस पत्र के निष्कर्ष रूप में लिखा, "मैं आपके निकट नितांत अपरिचित हूँ, फिर भी मैंने सत्य के हित को दृष्टिगत करके आपको पत्र लिखने की धृष्टता की है और उन समस्याओं के बारे में आपका मार्गदर्शन चाहा है, जिन्हें हल करना आपने-अपने जीवन का ध्येय माना है।"(गांधी वाङ्मय, खंड 9, पृ० 443)

यह स्वाभाविक था कि गांधी की यह चिट्ठी पाकर टॉल्सटॉय उस ओर ध्यान दें। सत्याग्रह-संघर्ष और अनाक्रामक प्रतिरोध ऐसे तरीके थे जिनकी वे निरंतर साधना-शक्ति में प्रवृत्त थे। 'फ्री हिंदुस्तान' के प्रधान संपादक तारकनाथ दास का पत्र पाकर यही तो लिखा था कि "समाने-समाने होय प्रणयेर विनिमय' का सिद्धांत पल्लवित हुआ था और इसी से प्रेरणा पाकर गांधी टॉल्सटॉय को पत्र लिखने की प्रेरणा से भर गए थे। पत्र क्या था—हजारों मील दूर बैठे दो महापुरुषों के हृदय का मिलन 'प्रेम ही परम पुरुषार्थ' है की दृष्टि लेकर उपस्थित हुआ था। अत्यधिक प्रसन्न हृदय से टॉल्सटॉय ने अपनी डायरी में यह मनोभाव लिख डाला, "ट्रांसवाल के हिंदू द्वारा भेजा गया सुंदर पत्र मिला।" उन्होंने 7 अक्टूबर को ही पत्र का उत्तर दिया और कहा, "पत्र पाकर मुझे अपार आनंद हुआ।" यह पत्र गांधी जी को उस दिन मिला जब वे ब्रिटिश सरकार के रवैये से उत्साहहीन होने की मानसिक स्थिति में थे। लेकिन इस स्थिति में भी वे दक्षिण अफ्रीका की सरकार से अपने संबंधों को माचिस दिखाने के पक्ष में न थे। तत्काल 10 नवंबर, 1909 को उन्होंने टॉल्सटॉय को दूसरा पत्र लिखा—"मेरी राय में ट्रांसवाल के भारतीयों का यह संघर्ष आधुनिक युग का सबसे महान संघर्ष है। वह साध्य और साधन दोनों दृष्टियों से आदर्श है। लंदन में मुझे सफलता नहीं मिली, मैं जोहांसबर्ग लौट रहा हूँ जहाँ जेल के दरवाजे मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं।" यह ही दौर है जब गांधी जी का 'हिंद स्वराज' प्रकाशित हुआ है।

उत्तर आधुनिक समय में गांधी और टॉल्सटॉय के इस हृदय-संवाद पर पुनर्विचार की पुनर्पाठ की आवश्यकता है। आज पूरा देश बाजारवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति के चंगुल में फँस गया है। हमें इस चंगुल से मुक्त होने का उपाय सोचना होगा। यह उपाय हमें गांधी ही सुझा सकते हैं।

गांधी ने आराम-हराम की तपसिद्धि से टॉल्सटॉय के साथ एक पत्र ब्रिटिश पादरी जोसेफ आई० डोक को भी लिखी। एक पुस्तक 'मोहनदास करमचंद गांधी, दक्षिण अफ्रीका में भारतीय देशभक्त' भी भेजना न भूले। साथ ही निर्भय मन से यह

भी लिखा—"यह पुस्तक मेरे जीवन और उस संघर्ष पर प्रकाश डालती है जिसके लिए मैंने अपना जीवन अर्पित कर दिया है।" यह बात भूलने के विरुद्ध है कि अपनी रुग्णावस्था को अँगूठा दिखाकर टॉल्सटॉय ने यह पुस्तक पूरे मनोयोग से मथ डाली और पुस्तक के हाशिये पर मूल्यवान टिप्पणियाँ लिखीं। लेकिन बीमारी टॉल्सटॉय को उठा ले गई, टिप्पणियाँ दबी रह गईं। अचानक टॉल्सटॉय के सामग्री की खोजबीन सन् 1956 में फिर शुरू हुई तो इस पूरी विचार-यज्ञशाला का पता चला। सन् 1910 में गांधी ने टॉल्सटॉय को पत्र लिखा और 'हिंद स्वराज' का अपने द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद भेजा।

टॉल्सटॉय की बेटी ने जिसका नाम अलेक्सेंदरा था उसने अपने पिता टॉल्सटॉय की जीवनी लिखी तो उसे गांधी की स्मृति कौंध गई। उसने लिखा—"बाद में गांधी ने पिताजी को अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज' भेजी। उस पर टिप्पणी करते हुए पिताजी ने चैरेत्कोव को लिखा, 'गांधी तो बहुत कुछ हमारे जैसा है—मेरे जैसा...। डी०पी० मकोवित्स्की की टिप्पणियाँ भी पिताजी की, गांधी और उनकी पुस्तक में गहरी रुचि का प्रमाण हैं। यूरोप की संपूर्ण सभ्यता की एक धार्मिक हिंदू की दृष्टि से गहरी भर्त्सना।" 'हिंद स्वराज' में गांधी जी जिन बीस पुस्तकों को पढ़ने की सलाह देते है उनमें से अकेले टॉल्सटॉय की छह पुस्तकें हैं, जिनके नाम हैं—(1) क्या करें, (2) ईश्वर का राज्य तुम्हारे भीतर है, (3) कला क्या है, (4) हमारे समय की गुलामी, (5) पहला कदम और (6) एक हिंदू के नाम पत्र। दरअसल, गांधी के पत्र ने टॉल्सटॉय को वैचारिक कोलाहल की भँवरों में मानो फेंक दिया। इन भँवरों पर टॉल्सटॉय की समाधि लग गई और उनका विचार-योगी त्रिकालदर्शी होकर नई सूझों से संपन्न हो गया। इस स्थिति पर अलेक्सान्देर शिफमान ने बहुत सही कहा है कि गांधी जी की नई चिट्ठी और खासतौर पर उनकी पुस्तक 'हिंद स्वराज' के कारण भारतीय जनता के भविष्य पर टॉल्सटॉय का ध्यान और केंद्रित हो गया। बीमारी के दिनों में भी वह कई दिनों तक गांधी की नई पुस्तक तथा उन पर अंग्रेज पादरी डोक द्वारा लिखी गई पुस्तक पढ़ते रहे। उन्होंने डायरी में अपने विचार अंकित किए जिसमें कुछ इस प्रकार हैं : "आज मैंने गांधी की पुस्तक पढ़ी; बहुत सुंदर है।" इस प्रकार से टॉल्सटॉय का मन-मस्तिष्क इतना प्रभावित हुआ कि उन्होंने अपने दर्शनशास्त्र के विशेषज्ञ मित्र पी०ए० बुलागेर को बुलाकर कहा—"गांधी ने पश्चिम के बुद्धिजीवियों की इस धारणा को निर्मूल साबित कर दिया है कि बुर्जुआ सभ्यता अपने आप में बुरी नहीं है, बुरे हैं वे लोग जो जोर-जबरदस्ती से उसका प्रचार करते हैं।' (सोवियत दर्पण, 30 सितंबर, 1969, पृ० 38)

दक्षिण अफ्रीका से जुड़े भारतीयों की यातना का इतिहास गांधी की संकल्प-

साधना का इतिहास है। गांधी ने पाया कि सत्याग्रही बेघर होकर भूख से तड़प रहे हैं—और वहाँ की सरकार कानों में तेल डाले बैठी है। इस स्थिति से निबटने के लिए गांधी जी ने अपने अंतरंग सखा हर्मन क्लेनबाख की सहायता से 'टॉल्सटॉय आश्रम' की स्थापना की। इस 'टॉल्सटॉय आश्रम' में सभी लोग डँटकर श्रम करते थे और किसी तरह जीते थे। इस कठिन परीक्षाकाल में गांधी को टॉल्सटॉय और रस्कीन की व्यावहारिक शिक्षाओं का सहारा रहा। और इसी प्रेरणा का परिणाम था—'टॉल्सटॉय फार्म'। इसमें 'प्रेम के द्वारा शिक्षा' का सिद्धांत-प्रयोग अपनाया गया और लिखा—''मनुष्य जाति के दुख-दर्द का कारण यही है कि वे प्रेम के कानून को अस्वीकार करके जबरदस्ती के कानून को मानते हैं; उनके जीवन का संचालन करनेवाले इस विधान में जो अन्याय गर्भित है, उसका अहसास सारी दुनिया को होने लगा है और अत्याचारियों के विरुद्ध अनेक संघर्षों के रूप में वह प्रकट हो रहा है।'' गांधी ने इस अंतर्विरोध को भी उजागर किया कि सत्ताधारी वर्ग एक ओर तो करुणा के खीस्ती सिद्धांत का प्रचार करते हैं, दूसरी ओर शस्त्रबल और सेना की ताकत की दुहाई देते हैं।

कालावधि की दृष्टि से गांधी और टॉल्सटॉय का संबंध अल्पकालिक है, लेकिन प्रेरणा-प्रभाव की दृष्टि से अत्यंत स्थायी और दीर्घकालीन। तीन समुद्र पार का देवदूत टॉल्सटॉय गांधी में जज्ब हो गया और भारत के स्वाधीनता संग्राम में उनके विचारों की मशाल कभी मंद नहीं पड़ी। गांधी जी जीवन भर विद्यार्थियों से टॉल्सटॉय की पुस्तकों को पढ़ने-गुनने का आग्रह करते रहे। क्योंकि उन पुस्तकों में मनुष्यता के शिखर की ज्योति प्रज्वलित है। गांधी में इन पुस्तकों के प्रति इतनी गहरी निष्ठा थी कि जेल जाने पर भी वे उनमें रमे रहते थे और उनके गहन चिंतन-मनन से आगे की रणनीति को बनाते थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि ''टॉल्सटॉय की रचनाएँ बहुत सरल और सरस हैं। और किसी धर्म को माननेवाला उन्हें पढ़कर उनसे लाभ उठा सकता है। इसके सिवा वे उन व्यक्तियों में से हैं जो जैसा कहते हैं वैसा करते भी हैं। इसलिए वे जो कुछ लिखते हैं या कहते हैं, उस पर हम साधारणतः ज्यादा भरोसा कर सकते हैं।''(मेरे जेल के अनुभव, गांधी जी, पृ० 72)

गांधी जी ने अपनी 'आत्मकथा' में भी टॉल्सटॉय की पुस्तकों को कभी विस्मृत नहीं किया। गांधी जी ने मुग्धभाव से लिखा, ''टॉल्सटॉय की 'ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में है' नामक पुस्तक ने मुझे मोह लिया। उसका मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस पुस्तक में मैंने जिस स्वतंत्र चिंतन, गहन नैतिकता और सच्चाई के दर्शन के लिए उसके सामने मि० कोटस (एक ईसाई पादरी) की दी हुई सब पुस्तकें फीकी लगीं।'' (आत्मकथा, पृ० 177, संस्करण-11वाँ) नतीजा यह हुआ कि गांधी जी ने टॉल्सटॉय की पुस्तकों में अपने को पूरी लगन से समर्पित कर दिया और

इन कृतियों से उनका ऐसा साधारणीकरण हुआ कि उनके विचार-सौंदर्य में वे खोए रहे। गांधी का यह कथन प्रमाण है—"उनका 'गास्पेल्स इन ब्रीफ' (नव-विधान का सार), ह्वाट टु डू?' (क्या करें) आदि पुस्तकों ने मेरे हृदय पर गहरा असर डाला। विश्वप्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है इसे मैं अधिकाधिक समझने लगा।" (वही, पृ० 204) दिलचस्प बात यह है कि एक समय ऐसा आया जब टॉल्सटॉय को चर्च ने बहिष्कृत कर दिया लेकिन गांधी जी का उनका अटूट विश्वास अडिग रहा। टॉल्सटॉय ने संगठित चर्च की तानाशाही के कुपरिणामों को देखकर ही कहा था कि 'संगठित चर्च ईसा का सबसे बड़ा दुश्मन है?'

वास्तविकता यह है कि टॉल्सटॉय को गांधी जैसा प्रबुद्ध शिष्य संसार में कोई दूसरा नहीं मिला। गांधी के रोम-रोम में टॉल्सटॉय के दया-करुणा-प्रेम के सिद्धांत समाते गए। फलत: टॉल्सटॉय की जन्मशताब्दी आने पर गांधी जी ने सत्याग्रह आश्रम में एक विस्तृत वैचारिक प्रबंधनुमा लंबा भाषण—हिंदी नवजीवन—20 सितंबर, 1928 को दिया था। उनका पूरा भाषण आज भी स्वर्णाक्षरों से अंकित करके जन-जन तक पहुँचाने के योग्य हैं। गांधी के चिंतन में कहीं भी पश्चिमवाद का 'अदर' या 'अन्य' नहीं है, जो भी है अपने आत्म का विस्तार है। गांधी ने लिखा है कि "तीन पुरुषों ने मेरे जीवन पर बहुत ही बड़ा प्रभाव डाला है। उनमें पहला स्थान मैं रायचंद कवि को देता हूँ। दूसरा टॉल्सटॉय को और तीसरा रस्किन को। टॉल्सटॉय और रस्किन के बीच स्पर्धा खड़ी हो और दोनों के विषय में मैं अधिक बात जान लूँ तो नहीं जानता कि उस हालत में प्रथम स्थान मैं किसे दूँगा, परंतु अभी तो दूसरा स्थान टॉल्सटॉय को देता हूँ। टॉल्सटॉय के जीवन के विषय में बहुतेरों ने जितना पढ़ा होगा उतना मैंने नहीं पढ़ा है। ऐसा भी कह सकते हैं कि उनके लिखे ग्रंथों का वाचन भी मेरा कम है। उनकी पुस्तकों में से जिस किताब का प्रभाव मुझ पर बहुत अधिक पड़ा, उसका नाम है 'किंगडम आव हैविन इज विदिन यू।' (*गांधी : संस्मरण और विचार,* 1968, गांधी शांति प्रतिष्ठान तथा सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली का संयुक्त प्रकाशन, पृ० 37)

टॉल्सटॉय के जीवन में जो अंतर्विरोध थे उनसे गांधी अपरिचित न थे। यह सब होते हुए भी दोनों के चिंतन में गहरी समानता के बीज का भंडार मौजूद हैं।

टॉल्सटॉय के जीवन के अंतर्विरोधों पर गहरी निगाह डालते हुए गांधी ने लिखा है, "टॉल्सटॉय के जीवन में जो विरोधाभास दीखता है वह टॉल्सटॉय का कलंक या क़मजोरी नहीं है। किंतु देखनेवालों की त्रुटि है।... सीधा मार्ग यह है कि जिस वक्त जो सत्य प्रतीत हो उसका आचरण करना चाहिए। यदि हमारी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है तो हमारे कार्यों में दूसरी को विरोध दीखे तो भी उसकी चिंता हम क्यों करें!

टॉल्सटॉय के जीवन में जो विरोध दिखाई देता है, वह विरोध नहीं है, हमारे मन का विरोधाभास है।" हर तरफ की वाद-विवाद-संवाद की बातों को सुनकर गांधी हमारे युवकों को तीन बातों की ओर ले जाना चाहते हैं—(1) संयम के मार्ग की ओर, (2) सत्य की आराधना की ओर और (3) ब्रेडलेवर की ओर। ब्रेडलेवर का उदाहरण टॉल्सटॉय अपने जीवन कर्म से उपस्थिति करते हैं। जीवन-यज्ञ का सबसे बड़ा पवित्र तप है—मेहनत करके खाना और हराम की कमाई से दूर रहना। श्रम से कमाई गई रोटी के स्वाद की महिमा को जानना। गांधी जी ने भारतीय-मुक्ति-संग्राम में अंग्रेजी साम्राज्यवाद को उनकी लूट तंत्र की नीति को पानी पी-पीकर कोसा है और कहा है—कृतज्ञ भाव से कि इस क्षेत्र में आजादी के पितामह दादाभाई नौरोजी के हम सब ऋणी हैं जिन्होंने अपने पुस्तकों से ब्रिटिश सरकार की लूट का भंडाफोड़ किया और कहा कि हमारे उद्योग-धंधों को चौपट करके अंग्रेजों ने भारत को खेतिहर गरीब देश बनाया।

गांधी ने यह विचार भी स्पष्ट किया है कि सत्याग्रह का विचार उनके मन में कैसे आया, किस प्रेरणा से उत्पन्न हुआ। गांधी के शब्द हैं, "सत्याग्रह के महत्त्व और उपयोग का अहसास पहले-पहल मुझे न्यू टेस्टामेंट से हुआ। 'भगवद्गीता' ने मेरे इस विचार को अधिक दृढ़ कर दिया और टॉल्सटॉय के ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में ही है—ने विचार को स्थायी रूप दे दिया।" (महात्मा गांधी, ले० रामचंद वर्मा, पृ० 54) यह भी सच है कि गांधी जी 'अनाक्रामक प्रतिरोध' शब्द को नापसंद करते थे लेकिन फिर भी स्वीकार कर लिया। गांधी ने स्पष्टीकरण देते हुए कहा, "बहुत दिनों से इस शब्द से प्रगट होनेवाले विचार को कार्यरूप में परिणत करनेवाले लोग इसी शब्द का व्यवहार करते हैं। 'आत्मबल' शब्द से यह विचार पूर्णतया और अधिक उत्तम रूप से व्यक्त होता है। ईसामसीह, डैनियल और सुकरात ने अनाक्रामक प्रतिरोध या आत्मबल को शुद्धतम रूप में प्रकट किया था। ये सभी गुरु अपनी आत्मा की तुलना में अपने शरीर को तुच्छ समझते थे। टॉल्सटॉय इस सिद्धांत के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार थे। उन्होंने न केवल इसकी व्याख्या की बल्कि तदनुसार अपना जीवन-क्रम भी ढाला।" (वही, पृ० 56)

गांधी जी ने भारी विचार-मंथन के बाद पाया कि अहिंसा के संदर्भ में टॉल्सटॉय प्रथम कोटि के युग-पुरुष हैं। उनके चिंतन और सृजन का पूरा पाठ या टेक्स्ट 'अहिंसा' पर केंद्रित है। उनके चिंतन का बीजमंत्र है, "अहिंसा दूसरों का नाश नहीं करती बल्कि उसे कार्य रूप में परिणत करने के लिए एकदम अनिवार्य बना देती है। महावीर बुद्ध और टॉल्सटॉय सब योद्धा थे। इन लोगों ने अपने काम का बहुत ही गहन और सच्चा स्वरूप देख लिया था और एक सच्चे, प्रसन्न, प्रतिष्ठित और एक

दैवी जीवन का रहस्य जान लिया था।' (वही, पृ० 77)

टॉल्सटॉय 20 नवंबर, 1910 में इस संसार से विदा हो गये। गांधी जी ने 26 नवंबर को उनके देहावसान के शोक से उबरते हुए लिखा—"टॉल्सटॉय की आत्मा का मरण तो हो ही नहीं सकता। केवल उनका शरीर जो मिट्टी से पैदा हुआ था, मिट्टी में जा मिला है।" आत्मा के अमरत्व का भारतीय सिद्धांत गांधी में बहुवचनात्मक रूपों में हर जगह विद्यमान है। फिर टॉल्सटॉय तो गांधी की प्रेरणा के हिमालय थे। और आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति में दोनों का अखंड विश्वास था। दोनों मानव-जीवन को नया अर्थ देने के लिए आए थे और दोनों के ही चिंतन की परम व्यंजना 'भक्ति' में मौजूद है। दोनों ही सभा के साम्राज्यवाद, उपनिवेशवादी तंत्र के चरम विरोधी थे और दोनों की आत्मा प्रेम और मुक्ति का संदेश देने संसार में आई थी।

तुर्गनेव ने एक बार काउंट टॉल्सटॉय के विषय में कहा था, "मैं उनकी तुलना में क्या हूँ? समकालीन यूरोपियन साहित्य में उनका कोई जोड़ नहीं है। उनकी कलम में यह जादू है कि वह जो कुछ लिखते हैं, वह जैसे जी उठता है। और उनकी रचना-शक्ति का क्षेत्र कितना विराट् है! उसे देखकर आश्चर्य होता है।"

आधुनिक हिंदी साहित्य में प्रेमचंद और जैनेंद्र कुमार दोनों पर गांधी और टॉल्सटॉय का गहरा प्रभाव दूर तक दिखाई देता है। इन दोनों कथाकारों ने टॉल्सटॉय की कहानियों का अनुवाद किया है। प्रेमचंद ने तो टॉल्सटॉय की तेईस कहानियों का अनुवाद किया है। 'अन्ना' (ले० टॉल्सटॉय) का अनुवाद पं० छविनाथ पांडेय ने किया तो 'भूमिका' प्रेमचंद ने लिखी थी। यह अनुवाद सन् 1933 में पुस्तक मंदिर, काशी से छपा था। प्रेमचंद ने कहा, "और इस बात में रत्ती भर भी अतिशयोक्ति नहीं है। टॉल्सटॉय की रचना-शक्ति अद्‌भुत थी, कल्पना-शक्ति अलौकिक थी। जीवन का ऐसा कोई विभाग, ऐसा कोई अंग नहीं है, जिस पर उनकी तेज आँखें न पड़ी हो। और उनके मस्तिष्क में जो बात एक बार पहुँच जाती थी वह अलौकिक हो जाती थी।" यहाँ 'अलौकिक' का अर्थ लोकोत्तर, दिव्यता, उदारता करना चाहिए। उनके चिंतन का क्षेत्र व्यापक था और उपन्यास, कहानी, आलोचना, निबंध, नाटक, राजनीति, जीवन-चरित्र ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था जिस पर लिखा न हो। उनकी प्रथम पुस्तक सन् 1852 में आई थी और आखिरी किताब सन् 1910 में। मनुष्यता और क्रांति को लेकर तो वे जन्मे ही थे। आज भी उनका स्मरण सुगंध से मन की उदासी झाड़ देता है।

टॉल्सटॉय जैसा अपूर्व रचनाकार और चिंतक साहित्य में कभी-कभार ही युग के भीतर से जन्म लेता हूँ। उनका युग विचारों की क्रांति का युग था और फ्रांसीसी क्रांति की अर्थ-ध्वनियाँ विश्वभर के रचना-कार्य में गूँज रही थीं। इस फ्रांसीसी

क्रांति के समता बंधुता-स्वतंत्रता संबंधी विचारों की घोषणा का टॉल्सटॉय के युवा-मानस पर अमिट प्रभाव पड़ा। विद्यार्थी काल से ही उनमें नैतिक-मूल्य-चेतना का विशेष आदर था और गहरे श्रम तथा चित्त की निर्मलता और पावनता में विश्वास। जीवन के तमाम प्रलोभनों को लेकर उनमें मानसिक द्वंद्व था। वे बार-बार अपने मन को माँजकर यह प्रण लेते थे कि भविष्य में सदाचार और मानव-प्रेम का पालन करूँगा। प्रेमचंद ने लिखा है—"युवावस्था में ही उसकी आत्मा,धर्म और समाज की राष्ट्रीयता के मिथ्या, घातक स्वार्थमय व्यापारों से विद्रोह करने लगी थी। धर्म में सेवा और त्याग और उपकार का भाव गायब होकर, केवल अंधविश्वास और स्वार्थ लिप्सा रह गई थी। उसे मनुष्य के ऐहिक जीवन की परवाह न थी। वह केवल परलोक सुधारने का बीड़ा लिए हुए था। मसीह ने जीवन का जो आदर्श सामने रखा था, उसका वह नए सिरे से उद्धार करना चाहता था। समाज में ऊँच-नीच का भेद, उसमें भ्रातृभाव का अभाव, जो ईसा के उपदेशों का मूल तत्त्व था और जिसने मुट्ठी भर धनिकों और अधिकारियों को सारी जाति के भाग्य का विधाता बना दिया था, उसके लिए असह्य था। उनके विचार में उपजीवी वर्ग समाज का सबसे बड़ा शत्रु था। इस विषय में उनके विचार संपूर्णत: सोशलिस्ट थे।' (प्रेमचंद का अप्राप्त साहित्य, सं. किशोर गोयनका, भूमिकाएँ, पृ० 391)

दरअसल, टॉल्सटॉय श्रम के उपासक थे। इसलिए उनके मन में श्रमजीवी के प्रति पूजा का भाव था। चोटी का पसीना एड़ी का स्पर्श करने लगे—ऐसे मानव के वे भक्त थे। "जो स्वयं शारीरिक श्रम से अपनी जीविका न प्राप्त कर सके, उसके लिए टॉल्सटॉय की समाज-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं था। कलाकार और लेखक, वकील और डॉक्टर, ये सब उनके विचार में समाज के अनावश्यक अंग थे। एक जुलाहे का, मोची या लोहार या जुलाहा का मूल्य समाज में वकील या कलाकार से कहीं अधिक था। मोची या लोहार या जुलाहा मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। उनके न रहने से समाज को कष्ट होगा। चित्रकारों के मिट जाने से समाज को कोई कष्ट होने की संभावना न थी।" (वही, पृ० 391) इसी तरह टॉल्सटॉय 'कला कला के लिए' सिद्धांत के घोर विरोधी थे। कला जीवन के लिए मनुष्यता के विकास के लिए सिद्धांत के समर्थक थे। वे मानते थे—कला में मानव के लिए लोक-मंगल शक्ति न हो तो वह निरर्थक है—धन और समय का दुरुपयोग भी। इस दृष्टिकोण को सामने रखकर ही उन्होंने अपना पूरा सृजन और चिंतन-कर्म किया है।

टॉल्सटॉय का पूरा ध्यान राष्ट्रों के संघर्ष की समस्या पर क्रेंद्रित रहा, क्योंकि युद्ध की समस्या मानव को पशु बनाती है और उसकी मानसिक-चारित्रिक क्षमताओं का क्षरण। इस विषय पर टॉल्सटॉय ने बहुत गहरे उतरकर चिंतन किया और उस

चिंतन को अपनी कृतियों में वह रूप दिया जो कोई रचनाकार नहीं दे सका। टॉल्सटॉय फौज में भर्ती हुए और सेवास्टोपोल के युद्ध में भी शरीक हुए। इस अनुभव से उन्हें युद्ध के प्रति वितृष्णा हो गई। उन्होंने फौजी अफसरों के मनोविज्ञान को समझा और इस समझ को 'वार एंड पीस' में कई तरह से रचनात्मक रूप दिया। 'अन्ना कैरेनिना' की रचना में यह क्षेत्र दूसरी तरह से प्रकाश में आया। यह अनुपम कलाकृति है और अन्ना अमर स्त्री-पात्र।

कथा साहित्य के इस महान सर्जक ने 'धर्म और सदाचार' से संबंधित गहन-चिंतन परक निबंध लिखे हैं। धर्म, सदाचार और नैतिकता विषयक उनके निबंधों को पढ़कर गांधी, प्रेमचंद, जैनेंद्र और अज्ञेय की याद सहसा ताजा हो जाती है। टॉल्सटॉय 'धर्म क्या है ?' चिंतन के आरंभ में कहते हैं—"संसार के सभी मनुष्य समाजों के जीवन में ऐसे खास अवसर आए हैं जब धर्म पहले अपने मूल उद्देश्य से विमुख हुआ, फिर धीरे-धीरे इतना अलग होता गया कि अपने उद्देश्यों को ही भुला बैठा और अंत में कर्मकांड में फँसकर जड़वत बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों के जीवन पर उसका प्रभाव दिन-प्रतिदिन कम होता गया।" (दे० लियो टॉल्सटॉय : प्रतिनिधि रचनाएँ, भाग-1, संपादक—कृष्णदत्त पालीवाल, पृ० 49) यह बात धर्म को लेकर सच है कि जब वह अपने उद्देश्य से भटक जाता है तो पतन के द्वार खोल देता है। फलत: शिक्षित लोग प्रचलित धार्मिक उपदेशों पर विश्वास करना छोड़ देते हैं और श्रद्धा केवल दिखावा रह जाती है। और जनता, केवल अकर्मण्यतावश धर्म को ढोती रहती हैं—धार्मिक उपदेशों के अनुसार आचरण करना छोड़ देती है। वह सामाजिक रूढ़ियों का सरकारी विधानों की पिछलग्गू बन जाती हैं।"

टॉल्सटॉय ने कई धर्मों की शिक्षा की पढ़ाई की थी और अपने समय के ईसाई धर्म समाज से बगावत। उन्होंने कहा, "लेकिन ईसाई समाज में इस समय जो कुछ हो रहा है वैसा कभी नहीं हुआ। समाज का वह अल्पसंख्यक समुदाय, जिसके पास धन है, सत्ता है और शिक्षा है तथा जिसका जनता पर सबसे अधिक प्रभाव है, उसका प्रचलित धर्म पर से न सिर्फ अपना विश्वास ही उठा है बल्कि इस बात का भी यकीन हो गया है कि धर्म जैसी किसी चीज की अब कोई आवश्यकता नहीं है।" (वही, पृ० 49) धर्म की सत्यता पर संदेह और जनता से यह कहना कि धर्म का जमाना गुजर गया है और उसे समाज का हानिकारक अंग मानकर त्याग देना चाहिए। जबकि कुछ लोग धर्म को अपनी 'आंतरिक अनुभूति द्वारा व्यक्त चीज' का नाम देकर उसकी कद्र करते नहीं हैं—वे उसे एक रोग कहते हैं। कुछ का विचार है कि धर्म की उत्पत्ति इस विचार से हुई कि लोग प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में आत्मा का अस्तित्व मानने लगें। वह कहते हैं कि मृत पूर्वजों के साथ संबंध स्थापित

हो सकने की संभावना के कारण धर्म का जन्म हुआ। कुछ ऐसे भी हैं जो मानते हैं कि धर्म की उत्पत्ति का कारण प्रकृति की शक्तियों से भय खाना है। "लेकिन हमारे समय के दिग्गज पंडित कहते हैं कि अब विज्ञान ने इस बात को साबित कर दिया है कि वृक्षों और पत्थरों में आत्मा नहीं हो सकती।" और न हमारे पूर्वज जानते थे कि प्रकृति की शक्तियों के उद्गम स्रोत क्या थे। कुछ विद्वान कहते हैं कि धार्मिक युग तो अज्ञान का युग है और मानव उन युगों को पार कर चुका है। इसी तरह अब अध्यात्म-विज्ञान का जमाना भी गुजर चुका है और हम 'निश्चयात्मक विज्ञान' की ओर बढ़ आए हैं। इस विज्ञान ने धर्म को हटाकर उसका स्थान ले लिया है। सन् 1901 में बर्थेलो नामक फ्रांसीसी विद्वान ने जो भाषण दिया था उसका सार यह था कि धर्म का जमाना गया। अब धर्म का स्थान विज्ञान ने ले लिया है। इस तरह के विचार समाचार-पत्र और अन्य निबंधों से भी सामने आ रहे हैं। पहले दो प्रेरक शक्तियाँ थीं—धर्म और शक्ति। लेकिन अब दोनों का स्थान विज्ञान ने ले लिया है। विज्ञान से तात्पर्य है—'संपूर्ण जानकारी'। टॉल्सटॉय ने नया विचार प्रस्तुत किया कि "लेकिन सच तो यह है कि इस प्रकार के किसी विज्ञान का अस्तित्व ही नहीं है और जिस चीज को आजकल लोग विज्ञान के नाम से पुकारते हैं वह केवल अधूरे और असंबद्ध ज्ञान कणों का संग्रह मात्र है।" (वही, पृ० 51) इन कणों में कुछ निरर्थक हैं और हमें भद्दे भ्रमजालों में फँसाते हैं। इस तरह बर्थेलो के विचार का टॉल्सटॉय खंडन करते हैं।

यह विश्वास कि क्या पुरोहित-धर्म अचूक धर्म है? क्या धर्म पुराना पड़ गया है? या क्या धर्म कोरा अंधविश्वास है? क्या धर्म के बिना कोई समाज और विवेकवान मनुष्य जिंदा रह सकता है? अविवेकी तो धर्म के बिना पशुओं की तरह जी सकता है लेकिन विवेकी पुरुष धर्म के बिना नहीं रह सकता। कारण, विवेकवान मानव प्रत्येक वस्तु को बुद्धि की कसौटी पर कसता है, तर्क उठाता है, संशय करता है। इसलिए वह बिना धर्म के जीवित नहीं रह सकता। इस बात को टॉल्सटॉय शहद की मक्खी और पक्षियों के घोंसला बनाने के धर्म का उदाहरण देकर सिद्ध करते हैं कि धर्म तो कर्तव्य है। फिर मनुष्य की अंत:प्रेरणा या इंस्टिक्ट असीमित बौद्धिक शक्तियों से संपन्न होती हैं। अतः मनुष्य का मौलिक शक्ति-दर्शन है उसका विवेक। मधुमक्खियाँ भी मधु संचय करते समय यह भ्रम नहीं पालती कि यह कार्य अच्छा है या बुरा। अतः विवेकवान पुरुष किसी कार्य पर तात्कालिक परिणामों पर विचार नहीं करता, वह दूर तक सोचता है और भावनाओं पर संयम रखता है। वह मानता है कि मनुष्य अनंत-अखंड ब्रह्मांड का अंग हैं—अतः अनंत के साथ अपना संयोजन या इंटीग्रेट करता है—वह अखंड का अपने को अंश मानता

है। यह मानना ही धर्म है, विवेक है। यही कारण है कि धर्म विवेकशील मानव समाज का एक अनिवार्य अंग रहा है और रहेगा।

धर्म समाज का प्रेरक हृदय है—शक्ति है, गति है। हाँ, कभी-कभी राष्ट्रों के जीवन में ऐसे अवसर आ चुके हैं जब धर्म का भ्रष्ट रूप दिखाई दिया है। लेकिन यह भ्रष्ट रूप ज्यादा दिन नहीं रहता, वह पुनः जीवन प्राप्त करता है और बढ़ता है। यहाँ टॉल्सटॉय ने भारत का उदाहरण दिया कि कैसे पुराने ब्राह्मण धर्म का सुधार करते हुए बौद्ध धर्म ने "मनुष्य और ईश्वर के संबंधों के बारे में मनुष्य जाति की धारणा को बहुत व्यापक बनाया।" यूनानी और रोमन धर्मों को भी पतन के दिन देखने पड़े और जब उनका पतन चरम सीमा पर पहुँच गया तो ईसाई धर्म का उदय हुआ। वही घटना गिरजा प्रणाली में घटित हुई। बीजेष्टतम काल में इस धर्म का इतना पतन हुआ कि पाषाण तथा अनेक देवी-देवता पूजे जाने लगे। इस पतित ईसाई धर्म की बाढ़ को रोकने के लिए 'पालीशियन समुदाय' का जन्म हुआ तथा दूसरी तरफ त्रिमूर्ति और मेरी की आराधना के सिद्धांत के विरुद्ध कठोर इस्लाम धर्म अस्तित्व में आया। यही बात मध्यकालीन पोपशाही ईसाईयत के संबंध में हुई—उसने धार्मिक शोध के आंदोलन को जन्म दिया। यह इस बात का प्रमाण है कि जब-जब बहुसंख्यक लोगों का धर्म पर प्रभाव कम हुआ तब-तब अनिवार्यतः सभी धार्मिक शिक्षाओं का विकास हुआ है और उनमें नया जीवन आया है।' इसलिए सभी धर्मों में ईश्वर की कल्पना के साथ उसकी दृष्टि में सभी मनुष्यों को समान कहा गया है अतः धर्म का लक्षण है मनुष्य की मूलभूत समानता का सिद्धांत। लेकिन यह समानता कभी स्थापित न हो सकी, उसके अलग कारण हैं। स्वार्थ सत्ताधारियों ने, पंडों ने धर्म में असमानता सिद्धांत को दृढ़ किया है।

सभी कार्यों की प्रेरक तीन शक्तियाँ हैं—(1) अनुभूति, (2) विवेक और 3. संकेत। इनमें अंतिम वही है जिसे डॉक्टर सम्मोहन शक्ति कहते हैं। अनेक बार मानव अपनी आंतरिक प्रेरणा से कार्य करता है, अनेक बार बुद्धि का वशवर्ती होकर। मानव अंतःस्फूर्ति का वशवर्ती-प्राणी है। उसकी तीनों शक्तियाँ तभी सक्रिय होती हैं जब वह परमात्मा और मनुष्य के बीच संबंध स्थापित करता है। टॉल्सटॉय के विचार से, "उच्च ब्राह्मण धर्म का पतन भद्दी पाषाण पूजा के कारण हुआ। पैगंबरों द्वारा प्रचारित प्राचीन यहूदी धर्म को हम एक विशालकाय मंदिर के देवता की पूजा के रूप में परिवर्तित होता देखते हैं, जहाँ थोथे गानों और जुलूसों के अलावा कुछ नहीं होता। महान बुद्ध धर्म भी इसी प्रकार परिवर्तित हो जाता है—मठ स्थापित होते हैं, बुद्ध की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होती हैं और नाना प्रकार की दिखावटी विधियाँ अपना ली जाती हैं। अंत में बुद्ध धर्म को हम रहस्यमय लामावाद में रूप में देखते हैं। इसी

प्रकार चीन का ताओ धर्म भी आगे चलकर सिर्फ जादू-टोने और मंत्र-तंत्र में बदल गया है।" (वही, पृ० 59) धर्म के विकृत होने पर धर्माचार्यों ने मनुष्य को ऐसी स्थिति में डाला कि बुद्धि मंद हो गई। परमात्मा की मध्यस्थता करनेवाले लोग, चमत्कारी लोग धर्मद्रोह फैलाते हैं, अलग जातियाँ बनाते हैं, मानव-मानव के बीच असमानता फैलाते हैं।

धर्म के वाद-विवाद के बाद टॉल्सटॉय ने माना है कि ईसाई, गिरजा धर्म ने मानव-मानव के बीच असमानता को स्थापित किया है—मालिक और गुलाम के भेद को हवा दी है। पादरी समाज के खिलाफ धर्म-ग्रंथों में लिखा है कि 'कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का गुरु नहीं बन सकता।' हम एक ही पिता की संतान हैं तो छोटे-बड़े कैसे हुए ? जबकि सभी धर्मों का निचोड़ यह है कि मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि वह अपने लिए चाहता है। यह कहा गया कि जब ईसा मसीह स्वर्ग को प्रयाण करने लगे तो खास-खास व्यक्तियों को कुछ विशेषाधिकार दे गए। इन विशेषाधिकारों का बड़ा दुरुपयोग हुआ। बाइबिल के इस कथन का दुरुपयोग किया कि "संपूर्ण संसार में फैल जाओ और जनता में धर्मशिक्षा का प्रचार करो।" इस तरह सत्य की ठेकेदारी गिरजा प्रणाली ने ले ली और ईसाई धर्म विकृत हो गया। ईसाई धर्म ने वाल्टेयर के मत से तमाम वाहियात धार्मिक सिद्धांत प्रचलित किए। हिंदू धर्म में ईश्वर एक है लेकिन उसके प्रसार में ब्रह्मा-विष्णु-महेश तीन देवता हैं। टॉल्सटॉय इसे 'भयंकर सिद्धांत' मानते हैं और अनैतिक भी कहते हैं। यह भी कहते हैं कि ईश्वर के पुत्र ईसा मसीह मनुष्यों द्वारा इसलिए मार डाले गए ताकि मनुष्यों का उद्धार हो सके।

टॉल्सटॉय धर्म से जुड़ी ईश्वर माताओं और प्रतिमाओं पर भी विचार करते हैं। और व्यंग्य में कहते हैं कि कौन विश्वास करेगा कि ईसा आकाश में उड़ गए और ईश्वर के पास जाकर बैठ गए। सेंट पाल की 'यहूदियों के नाम धर्म पत्रिका' पुस्तक पर कहते हैं कि यह धर्म की गलत व्याख्या है। कंजान, आइबेरियन एवं दूसरी अनेक ईश्वर की माताएँ हैं—ईसा की माता मेरी है और इन सभी पर अलौकिक चमत्कारों की चादर डाली गई है। यही तो है अंधश्रद्धावाद। जबकि श्रद्धा अंधविश्वास का नाम नहीं है। चंगेज और नादिर शाह किसकी श्रद्धा के पात्र हैं ? सम्राट् नीरो को क्यों नर-पिशाच मानते हैं ? इसलिए कि किसी भी स्थिति में हिंसा का मार्ग उचित नहीं है—वह तो ईश्वर का, धर्म का अपमान है। वैज्ञानिक युद्धों और वेश्याओं की जरूरत पर बलिहारी है और धर्माचार्य तोपों, जेलखानों पर। "उन्नीसवीं शताब्दी में मनुष्य ने जो भौतिक उन्नति की वस्तुत: वह अत्यंत महान थी लेकिन इस उन्नति का भवन अनैतिकता की नींव पर खड़ा किया गया है और खड़ा किया जा रहा है। सदाचार के

मामूली-से-मामूली नियमों की इतनी उपेक्षा की गई जितनी चंगेज खाँ, नादिर शाह और सम्राट् नीरो जैसे अत्याचारियों के जमाने में भी नहीं की गई।" (वही, पृ० 70)

भौतिक प्रगति में रेलें, जहाज, छापाखाने, फोनोग्राफ, सुरंगें, फोटोग्राफ, सिनेमा, मूल्यवान हैं और रस्किन इन पर फिदा हैं लेकिन इन सबसे लाखों मनुष्यों के जीवन को निर्दयतापूर्वक नष्ट करने का क्या अर्थ? यह अमानुषिक प्रगति है। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का अर्थ प्रकृति का बेरहमी से विनाश नहीं है। भीमकाय गुंबदों के निर्माण में हजारों गुलामों की बलि देनी पड़ी। ईसाई राष्ट्रों ने अमेरिका के और अफ्रीका के मूल निवासियों को जीत लिया है। अब वे चीन को जीतने की भी फिराक में हैं। अपनी इस विजय पर इन ईसाई देशों को गर्व है, लेकिन इससे यह बात कतई साबित नहीं होती कि ईसाई राष्ट्र संसार के दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा आध्यात्मिक तथा नैतिक दृष्टि से ऊँचे उठे हुए हैं। बल्कि बात ठीक इसके विपरीत है। हिंदू आज भी आध्यात्मिकता में बहुत आगे हैं लेकिन ईसाई राष्ट्रों में नियमों की अराजकता। रोम की भाँति धर्म का बहिष्कार करने पर भी इन ईसाई राष्ट्रों ने एक होकर 'लुटेरों का समूह' बना रखा है—'ये राष्ट्र दिन दहाड़े चोरी करते हैं, दूसरे देशों को लूटते हैं और सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से नरसंहार करते हैं। इनकी आत्मा मर चुकी है और अपनी दंभी नास्तिकता पर गर्व हैं—ये सभी दूसरी तरह के नीरो हैं। ये विलास की वृद्धि करते हैं। बाइबिल की कथा में आता है कि जल प्रलय पूर्व मनुष्य ने पूजा से ईश्वर को प्रसन्न किया—फिर उसकी शक्ति का दुरुपयोग। नाराज होकर ईश्वर ने आदमी की आयु कम कर दी। फिर ईसाई राष्ट्रों का जीवन तो एकदम अधार्मिक है। वे मूर्तिपूजकों से बहुत बदतर स्थिति में हैं। नए धर्म का जन्म हो तो भी कहना होगा कि धर्म बेहूदगी नहीं है, वह संस्कृति को उन्नति की ओर ले जाता है।

बुद्धि संपन्न मानव कायिक और बौद्धिक कार्यों में साम्य स्थापित करना चाहता है। जो लोग कार्य को बौद्धिक कसौटी पर नहीं परखते वे क्षणिक भावावेश में जीते हैं। अधार्मिक व्यक्ति सूक्ष्म-जटिल-असत्य दलीलें देता है और दुराचार को बढ़ाता है। सदाचारी संयमी और अपने कार्य में एकाग्र चित्तवाला होगा। टॉल्सटॉय यह पूरे सोच में नारी के साथ प्रणय-लीला की बात आते ही बिदकते हैं और नैतिकता की दुहाई देने में थकते नहीं। बाइबिल में लिखा है—"मनुष्य प्रकाश की अपेक्षा अंधकार को अधिक पसंद करता है।" ताकि प्रकाश या पावनता से घृणा कर सके। सही समस्याओं को जटिल वाग्जाल से ढँक देनेवाली आधुनिक सभ्यता की विकसित कला है।

टॉल्सटॉय धर्म के साथ यह प्रश्न उठाते हैं कि श्रमजीवियों ने अब तक किस

प्रकार का जीवन व्यतीत किया ? इतिहास और धर्मशास्त्र ने इस प्रश्न की उपेक्षा की है। दूसरी तरह के वे इतिहासकार हैं जो इस विषय पर पुस्तकों का ढेर लगाए जा रहे हैं—'ग्यारहवें लुई की उदार पीड़ाओं, इंग्लैंड की रानी ऐलिजाबेथ अथवा रूस के नृशंस जार इवान के जघन्य कृत्यों, औरंगजेब के अत्याचारों और नादिर शाह की लूट' का वर्णन करके चुप हो जाते हैं। इधर राजाओं, रईसों, उनकी प्रेमिकाओं के मनोरंजन के लिए साहित्यिक पुरुषों ने कैसे-कैसे काव्य और नाटक लिखे हैं। यहाँ वह सब वर्णन होता है जिसका साधारण जनता के जीवन से कोई संबंध नहीं है। प्राकृतिक इतिहासवाले सृष्टि उत्पत्ति-संबंधी झूठी पौराणिक चर्चाओं में समय बर्बाद करते हैं। "इसके अलावा औषधि विज्ञान तथा शिल्पकला विज्ञान जैसे प्रायोगिक विज्ञान धार्मिक सिद्धांत से कोई पथ प्रदर्शन न मिलने के कारण अनिवार्यतः अपने युक्ति-युक्त पथ से हटकर गलत दिशा में चले जाते हैं।" (वही, पृ० 81) शिल्पकला धनवानों को सुख देती है और गरीबों को केवल कष्ट। इसी तरह औषधि विज्ञान भी धनवानों के चंगुल में पड़कर गलत दिशा में चला जा रहा है। यूरोप के दर्शनशास्त्रों का यह हाल है कि स्पिनोजा, कांट, शापेनहावर तथा हीगल रूसो के चक्कर में पड़कर वह बेहद दुर्बोध और जटिल हो गया है। आधा पागल नीत्शे मौलिक कहने के चक्कर में अस्त-व्यस्त सनकी हो गया है। फिर टॉल्सटॉय कठोर शब्दों में कहते हैं कि "अगर किसी व्यक्ति को हमारे ईसाई समाज की इस पाशविकता और मूढ़ता में शंका हो तो नीत्शों के निबंधों की सफलता से ही उसकी शंका का निवारण हो सकता है।" (वही, पृ० 83) ईसाई समाज का इतना पतन न हुआ होता तो दक्षिण अफ्रीका और चीन की हत्याओं को चुपचाप स्वीकार नहीं कर लेता।

यह भाव टॉल्सटॉय को मथता रहा है कि जब संसार इस बात को जानता है कि इंद्रिय दमन और आत्मत्याग ही मनुष्योचित गुण है तो ईसाई धर्म हो, ब्राह्मण धर्म हो, बौद्ध धर्म हो, कंफ्यूशियन धर्म हो, पारसी धर्म हो, सभी में इन गुणों का आदर है तो नीत्शे इसे अपने धर्म का अहंकार क्यों कह रहे हैं। वह क्यों केवल ईसाई धर्म की चर्चा करता है, अन्य धर्मों को क्यों भूल जाता है। फिर नीत्शे टालने लायक चिंतक नहीं है। उसके 'अति मनुष्यत्व' (सुपर ह्यूमेनिरी) के सिद्धांत को गंभीरतापूर्वक लेना चाहिए। ईसा मसीह ने यहूदियों के धर्मगुरुओं और विद्वानों की इसलिए भर्त्सना की थी कि उन्होंने स्वर्ग के द्वार की चाबियों को हथिया लिया था। परंतु वे न तो स्वयं स्वर्ग में प्रवेश करते थे, न दूसरों को प्रवेश करने देते थे। इधर हमारे समय के ज्ञानियों ने शिक्षा और संस्कृति के भवनों की चाबियों पर कब्जा जमा रखा है। इसी तरह के धूर्त धर्मनेताओं ने यह फैला रखा है कि ईसाई धर्म मनुष्य की समानता

का समर्थक नहीं है। ये लोग दलित पीड़ितों के दिमाग में यह बात बैठाते हैं कि असमानता का सिद्धांत ईश्वर की सृष्टि है। इसलिए उन्हें पुजारियों, राजाओं, धर्म-गुरुओं, पोपों की आज्ञानुसार चलना चाहिए। ये धर्मगुरु भोग-विलास का जीवन बिताते हैं और जनता को छलते हैं। इसी तरह आजकल के वैज्ञानिक भी जनता के कष्टों से दूर रहते हैं। इनका धर्म है कि ये जनता को 'धार्मिक मायाजाल' से मुक्ति दिलाएँ।

प्रश्न उठाया जाना चाहिए कि तुर्की के सुलतान को किस चीज़ की रक्षा की चिंता थी? रूस का सम्राट् यात्रा के समय कुमारी मेरी की मूर्ति को चूमने का काम क्यों करता था? अपनी सभ्यता और संस्कृति के गर्व पर जर्मन क्यों फूले फिरते हैं? केवल इसलिए न कि ये जानते हैं कि इनकी शक्ति का आधार सेना है। धनी धर्म-भीरु होते हैं और उपवास-व्रत रखकर धर्म की आत्म-रक्षा वाला कवच पहनना चाहते हैं। हमारे जमाने के विद्वानों, साम्यवादियों, क्रांतिकारियों, अराजकों, उदारतावादियों का इतिहास और मनोविज्ञान के अध्ययन से यह सत्य क्यों उजागर नहीं होता कि प्रेरकशक्ति भौतिक पदार्थों में नहीं, 'बल्कि वह सिर्फ धर्म में विद्यमान है।' दु:ख इस बात का है कि जिस प्रकार जन साधरण झूठे धर्म के मायाजाल में फँसे हुए हैं उसी प्रकार आजकल के ये नकली सभ्यताभिमानी पुरुष भी झूठे विज्ञान के मायाजाल में फँसे हुए हैं। कभी वाल्टेयर, ह्यूम और रूसो ने जैसी जागृति पैदा की थी वैसी जागृति आज के विद्वान शिक्षा से नहीं ला रहे हैं। टॉल्सटॉय हिंदू धर्म में त्रिमूर्ति शिक्षा सिद्धांत के कठोर निंदक हैं और अवतारवाद के घोर विरोधी। वे मानते हैं कि मानव-मुक्ति का एक ही उपाय है कि धार्मिक-गुरुओं इस फैलाए गए भ्रमात्मक मायाजाल से अपने को मुक्त कर लें।

उन्होंने लंबे चिंतन के भीतर से यह प्रश्न उठाया कि वास्तव में कोई सच्चा धर्म है भी? संसार में हजारों तरह के धर्म हैं—किस धर्म को सच्चा मानें। लेकिन सभी धर्मों में बाह्य रूपों की दूरी होने पर भी मूल में एक तत्त्व एक जैसे हैं और यही वे सिद्धांत हैं जो तमाम धर्मों के मूलाधार हैं। इन्हीं में से सच्चा धर्म निकल सकता है और वह धर्म मानव जाति को आधुनिक समय के कष्टों से छुटकारा दिला सकता है। हजारों वर्ष के आध्यात्मिक सिद्धांतों में सबकुछ व्यर्थ नहीं है लेकिन उन्हें विवेक बुद्धि से ग्रहण करना होगा। सभी धर्मों के सिद्धांतों का निचोड़ है कि "सब पदार्थों का, चर-अचर सृष्टि का आदिकारण एक सर्वव्यापी परमात्मा है। प्रत्येक मनुष्य के अंदर उस पूर्ण ब्रह्म ज्योति का एक अंश विद्यमान है।" (वही, पृ० 92)अनेक धर्म शास्त्र, अनेक सृष्टि-उत्पत्ति सिद्धांत-मात्र धर्म को टटोलने के प्रयत्न हैं—यह प्रयत्न विश्व-नियंता के साथ संबंध निर्धारण से जुड़ा है। मनुष्य और ईश्वर के ये संबंध

भिन्न-भिन्न रूप में प्रगट हुए हैं। प्राचीन धर्म प्रकृति पर केंद्रित है, उसके बाद बौद्ध, ताओ, इस्लाम धर्म अपने उद्‌गम में अनेक भाष्यों के साथ आए हैं। मनुष्य और परमात्मा के बीच मध्यस्थता करनेवाले संत हैं—संकटों से मुक्ति दिलानेवाले यज्ञ हैं—प्रार्थनाएँ हैं। चीन और जापान में पूर्वजों की पूजा के समस्त समारोह, रोम के सम्राटों की पूजा, यहूदियों के असंख्य समारोह जिनका उद्देश्य ईश्वर और भक्त में रिश्ता कायम करना है—उन सबका आधार राष्ट्र की भलाई हैं। फिर संसार भर के धर्मों की चर्चा के बाद टॉल्सटॉय ईसाई-धर्म के गुणगान में लग गए हैं। यह उनका कमजोर पक्ष है। विश्व के प्रति मनुष्य की व्याख्या दर्शनशास्त्र का क्षेत्र है—धर्म का नहीं। फिर विज्ञान और दर्शनशास्त्र पर उनका भरोसा नहीं है। क्योंकि दोनों भावना की उपेक्षा करके बुद्धि पर आते हैं। प्रश्न उठता है धर्म की व्याख्या कैसे हो? ईश्वरीय ज्ञान को कैसे स्पष्ट किया जाए? इतिहास तो गप्प है—उस पर भी टॉल्सटॉय का भरोसा नहीं है। धर्म के विकृत ईसाई रूप को नवजागरण अपनाने को कतई तैयारी नहीं है। ईसाई धर्म बड़ा जटिल है, उसे समझना चुनौती है क्योंकि वह संस्थागत धर्म है और कठोर नियमों में बँधा हुआ है। हाँ, यह सच है कि धर्म ही विश्व के प्रति मनुष्य के संबंध का निर्धारण करता रहा है। विश्व के प्रति मनुष्य का प्रथम संबंध नैतिकता से जुड़ा है—उच्च शिक्षा से जुड़ा है—विकसित ज्ञान से जुड़ा है। इसी संबंध से स्त्रियों की नैतिकता जुड़ी हैं जो ''परिवार और बच्चे के खातिर अपने सारे व्यक्तित्व का बलिदान कर देती हैं।'' (वही, पृ० 117) मूल बात यह कि नैतिकता को धर्म से पृथक नहीं किया जा सकता।

जीवन का क्या लक्ष्य? इस प्रश्न का उत्तर धर्म देता है और उसमें कुछ नैतिक आदेशों का समावेश कर देता है। टॉल्सटॉय ईसाई नैतिकता की वकालत करते हैं—उसी को उच्च धर्म तत्त्व मानते हैं। मनुष्य अन्य के लिए अपने को बलिदान कर दे, यही नैतिकता है। टॉल्सटॉय को नीत्शे, हक्सले, वेकेटोफ याद आते हैं—लेकिन वे हिन्दू-धर्म के आत्म त्याग पर आकर अटक जाते हैं, उनके संस्कृति में भारत का अद्वैतवाद प्रवेश नहीं कर पाता। उन्हें भारत का 'त्रिमूर्त्ति-सिद्धांत' समझ में नहीं आता—वे उसकी निंदा करते हैं।

वह नैतिकता जिसमें धर्म नहीं है—आधाररहित है। क्योंकि धर्मरहित नैतिकता की योजना घातक होती है। इसी दृष्टि से वे 'धर्म और तर्क' का सवाल उठाकर कहते हैं कि अंत:करण की आवाज पूर्णता की आवाज है उसमें अपूर्णताओं द्वारा विकृत बुद्धि की आवाज दब जाती है। गांधी से जब हिंदू धर्म की परिभाषा पूछी गई तो उन्होंने कहा, ''यद्यपि मैं एक सनातनी हिंदू हूँ तो भी मैं हिंदू धर्म की व्याख्या नहीं कर सकता। एक सामान्य मनुष्य की तरह, जो धर्म का पंडित नहीं है, मैं यह

कह सकता हूँ कि हिंदू धर्म सब धर्मों को, सब तरह से आदर का पात्र समझता है।' (गांधी: संस्मरण और विचार, प्रस्तावना)

टॉल्सटॉय ने तीन महत्त्वपूर्ण निबंध 'जीवन-साधना' के अंतर्गत विश्व साहित्य को दिए। इन तीन निबंधों के शीर्षक हैं—(1) आत्म-संयम, (2) लोग नशा क्यों करते हैं और (3) उद्योग और आलस्य। आत्म-संयम सद्‌जीवन की कसौटी है और नैतिक शिक्षाओं की सीढ़ियाँ निर्धारित की हैं। हिंदू, बौद्ध, कंफ्यूशियनों-यूनानियों—नीचे से ऊपर शिखर पर पहुँचने की सीढ़ियाँ निर्धारित की गई हैं। लेकिन आज ऐसा खराब समय आ गया है कि 'उत्तम जीवन बिताने के लिए मनुष्य को अपने भीतर एक क्रम से सद्‌गुणों के विकास' की आवश्यकता ही महसूस नहीं होती। लेकिन प्लेटो ने सद्‌गुण में पहला स्थान 'आत्म-संयम' को दिया। ईसाई धर्म के अनुसार सद्‌गुणों का विकास 'आत्म-त्याग' से होता है—फिर भक्ति और प्रेम का आदर है।'' टॉल्सटॉय कहते हैं—''मैं ईसाई धर्म की शिक्षा को संसार में सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ।'' (वही, आत्म-संयम, पृ० 135) इसलिए कि 'ईसाई शिक्षा असीम पूर्णता की शिक्षा है।' वे ईसाई और गैर-ईसाई में तुलना करते हैं और ईसाई धर्म की पूर्णता से अभिभूत हैं। किंतु अच्छी बात यह है कि वे पोपवाद के समर्थक नहीं हैं—पोप का समाजवाद उन्हें 'फ्राड' लगता है। उन लोगों से भी उन्हें घृणा है जो 'भोग-विलास' की खातिर दूसरों के श्रम को हड़पने को सदा उद्यत रहते हैं ? साथ ही वे उस धनिक वर्ग के कठोर आलोचक हैं जो अपने बालकों को बिगाड़ देते हैं। वे विलासी-व्यभिचारी हो जाते हैं। उनका मन गरीब का ध्यान ही नहीं करता है। एक संत की भाँति टॉल्सटॉय पशु-हत्या और हिंसा पर इस निबंध में विचार करते हैं।

'लोग नशा क्यों करते हैं?' शराब, भाँग, ताड़ी, तंबाकू क्यों पीते हैं? वे अफीम, चरस, सुल्फा, और कोकिन जैसी नशीली वस्तुओं का प्रयोग क्यों करते हैं ? क्या इनमें मज़ा आता है जबकि नशे से आदमी युद्ध में मरनेवाले आदमियों से ज्यादा होते हैं। गहन शोध के बाद टॉल्सटॉय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि नशेड़ी-गँजेड़ी की 'आत्मा' मर जाती है और वह शरीरजीवी हो जाता है। नशेड़ी अंतरात्मा की आवाज सुनना ही नहीं चाहता। शराब पिलाकर सैनिकों को मत्त बना दिया जाता है ताकि वे पशु की तरह लड़ सकें। वे जीत जाते हैं तो भी शराब-उत्सव मनाया जाता है। छोटे बच्चे तंबाकू पीकर बर्बाद हो जाते हैं। कुछ लोग नशा किए बिना लेखन-कार्य नहीं कर पाते। टॉल्सटॉय अपने समय-समाज को कोसते हैं—जिसने नशे को बढ़ाकर अंतरात्मा का विनाश किया है।

'उद्योग और आलस्य' निबंध में टी० एम० बोंडारीफ की पुस्तक की चर्चा की गई है—बोंडारीफ गुलाम खानदान में जन्मा था और पच्चीस वर्ष की उम्र में फौज में

भर्ती हुआ और 'सबारेरियन संप्रदाय' अपनाया। फिर वह फौज छोड़कर किसान बन गया और बहुत परिश्रम किया। 'रोटी के लिए मजदूरी' का सिद्धांत अपनाने के कारण पुनः दरिद्र हो गया। उसकी पुस्तक 'उद्योग और आलस्य' रूस में नहीं लेकिन फ्रेंच और दूसरी भाषाओं में प्रकाशित हुई। उसने शीर्षक रखा—'कृषक की विजय'। पुस्तक की मूल अंतर्वस्तु इस बात पर केंद्रित है कि संसार में अच्छा क्या है, बुरा क्या है। वह कहता है कि "मनुष्य अपना पसीना बहाकर अपना उदर पोषण करें?" ध्यान रहे कि धर्म-ग्रंथ ईश्वर निर्मित नहीं हैं, उन्हें मनुष्य ने श्रम और प्रतिभा के संयोग से बनाया है। मनुष्य को आलस्य पसंद है और बिना किसी श्रम के वह अपनी आकांक्षाओं को पूरा करना चाहता है। लेकिन बोंडारोफ की समस्त शिक्षा का सार यही है कि मनुष्य को अपने श्रम से रोटी कमानी चाहिए। समाज को सुधारने की दवा है मजदूरी करके रोटी कमाने का सिद्धांत। इसी सिद्धांत को व्यवहार में टॉल्सटॉय ने अपनाया भी था।

टॉल्सटॉय के संत मन ने अपने समय-समाज की सामाजिक कुरीतियों पर पुस्तक लिखकर अलग से विचार किया है। 'सामाजिक कुरीतियाँ' उनकी ऐसी पुस्तक है जिसमें समाज के दोष तथा उन दोषों के निवारन के उपाय सुझाए गए हैं। इस महत्त्वपूर्ण विचार को पाँच भागों में विभक्त किया गया है—(1) जमीन और मजूर, (2) सरकारें, (3) धर्म, (4) युद्ध और (5) स्त्री और पुरुष। 'जमीन और मजूर' की समस्या पर टॉल्सटॉय का पूर्ण चिंतन केंद्रित रहा है। वे प्रश्न उठाते हैं कि यह मानव-समाज है या बाड़े में बंद पशुओं का समूह है जो खाने-पीने को लेकर नुकीले सींगों से एक-दूसरे को मार रहे हैं। उनके मालिक ने कहा कि यदि मैं यह बाड़ा खोल दूँ तो इनका दूध नहीं दुह सकता। यह भी सोचा कि समाज को चलाने के लिए समाज में श्रम-विभाजन आवश्यक है। क्यों बिना श्रम के न घर बन जाते हैं, न भोजन आसमान से टपक पड़ता है। प्रकृति और ईश्वर ने सभी को भोजन उपार्जन की शक्ति दी है। जूता बनानेवाला मोची तो श्रम करता है लेकिन उच्च अधिकारी, धर्माधिकारी, शिल्प-विज्ञानी मुफ्त में मौज उड़ाते हैं। उनके काम की किसी को आवश्यकता नहीं है। अतः हमेशा से चले आते हुए श्रम-विभाजन में सुधार की जरूरत है। मानसिक श्रम, शारीरिक श्रम, आध्यात्मिक श्रम पर विचार होना चाहिए। हमें 'प्राचीन समय से होता आया भीषण अत्याचार' रोकना चाहिए। प्रश्न है कि क्या यह कहना उचित होगा कि मैं तुम्हें मानसिक भोजन दूँगा तुम मुझे शारीरिक भोजन दो—मोटा काम करो, मेरे घर की सफाई करो। लेकिन यह बात शारीरिक भोजन देनेवाले क्यों न कहें। शारीरिक भोजन मुख्य है, आध्यात्मिक-मानसिक भोजन गौण है। उपयोगी कार्य और ललितकलाओं से जुड़े कार्यों में भेद करना होगा। श्रमजीवी

मानव को बुद्धिजीवी मानव से ऊपर रखना होगा। बुद्धिजीवी और धार्मिक शारीरिक श्रम पर कब तक मौज करेंगे और क्यों? 'मजूरों के प्रति' टॉल्सटॉय के चिंतन में करुणा का सागर प्रवाहित है। उन्हें कष्ट है कि मजूर-किसान गाँव और खेती को छोड़कर कारखानों में खप रहा है, दरिद्रता में जी रहा है।

साम्यवादी विद्वान कहते हैं कि मजदूर खानों-कल-कारखानों पर पहले कब्जा करें, बाद में जमीन पर। ध्यान रहे टॉल्सटॉय की ये बातें रूसी क्रांति से पहले की हैं। समय-चक्र ने इन्हें असिद्ध-असत्य सिद्ध कर दिया है। टॉल्सटॉय का साम्यवाद बढ़ता गया और साम्यवादी उनके विरोधी होते गए। यह दलील दी गई कि जमीन इतनी कहाँ कि सभी को मुफ्त दिया जा सके। कल-कारखानों के व्यवसाय में सुख है, मजूर, कम-से-कम इंग्लैंड का मजूर गाँव नहीं लौटना चाहता। जमींदारी तंत्र के अन्याय से वे ऊब गए हैं। दरअसल टॉल्सटॉय के ये विचार पुराने पड़ गए हैं। उनका महत्त्व केवल आज उनके समय और समाज को समझने के लिए रह गया है। 'सरकारें' बदल गई हैं और साम्यवाद बिखर गया है। संस्कृति, सभ्यता, श्रम और उपभोग का अर्थ बदल गया है। नैतिकता-पवित्रता, धर्म, ईश्वर पर बात करने का जमाना गया। उत्तर-आधुनिकतावाद ने पुराने चिंतन को अस्वीकार करते हुए एक नए उत्तर-औद्योगिक, उत्तर-पूँजीवादी समाज को जन्म दिया है।

टॉल्सटॉय जीवन भर 'धर्म' को लेकर चौतरफा सोचते रहे। साथ ही यह भी मानते रहे हैं कि धार्मिक पवित्रता के नष्ट होने से ही मानव-समाज कष्ट भोग रहा है। यह सच है कि धर्म-तत्त्व की उनकी व्याख्या भी अत्यंत-व्यापक है और उसकी इतिश्री कुछ धार्मिक सिद्धांतों को मान बैठने, कुछेक धार्मिक नियमों को मान लेने से ही नहीं हो जाती है। टॉल्सटॉय का तात्पर्य उस धर्म से है जो मनुष्य का संबंध ईश्वर के साथ दृढ़ करता है एवं ईश्वर ही मनुष्य के सभी कर्मों का संचालन करता है। अतः मनुष्य अपने को कर्ता मानने का दंभ न माने—वह तो ईश्वर की इच्छा का माध्यम भर है। जो ईश्वरी इच्छा का आदेश नहीं मानता है वह सभ्यता-संस्कृति-समाज इंद्रियों की तृप्ति में डूबकर पशुवत हो जाता है। उन्नति के नए साधन रेल, उद्योग, फोटोग्राफी का उपयोग मनुष्य केवल अपनी काम पिपासा शांत करने के लिए कर रहा है।

ऋषिवर टॉल्सटॉय के विचार से "मनुष्य के स्वतंत्र होने का एक ही उपाय है, एक ही मार्ग है—ईश्वर की आज्ञानुसार काम करना।" (वही, पृ० 314) ऐसे लोग नास्तिक हैं, धर्म को नहीं मानते हैं, वे ही लोग समाज में, धर्म में अराजकता फैलाते हैं। उन्हें लगता था धर्म हमारे समय की सब माँगों को पूरा करता है। ईश्वर की आज्ञा मानने का अर्थ है—मनुष्य जाति की स्वार्थ से मुक्त होकर सेवा करना, दीन-

हीन पर दया करना। दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना जैसा कि कोई मनुष्य चाहता है कि दूसरे उसके साथ करे। यही वास्तविक धर्म का मूलमंत्र है। यही मूलमंत्र मानव-मुक्ति का मार्ग है।

महात्मा टॉल्सटॉय ने 'प्रेम की परीक्षा' पर अपनी निजी डायरी में माना है कि विलासितापूर्ण-आलसी जीवन पाप है और परिश्रमी सादा किसान का जीवन-कर्म सौंदर्य का पर्याय है। टॉल्सटॉय स्वयं गाँव के झोंपड़े को किराये पर लेकर रहे थे—श्रम किसानी करते थे और अपनी सुविधा-संपत्ति से विरक्त हो गए थे। कामांध-शराबी से उन्हें घृणा थी और उनका पूरा चिंतन इस घृणा को व्यक्त करता है। इसलिए विरक्त प्रेम-बुद्धि का मानवतावाद ही सच्चा मानवतावाद है। 'युद्ध' और 'युद्ध के कारण' भी उन्हें मथते रहे हैं और इस मंथन में उन्होंने पाया कि "मैं उन लोगों से सहमत नहीं हो सकता तो वर्तमान युद्ध का कारण राजनीतिक नेताओं को बतलाते हैं।" (वही, पृ० 327) उनका विचार था कि जब तक वे कारखानों में बने माल के लिए बाजार खोजते रहेंगे तब तक युद्धों का होना अनिवार्य है। स्पेन-अमेरिका के राक्षसी युद्ध इसीलिए हो रहे हैं कि वे दूसरे के श्रम पर कब्जा कर सकें। रूस में जो लड़ाई लड़ी जा रही है वह भी खोखला दंभ है। रूस ईसा के प्रेम सिद्धांतों को भूल गया है—इस बात का महात्मा टॉल्सटॉय को आत्मिक कष्ट है। उन्हें लगता है कि इसके उपदेश ही मनुष्य को सच्चा मार्ग दिखा सकते हैं। सरकारें गलतफहमियों का शिकार है और हिंसा पर आमादा। वे अहिंसा की महिमा भूल रही हैं।

एक समय था जब टॉल्सटॉय के चिंतन ने विश्वभर को अपने प्रेम, त्याग, सत्याग्रह-अहिंसा के दर्शन से अपना भक्त बना लिया था। स्वयं महात्मा गांधी की अहिंसा-सत्याग्रह की नीतियों पर टॉल्सटॉय का गहरा बहुत गहरा असर है। प्रश्न है कि आज के उन्नत आधुनिक समाज, भूमंडलीकरण, मीडिया साम्राज्यवाद, बाजारवाद की उपभोक्ता संस्कति में टॉल्सटॉय के विचार पुराने पड़ गए हैं ?

महात्मा टॉल्सटॉय 'स्त्री और पुरुष' या 'रिलेशन टू दी सक्सेज' शीर्षक पुस्तक में 'क्रूजर सोनाटा' का 'परिशिष्ट', 'डायना', 'चयनिका' और 'कुछ और विचार' निबंधों में कहते हैं—"मेरे पास अपरिचित व्यक्तियों के ऐसे अनेक पत्र आए हैं और आ रहे हैं जिनमें मुझसे कहा गया है कि अपनी 'क्रूजर सोनाटा' शीर्षक कहानी में मैंने जिस विषय को उठाया है, उस संबंध में अपने विचार सरल और सुबोध भाषा में स्पष्ट कर दूँ।" (वही, पृ० 369) टॉल्सटॉय ने विचार करते हुए पाया कि पहला यह स्पष्टीकरण देना आव्रश्यक है कि स्वास्थ्य रक्षा के लिए मैथुन नितांत आवश्यक है। अविवाहित पुरुष बिना किसी आत्मप्रतारणा के पापरत होते हैं और स्त्रियाँ उनके

अभाव की पूर्ति करती हैं। हर कार्य को टॉल्सटॉय अनुचित शोषण या दूसरों का खून पीना मानते हैं। संतति-निरोधक कृत्रिम उपायों का आश्रय भी विषयोपभोग की अनीतिपूर्ण स्थिति है। दूसरे यह कि विषयोपभोग आनंददायक स्थिति है—बल्कि वह जीवन का काव्यपूर्ण वरदान है। यह भी अनुचित है और काव्यमय अवस्था नहीं है। तीसरी बात, संतानोत्पादन का विषयोपभोग ने पवित्र अर्थ नष्ट कर दिया है। चौथी बात, वर्तमान में बच्चों को पैदा करना विषयानंद की बाधा मानना पागलपन है। पाँचवाँ, प्रेम व्यापार का मूलाधार युवक-युवती यौनाचार मानते हैं। युवतियाँ पुरुषों को मोहित करने में संपूर्ण जीवन गँवा देती हैं। अंग-प्रदर्शन करती हैं, कामाग्नि भड़काती हैं, कुलटा-धर्म पालती हैं। इसलिए कविताओं-उपन्यासों में स्वतंत्र प्रेम तथा विवाह कितना ही ऊँचा क्यों न ठहराया जाए—वह मानव जीवन के लिए शोभनीय नहीं है। स्त्री-पुरुष प्रेम को लोकोत्तर मानना छोड़ देना चाहिए—इससे किसी पुनीत लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। कहानी 'क्रूजर सोनाटा' में यह उन्होंने व्यक्त भी किया है कि मानव उच्छृंखलता से नहीं शील से मानव है। फिर ब्रह्मचर्य नियम नहीं है आदर्श है। यह कहना कि ब्रह्मचर्य पालन से मानव जाति नष्ट हो जाएगी यह महात्मा टॉल्सटॉय के मत के साथ धोखा है। हिंदू, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई, यहूदी सभी धर्मों में ब्रह्मचर्य के नियम हैं। लेकिन उन्हें ईसाई शिक्षा का नैतिक पक्ष ही सर्वाधिक श्रेष्ठ लगता है और वे यहूदीवाद का विशेषकर 'फाटिसीवाद' का विरोध करते हैं।

टॉल्सटॉय को 'डायना' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका स्त्री-पुरुष संबंध को लेकर किसी ने भेजी थी। किसी ने कहा था कि 'क्रूजर सोनाटा' के सभी सिद्धांतों को 'डायना' प्रकाशित कर देती है। मजेदार बात यह है कि 'डायना' में व्यक्त विचार ईसाई-शिक्षाओं पर आधारित न होकर गैर-ईसाई शिक्षाओं पर आधारित है। फिर भी 'डायना' पुस्तक के विचार बड़े ही उत्तेजक विचार हैं। इस पुस्तिका का आदर्श वाक्य है—'मैं और उन दोनों का शरीर एक होगा'। स्त्री-पुरुष में केवल शरीर-भेद नहीं है—नैतिक भेद है। स्त्री का स्त्रीत्व और पुरुष का पुरुषत्व दोनों एक-दूसरे को पाकर ही पूर्ण होते हैं। यहाँ शारीरिक मिलन में आध्यात्मिक मिलन समाया हुआ है। कामेच्छा तृप्ति नहीं, अतृप्ति का नाम है—शरीर पाकर और उफनती है। मैथुन शरीर में अनेक प्रतिक्रियाएँ करता है। 'डायना' दिखाती है कि "स्त्री-पुरुष में दो प्रकार का संबंध हो सकता है—एक, वैषयिक; दूसरा, प्रेममय। (वही, पृ० 385-386) लेकिन प्रेम तो सात्विक ही हो सकता है। वह देह नहीं है—मन है, आत्मा है।

'चयनिका' में टॉल्सटॉय जीवन के सर्वोपरि ध्येय की चर्चा करते हैं और मानते

हैं कि विषय-वासना को प्रेम नहीं कहा जा सकता। सात्त्विक प्रेम, स्वतंत्र-स्वच्छंद प्रेम, आध्यात्मिक प्रेम में स्थूल शरीर नहीं है, मन प्रधान है। स्त्री-पुरुष के आकर्षण का कारण केवल विषयेच्छा नहीं है—उसमें अन्य कारण भी मौजूद रहते हैं। व्यभिचारी स्त्री-पुरुष देह घिसते हैं—कई बार उनके मूल में प्रलोभन होते हैं। ईसाई शिक्षा में विवाह का विधान नहीं है—यह विधान तो पादरियों ने खड़ा किया है। काम-ज्वर मति-भ्रष्ट ज्वर है, विकारी भावों की विजय है। प्रेम तो मानव-प्रेम से ईश्वर-प्रेम की ओर बढ़ता है। यह स्थायी प्रेम है। स्त्रियाँ उत्पादक शक्ति हैं—उन्हें समानता का दर्जा देना चाहिए। जननेंद्रियाँ काटकर नपुंसकत्व अपनाना अपराध है। विवाह करना ही धर्म हैं—इंद्रिय काट डालना पाप है। इसीलिए बाइबिल विवाह-दर्शन, प्रेम और विवाह, बाइबिल का समाधान, मनुष्य बनाम पक्ष, हृदय मंथन दांपतिक सहवास में स्त्री का स्थान, स्त्री का कर्तव्य, शंका-समाधान, अनाथ बच्चे, स्त्री भोग की वस्तु नहीं, पापमोचन के उपाय आदि असंख्य कोणों से टॉल्सटॉय ने विचार किया है लेकिन उनकी सीमा ईसाई धर्म है—और एक पत्नीव्रत का सिद्धांत भी। उन्हें बाइबिल का यह सिद्धांत वाक्य मान्य है कि स्त्री-पुरुष दो नहीं एक हैं। विवेकशील मानव का कर्तव्य है विकारों से संघर्ष करना और प्रकृति विरुद्ध आचरण न करना।

दरअसल, स्त्री-पुरुष संबंध को लेकर टॉल्सटॉय के विचार नैतिक धर्म-सिद्धांत के शील दर्शन में बँधे हुए हैं। हमारे यहाँ ऐसी ही शिक्षाएँ संत-महात्माओं के साथ गांधी जी देते रहे हैं। इन शिक्षाओं का महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ हूँ क्योंकि सात्त्विक जीवन जीने से ही मनुष्य और मनुष्यता का विकास होता है। अंधा भोगवाद, यौनवाद का पतन है। आज उपभोक्तावादी संस्कृति, मीडिया साम्राज्यवाद, बाजार-व्यवस्था और भूमंडलीकरण के मूल्यमूढ़ समय में टॉल्सटॉय और गांधी ही हमें दिशा-दृष्टि दे सकते हैं। वे आज भी प्रासंगिक हैं और उनकी शरण में ही मनुष्य को जाना होगा।

अंत में, मैं अपने पूजनीय गुरुवर प्रोफेसर इंद्रनाथ चौधुरी के चरणों में नमन करता हूँ, जिनकी प्रेरणा के बगैर यह कार्य मुझसे संभव ही न था।

कृष्णदत्त पालीवाल
प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अनुक्रम

धर्म और सदाचार

अनुवादक

शोभालाल गुप्त

धर्म क्या है ?

संसार के सभी मनुष्य-समाजों के जीवन में ऐसे खास अवसर आए हैं जब धर्म पहले अपने मूल उद्देश्य से विमुख हुआ, फिर धीरे-धीरे इतना अलग होता गया कि अपने उद्देश्यों को ही भुला बैठा और अंत में कर्मकांड में फँसकर जड़वत बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों के जीवन पर उसका प्रभाव दिन-प्रतिदिन कम होता गया।

ऐसे अवसरों पर शिक्षित अल्प-संख्यक प्रचलित धार्मिक उपदेशों पर विश्वास करना छोड़ देते हैं। वे सिर्फ श्रद्धा का दिखावा करते हैं, कारण उन्हें जन-साधारण को प्रचलित समाज-संगठन में बनाए रखने के लिए इस प्रकार का दिखावा करना आवश्यक प्रतीत होता है। लेकिन जनता, जो यद्यपि अकर्मण्यतावश धर्म के ऊपरी रूपों से चिपटी रहती है, धार्मिक आदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत करना छोड़ देती है। वह सिर्फ सामाजिक रूढ़ियों और सरकारी विधानों का अनुसरण करने लगती है।

भिन्न-भिन्न मनुष्य-समाजों में बराबर यही होता रहा है। लेकिन हमारे ईसाई समाज में इस समय जो कुछ हो रहा है वैसा पहले कभी नहीं हुआ। समाज का वह अल्पसंख्यक समुदाय, जिसके पास धन है, सत्ता है और शिक्षा है तथा जिसका जनता पर सबसे अधिक प्रभाव है, उसने प्रचलित धर्म पर से न सिर्फ अपना विश्वास ही उठा लिया, बल्कि उसे इस बात का भी यकीन हो गया कि धर्म जैसी किसी चीज की अब कोई आवश्यकता नहीं है। इतना ही नहीं, वह इससे भी आगे बढ़ गया। उसको चाहिए तो यह था कि वह उन लोगों पर, जो आमतौर पर माने जानेवाले धर्म की सत्यता में संदेह प्रकट करते हैं, यह प्रभाव डालता कि वे ऐसी धार्मिक शिक्षाओं को ग्रहण करें जो प्रचलित धर्म की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और बुद्धिगम्य हों, लेकिन उसने इसके विपरीत जनता को यह बात मानने के लिए प्रेरित किया कि धर्म-मात्र का जमाना गुजर गया और अब वह न सिर्फ निरुपयोगी, बल्कि शरीर के किसी विकारयुक्त अंग की भाँति समाज का एक हानिकर अंग बन गया है।

ऐसे लोग धर्म को हमारी आंतरिक अनुभूति द्वारा व्यक्त होनेवाली चीज नहीं मानते। वे इसको बाह्य वस्तु समझते हैं, मानो वह एक रोग है जो कुछ लोगों को लग जाता है और जिसका पता बाहरी लक्षणों द्वारा ही लगा सकते हैं।

इनमें से कुछ लोगों का यह खयाल है कि धर्म की उत्पत्ति इस बात से हुई कि लोग प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में आत्मा का अस्तित्व मानने लगें। दूसरे कुछ लोगों की राय में मृत पूर्वजों के साथ संबंध स्थापित हो सकने की कथित संभावना के कारण धर्म का जन्म हुआ। इसके अलावा कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह मानते हैं कि धर्म की उत्पत्ति का कारण लोगों का प्रकृति की शक्तियों से भय खाना है। लेकिन हमारे जमाने के दिग्गज पंडित कहते हैं कि अब विज्ञान ने इस बात को साबित कर दिया है कि वृक्षों और पत्थरों में आत्मा नहीं हो सकती, न हमारे मरे हुए पूर्वज इस बात को जानते हैं कि उनके जीवित वंशज क्या करते हैं, और प्रकृति की शक्तियों का उद्गम स्रोत क्या है। इसका मतलब यह हुआ कि धर्म की अब कोई आवश्यकता नहीं है और न उन तमाम बंधनों की ही आवश्यकता है जिनसे धार्मिक विश्वासों के कारण लोगों ने अपने-आपको जकड़ रखा था।

इन दिग्गज विद्वानों की सम्मति है कि धार्मिक युग अज्ञान का युग था। यद्यपि उस युग के कुछ चिह्न अब भी कहीं-कहीं बचे हुए हैं, तथापि मानवता उसको पार कर चुकी है। इसके बाद अध्यात्म विज्ञान का जमाना आया, लेकिन वह भी अब गुजर चुका है। हम शिक्षित, सभ्य और संस्कृत लोग जिस जमाने में जीवन-यापन कर रहे हैं वह निश्चयात्मक विज्ञान का जमाना है। इस विज्ञान ने धर्म का स्थान ले लिया है और वह मनुष्य-जाति को उन्नति के उस ऊँचे शिखर पर पहुँचा देगा, जिस पर अंध-विश्वास पैदा करनेवाली धार्मिक शिक्षा के अधीन रहते हुए भी वह नहीं पहुँच पाती।

सन् 1901 के आरंभ में बर्थेलो नामक सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी ने एक भाषण दिया था।[1] उन्होंने अपने श्रोताओं से कहा कि धर्म का जमाना गुजर चुका है। अब धर्म के स्थान पर विज्ञान को बिठा देना चाहिए। मैं इस भाषण का जिक्र यहाँ इसलिए कर रहा हूँ कि इस प्रकार का यह पहला भाषण इस समय मेरे हाथ में है। दूसरा, यह भाषण एक विश्वविख्यात विज्ञान-वेत्ता द्वारा ऐसे नगर में दिया गया है जो शिक्षित संसार की राजधानी है। लेकिन इस प्रकार के विचारों का प्रचार विविध रूपों में तत्त्वज्ञान-संबंधी गंभीर निबंधों से लगाकर समाचार-पत्रों के साधारण लेखों तक के द्वारा निरंतर और खुलेतौर पर किया जा रहा था।

उपर्युक्त भाषण में श्रीयुत बर्थेलो कहते हैं कि प्राचीन काल में मनुष्य जाति को प्रेरित करनेवाली दो प्रेरक शक्तियाँ थीं : शक्ति और धर्म। लेकिन अब ये दोनों प्रेरक शक्तियाँ अनावश्यक हो गई हैं; क्योंकि इनका स्थान अब विज्ञान ने ग्रहण कर लिया है। विज्ञान से बर्थेलो का मतलब, विज्ञान के तमाम दूसरे क्षेत्रों की भाँति, स्पष्टतः

---

1. देखिए 'रिव्यू डी. पेरिस' जनवरी 1901

उस विज्ञान से है, जिसका संबंध मनुष्य की जानकारी के संपूर्ण पदार्थों से है। इस विज्ञान में रूपता है, सजातीयता है और वह ऐसे साधनों का स्वामी है कि जिस निष्कर्ष पर वह पहुँचता है वह एकांत रूप से सत्य ही होता है। लेकिन सच तो यह है कि इस प्रकार के किसी विज्ञान का अस्तित्व ही नहीं है और जिस चीज को आजकल लोग विज्ञान के नाम से पुकारते हैं वह केवल अधूरे और असंबद्ध ज्ञानकणों का संग्रह-मात्र है। इन ज्ञान-कणों में से अनेक बिल्कुल निरुपयोगी हैं। ये शुद्ध सत्य प्रकट करने के बजाय बहुधा हमें भद्दे भ्रमजालों में डाल देते हैं। जिन बातों को आज सत्य बताया जाता है उन्हीं का खंडन कर दिया जाता है। यह स्पष्ट है कि धर्म का स्थान ग्रहण करनेवाली जिस वस्तु का बर्थेलो कल्पना करते हैं उसका अस्तित्व ही नहीं है। फलतः श्रीयुत बर्थेलो और उनके मत को माननेवाले व्यक्तियों का यह दावा कि विज्ञान धर्म का स्थान ग्रहण कर लेगा, सर्वथा मनमाना दावा है। इसका आधार वह अयथार्थ श्रद्धा है जो विज्ञान को अचूक समझती है, किंतु यह वैसा ही विश्वास है जैसा यह विश्वास कि पुरोहित-धर्म अचूक धर्म है।

इसके बावजूद ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं जो शिक्षित समझे जाते हैं या जो अपने-आपको शिक्षित समझते हैं। उन्हें पक्का यकीन है कि ऐसे विज्ञान का अस्तित्व है जिसे धर्म का स्थान ले लेना चाहिए और यह स्थान ले भी सकता है :

वे तो यहाँ तक मानने लग गए हैं कि उस विज्ञान ने धर्म का स्थान ले भी लिया है।

"धर्म पुराना पड़ गया है; विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु में श्रद्धा रखना अज्ञान है; जो कुछ आवश्यक है, वह सब विज्ञान जुटा देगा और इसलिए हरेक मनुष्य को अपने जीवन में विज्ञान के पथ-प्रदर्शन में काम करना चाहिए"—वैज्ञानिक ऐसा कहते और सोचते रहते हैं और साधारण श्रेणी के वे लोग भी जो हालाँकि वैज्ञानिक नहीं हैं, किन्तु वैज्ञानिकों में विश्वास रखते हैं, उनके स्वर-में-स्वर मिलाकर कहते हैं कि धर्म गए-गुजरे जमाने का अंध-विश्वास है और इसलिए अब हमें जीवन में विज्ञान को ही अपना पथ-प्रदर्शक मानना चाहिए। इसका असली तात्पर्य यह हुआ कि जीवन में हमारा कोई पथ-प्रदर्शक न हो। कारण कि विज्ञान (जिसका कि उद्देश्य यह है कि जो कुछ है उसी का अध्ययन करना है) हमारा किसी प्रकार मार्ग-दर्शन नहीं कर सकता।

2

हमारे जमाने के उद्भट विद्वानों ने तय कर दिया है कि अब धर्म की कोई आवश्यकता नहीं और यह भी कि विज्ञान धर्म का स्थान ले लेगा अथवा ले चुका है। लेकिन फिर भी यह सत्य अमिट है कि धर्म के बिना न तो पहले और न अब कोई मनुष्य-समाज

और विवेकवान पुरुष जिंदा रहा है, न रह सकता। 'विवेकवान पुरुष' इस वाक्यांश का मैंने जान-बूझकर प्रयोग किया है; क्योंकि एक अविवेकी पुरुष पशुओं की भाँति बिना धर्म के भी जिंदा रह सकता है, लेकिन विवेकी पुरुष धर्म के बिना नहीं रह सकता। कारण कि धर्म ही उसका आवश्यक पथ-प्रदर्शन कर सकता है, उसको बता सकता है कि उसको कौन-सा कार्य करना चाहिए, कौन काम पहले करना चाहिए और कौन बाद में। विवेकवान पुरुष की यह विशेष प्रकृति होती है कि वह प्रत्येक वस्तु को बुद्धि की कसौटी पर कसता है, इसलिए वह बिना धर्म के जीवित नहीं रह सकता। प्रत्येक पशु अपने सारे काम उनके प्रत्यक्ष परिणामों को दृष्टि में रखकर करता है। इससे मेरा तात्पर्य उन कार्यों से नहीं है जो उसको अपनी तात्कालिक जरूरतों की पूर्ति के लिए करने पड़ते हैं। अपनी समझ के अनुसार परिणामों पर विचार करके वह तदनुसार आचरण करता है। वह सदा अपनी समीक्षा के अनुसार बिना किसी हिचकिचाहट के एक ही प्रकार से काम किया करता है। उदाहरणार्थ, शहद की मक्खी इसलिए शहद एकत्र करने के लिए उड़ती है और छत्ते में शहद एकत्र करती हैं कि जाड़े के मौसम में उसको अपने और अपने बच्चों के लिए भोजन की आवश्यकता होगी। इस खयाल के अलावा वह न तो और कोई बात जानती है और न जान सकती है। जब कोई पक्षी अपना घोंसला बनाता है अथवा उत्तर दिशा से दक्षिण दिशा को और दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा को प्रयाण करता है तो वह भी उसी विचार से प्रभावित होकर काम करता है। प्रत्यक्ष और तात्कालिक आवश्यकता को पूरा करने की अवस्था से अलग जब कोई जानवर पूर्वकल्पित परिणामों के खयाल से किसी काम को करता है तो यह इसी प्रकार का आचरण है। परंतु मनुष्य के लिए यह नियम नहीं है। मनुष्य और पशु के बीच में जो भेद है वह यही है कि पशु की बौद्धिक शक्तियाँ, जिन्हें हम अंत:प्रेरणा (Instinct) कहते हैं, उसी तक सीमित होती हैं; किंतु मनुष्य की मौलिक दर्शन-शक्ति है उसका विवेक। जब कोई मधुमक्षिका मधु-चयन करती है तो उसको कभी इस बारे में शक नहीं होता कि शहद इकट्ठा करना अच्छा है या बुरा; लेकिन मनुष्य अपनी फसल काटते समय यह जरूर सोचेगा कि भावी फसलों की पैदावार तो कम नहीं हो जाएगी और कहीं वह अपने पड़ोसी के मुँह का ग्रास तो नहीं छीन लेगा। वह इस बात पर आश्चर्य प्रकट किए बिना भी नहीं रह सकता है कि जिन बच्चों का वह पालन-पोषण कर रहा है वे आगे चलकर कैसे बनेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रकार अपने प्रत्येक कार्य में वह विवेक-बुद्धि का सहारा जरूर लेगा। एक समझदार व्यक्ति आचरण-संबंधी अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का अंतिम निपटारा नहीं कर सकता क्योंकि वह इस बात को भली-भाँति जानता है कि उसके कार्यों के अनेक परिणाम निकल सकते हैं। प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य जानता है, अथवा कम-से-कम अनुभव करता है कि जीवन के अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के संबंध

में वह न तो अपनी व्यक्तिगत भावनाओं और न अपने कार्यों के तात्कालिक परिणामों के खयाल से प्रेरित हो सकता है। इसका कारण यह है कि जो परिणाम उसको दृष्टिगोचर होते हैं वे इतने बहुसंख्यक और विविध और बहुधा एक-दूसरे से इतने विपरीत होते हैं कि वे उसके तथा दूसरे लोगों के लिए कल्याणप्रद और हानिकर दोनों ही साबित हो सकते हैं। इस संबंध में एक पौराणिक कथा है। एक बार स्वर्ग से एक देवदूत पृथ्वी पर उतरा। उसने एक ईश्वर-भक्त व्यक्ति के घर में प्रवेश किया और पालने में सोए हुए नन्हे-से शिशु को मार डाला। जब उससे दरियाफ्त किया गया कि उसने ऐसा क्यों किया तो उसने उत्तर दिया कि अगर इस बच्चे को जिंदा रहने दिया जाता तो आगे चलकर यह भयंकर नर-पिशाच साबित होता और कुटुंब की सुख-शांति को बर्बाद कर देता। लेकिन यह बात इस प्रश्न के लिए लागू नहीं हो सकती कि किन मनुष्यों के जीवन उपयोगी हैं, किनके अनुपयोगी हैं और किनके हानिकर? कोई भी बुद्धिमान मनुष्य जीवन-संबंधी अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का केवल उनके तात्कालिक परिणामों का विचार करके ही निपटारा नहीं कर सकता। पशु जिन भावनाओं से प्रेरित होकर काम करता है, उनसे एक विवेकवान व्यक्ति संतुष्ट नहीं हो सकता। एक मनुष्य चाहे तो अपने को पशुओं में रहनेवाला पशु समझ सकता है। यह सोच सकता है कि उसका जीवन क्षणभंगुर है, अथवा वह अपने को एक परिवार का, समाज का, या राष्ट्र का सदस्य मान सकता है और अपना जीवन शताब्दियों लंबा समझ सकता है। या वह समझ सकता है, यों कहें तो और भी अच्छा कि उसे समझना पड़ता है—क्योंकि उसका विवेक बल-पूर्वक उसे ऐसा मानने को प्रेरित करता है—कि वह अनंत, अनादि और संपूर्ण ब्रह्मांड का अंग है। इसलिए अपने कार्यों पर असर डालनेवाले जीवन-संबंधी छोटे-छोटे प्रश्नों के संबंध में विवेकशील पुरुषों को वही करना चाहिए, जैसा कि उन्होंने हमेशा किया है, जिसे अंकगणित में संयोजन (integrate) कहते हैं—अर्थात् उन्हें जीवन के तात्कालिक तथ्यों के साथ संबंध स्थापित करने के अलावा देश और काल से परे उस महान, अखंड और अनादि के साथ भी अपना नाता जोड़ना चाहिए—उस परिपूर्ण और अखंड के साथ, जिसका कि वह अपने आपको एक अंश समझता है और जिससे वह अपने आचरण के संबंध में पथ-प्रदर्शन प्राप्त करता है। इसी को धर्म कहा गया है और कहा जाता है। यही कारण है कि धर्म प्रत्येक विवेकशील पुरुष और विवेकवान मानव-समाज के जीवन का एक अनिवार्य और आवश्यक अंग रहा है और भविष्य में भी रहेगा।

3

जिन लोगों में उच्च कोटि की अर्थात् धार्मिक चेतना रही है उन्होंने धर्म को हमेशा इसी भाँति समझा है। यह उच्च कोटि की चेतना ही मनुष्य को पशुओं से पृथक

करती है। स्वयं धर्म शब्द की उत्पत्ति के मूल में देवताओं की पूजा का भाव सन्निहित है, अथवा जैसा कि साधारणत: समझा जाता है, धर्म का अर्थ अदृश्य शक्तियों के प्रति अपने कर्तव्य का एक बंधन है। धर्म की अत्यंत प्राचीन और प्रचलित व्याख्या यह है कि 'धर्म ईश्वर और मनुष्य के बीच संबंध जोड़नेवाली एक कड़ी है।' वावेनार्क का कथन है—"ईश्वर के प्रति मनुष्य के कर्तव्य का नाम धर्म है।" श्लेईमाचर और फ्यूर बाके भी धर्म का यही अर्थ करते हैं। उनका कथन है कि धर्म का आधार मनुष्य की वह आत्मानुभूति है जिसके द्वारा वह अपने-आपको ईश्वर पर निर्भर अनुभव करता है। बेल के कथनानुसार धर्म ईश्वर और प्रत्येक मनुष्य के बीच का मामला है। बेंजमिन कान्स्टंट कहते हैं कि धर्म आत्मा की आवश्यकताओं और बुद्धि के परिणामों का नाम है। "धर्म एक विशेष प्रकार का साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अति मानुषी और रहस्यमयी शक्तियों के साथ, जिन पर कि वह अपने आपको निर्भर समझता है, अपना संबंध स्थापित करता है।"—गोबलेट डी.एल.वी. एला। "मनुष्य-जीवन की उस व्याख्या का नाम धर्म है जिसका आधार मनुष्य की आत्मा और उस रहस्यमयी शक्ति के संबंध पर है जिसका आधिपत्य वह अपने तथा समस्त विश्व पर स्वीकार करता है और जिसके साथ मनुष्य अपनी एकात्मता अनुभव करता है।"—ए० रिवाहल।

मनुष्य अपने पर जिस अनंत परमात्मा अथवा आत्माओं की सत्ता अनुभव करता है और उनके साथ जो संबंध स्थापित करता है, वही धर्म का तत्त्व है। हमेशा से इसी को धर्म का तत्त्व समझा गया है और आज भी जो लोग उच्च मानवी विशेषता से वंचित नहीं हैं, ऐसा ही मानते हैं। संबंध का स्वरूप अलग-अलग देश और अलग-अलग काल में कितना ही भिन्न क्यों न रहा है, उसने हमेशा इस संसार में मनुष्यों के लक्ष्य को निर्धारित किया है। उसी के द्वारा स्वभावत: मनुष्यों को अपने आचरण अथवा व्यवहार के बारे में पथ-प्रदर्शन मिलता रहा है। एक यहूदी ने अपने और उस अनंत शक्ति के बीच का संबंध इस अर्थ में समझा कि वह संसार की सब जातियों में से ईश्वर की एक विशिष्ट प्यारी जाति का सदस्य है और इसलिए ईश्वर को साक्षी समझकर उसको उस समझौते का पालन करते रहना चाहिए जो ईश्वर ने यहूदियों के साथ किया है। एक यूनानी ने उसी संबंध को इस रूप में समझा कि चूँकि उसका जीवन शाश्वत शक्ति के प्रतिनिधियों—अर्थात् देवताओं पर निर्भर है, इसलिए उसको वे ही कर्म करने चाहिए जो इन देवताओं को प्रसन्न कर सकें। एक ब्राह्मण अपने-आपको सर्वव्यापी ब्रह्म की अभिव्यक्ति समझता है और इसलिए वह इस बात को मानता है कि उसको सांसारिक सुखों का परित्याग करके उस सर्वश्रेष्ठ शक्ति का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करना चाहिए। एक बौद्ध मतावलंबी ने उस

अनंत विभूति के साथ अपना संबंध यह समझा और आज भी समझता है कि एक जीवन से दूसरे जीवन में प्रवेश करते समय उसे अनिवार्य रूप से कष्ट भोगना पड़ता है और इन कष्टों का जन्म उसकी अपनी लालसाओं और वासनाओं से ही होता है, इसलिए उसका कर्तव्य सब प्रकार की लालसाओं और वासनाओं का दमन करने का प्रयत्न करना है, ताकि वह निर्वाण-पद की प्राप्ति कर सके। किसी भी धर्म पर हम दृष्टि डालें, हमको हरेक धर्म में यही सिद्धांत छिपा हुआ नजर आता है। मनुष्य धर्म के द्वारा अपने और अनंत आत्मा के बीच, जिसके साथ कि वह अपने को संबंधित अनुभव करता है, किसी-न-किसी प्रकार का संबंध स्थापित करता है और फिर उसके द्वारा वह अपने आचरण के संबंध में पथ-प्रदर्शन प्राप्त करता है। अतः जो धर्म उस परम तत्त्व और मनुष्य के बीच संबंध न जोड़ता हो जैसा कि पाषाण-पूजा और मंत्र-तंत्र की विधियों के सम्बन्ध में होता है, वह वास्तविक धर्म नहीं, बल्कि धर्म का अपभ्रंश होगा। यदि कोई धर्म ईश्वर और मनुष्य के बीच कुछ-न-कुछ संबंध जोड़ भी देता हो, लेकिन अगर यह संबंध ऐसे मंतव्यों द्वारा जोड़ा गया हो जो मनुष्य की विवेक-बुद्धि और वर्तमानकालीन ज्ञान-भंडार के विपरीत हो और इसलिए जिन पर कोई व्यक्ति सच्चे दिल से श्रद्धा न ला सके, तो वह भी धर्म नहीं, बल्कि धर्म का धतींगा होगा। इसी प्रकार उस वस्तु को भी हम धर्म नहीं कहेंगे।'' सर्वशक्तिमान जो इस अनंत जीवन के साथ मनुष्य के जीवन की एकता स्थापित न कर सके। न हम ऐसे सिद्धांतों में विश्वास रखने को ही धर्म कह सकते हैं जिनसे मनुष्य को अपने व्यवहार के संबंध में कोई निश्चित पथ-प्रदर्शन नहीं मिलता।

हमारे चारों ओर सब जगह जो एक अनंत शक्ति व्याप्त है उसके साथ ज्ञान और बुद्धिपूर्वक संबंध स्थापित करने का नाम है धर्म। इस प्रकार का धर्म ही मनुष्य के जीवन को उस अनंत शक्ति के साथ बाँधता है और उसका मार्ग-दर्शन करता है।

4

यद्यपि न तो कोई ऐसा युग था और न कोई ऐसा स्थान, जहाँ मनुष्य बिना धर्म के जीवित रहे हों, तथापि वर्तमान समय के उद्‌भट विद्वान मालियर के 'अनाड़ी वैद्य' की भाँति, जिसने कहा था कि कलेजा मनुष्य के बाईं ओर होता है, कहते हैं कि अब तो हमने सब कुछ परिवर्तित कर दिया है। उनका खयाल है कि हम लोग धर्म के बिना अपना जीवन बिता सकते हैं और हमको बिताना चाहिए।

लेकिन धर्म का मनुष्य-समाज के लिए भूतकाल की भाँति आज भी वही उपयोग है, अर्थात् वह मनुष्य-समाज की प्रधान प्रेरक शक्ति और हृदय है। उसके बिना मनुष्य-जीवन उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार हृदय के बिना शक्ति का कायम रहना। ईश्वर

अथवा देवताओं के साथ मनुष्य के संबंध को प्रकट करने के लिए अनेक धर्म हो चुके हैं और आज भी प्रचलित हैं। धर्मों की यह विविधता भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न देशों के लोगों के विकास-क्रम के अनुसार रही है। लेकिन जिस समय से मनुष्य विवेकवान प्राणी बना है तब से आज तक मनुष्यों का कोई समाज ऐसा नहीं हुआ, जिसमें मनुष्य बिना धर्म के जीवित रह सके हों या जीवित रहे हों।

यह सच है कि राष्ट्रों के जीवन में ऐसे अवसर आ चुके हैं और कभी-कभी आते रहते हैं, जब प्रचलित धर्म इतना पतित, भ्रष्ट और जीवन से इतना पिछड़ जाता है कि वह मनुष्य-जीवन के लिए पथ-प्रदर्शक नहीं रहता। लेकिन मनुष्यों के जीवन पर धर्म के प्रभाव का ऐसा लोभ (और भिन्न-भिन्न अवसरों पर ऐसा प्रत्येक धर्म में हुआ करता है) ज्यादा दिनों तक कायम नहीं रहता। इसकी वजह यह है कि धर्म का और प्रत्येक जीवित पदार्थ का यह प्रधान लक्षण होता है कि वह पैदा होता है, बढ़ता है, बूढ़ा होता है और मर जाता है। इसके बाद वह फिर जीवन धारण करता है, और उसका स्वरूप पहले से अधिक पूर्ण होता है। जब धर्म अपने विकास के उच्च शिखर पर पहुँच जाता है तो उसके बाद हमेशा उसकी वृद्धावस्था और मृत्यु का काल शुरू होता है। इसके बाद फिर एक नवीन युग का आविर्भाव होता है। यह युग धर्म के पुनरुत्थान का युग होता है। इस युग में पहले की अपेक्षा और अधिक स्पष्ट और विवेकपूर्ण धार्मिक सिद्धांतों की स्थापना होती है। प्रत्येक धर्म में उत्थान, पतन और पुनरुत्थान के ऐसे युग आ चुके हैं। गंभीर ब्राह्मण धर्म जब पुराना पड़ने लगा और अपने मूल उद्देश्यों से भिन्न निश्चित और भद्दा रूप धारण करके जड़ बन गया तो जहाँ एक ओर ब्राह्मण धर्म में ही पुनरुत्थान की भावना जागृत हुई वहाँ दूसरी ओर बौद्ध-धर्म की उच्च शिक्षाओं का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध-धर्म ने मनुष्य और ईश्वर के संबंधों के बारे में मनुष्य जाति की धारणा को बहुत व्यापक बनाया। यूनानी और रोमन धर्मों को भी पतन के दिन देखने पड़े और जब उनका पतन चरम सीमा को पहुँच गया तो अंत में ईसाई धर्म का उदय हुआ। वही घटना गिर्जा प्रणाली सम्मत ईसाई-धर्म के जीवन में भी घटित हुई। बीजेंटाइम काल में इस धर्म का इतना पतन हुआ कि सर्वत्र पाषाण तथा अनेक देवी-देवताओं की पूजा होने लगी। इस पतित और भ्रष्ट ईसाई-धर्म की बाढ़ को रोकने के लिए एक तरफ पालीशियन[1] समुदाय

---

1. *पालीशियन ईसाइयों का वह धार्मिक समुदाय था, जिसने पूर्वीय गिज के इतिहास में (सातवीं से बाईसवीं सदी तक) बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने चर्च द्वारा प्रतिपादित ईसा की शिक्षाओं को मानने से इनकार कर दिया। परिणामस्वरूप ये लोग निर्दयतापूर्वक सताए और उत्पीड़त किए गए थे।*

का जन्म हुआ और दूसरी तरफ त्रिमूर्ति और मेरी की आराधना के सिद्धांत के विरुद्ध कठोर इस्लाम धर्म अस्तित्व में आया। (इस्लाम धर्म का मूलभूत सिद्धांत एकेश्वरवाद था)। यही बात मध्यकालीन पोपशाही ईसाइयत के संबंध में हुई। उसने धार्मिक शोध के आंदोलन को जन्म दिया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब-जब बहुसंख्यक लोगों पर धर्म का प्रभाव कम हुआ है, तब-तब अनिवार्यतः सभी धार्मिक शिक्षाओं का विकास हुआ है और उनमें नया जीवन आया है। इसका कारण यह है कि अपने वास्तविक अर्थ में—चाहे वह अर्थ कितना ही असंस्कृत (असंगत) क्यों न हो—प्रत्येक धर्म हमेशा मनुष्य और सर्वव्यापी शक्ति के बीच, जो सब मनुष्यों के लिए समान है, संबंध स्थापित करता है। प्रत्येक धर्म इस बात को मानता है कि इस सर्वव्यापी शक्ति की तुलना में छोटे-बड़े सब मनुष्य समान रूप से नगण्य हैं, समुद्र की तुलना में एक बूँद की भाँति हैं। इसलिए प्रत्येक धर्म में इस कल्पना को स्थान प्राप्त है कि जिस वस्तु को वह परमात्मा कहकर स्वीकार करता है उसके सामने सब मनुष्य समान हैं। न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। फिर वह धर्म जिसको परमात्मा कहकर मानता है, वह चाहे अग्नि हो, विद्युत हो, वायु हो, वृक्ष हो, कोई जानवर-विशेष हो, पुरुष हो अथवा मृतक या जीवित राजा कोई क्यों न हो। इस प्रकार प्रत्येक धर्म का यह मूलभूत और अनिवार्य लक्षण है कि वह मनुष्य मात्र की समानता के सिद्धांत को स्वीकार करता है। लेकिन मनुष्यों के वास्तविक जीवन में समानता कहीं भी और कभी भी स्थापित नहीं हुई, न इस जमाने में कहीं नजर आती है। कारण मनुष्यों की समानता[1] में विश्वास रखनेवाले किसी नवीन धार्मिक सिद्धांत ने ज्योंही किसी समाज में जन्म लिया, कुछ लोगों ने उसकी तद्विषयक शिक्षा को तोड़-मरोड़कर उसके मौलिक पहलू पर पर्दा डालने का प्रयत्न किया, क्योंकि असमानता में ऐसे लोगों का स्वार्थ निहित था। जहाँ कहीं किसी नए धर्म ने जन्म लिया वहाँ सब जगह हमेशा ऐसा ही हुआ। यह सब अधिकार जान-बूझकर नहीं किया गया। ऐसा सिर्फ इसलिए हुआ कि जिन लोगों का स्वार्थ असमानता में ही सिद्ध होता था, उन्होंने अर्थात् सत्ताधारियों और धनवानों ने अपनी स्थिति में परिवर्तन किए बिना ही धार्मिक शिक्षा के अनुसार अपनी असमान स्थिति का औचित्य सिद्ध करना चाहा और परिणामस्वरूप धार्मिक शिक्षाओं का ऐसा अर्थ प्रचलित किया, जिसने असमानता का समर्थन होता था। इस

1. *इसका मतलब यह हुआ कि परमात्मा की नजर में हम सब समान हैं और इसलिए मानवीय कानून और रिवाज ऐसे होने चाहिए जो मनुष्य मात्र को जीवित एवं स्वतंत्र रहने और सुख की खोज करने का समान अधिकार देते हों। इसके अलावा यह भी कि मनुष्य आपस में एक-दूसरे के साथ भाई-भाई का-सा बर्ताव करे।*

प्रकार धर्म का पतन हो जाने पर स्वभावतः जो लोग दूसरों पर मनमानी चलाते थे, वे भी अपने आचरण को उचित समझने लगे और जब जन-साधारण में ऐसे कलुषित धर्म का प्रचार आया तब उनके मस्तिष्क में भी यह विचार घर कर गया कि वे जिस धर्म को मानते हैं उसके आदेशानुसार उन्हें सत्ताधारियों के अधीन रहना चाहिए और उनकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए।

5

मनुष्य जाति के सब प्रकार के कार्यों के मूल में तीन प्रेरक कारण हैं: अनुभूति, विवेक और संकेत। इनमें से अंतिम वस्तु वही है जिसको डॉक्टर सम्मोहन शक्ति कहते हैं। अनेक बार मनुष्य अपनी आंतरिक प्रेरणा से प्रभावित होकर कार्य करता है, सिर्फ अपनी अभिलषित वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। अनेक बार वह केवल बुद्धि के वशवर्ती होकर कार्य करता है। उसका कर्तव्याकर्तव्य का भेद बताता है। लेकिन अनेक बार, बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि बहुधा मनुष्य इसलिए कार्य करता है कि उसने स्वयं अथवा दूसरे किन्हीं लोगों ने उसको उस कार्य के करने का संकेत किया होता है और वह बिना किसी तर्क-वितर्क के उस संकेत का अनुसरण करता है। जीवन की साधारण परिस्थितियों में ये तीनों बातें मनुष्य को समान रूप से प्रेरित करती हैं। अंत:स्फूर्ति मनुष्य को किसी कार्य विशेष की ओर आकर्षित करती है। बुद्धि वर्तमान परिस्थितियों, भूतकाल के अनुभवों और भविष्य की आशाओं को दृष्टि में रखकर उस कार्य के भले-बुरे का निर्णय करती है। इस प्रकार अंत:स्फूर्ति द्वारा उत्पन्न और बुद्धि द्वारा अनुमोदित कार्यों के करने के लिए अंत:स्फूर्ति और बुद्धि के अलावा संकेत (Suggestion) मनुष्य को प्रेरित करता है। अगर मनुष्य में अंत:स्फूर्ति न हो तो वह किसी कार्य को हाथ में नहीं ले सकता। अगर उसमें बुद्धि न हो तो वह अपने और दूसरे लोगों को नुकसान पहुँचाने वाली अनेक परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों को अपना लेगा। यदि उसमें अपने निज के तथा अन्य व्यक्तियों के संकेतों पर चलने की योग्यता न हो तो उसको हमेशा अंत:स्फूर्ति का आश्रय लेना पड़ेगा और अपनी बुद्धि को अंत:स्फूर्ति के औचित्यानौचित्य का पता लगाने के लिए व्यस्त रखना पड़ेगा। इस प्रकार मनुष्य के छोटे-से-छोटे कामों के लिए भी इन तीनों प्रभावों का होना आवश्यक है। अगर कोई मनुष्य एक स्थान से उठकर दूसरे स्थान को जाता है तो उसकी वजह यह है कि अंत:स्फूर्ति ने उसको एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए प्रेरित किया है, बुद्धि ने उसके इस अभिप्राय का समर्थन किया है तथा उस कार्य को पूरा करने के साधन मनुष्यों को सुझा दिए हैं (इस उदाहरण में जैसे एक विशेष रास्ते पर कदम उठाकर चलना)।

शरीर के अवयव आज्ञा का पालन करते हैं और मनुष्य उस निर्दिष्ट मार्ग पर चलने लगता है। जिस समय वह चलता रहता है उसकी अंत:स्फूर्ति और बुद्धि अन्य कार्य करने को स्वतंत्र होते हैं। अगर उसमें अपना तथा दूसरों के संकेत पर चलने की योग्यता न होती तो ऐसा होना संभव नहीं था। मनुष्य-समाज के संपूर्ण कार्यों में और उनमें भी सबसे महत्त्वपूर्ण धार्मिक कार्य में हमको यही बात दिखाई देती है। अंत:स्फूर्ति मनुष्य और परमात्मा के बीच संबंध स्थापित करने की आवश्यकता जागृत करती है, बुद्धि उस संबंध की सीमाएँ निश्चित करती है और संकेत मनुष्य को उस संबंध के अनुरूप कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। लेकिन ऐसा तभी तक होता है जब तक धर्म शुद्ध और निर्विकार रहता है। जब धर्म विकृत होने लगता है तो संकेत का प्रभाव मनुष्य पर अधिकाधिक मजबूत होता जाता है और अंत:स्फूर्ति तथा बुद्धि के कार्यों की गति मंद पड़ जाती है। संकेत के तरीके हमेशा और हर जगह एक ही प्रकार के होते हैं। उनका समावेश इस बात में होता है कि वे मनुष्य का ऐसे अवसर पर उपयोग करते हैं जब उसमें संकेत ग्रहण करने की शक्ति बहुत अधिक मात्रा में होती है। उदाहरणार्थ बाल्यकाल और जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं—जैसे, मृत्यु, जन्म, विवाहोत्सव आदि के समय। मनुष्य पर कला—स्थापत्य, मूर्ति-निर्माण, चित्रकला, संगीत और अभिनयों—द्वारा प्रभाव डाला जाता है और जब वह ग्रहण करने की स्थिति—जिसकी तुलना हम उस स्थिति के साथ कर सकते हैं जो कि व्यक्तियों पर सम्मोहन करने से पैदा होती है—में होता है तो संकेत करनेवाला जो कुछ चाहता है उसके दिमाग में बिठा देता है।

तमाम पुराने धर्मों के अंदर हम इस प्रकार के घटना-क्रम का अवलोकन कर सकते हैं। उच्च ब्राह्मण-धर्म को हम भद्दी पाषाण-पूजा के रूप में पतित हुआ पाते हैं। लोग गायन-वादन द्वारा और सुगंधित धूप-दीप जलाकर अलग-अलग मंदिरों में असंख्य मूर्तियों की पूजा करने लगते हैं। पैगंबरों द्वारा प्रचारित प्राचीन यहूदी धर्म को हम एक विशालकाय मंदिर में देवता की पूजा के रूप में परिवर्तित होता देखते हैं, जहाँ थोथे गानों और जुलूसों के अलावा कुछ नहीं होता। महान् बौद्ध धर्म भी इसी प्रकार परिवर्तित हो जाता है। मठ स्थापित होते हैं, बुद्ध की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होती हैं और नाना प्रकार की दिखावटी विधियाँ अपना ली जाती हैं। अंत में बौद्ध धर्म को हम रहस्यमय लामावाद के रूप में देखते हैं। इसी प्रकार चीन का ताओ धर्म भी आगे चलकर सिर्फ जादू-टोने और मंत्र-तंत्र में बदल जाता है।

सब धर्मों में हमेशा यही होता आया है कि जब-जब धर्मों ने विकृत रूप धारण करना आरंभ किया तो धर्माचार्यों ने पहले तो मनुष्यों को ऐसी स्थिति में ले जाकर डाला कि उनकी बुद्धि मंद हो गई और बाद में मनचाही बातों पर मनुष्यों की श्रद्धा जमाने

का भरसक प्रयत्न किया और सब धर्मों में उन्हीं तीन बातों की ओर लोगों को प्रेरित करना आवश्यक समझा गया जिनका जिक्र ऊपर किया गया है। ऐसा करने की वजह यह थी कि एक पतनशील धर्म जिन विकारों का शिकार हो सकता है उनके लिए वे बातें आधार-शिला का कार्य करती हैं। सबसे पहले लोगों को यह सुझाया गया कि समाज में एक विशेष प्रकार के व्यक्ति होते हैं और केवल वे ही परमात्मा अथवा देवताओं और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ का कार्य कर सकते हैं। दूसरी बात यह कि चमत्कार हुए हैं और होते हैं, जो इन मध्यस्थ लोगों के कथन की सत्यता को पुष्ट और प्रमाणित करते हैं। अंतिम और तीसरी बात लोगों को यह बताई गई कि कुछ शब्द ऐसे हैं जो या तो मौखिक दुहराए जाते हैं या किताबों में लिखे हुए हैं। ये शब्द परमात्मा के अटल संकल्प को व्यक्त करते हैं और इसलिए परम पवित्र और अचूक हैं। ज्योंही सम्मोहन के प्रभाव में आकर जनता इन कथनों को मानने लगती है, वे सब बातें भी पवित्र और सच्ची मानी जाने लगती हैं जो ईश्वर और मनुष्यों के ये मध्यस्थ अपने मुँह से कहते हैं। इस प्रकार धर्म को विकृत करने का प्रधान उद्देश्य सफल हो जाता है, अर्थात् मनुष्य-मात्र की समानता के सिद्धांत पर पर्दा पड़ जाता है, समाज में घोर असमानता की स्थापना हो जाती है और उसका समर्थन होने लगता है। समाज जातियों और उपजातियों में विभक्त हो जाता है। कुछ लोग ईश्वर के प्यारे कहलाने लगते हैं तो कुछ धर्मद्रोही। कुछ लोग पुरातनवादी और कुछ नास्तिक तथा कुछ साधु-महात्मा और कुछ पापी समझ लिए जाते हैं। हमारे ईसाई धर्म में भी यही बात हुई है और हो रही है। मनुष्य-मनुष्य के बीच भयंकर असमानता को हमने स्वीकार कर लिया है। हमने मनुष्यों को उनके धार्मिक विश्वासों के अनुसार पादरियों और गृहस्थों में ही नहीं बाँटा है; बल्कि सामाजिक स्थिति के अनुसार हमने उनको शासकों और शासितों में भी बाँट दिया है, और संत पाल की शिक्षाओं के अनुसार इस बँटवारे को हम ईश्वर-सम्मत मानते हैं।

6

दूसरे तमाम धर्मों की भाँति ईसाई गिर्जा-धर्म ने भी बिल्कुल निश्चित और उग्र रूप में मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानता को स्थापित कर डाला है। वह न केवल धर्माचार्यों और गृहस्थों का अंतर ही स्वीकार करता है, बल्कि समाज में अमीर और गरीब, मालिक और गुलाम का भेद भी उसको मान्य है। लेकिन अगर हम धर्म-ग्रंथों में लिखी हुई ईसाई धर्म की प्राचीन शिक्षाओं पर विचार करें तो हमें मालूम होगा कि अन्य धर्मों को विकृत करने के लिए जो प्रमुख साधन काम में लाए गए उनको पहले से महसूस कर लिया गया था और उनके खिलाफ स्पष्ट रूप से

चेतावनी दे दी गई थी। पादरी-समाज के खिलाफ इन धर्मग्रंथों में स्पष्ट रूप में लिखा हुआ है कि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का गुरु नहीं बन सकता—"न किसी व्यक्ति को अपना गुरु कहो—न खुद मालिक कहाओ"। धर्मग्रंथों को पवित्र समझ लेने के खिलाफ यह कहा गया कि शब्दों में कुछ नहीं रखा है, उनके भाव को ही महत्त्वपूर्ण समझो। यह भी कहा गया कि मनुष्य को सामाजिक रूढ़ियों को नहीं मानना चाहिए और समस्त धार्मिक सिद्धांतों और पैगंबरों के उपदेशों का, अर्थात् पवित्र और सत्य माने जाने वाले सम्पूर्ण ग्रंथों का, निचोड़ यह है कि मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा कि वह चाहता है कि दूसरे उसके साथ करें। इतना तो धर्म को विकृत करने के दो साधनों के बारे में हुआ। रहा तीसरा प्रकार सो यदि उन ग्रंथों में चमत्कारों के खिलाफ कुछ नहीं कहा गया और यदि बाइबल में कुछ ऐसे चमत्कारों का वर्णन है जिनके लिए खयाल किया जाता है कि ईसामसीह ने उनको किया था, तो भी उस धर्म-शिक्षा की सारी भावना से इतनी बात बिल्कुल स्पष्ट है कि ईसामसीह ने अपनी शिक्षाओं के औचित्यानौचित्य को प्रमाणित करने के लिए अलौकिक कृत्यों का सहारा नहीं लिया, बल्कि उनके गुणावगुणों पर ही जोर दिया था। "अगर कोई आदमी ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करना चाहता है तो धर्मशिक्षा से उसे इस बात का पता लगा जाएगा—फिर वह धर्मशिक्षा चाहे ईश्वर-प्रदत्त हो या उसको मैंने अपने मुँह से कहा हो।" इस सबके अलावा ईसाई धर्म ने मनुष्य मनुष्य के बीच समानता की घोषणा की है। केवल इसीलिए नहीं कि ईश्वर और मनुष्य के बीच एक खास रिश्ता है, बल्कि इसलिए भी कि समस्त मनुष्यों का भाईचारा एक मूल सिद्धांत है, जो इस खयाल से पैदा होता है कि सब मनुष्य उस परम पिता की संतान हैं। इस प्रकार जब हम एक ही पिता की संतान हैं तो फिर हममें छोटे-बड़े के भेद को स्थान कैसे मिल सकता है?

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त धार्मिक शिक्षाओं के मौजूद रहते हुए ईसाई धर्म इस प्रकार विकृत नहीं होना चाहिए था कि मनुष्य मनुष्य के बीच समानता की भावना ही नष्ट हो जाती। लेकिन मनुष्य का मस्तिष्क भी कुछ कम सूक्ष्मदर्शी नहीं है। धर्मग्रंथों में लिखी हुई चेतावनियों तथा मनुष्य मनुष्य के बीच समानता की स्पष्ट घोषणा को बेकार बनाने के लिए संभवतः जाने या अनजाने एक बिल्कुल नया जाल रचा गया। तदनुसार न सिर्फ कुछ धर्म-लेखों को ही अचूक बताया गया, बल्कि पादरी नामधारी व्यक्तियों के एक विशेष समुदाय को भी निर्विकार घोषित किया गया। यह भी कहा गया कि ये पादरी जिसको चाहें उसको निर्विकार बना सकते हैं।

धर्मग्रंथों में थोड़ी-सी सामग्री ऊपर से जोड़ दी गई। लोगों को कहा गया कि जब

ईसामसीह स्वर्ग को प्रयाण करने लगे तो उन्होंने खास-खास व्यक्तियों को कुछ विशेष अधिकार प्रदान किए थे। उन्होंने उनको न सिर्फ यही अधिकार दिया कि वे जनसाधारण को ईश्वरीय सत्य (धर्मग्रंथ में लिखित शब्दों के अनुसार तो उस समय ईसामसीह ने इन लोगों को यह अधिकार भी दे दिया था कि साँप के काटने तथा विषपान से भी इन लोगों के शरीर को कोई हानि नहीं पहुँचेगी।)[1] की शिक्षा दें, बल्कि यह निर्णय करने का अधिकार भी दिया कि कौन-से व्यक्ति उद्धार पाने योग्य हैं और कौन-से नहीं। यह भी वे जिसको चाहें अपना यह अधिकार सौंप सकते हैं। धर्मग्रंथ की इस छीछालेदर का परिणाम यह हुआ कि ज्योंही गिरजे की इस कल्पना ने जनता के मन में गहरी जड़ जमाई, त्योंही ईसामसीह की शिक्षा को दूषित होने से बचानेवाली धर्मग्रंथों में लिखी हुई तमाम चेतावनियाँ निरर्थक और बेकार हो गईं? क्योंकि अब गिरजा बुद्धि से और पवित्र माने जानेवाली धार्मिक शिक्षाओं से श्रेष्ठ बन गया था। अब तो लोग बुद्धि को गलतियों का उद्गम-स्थान मानने लगे और धर्मग्रंथों का बुद्धि-गम्य तथा जन-साधारण की समझ में आने योग्य अर्थ करने के बजाय ऐसा अर्थ किया जाने लगा जो गिरजे के सर्वेसर्वाओं की रुचि के अनुकूल था।

इस प्रकार ईसाई धर्म में धर्म को विकृत करने के तीनों पुराने साधनों—अर्थात् महंती, चमत्कारों और धर्मवाक्यों की अचूकता को पूर्णत: स्वीकार कर लिया गया। मनुष्य और ईश्वर के बीच मध्यस्थ बननेवालों के महत्त्व को माना जाने लगा, क्योंकि गिरजावाद ने ऐसे मध्यस्थों की आवश्यकता और औचित्य को स्वीकार कर लिया था। चमत्कारों का औचित्य और प्रामाणिकता भी स्वीकार की जाने लगी; क्योंकि सत्य की ठेकेदार गिरजा-प्रणाली ने उन पर अपनी मुहर लगा दी थी। इस भाँति बाइबिल की पवित्रता और अचूकता भी स्वीकार की जाने लगी, क्योंकि गिरजे ने उसे स्वीकार कर लिया था।

इस प्रकार दुनिया के तमाम दूसरे धर्मों की भाँति ईसाई धर्म भी विकृत कर दिया गया। लेकिन पहले के और इस उदाहरण में यह अंतर था कि चूंकि ईसाई धर्म में अपने मूलभूत सिद्धांत—अर्थात् ईश्वर के पुत्रों की हैसियत से मनुष्य मनुष्य सब समान हैं—की घोषणा अत्यंत स्पष्ट शब्दों में की थी, इसलिए उसके इस मूलभूत सिद्धांत पर पर्दा डालने के लिए उसकी संपूर्ण शिक्षा को अत्यन्त उग्रता के साथ

1. *"संपूर्ण संसार में फैल जाओ और जनता में धर्मशिक्षा का प्रचार करो। इन धर्मशिक्षाओं में श्रद्धा रखनेवालों के ये लक्षण होंगे—मेरा नाम लेकर वे साँपों को अपने हाथों में उठा लेंगे और अगर वे किसी विषैले पदार्थ का पान करेंगे तो भी उनको किसी तरह की क्षति नहीं पहुँचेगी।"—बाइबिल*

विकृत करना पड़ा। गिरजा-प्रणाली की इस कल्पना की सहायता से ईसाई धर्म को जितना विकृत किया गया, उतना और कोई धर्म विकृत नहीं किया गया। फलतः संसार में किसी भी धर्म ने वस्तुतः कभी भी विवेक और आधुनिक ज्ञान के इस कदर विरुद्ध बातों की तथा इतने अनैतिक उपदेशों की शिक्षा नहीं दी, जितनी कि ईसाई गिरजे ने अपने सिद्धांतों के प्रचार द्वारा जनता को दी। यहाँ हम पुरानी बाइबिल की उन तमाम वाहियात बातों का तो जिक्र ही नहीं करना चाहते, जिनमें सूर्य से पहले प्रकाश के पैदा होने, 6000 वर्ष पूर्व सृष्टि का निर्माण होने, आर्क नामक स्थान में संपूर्ण प्राणियों के लिए घरों के बनाए जाने तथा अन्य तरह-तरह के अनैतिक जघन्य कर्मों का, जिनमें ईश्वर के आदेशानुसार सारे मनुष्य-समाज और बालकों तक को कत्ल करने तक का विधान शामिल है, वर्णन किया गया है। न हम यहाँ पर उस प्रसाद-वितरण की विधि का उल्लेख करना चाहते हैं जिसके बारे में प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक वाल्येटर यह कहा करता था कि हालाँकि संसार में नाना प्रकार के वाहियात धार्मिक सिद्धांत प्रचलित हैं, तथापि इस प्रकार का धार्मिक सिद्धांत त्रिकाल में प्रचलित नहीं हुआ, जिसके अनुसार अपने परमात्मा को खा जाना धर्म का मुख्य कार्य समझा जाता है। भला इनसे अधिक वाहियात और कौन-सी बातें हो सकती हैं कि ईश्वर की माता माता भी थी और कुमारी भी; आकाश फटा और वहाँ से एक आवाज सुनाई दी; ईसा मसीह उड़कर आकाश में चले गए और वहाँ कहीं एक जगह परम पिता के दाहिनी तरफ बैठा करते हैं, अथवा यह कि ईश्वर एक है और तीन भी। यह नहीं कहा जाता कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन देवता हैं; लेकिन यह कहा जाता है कि ईश्वर एक भी है और तीन भी। इसके अतिरिक्त इस भयंकर सिद्धांत से बढ़कर अनैतिक और क्या हो सकता है कि एक क्रोधी और बदला लेनेवाला परमात्मा आदम के पाप के लिए तमाम आदमियों को सजा दिया करता है और उसने संसार के लोगों के उद्धार के लिए अपने पुत्र को पृथ्वी पर भेजा, पहले से यह जानते हुए कि मनुष्य उसको मार डालेंगे और इस प्रकार निंदा के पात्र बन जाएँगे। साथ ही इससे बढ़कर भयंकर बात और कोई नहीं हो सकती कि बपतिस्मा कराने से ही पापों से मुक्ति मिल जाती है अथवा इस बात में श्रद्धा रखने से कि ये सब अलौकिक कृत्य वास्तव में हो चुके हैं, ईश्वर के पुत्र अर्थात् ईसामसीह मनुष्यों द्वारा इसलिए मार डाले गए कि मनुष्यों का उद्धार हो सके और यह भी कि जो लोग इन बातों में श्रद्धा नहीं लाएँगे उन्हें ईश्वर कल्प-कल्पांतर तक नर्क में सड़ाएगा?

इस प्रकार यदि हम उन बातों को छोड़ भी दें, जिनके लिए यह खयाल किया जाता है कि धर्म के मुख्य सिद्धांत में बाद में जोड़ दी गई हैं, प्राचीन अवशेषों और

ईश्वर की माताओं की अनेक प्रतिमाओं[1] पर भी विचार न करें, अलग-अलग विशेषताएँ रखनेवाले संतों और महात्माओं से की गई सुख-याचना-सूचक प्रार्थनाओं और प्रोटेस्टेंट धर्मावलंबियों के दैववाद को भी एक ओर रख दें तो भी नयसीन की प्रशस्ति में सन्निहित और सब लोगों द्वारा स्वीकृत इस धर्म के खास आधार ही इतने वाहियात और अनैतिक तथा सद्‌भावनाओं और साधारण समझ से इतने विपरीत हैं कि मनुष्य उनको मान ही नहीं सकता। लोग अपने ओंठों से तोतों की भाँति चाहे जिस प्रकार के शब्दों को दुहरा सकते हैं; लेकिन वे उन बातों में कभी विश्वास नहीं ला सकते, जिनका कोई मतलब ही नहीं निकलता। यह संभव है कि एक आदमी अपने ओंठों के द्वारा यह बात कहे—"मेरा विश्वास है कि छह हजार वर्ष पूर्व सृष्टि की उत्पत्ति हुई" या "मेरा विश्वास है कि ईसामसीह आकाश में उड़ गए और अपने पिता के पास जाकर बैठ गए" या "ईश्वर एक है और तीन भी" लेकिन कोई व्यक्ति इन बातों में वस्तुतः विश्वास नहीं ला सकता, क्योंकि इन शब्दों का दरअसल कोई मतलब नहीं! इस प्रकार आधुनिक काल के जो लोग ईसाई धर्म के इस विकृत स्वरूप को मानते हैं वे वास्तव में किसी चीज में विश्वास नहीं करते। और यही हमारे जमाने की एक खास खूबी है।

7

वस्तुतः इस जमाने के लोग किसी बात में भी विश्वास नहीं रखते। लेकिन फिर भी 'यहूदियों के नाम धर्म-पत्रिका', जिसका लेखक गलती से लोग संत पाल को मानते हैं, नामक पुस्तक के आधार पर श्रद्धा की गलत व्याख्या करके वे मान बैठते हैं कि वे श्रद्धा रखते हैं। इस व्याख्या के अनुसार अभिलषित पदार्थों के सार या अदृश्य पदार्थों के अस्तित्व के प्रमाण को श्रद्धा कहा गया है। लेकिन ये दोनों बातें बिल्कुल गलत हैं। यहाँ पर हम थोड़ी देर के लिए अगर इस बात का उल्लेख न करें कि श्रद्धा कोई ठोस पदार्थ नहीं; क्योंकि श्रद्धा तो मनुष्य की एक विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति का नाम है और इसलिए वह कोई दृश्य वस्तु नहीं हो सकती तो भी हम 'अदृश्य चीजों के प्रमाण' को श्रद्धा नहीं कह सकते। दूसरी वजह यह है कि 'धर्म-पत्रिका' में जिस प्रमाण का जिक्र है उसके आगे और पीछे के मजमून को देखते हुए उसका अर्थ केवल अंध-श्रद्धा ही होता है और अंध-श्रद्धा एवं श्रद्धा, ये दोनों

---

1. *कजान, आईबेरियन एवं दूसरी अनेक 'ईश्वर की माताएँ' और कुछ नहीं केवल ईसामसीह की माता मेरी की तस्वीरें हैं। रूस में यह विश्वास प्रचलित है कि इन प्रतिमाओं के अंदर अद्‌भुत और अलौकिक कार्य करने की शक्तियाँ हैं।*

बिल्कुल दो जुदी-जुदी चीजें हैं।

न तो आशा और न अंध-विश्वास का नाम श्रद्धा है। श्रद्धा तो इन दोनों से भिन्न एक तीसरी ही चीज है। वह आत्मा की एक खास स्थिति का नाम है। श्रद्धा मनुष्य के उस आत्म-ज्ञान का नाम है, जिसके अनुसार उसको इस बात का ज्ञान होता है कि संसार में उसको अपनी स्थिति के अनुसार कुछ खास कर्तव्य करना चाहिए। मनुष्य अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुरूप संसार में कार्य करता है। परंतु उसके ऐसा करने की वजह यह नहीं है—जैसा कि हमारे रूसी भाषा में लिखित धार्मिक वार्तालाप में कहा गया है—कि वह दृश्य पदार्थों की भाँति अदृश्य पदार्थों में विश्वास रखता है और मनोवांछित वस्तुओं को पाने की आशा रखता है। इसकी वजह तो यह है कि दुनिया में अपनी स्थिति को समझ लेने के बाद स्वभावत: वह उसके अनुसार कार्य करता है। एक किसान जमीन को जोतता है और एक मल्लाह समुद्र में नाव खेने का कार्य करता है। इन दोनों के ऐसा करने की वजह यह नहीं है, जैसा कि हमारे धर्मध्वजी अक्सर कहा करते हैं, कि ये लोग अदृश्य में विश्वास रखते हैं अथवा अपने कामों के बदले कुछ प्रतिफल पाने की आशा रखते हैं। यह ठीक है कि उनके मन में प्रतिफल की आशा होती है, लेकिन वे उसी से प्रेरित होकर कार्य नहीं करते; बल्कि उसकी वजह यह है कि वे उन कामों को अपना धंधा समझते हैं। इसी भाँति एक धार्मिक श्रद्धा रखनेवाला व्यक्ति एक विशेष प्रकार से व्यवहार करता है; लेकिन वह ऐसा इसलिए नहीं करता कि वह अदृश्य में विश्वास रखता है अथवा अपने कार्य का प्रतिफल चाहता है, बल्कि उसका कारण यह है कि संसार में अपनी स्थिति को भली-भाँति हृदयंगम कर लेने के बाद वह स्वभावत: उस स्थिति के अनुरूप आचरण करता है। यदि कोई व्यक्ति इस बात का निश्चय कर लेता है कि समाज में उसकी स्थिति एक मजदूर की, एक कारीगर की, एक राज्य कर्मचारी की अथवा एक व्यापारी की है तो वह अपनी स्थिति के अनुरूप काम करना आवश्यक समझता है और मजदूर, कारीगर, राज्य कर्मचारी अथवा व्यापारी का काम करता है। ठीक यही स्थिति उन आम लोगों की है जो संसार में इस प्रकार अपनी स्थिति को निश्चित कर लेते हैं और फिर अनिवार्यत: और स्वभावत: उसके अनुसार कार्य करते हैं। उनका यह निश्चय अनेक बार स्थूल निश्चय नहीं होता। उसको हम अस्पष्ट आत्म-चेतना कह सकते हैं। इस प्रकार उदाहरण के लिए मान लो कि एक मनुष्य ने संसार में अपनी स्थिति के बारे में यह समझा है कि वह ईश्वर के प्रिय राष्ट्र का सदस्य है, जिसे ईश्वर का संरक्षण प्राप्त करने के लिए उस परम पिता के आदेशों का पालन करना चाहिए, तो वह अपना जीवन इस प्रकार बिताएगा कि जिससे परमेश्वर के आदेशों का पालन हो सके। इसी भाँति, मान लो कि एक दूसरा व्यक्ति है, जिसने

संसार में अपनी स्थिति इस बात को सामने रखकर निर्दिष्ट की है कि वह भिन्न-भिन्न प्रकार की असंख्य जीव-योनियों में होकर गुजर चुका है तथा गुजर रहा है एवं उसके व्यक्तिगत आचरण और कार्यों पर हीं उसका अच्छा या बुरा भविष्य बहुत कुछ निर्भर है तो वह अपने इस विचार के द्वारा प्रेरित होकर कार्य करेगा और एक तीसरा आदमी है जो परमाणुओं के आकस्मिक संयोग को ही अपने जन्म का कारण मानता है और यह मानता है कि उसकी चेतन शक्ति क्षणिक है, जो अंत में सदा के लिए बुझ जाएगी; तो जीवन में उसका व्यवहार उपर्युक्त दोनों प्रकार के व्यक्तियों से भिन्न होगा।

इन तीनों प्रकार के व्यक्तियों का आचरण बिल्कुल भिन्न होगा। कारण उन्होंने अपनी स्थिति को भिन्न रूप में निर्दिष्ट किया है अथवा यों कह लीजिए कि वे विभिन्न विश्वास रखते हैं। श्रद्धा और धर्म दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं; बल्कि एक ही वस्तु के दो नाम हैं। उनमें अंतर है तो सिर्फ यही कि धर्म शब्द से हमारा तात्पर्य किसी ऐसी वस्तु से होता है जिसका अवलोकन हम अपने बाहर करते हैं; और श्रद्धा भी वही वस्तु है, पर उसका अनुभव मनुष्य अपने भीतर करता है। मनुष्य और इस अनंत विश्व के बीच उस संबंध का नाम श्रद्धा है जिससे मनुष्य परिचित होता है और उसके इस संबंध में से ही उसको पथ-प्रदर्शन प्राप्त होता है। और इसलिए सच्ची श्रद्धा न तो कभी अविवेकपूर्ण हो सकती है और न आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विपरीत। न वह अलौकिक या बेहूदा हो सकती है, जैसा कि लोग खयाल करते हैं और जैसा कि गिरजाघर के एक पादरी ने कहा था कि—"मैं श्रद्धा में इसलिए विश्वास रखता हूँ कि वह एक वाहियात चीज है।" इसके विपरीत हमारा तो यह स्पष्ट मत है कि सच्ची श्रद्धा के मंतव्यों को चाहे साबित भले ही न किया जा सके, लेकिन विवेक और मानव-ज्ञान के विपरीत कुछ नहीं होता। प्रत्युत वे हमेशा जीवन के उन तत्त्वों का स्पष्टीकरण करते हैं जो श्रद्धा द्वारा अनुमोदित कल्पना के अभाव में अविवेकपूर्ण और असंगत प्रतीत होंगे।

मिसाल के तौर पर यहाँ प्राचीन काल के एक यहूदी का उदाहरण लीजिए। उसका यह विश्वास था कि इस विश्व में एक परब्रह्म, सर्वशक्तिमान तथा अनादि पुरुष है, जिसने इस ब्रह्मांड, पृथ्वी, जीव-जंतुओं, मनुष्यों इत्यादि को उत्पन्न किया है और इस बात का वचन दिया है कि अगर उसकी सृष्टि के लोग उसके आदेशों पर चलेंगे तो वह उनकी रक्षा करेगा। उसका यह विश्वास अविवेकपूर्ण अथवा ज्ञान-विरुद्ध विश्वास न था। इसके विपरीत वह श्रद्धा उसको जीवन की ऐसी अनेक बातों का ज्ञान प्रदान करती थी—जिन पर उसके अभाव में पर्दा ही पड़ा रहता।

इसी प्रकार एक हिंदू यह मानता है कि मनुष्यों की आत्माएँ नाना प्रकार की

जीव-योनियों में रह चुकी हैं और उन्होंने भला या बुरा जैसा जीवन बिताया होता है, उसके अनुसार उनको उच्च अथवा निम्न श्रेणी की जीव-योनियों में जन्म धारण करना पड़ता है। अपनी इस श्रद्धा की सहायता से वह अनेक ऐसी बातों को अपने लिए बुद्धिगम्य बना लेता है जो इस श्रद्धा के अभाव में उसकी समझ में बिल्कुल आ ही नहीं सकती थीं।

ठीक यही स्थिति उस मनुष्य की है जो यह समझता है कि जीवन धारण करना एक प्रकार की बुराई (पाप) है और मनुष्य-जीवन का उद्देश्य अपनी वासनाओं का दमन करके शांति प्राप्त करना है। ऐसा व्यक्ति किसी अविवेकपूर्ण बात में विश्वास नहीं रखता। इसके विपरीत, वह ऐसी बात में विश्वास करता है जो मनुष्य-जीवन संबंधी उसके दृष्टिकोण को पहले से अधिक बुद्धि-संगत बनाता है।

एक सच्चे ईसाई के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। वह इस बात में विश्वास करता है कि ईश्वर संसार के समस्त मनुष्यों का आध्यात्मिक पिता है और मनुष्य सर्वोच्च मानव-कल्याण तभी प्राप्त कर सकता है जबकि वह इन दो बातों को स्वीकार करे कि (1) सब मनुष्य ईश्वर की संतान हैं और (2) मनुष्य-मनुष्य सब भाई-भाई हैं।

ये सब विश्वास चाहे प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त भले ही न किए जा सकें; किंतु बजातेखुद वे अविवेकपूर्ण कदापि नहीं हैं। इसके विपरीत वे हमारे जीवन की विभिन्न घटनाओं का विवेकपूर्ण अर्थ हमारे सामने रखते हैं। अगर मनुष्यों के अंदर उनका अभाव हो तो उन्हें जीवन की घटनाएँ अविवेकपूर्ण एवं असंगत प्रतीत होंगी। इसके अलावा यह सब विश्वास इस विश्व में मनुष्यों की स्थिति को निश्चित कर देते हैं और उस स्थिति के अनुसार आचरण करने को अनिवार्यत: प्रेरित करते हैं। इसलिए यदि किसी धर्म में ऐसे अविवेकपूर्ण सिद्धांतों का निर्देश है जो हमें किसी बात को समझा नहीं सकते, बल्कि जो मनुष्य को अपने जीवन के तात्पर्य को समझने में मदद पहुँचाने के बजाय उसको अधिक भ्रम तथा गड़बड़ में डाल देते हैं तो उसको हम धर्म का, श्रद्धा का नाम नहीं दे सकते। वह तो वास्तविक धर्म के मुख्य लक्षण से शून्य धर्म का विकृत रूप मात्र होगा। वह मनुष्यों को आचरण तथा चरित्र-संबंधी किसी प्रकार का पथ-प्रदर्शन नहीं करेगा। वह तो मनुष्य के हाथ की कठपुतली बन जाएगा। सच्चे धर्म और उसके विकृत स्वरूप में एक खास भेद होता है। विकृत धर्म का अनुयायी अपनी प्रार्थनाओं और तपस्या के बदले में ईश्वर के इस बात की याचना करता है कि वह उसकी मनोकामनाओं को पूर्ण करे तथा अन्य प्रकार से उसके काम आवे। लेकिन जो मनुष्य सच्चे धर्म का अनुयायी होगा, वह ऐसा कभी नहीं सोचेगा। वह सिर्फ एक ही बात का अनुभव करेगा कि ईश्वर उससे

अपने संकल्प पूर्ण कराना चाहता है—अर्थात् वह चाहता है कि मनुष्य ईश्वर का काम करे।

और चूँकि हमारे जमाने के मनुष्यों में इस धर्म का, इस श्रद्धा का अभाव है, वे इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकते कि वह धर्म कैसा होता है। श्रद्धा से उनका तात्पर्य सिर्फ यही होता है कि या तो जिस वस्तु को उन्हें श्रद्धा का सार बताया गया है उसको अपने ओंठों से दुहरा दें या ऐसी पूजा-पाठ की विधियों का अनुष्ठान करें जिनको गिरजा उनकी मनोकामनाओं को पूरी होने में सहायक बताता है।

8

हमारी दुनिया के लोग आजकल बिना श्रद्धा के अथवा धर्म के अपना जीवन व्यतीत करते हैं। मनुष्य-समाज के उस भाग ने, जो अल्पसंख्यक होते हुए भी शिक्षित और शक्तिशाली है, अपने को गिरजा-प्रणाली के मायाजाल से मुक्त कर लिया है। यह अल्पसंख्यक समुदाय वस्तुतः किसी बात में विश्वास नहीं करता। यह हर प्रकार की श्रद्धा और धर्म को या तो एक प्रकार की वाहियात चीज समझता है या फिर उसे जनता को पराधीन बनाए रखने का केवल एक उपयोगी साधन मानता है। दूसरी ओर समाज का वह बहुसंख्यक भाग है, जो दरिद्रता से पीड़ित और अशिक्षित है। इस जन-समुदाय में कुछ थोड़े-से लोगों को छोड़कर करीब-करीब सब नेक नीयत और सरल स्वभाव के लोग हैं। लेकिन ये लोग अभी तक गिरजे के मायाजाल में फँसे हुए हैं। ये ऐसा मानते हैं कि श्रद्धा के नाम से जो कुछ इन्हें बताया गया है उसमें उनका विश्वास है। लेकिन वस्तुतः वह श्रद्धा सच्ची श्रद्धा नहीं है, क्योंकि यह मनुष्य को संसार में अपनी स्थिति का ज्ञान कराने के बजाय उसको अंधकारपूर्ण बनाती है।

इस प्रकार की विषम स्थितियाँ हमारे ईसाई नामधारी संसार का जीवन-क्रम निर्धारित करती हैं। मायाजाल में फँसे हुए बहुसंख्यकों और समाज के अश्रद्धालु तथा कपटाचारी अल्पसंख्यकों के पारस्परिक संबंध भी हमारे जीवन पर असर डालते हैं और इन दोनों समुदायों, अर्थात् जिसके अधिकार में जनता पर मायाजाल फैलाने के साधन मौजूद हैं वह अल्पसंख्यक समुदाय और बहुसंख्यक समाज जो इस मायाजाल में फँसा हुआ है—का जीवन भयंकर बन गया है। इसके दो कारण हैं—एक तो सत्ताधारियों की भ्रष्टता और निर्दयता, और दूसरे मेहनत-मजदूरी करने वाले बहुसंख्यक समाज की पददलित और मूक अवस्था। धार्मिक पतन के किसी भी काल में हमने तमाम धर्मों के और खासकर ईसाई धर्म के खास लक्षण—मनुष्य-मनुष्य की समानता के सिद्धांत—को आज जितना पतित होते

नहीं देखा।

हमारे जमाने में मनुष्य-मनुष्य के बीच जो भयंकर निर्दयता का व्यवहार चल रहा है, उसका प्रधान कारण धार्मिक भावना का नितांत अभाव तो है ही, इसके अलावा मनुष्य-जीवन इतना पेचीदा बन गया है कि उसकी वजह से मनुष्य अपने कार्यों के परिणामों पर विचार नहीं कर पाते।

चंगेज खाँ और नादिरशाह एवं उनके अनुयायी चाहे जितने निर्दय हुए हों फिर भी लोगों को अपने हाथों कत्ल करने का कार्य उन्हें अवश्य अरुचिकर प्रतीत हुआ होगा और नर-संहार के परिणाम अर्थात् मौत के घाट उतारे गए लोगों के आश्रितों का क्रंदन और लाशों का ढेर तो उनके लिए और भी अधिक अरुचिकर हुआ होगा। इस प्रकार उनकी निर्दयता के परिणाम उनकी निर्दयता को कम कर देते थे। लेकिन आजकल लोगों की हत्या करने की हमारी विधि इतनी पेचीदा है और हमारी निर्दयता के परिणाम हमसे इतनी सावधानी के साथ छिपाकर रखे जाते हैं कि निर्दयता पर लगाम लगाने का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। फलत: एक श्रेणी के लोगों द्वारा दूसरी श्रेणी पर की जानेवाली निर्दयता दिन-दिन अधिकाधिक बढ़ती ही जा रही है और उसने इतना विकराल रूप धारण कर लिया है कि जैसा आज से पहले कभी नहीं किया था।

हम लोग ऐसी पैशाचिक परिस्थिति में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सम्राट् नीरो-जैसे किसी खास नर-पिशाच का मैं यहाँ जिक्र नहीं करना चाहता। लेकिन मेरा खयाल है कि हमारे जमाने में यह साधारण-सी बात हो गई है कि कोई आदमी घोरतम नारकीय कार्य करके भी बेदाग रह सकता है और अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं स्थिति को कायम रख सकता है। उदाहरण के लिए यदि कोई अत्यंत साधारण व्यापारी आज की सलाह के अनुसार रोगी धनपतियों को तंदुरुस्त करने के लिए मानव-रक्त के हौज में स्नान करवाने की व्यवस्था करे तो उसको ऐसा करने से कोई नहीं रोक सकेगा। सिर्फ उसको आधुनिक सभ्यता के सम्मानपूर्ण और प्रचलित तरीकों को काम में लाना होगा। अर्थात् उसको मनुष्यों का रक्त एकत्र करने के लिए हिंसा का आश्रय नहीं लेना होगा। बल्कि उनको ऐसी परिस्थिति में डाल देना होगा कि वे अपना खून दिए बिना जीवित ही न रह सकें। साथ ही उसे धर्माचार्यों और वैज्ञानिकों की भी मदद लेनी होगी। धर्माचार्य जिस प्रकार तोपों, जिरह-बख्तरों, जेलखानों और फाँसी के तख्तों का समर्थन करते हैं, उसी प्रकार से मानव-रक्त के हौज का भी समर्थन कर देंगे और वैज्ञानिकों ने जिस प्रकार युद्धों और वेश्यालयों की आवश्यकता सिद्ध करने के लिए प्रमाण खोज निकाले हैं, वे इसी प्रकार मनुष्यों के रक्त में स्नान करने की प्रथा की आवश्यकता और औचित्य सिद्ध करने के लिए भी

प्रमाण ढूँढ़ लेंगे।[1]

आजकल लोग जिस धर्म को मानते हैं उसमें सारे धर्मों के आधारभूत सिद्धांत—अर्थात् मनुष्य-मनुष्य की समानता—को लोग इतना भूल गए हैं, उसकी इतनी उपेक्षा करते हैं, भाँति-भाँति के बेहूदा धार्मिक विधि-विधानों के ढेर के नीचे उसे इतना दबा दिया है और विज्ञान के क्षेत्र में भी यह असमानता जीवन-संघर्ष और सबसे बलवान प्राणी के कायम रहने के सिद्धांत के रूप में इस प्रकार जीवन की अनिवार्य अवस्था स्वीकार की जाती है कि कुछ मुट्ठी भर सत्ताधारियों की सुविधा के लिए लाखों मनुष्यों के प्राणों का नाश एक अत्यंत साधारण और आवश्यक बात समझी जाती है—और यह संहार निरंतर जारी है।

17वीं शताब्दी में यांत्रिक विज्ञान ने अभूतपूर्व, भव्य और महान् उन्नति की है। लेकिन आजकल के लोग इस बात को नहीं जानते कि वे किस प्रकार इस उन्नति पर पर्याप्त मात्रा में अपनी प्रसन्नता प्रकट करें। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रकृति की शक्तियों पर विजय प्राप्त करके 19वीं शताब्दी में मनुष्य-जाति ने जितनी भौतिक उन्नति की है उतनी अपने इतिहास में उसने कभी नहीं की। लेकिन साथ-साथ इसमें भी कोई संदेह नहीं कि पुराने जमाने में लोगों ने पाशविक प्रवृत्तियों को अंकुश में रखनेवाली शक्ति से स्वतंत्र होकर ऐसा अनैतिक और भ्रष्ट जीवन कभी नहीं बिताया जैसा वे दिन-दिन पशुता की ओर बढ़नेवाले इस जमाने के ईसाई समाज में व्यतीत कर रहे हैं। 19वीं शताब्दी में मनुष्य ने जो भौतिक उन्नति की वस्तुतः वह अत्यंत महान् थी लेकिन इस उन्नति का भवन अनैतिकता की नींव पर खड़ा किया गया है और किया जा रहा है। सदाचार के मामूली-से-मामूली नियमों की इतनी उपेक्षा की गई है जितनी चंगेज खाँ, नादिरशाह और सम्राट नीरो जैसे अत्याचारियों के जमाने में नहीं की गई होगी।

इसमें कोई शक नहीं कि फौजी जहाज, रेलें, छापाखाने, पहाड़ों को खोदकर बनाई गई रेलों की सुरंगें, फोनोग्राफ, फोटोग्राफ, सिनेमा आदि बहुत अच्छी चीजें हैं; लेकिन इनसे भी बढ़कर उत्तम और मूल्यवान—इतनी मूल्यवान कि रस्किन के शब्दों में इनसे बढ़कर और कोई चीज अधिक मूल्यवान नहीं हो सकती—चीजें तो मनुष्यों के जीवन हैं। परंतु हम देखते हैं कि फौजी जहाज, रेलें और पहाड़ों के भीतर

---

1. सन् 1864 में रूस में 'संक्रामक रोगों की रोक का कानून' बना था। इसका सन् 1866 में वहाँ के सर्जनों और चिकित्सकों के शाही विद्यालय ने समर्थन किया था। इस प्रकार के कानून सभ्य संसार में अब भी प्रचलित हैं और वेश्यालयों को इनके अनुसार कानूनी परवाने दिए जाते हैं।

सुरंगें बनाने में लाखों ऐसे मूल्यवान मनुष्य-जीवन आजकल निर्दयतापूर्वक नष्ट किए जा रहे हैं। और ये चीजें मनुष्य-जीवन को सुंदर बनाने की अपेक्षा कुरूप ही अधिक बनाती हैं। हमारे इस कथन के जवाब में अक्सर यह कहा जाता है कि मनुष्य-जीवन का आजकल जो विनाश हो रहा है उसकी रोक के लिए साधनों का आविष्कार हो रहा है और आगे भी होगा। लेकिन यह बात बिल्कुल झूठ है। जब तक लोग संसार के दूसरे तमाम लोगों को अपना भाई नहीं समझेंगे और जब तक वे मनुष्यों के प्राणों को सब पदार्थों से अधिक पवित्र न मानने लगेंगे—इतना पवित्र कि वे किसी भी कीमत पर उसको बलिदान न करें और इन मनुष्य-प्राणियों को जीवित रखना अपना सर्वप्रथम और आवश्यक कर्तव्य समझें—अर्थात् जब तक लोग आपस में एक-दूसरे के साथ धार्मिकता का व्यवहार नहीं करेंगे, तब तक वे व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए एक-दूसरे का गला घोंटते रहेंगे। कोई आदमी इतना मूर्ख नहीं हो सकता कि जिस चीज को वह सौ रुपए खर्च कर प्राप्त कर सकता है, उसके लिए वह अपने हत्थे चढ़े हुए कुछ मनुष्यों को बलि चढ़ाने के बजाय हजारों रुपए खर्च करने को राजी हो। शिकागो (अमेरिका) की रेल की सड़कों का उदाहरण लीजिए। वहाँ हर साल लोग रेलों के नीचे दबकर मर जाते हैं। लेकिन रेलों के मालिक स्वभावतः कभी ऐसे साधनों का उपयोग नहीं करते जिनसे लोग कुचल जाने से बच सकते हैं। क्या आप बता सकते हैं कि उनकी इस उपेक्षा का क्या कारण है? इसकी वजह सिर्फ यही है कि उन्होंने इस बात का हिसाब लगा लिया है कि मरे हुए और घायल व्यक्तियों के परिवारों को उन्हें हर साल जितना रुपया देना पड़ता है उससे वह रुपया कई गुना अधिक होगा जो उन्हें दुर्घटना-निवारक साधनों पर खर्च हुई रकम के ब्याज के तौर पर देना पड़ेगा।

बहुत मुमकिन है कि इन लोगों पर लोकमत का कुछ असर हो और ये लोग अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरों के प्राणों का नाश करने में लज्जा अनुभव करने लगें और साथ ही इस बात के लिए भी मजबूर किए जा सकें कि वे दुर्घटना-निवारक साधनों की व्यवस्था करें। लेकिन जब तक लोगों के अंदर धार्मिक भावना जागृत नहीं होगी और वे अपने सब काम ईश्वर को साक्षी रखकर नहीं प्रत्युत मनुष्यों को दिखाने और प्रसन्न करने के लिए करते रहेंगे तब तक इस प्रकार की बर्बरता बराबर जारी रहेगी। यदि कहीं एक स्थान पर लोगों की प्राणरक्षा के साधनों की व्यवस्था कर भी दी गई तो दूसरे मामलों में व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए मनुष्यों के जीवन को सर्वोत्तम साधन समझ लिया जाएगा।

अगर मनुष्य-जीवन की रक्षा का खयाल न किया जाए तो प्रकृति पर विजय प्राप्त करना, रेलें निकालना, समुद्री जहाज, अजायबघर, बड़े-बड़े कारखाने तथा

इसी तरह चीजें बनाना बहुत सरल हो सकता है। मिस्र के प्राचीन सम्राट अपने निर्माण किए हुए विशाल गुंबदों पर बहुत गर्व करते थे और स्वयं हम लोगों की आँखों में भी उनको देखकर आनंदाश्रु बहने लग जाते हैं; लेकिन ऐसा करते समय हम इस बात को बिल्कुल भूल जाते हैं कि इन भव्य और भीमकाय गुंबदों (पिरामिडों) का निर्माण करने में असंख्य गुलामों को अपने प्राणों की बलि चढ़ानी पड़ी थी। ठीक इसी भाँति हम अपने प्रदर्शन-भवनों, अजायबघरों, फौजी जहाजों, समुद्र के आर-पार लगे हुए तारों और बिजली के कारखानों को देखकर आनंद-मग्न हो जाते हैं, और इस बात को बिल्कुल भूल जाते हैं कि इन चीजों के लिए हमें कैसा मूल्य चुकाना पड़ा है। जब तक ये चीजें गुलामों के द्वारा नहीं बल्कि स्वाधीन मनुष्यों द्वारा तैयार न होने लगें, तब तक हमें उन पर गर्व न करना चाहिए।

ईसाई राष्ट्रों ने अमेरिका के भारतवासी हिंदुओं और अफ्रीका निवासियों को जीत लिया है। अब वे चीन को भी जीतने की फिक्र में हैं। अपनी इस विजय पर इन ईसाई देशों को गर्व है, लेकिन इससे यह बात कतई साबित नहीं होती कि ईसाई राष्ट्र संसार के दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा आध्यात्मिक तथा नैतिक दृष्टि से ऊँचे उठे हुए हैं, बल्कि बात ठीक इसके विपरीत है। वस्तुत: ये राष्ट्र उन राष्ट्रों से आध्यात्मिकता में बहुत पिछड़े हुए हैं। यहाँ हम हिंदुओं और चीन-निवासियों का उल्लेख करना नहीं चाहते जो कि आध्यात्मिकता में बहुत आगे बढ़े हुए हैं। लेकिन जुलू[1] लोगों में प्रचलित बहुत-से ऐसे अनिवार्य रूप से पालन किए जानेवाले धार्मिक नियम प्रचलित थे और अब भी हैं, जिनमें यह बतलाया गया है कि मनुष्य को अमुक काम करने चाहिए और अमुक नहीं। लेकिन हमारे ईसाई देशों में ऐसे धार्मिक नियमों का कतई अस्तित्व नहीं है।

रोम ने संसार पर ठीक उस समय विजय प्राप्त की जिस समय उसने अपने-आपको सब प्रकार के धर्मों से स्वतंत्र कर लिया था। कुछ अधिक व्यापक रूप में यही बात आज संसार के ईसाई देशों के संबंध में चरितार्थ होती है। इन सब देशों ने भी, रोम की भाँति, धर्म का बहिष्कार कर दिया है; और इसलिए, इनके बीच आपसी झगड़ों और कलहों के होते हुए भी, इन सबने एक होकर लुटेरों का एक समूह बना रखा है। ये राष्ट्र दिन-दहाड़े चोरी करते हैं, दूसरे देशों को लूटते हैं, भले और बुरे उपायों से दूसरों का स्वत्वापहरण करते हैं और सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप से नरसंहार करते हैं। इनकी आत्मा को इन नारकीय कृत्यों से जरा भी ठेस नहीं पहुँचती, उल्टे जैसा कि चीन के मामले में हो चुका है, ये अपने इन कृत्यों पर बड़ा

1. *अफ्रीका की एक जंगली जाति।*

आत्म-संतोष अनुभव करते हैं। इनमें से कुछ नास्तिक हैं और अपनी नास्तिकता पर उन्हें गर्व है। कुछ अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए जनता पर मायाजाल फैलाने वाले धर्म में विश्वास रखने का बहाना करते हैं और दूसरे कुछ ऐसे भी लोग हैं—और इनमें अधिकांश संख्या सर्वसाधारण समाज की है—जो उन भ्रमात्मक बातों को भी उनके सामने रखी जाती हैं धर्म समझ बैठे हैं और गुलामों की भाँति भक्ति-संपन्न और नास्तिक सम्मोहनकारियों के आदेशों का अनुसरण करते हैं।

जनता को मायाजाल में फँसाए रखनेवाले ये लोग जनता से किस चीज की माँग करते हैं? ये जनता से हमेशा उसी बात की माँग करते रहते हैं जिसकी मांग सम्राट् नीरो एवं उसी की समकोटि के अत्याचारियों ने—जो अपने जीवन की सारहीनता एवं खोखलेपन को किसी-न-किसी उपाय से ढँके रखना चाहते थे—जनता से की थी, अर्थात् उच्छृंखल और घोर विलासिता की संतुष्टि। विलासिता को प्राप्त करने का एक ही तरीका है और वह यह है कि दूसरे लोगों को अपने लिए काम करने को विवश किया जाए—अर्थात् उनको गुलाम बनाया जाए। फलत: विलासिता की वृद्धि के साथ-साथ गुलामी और गुलामों की संख्या में वृद्धि होना अनिवार्य है। दूसरी वजह यह है कि जिन लोगों के तन पर कपड़े नहीं हैं, जो ठंड से ठिठुर रहे हैं, जिनके पास पेट भरकर खाने को अन्न नहीं है तथा जो जीवन-निर्वाह के अन्य साधनों से वंचित हैं वे ही—और केवल वे ही—जिंदगी भर ऐसा काम कर सकते हैं जिसे करना वे स्वयं तो आवश्यक नहीं समझते, परंतु जो केवल अपने मालिकों को सुख और आनंद पहुँचाने के लिए आवश्यक समझा जाता है।

9

बाइबिल के पाँचवें प्रकरण में एक बहुत सुंदर वर्णन है। उसमें ग्रंथकार ने एक जगह लिखा है कि जल-प्रलय से पूर्व ईश्वर ने यह देखा कि उसने अपनी पूजा-अर्चना के लिए मनुष्यों को जो शक्ति प्रदान की थी उसका वे लोग अपनी व्यक्तिगत लालसाओं की पूर्ति करने में उपयोग करने लग गए हैं। यह देखकर ईश्वर बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने इस बात पर पश्चात्ताप प्रकट किया कि उसने आदमियों को क्यों उत्पन्न किया? फिर भी मनुष्यों को एकदम नष्ट करने के बजाय उसने उनकी उम्र 120 वर्ष तय कर दी। बाइबिल के अनुसार परमात्मा जिस बात पर नाराज हुआ था और जिसके परिणामस्वरूप उसने मनुष्यों की उम्र कम कर दी थी, ठीक वही बात आज संसार में नित्य प्रति हो रही है।

मनुष्यों के अंदर बुद्धि ही वह शक्ति है जो निश्चय करती है कि उनके बीच क्या संबंध रहे। चूंकि यह बात सूर्य की भाँति स्पष्ट है कि विश्व के साथ मनुष्यों का

संबंध समान और एक-सा है, हमें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि धर्म—जो उस संबंध पर प्रकाश डालता है—मनुष्यों को एक सूत्र में पिरोता है और मनुष्यों की पारस्परिक एकता से ही सब मनुष्य शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का अधिक-से-अधिक कल्याण प्राप्त कर सकते हैं। सर्वोच्च और परम ज्ञान के साथ संपूर्ण एकता—जिसको दूसरे शब्दों में हम संपूर्ण कल्याण की संज्ञा दे सकते हैं—ही वह आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य-जाति सचेष्ट है और भिन्न-भिन्न जातियों के मनुष्य जब एक स्वर से यह पूछते हैं कि यह विश्व क्या है और उसमें रहनेवाले लोग कौन हैं, तो सब धर्म एक ही जवाब देते हैं और इस प्रकार वे सब मनुष्यों को एक सूत्र में पिरोकर मनुष्यों को कल्याण की प्राप्ति के नजदीक ले जाते हैं। लेकिन जब मनुष्य की बुद्धि अपने नैसर्गिक कर्तव्य-मार्ग से (अर्थात् ईश्वर और मनुष्य के बीच के संबंध निश्चित करने और उस संबंध को दृष्टि में रखते हुए मनुष्य के कर्तव्यों का निरूपण करने से) च्युत हो जाती है और उसका उपयोग इस क्षणभंगुर देह के लिए साधन जुटाने, दूसरे लोगों और सृष्टि के दूसरे प्राणियों के साथ कठोर संघर्ष करने, और इस दुष्जीवन का औचित्य सिद्ध करने के निमित्त होने लगता है—और यह मनुष्य-जीवन के उद्देश्य और मनुष्य की प्रकृति के इतना विपरीत है—तो मनुष्य-जाति में उन भयंकर आपदाओं का जन्म होता है जिनका मुकाबला आज अधिकांश मनुष्यों को करना पड़ रहा है। इसके परिणामस्वरूप ऐसी अवस्था पैदा हो जाती है, जिसमें विवेकपूर्ण एवं भला जीवन अपनाना करीब-करीब असंभव प्रतीत होने लगता है।

हमारे नामधारी ईसाई राष्ट्रों की अपेक्षा तो वे मूर्तिपूजक लोग ही सत्य को पहचानने में अधिक समर्थ हैं, जिन्होंने अपरिपक्व धार्मिक शिक्षा से ही सही, अपने को परस्पर ऐक्य सूत्र में बाँध रखा है। इन ईसाई राष्ट्रों का जीवन तो एकदम अधार्मिक है। इन राष्ट्रों के अग्रगण्य लोगों का यह विश्वास है—जिसको वे दूसरों पर भी प्रकट करते हैं—कि धर्म एक अनावश्यक वस्तु है और बिना किसी धर्म के जीवन व्यतीत करना मनुष्य के लिए कहीं अधिक श्रेयस्कर है।

मूर्तिपूजक लोगों में ऐसे मनुष्य ढूँढ़ निकाले जा सकते हैं जो उत्तरोत्तर बढ़ते हुए आधुनिक ज्ञान और अपने धर्म के बीच विरोध अनुभव करते हैं और अपनी बुद्धि के आदेशानुसार एक नवीन धर्म को जन्म देते हैं अथवा स्वीकार करते हैं। उनका यह नवीन धर्म उनके सहधर्मियों को स्वीकार होता है और पुराने धर्म की अपेक्षा उनके देश की आध्यात्मिक अवस्था के अधिक अनुरूप होता है। लेकिन हमारी दुनिया के—अर्थात् यूरोप के ईसाई समाज के—लोगों का क्या हाल है? ये लोग किसी भी नवीन और आत्मा को ऊँचा उठानेवाले आंदोलन की तरफ से आँखें बंद किए हुए हैं

और सत्य की ओर आगे बढ़ने में बिल्कुल असमर्थ हैं। दूसरी वजह सिर्फ यह है कि इनमें से कुछ लोग धर्म को सर्वसाधारण को पराधीनता में जकड़े रखने का एक साधनमात्र समझते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो धर्ममात्र को बेहूदगी समझते हैं; और अधिकांश जन-समाज भारी भ्रमजाल के शिकार बनकर यह समझ बैठे हैं कि वे सच्चे धर्म को माननेवाले हैं।

हमारी दुनिया के लोगों ने भौतिक जीवन से संबंध रखनेवाली बातों में जो उन्नति की है उस पर उनको गर्व है। साथ ही उनको अपनी संस्कृति, निष्क्रिय तर्क-शक्ति पर भी अभिमान है, जिसके द्वारा वे न सिर्फ अपने कृत्यों का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं प्रत्युत इस बात को साबित करने की भी चेष्टा करते हैं कि वे प्राचीन काल के किसी भी युग के लोगों से बढ़े-चढ़े हैं। इस अहंकार ने उनको अज्ञान और अनैतिकता के साँचे में ढाल दिया है; लेकिन फिर भी उनको इस बात का पूरा इत्मीनान है कि वे उन्नति के उस शिखर पर आसीन हैं जहाँ मनुष्य-समाज आज तक नहीं पहुँच पाया और साथ ही यह भी कि अनैतिक और अज्ञानपूर्ण मार्ग की ओर बढ़ाया गया प्रत्येक कदम उन्हें उन्नति तथा संस्कृति के शिखर पर अधिकाधिक आगे बढ़ाता है।

10

मनुष्य स्वभावत: अपने कायिक (शरीर-संबंधी) और बौद्धिक (आध्यात्मिक) कार्यों में साम्य स्थापित करने की अभिलाषा रखता है। उसको उस समय तक शांति प्राप्त नहीं हो सकती जब तक वह किसी-न-किसी रूप में अपनी इस अभिलाषा को पूरा नहीं कर लेता। लेकिन यह समता केवल दो ही प्रकार से सिद्ध हो सकती है। एक तरीका यह कि मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा किसी कार्य अथवा किन्हीं कार्यों की आवश्यकता और औचित्य का निर्णय करे और इसके बाद तदनुसार आचरण करे। दूसरा तरीका यह है कि पहले मनुष्य भावावेश में आकर कुछ कार्यों को कर डाले और फिर उनके समर्थन के निमित्त बौद्धिक कारणों का आविष्कार करे।

कार्यों और विवेक में समता स्थापित करने का पहला तरीका वे लोग अपनाते हैं जो वस्तुत: किसी धर्म को माननेवाले होते हैं और उस धर्म के उपदेशों के आधार पर वे इस बात का निर्णय करते हैं कि उन्हें कौन-सा कार्य करना चाहिए और कौन-सा नहीं। दूसरा तरीका उन लोगों का होता है जो धार्मिक वृत्तिवाले नहीं होते और जिनके पास अपने कार्यों के गुणावगुण का निर्णय करने की कोई कसौटी नहीं होती। इसलिए ये लोग अपने कामों को बुद्धि की कसौटी पर नहीं कसते; प्रत्युत भावों के क्षणिक आवेश में आकर काम कर डालते हैं और बाद में उनका औचित्य सिद्ध करने

के लिए बुद्धि का उपयोग करते हैं और इस प्रकार कार्य और विवेक में समता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

उदाहरणार्थ एक धार्मिक वृत्तिवाला पुरुष है। उसको इस बात की परख है कि उसके तथा दूसरे लोगों के कार्यों में कौन-से कार्य अच्छे हैं और कौन-से बुरे। साथ ही उसको इस बात का भी ज्ञान है कि क्यों एक चीज बुरी होती है और क्यों दूसरी चीज अच्छी। ऐसा पुरुष जब अपने बौद्धिक मंतव्यों और अपने एवं दूसरे लोगों के कार्यों में विरोध देखता है तो वह मालूम करने की कोशिश करता है कि किस प्रकार उसे अपने कार्यों और विवेक में समता स्थापित करनी चाहिए। वह इस विरोधाभास को नष्ट करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देता है। इसके विपरीत उस आदमी का उदाहरण लीजिए जो किसी धर्म को नहीं मानता। उसके पास अपने कर्मों की अच्छाई-बुराई का निर्णय करने के सिवाय इसके और कोई कसौटी नहीं होती कि उन कार्यों से उसको कितना शारीरिक सुख प्राप्त होता है। वह अपने भावों के सामने हमेशा सिर झुका देता है जो असंख्य प्रकार के और अनेक प्रकार परस्पर-विरोधी होते हैं। ऐसे पुरुष अनिच्छापूर्वक विरोध-जाल में फँस जाता है और जब वह विरोध-जाल में फँस जाता है तो वह उस पर पर्दा डालने के लिए ऐसी दलीलें देता है जो कम या अधिक विस्तृत और चतुराई पूर्ण होती हैं; किन्तु हमेशा असत्य होती हैं। इसीलिए सच्चे धार्मिक पुरुष का तर्क जहाँ हमेशा सरल, प्रत्यक्ष और सत्यानुमोदित होता है, वहाँ कर्मविहीन पुरुष की बौद्धिक दलीलें विशेष रूप से सूक्ष्म, जटिल और असत्यपूर्ण होती हैं।

मैं यहाँ एक बहुत मामूली, दुराचारी आदमी का उदाहरण पाठकों के सामने रखता हूँ। वह शक्तिवान नहीं है, अपनी पत्नी के प्रति वफादार नहीं है अथवा यदि वह अविवाहित है तो दुराचारी है। यदि ऐसा आदमी धार्मिक वृत्तिवाला होगा तो उसे अपने कार्यों के अनौचित्य का पता होगा। वह सारा दिमाग इस दिशा में लगा देगा कि उसको दुर्गुणों से किस प्रकार मुक्ति मिले। वह दुराचारी स्त्री-पुरुषों के संसर्ग में आने से अपने को बचाएगा, काम में दत्तचित्त रहेगा और अपने को कड़े नियंत्रण में रखेगा। वह किसी स्त्री को अपनी कामवासना की पूर्ति का साधन नहीं मानेगा। यह सब इतना सरल है कि हरेक व्यक्ति उसे समझ सकता है।

लेकिन अगर दुराचारी पुरुष धर्मवान न हो तो वह फौरन दुनिया भर के तर्क इस बात को सिद्ध करने के लिए ढूँढ़ने लगेगा कि स्त्रियों के साथ प्रणय-लीला करना एक बहुत अच्छी चीज है। परिणामस्वरूप हमको स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण, सौंदर्य-प्रेम की स्वतंत्रता आदि बातों के संबंध में हर प्रकार के अत्यंत जटिल, कौशलपूर्ण और सूक्ष्म विचार सुनने को मिलते हैं और जैसे-जैसे इन विचारों का

प्रसार होता है वैसे-ही-वैसे वे इस समस्या को अंधकारपूर्ण बना देते हैं और मौलिक सत्य पर पर्दा डाल देते हैं।

जिन लोगों के अंदर धर्म का अभाव होता है उनके सब प्रकार के कार्यों और विचारों में हमेशा ऐसा ही हुआ करता है। उनके कार्यों और विचारों में जो स्वाभाविक विरोध होता है उस पर पर्दा डालने के लिए वे बाल की खाल निकालते तथा जटिल निबंधों के ढेर लगाते रहते हैं। ये निबंध लोगों के दिमाग में हर तरह की अनावश्यक बातें भर देते हैं और आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण बातों की ओर से उनका ध्यान हटा देते हैं। परिणामत: अनजाने उन्हें इस दंभ के आदी बना देते हैं जिसके कि हमारी दुनिया के लोग शिकार हो रहे हैं।

बाइबिल में लिखा है—"मनुष्य प्रकाश की अपेक्षा अंधकार को अधिक पसंद करते थे, क्योंकि वे दुष्कर्म करने के आदी हो गए थे। कारण जो आदमी कुकर्म करता है वह हमेशा प्रकाश से घृणा किया करता है और इस डर से वह प्रकाश के नजदीक नहीं जाता कि कहीं उसके ऐसे कामों को लोग निंदनीय न कहने लगें।"

हमारी दुनिया के लोगों ने धार्मिक भावना के अभाव में अपने जीवन को अत्यंत क्रूर, पाशविक, अनैतिक और दुराचारपूर्ण बना डाला है। साथ ही उन्होंने अपने पतित जीवन की बुराइयों को छिपाने के लिए ऐसे जटिल, सूक्ष्म एवं निरर्थक तर्क उपस्थित किए हैं जो इस हद तक गूढ़ और भ्रमजनक हैं कि बहुसंख्यक मनुष्य समाज न भले और बुरे का निर्णय कर सकता है, और न सच और झूठ की पहचान ही कर सकता है।

इस प्रकार एक भी ऐसी समस्या नहीं बची है जिस पर आजकल के लोग सरलता तथा स्पष्टतापूर्वक विचार कर सकें। हम यहाँ पर धार्मिक और दार्शनिक बातों का उल्लेख नहीं कर रहे हैं। उनको तो आप अलग रख दीजिए। लेकिन दूसरी सब-की-सब समस्याएँ—चाहे वे आर्थिक हों, राष्ट्रीय हों, राजनैतिक (स्वदेश-संबंधी अथवा विदेश-संबंधी) हों, अंतरराष्ट्रीय हों या वैज्ञानिक हों—सर्वसाधारण के सामने इतने कृत्रिम और गलत रूप में रखी जातो हैं और उन्हें ऐसे जटिल और अनावश्यक वाग्जाल द्वारा ढँक दिया जाता है कि उन समस्याओं से संबंध रखनेवाले सारे-के-सारे एक ही बात के चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं और दूसरी बातों से उनका कोई सरोकार नहीं होता। यह कार्य ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार की गति देनेवाला चक्र पट्टे द्वारा दूसरे पहियों के साथ संबंधित न होने की अवस्था में अपने-आप घूमा करता है। ऐसे वाद-विवादों का एक ही उद्देश्य होता है और वह यह कि लोगों की आँखों में वे बुराइयाँ न आएँ जिनको मनुष्य दिन-रात करते रहते हैं।

11

जिसे हम आजकल विज्ञान कहते हैं उसके किसी भी क्षेत्र को आप ले लीजिए। आपको एक ही बात मालूम होगी—वह यह कि ज्ञान के विविध क्षेत्रों का अन्वेषण करने में मनुष्यों की बुद्धि चकरा जाती है। इसकी वजह यह है कि वे सब-के-सब वैज्ञानिक अन्वेषण उस मूलभूत प्रश्न को हल नहीं करते जिसका हल करना परमावश्यक है। इसके विपरीत ये ऐसे गौण बातों का परीक्षण करते रहते हैं जिनका कोई परिणाम नहीं निकलता, उल्टे ज्यों-ज्यों मनुष्य परीक्षण-कार्य में आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों वह विषय उसके लिए अधिकाधिक जटिल होता जाता है। जो विज्ञान जीवन में धार्मिक आदर्श के अनुरूप अपने अन्वेषण के विषयों को नहीं चुनता; प्रत्युत मनमाने तौर पर विषयों का चुनाव करता है, उसके संबंध में इससे विपरीत और कुछ हो भी नहीं सकता; क्योंकि जीवन के धार्मिक आदर्श को आँखों के सामने न रखने से मनुष्य फिर इस बात का खयाल रखना छोड़ देता है कि उसको किन वस्तुओं का अध्ययन करना चाहिए, क्यों करना चाहिए, किस वस्तु का पहले करना चाहिए और किस वस्तु का बाद में। उदाहरणार्थ समाज-विज्ञान और अर्थशास्त्र को ले लीजिए। ये आधुनिक युग के प्रचलित विषय हैं। आपको मालूम होगा कि वास्तव में हमारे सामने एक ही प्रश्न है। "यह क्यों और कैसे होता है कि कुछ लोग तो बिल्कुल परिश्रम नहीं करते और दूसरे लोग रात-दिन उनके लिए घोर परिश्रम किया करते हैं?" अथवा दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि—"लोग एक-दूसरे को बाधा पहुँचाते हुए अलग-अलग परिश्रम क्यों करते हैं और मिल-जुलकर सामूहिक रूप से लाभकारी परिश्रम क्यों नहीं करते?" लेकिन हमारे प्रथम प्रश्न में ही इस प्रश्न का भी समावेश हो जाता है; क्योंकि अगर दुनिया में समानता न हो तो मनुष्यों के बीच पारस्परिक लड़ाई-झगड़े होना भी बंद हो जाए। ऐसा प्रतीत होता है कि सिर्फ यही एक प्रश्न हमारे सामने होना चाहिए और इस प्रश्न के निराकरण करने का हमको प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन विज्ञान ऐसा करता कहाँ है? विज्ञान तो इस प्रश्न का विवेचन और हल करने के विचार तक से कोसों दूर भागता है। इतना ही नहीं, वह इससे इतनी दूरी से अपना विश्लेषण आरंभ करता है और इस प्रकार उसको आगे बढ़ाता है कि उसके निष्कर्षों द्वारा न समस्या ही हल हो पाती है और न उसके हल होने में कुछ मदद ही मिलती है। विवेचन इस बात का किया जाता है कि पहले किस प्रकार की व्यवस्था थी और आज कैसी स्थिति है। भूत तथा वर्तमान काल को नक्षत्रों की गति के समान ही अपरिवर्तनीय समझा जाता है। अतिसूक्ष्म परिभाषाओं का आविष्कार किया जाता है, जैसे—मूल्य, पूँजी, मुनाफा और ब्याज आदि-आदि। इस सबके फलस्वरूप विवादकर्ताओं के बीच बुद्धि का जटिल खेल

शुरू हो जाता है। सौ साल से यही हो रहा है। सच पूछा जाए तो यह प्रश्न बड़ी सरलता और आसानी के साथ हल किया जा सकता है।

यह सारी समस्या इस प्रकार हल की जा सकती है—सबसे पहले हम लोग इस सत्य को स्वीकार करें कि संसार के सब मनुष्य भाई-भाई हैं और समान हैं। अतएव प्रत्येक मनुष्य को दूसरे लोगों के साथ ठीक वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा कि वह उन लोगों से अपने साथ करवाना चाहता है।[1] इस प्रकार यह सारी समस्या अब केवल इस बात पर केंद्रीभूत हो जाती है कि झूठे धार्मिक नियमों का नाश करके उनके स्थान पर सच्चे धार्मिक सिद्धांतों एवं नियमों की स्थापना की जाए। लेकिन संसार के उन्नत कहे जानेवाले व्यक्तियों को यह बात पसंद नहीं है। वे इस सत्य को स्वीकार ही नहीं करते, बल्कि इस बात के प्रयत्न में लगे रहते हैं कि लोग उस सत्य को कभी संभव ही न मानें। अत: ये विद्वज्जन निरर्थक बुद्धि-विलास में ही—जिसको ये लोग विज्ञान के नाम से पुकारते हैं—रात-दिन अपने को रत रखते हैं।

दंड-विधान के क्षेत्र में भी ठीक यही बात हो रही है। इस क्षेत्र में भी मौलिक प्रश्न सिर्फ एक ही है, कि "क्या वजह है कि दुनिया में ऐसे लोग मौजूद हैं जो दूसरे लोगों पर बलात्कार करने, उनका शोषण करने, उन्हें जेल में बंद करने, फाँसी पर चढ़ाने, युद्ध-क्षेत्र में मरने के लिए भेजने आदि जघन्य कार्य करने पर आमादा हो जाते हैं?" अगर इस प्रश्न का धार्मिक दृष्टिकोण से—और वस्तुत: यही इस प्रश्न के लिए एकमात्र उपयुक्त दृष्टिकोण है—छानबीन की जाए तो हम बड़ी आसानी से इसको हल कर सकते हैं। धार्मिक दृष्टिकोण कहता है कि किसी भी मनुष्य को अपने पड़ोसी के विरुद्ध हिंसा न करनी चाहिए। अतएव इस समस्या को हल करने के लिए सिर्फ एक बात की आवश्यकता रह जाती है। वह यह कि सब अंध-विश्वासों एवं वाग्छलों को मिटा दिया जाए जो हिंसा करने की इजाजत देते हैं और ऐसे धार्मिक सिद्धांतों को मनुष्यों के मस्तिष्क में बिठाया जाए जो स्पष्टत: हिंसा की रोक करनेवाले हों।

लेकिन हमारे जमाने के 'उन्नतिशील' पुरुष ऐसा करने के बजाय अपनी बुद्धि का संपूर्ण कौशल इस बात में खर्च कर देते हैं कि सर्वसाधारण ऐसे निराकरण की

---

1. *इस भाव को संस्कृत का निम्नलिखित श्लोक और अधिक उत्तम और सुंदर ढंग से व्यक्त करता है—*

"श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वां चैवावधार्यताम्।
आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।"

आवश्यकता और शक्यता को ही स्वीकार न करे। वे सब प्रकार के दीवानी, फौजदारी, व्यापारिक, पुलिस-संबंधी, मंदिरों-संबंधी और दूसरे सब प्रकार के कानूनों के संबंध में पुस्तकों के पहाड़-के-पहाड़ रचते रहते हैं। इन कानूनों के पक्ष और विपक्ष में विवाद करते और झगड़ते रहते हैं एवं ऐसा करते समय उन्हें इस बात का पूरा आत्मसंतोष होता है कि न केवल एक उपयोगी ही बल्कि साथ-ही-साथ एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य भी कर रहे हैं। "क्या वजह है कि प्रकृति ने जिन मनुष्यों को सफल बनाया है उनमें से कुछ तो ऐसे हों जो दूसरों के अपराधों का निर्णय करें, कुछ दूसरों पर बलात्कार करें, दूसरों को यंत्रणा पहुंचाएँ और उन्हें फांसी पर लटकाएँ?" इस प्रश्न का ये लोग कोई जवाब नहीं देते? उसके अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार इनकी दृष्टि से तो इस तरह का कोई सवाल ही नहीं उठ सकता। उनके सिद्धांत के अनुसार तो इस सार्वत्रिक हिंसा को करने के दोषी मनुष्य नहीं हैं; बल्कि एक अमूर्त तत्त्व है, जिसको हम लोग राज्य (State) के नाम से पुकारा करते हैं। इसी प्रकार ज्ञान के अन्य सभी क्षेत्रों में हमारे जमाने के ये दिग्गज विद्वान जीवन के आधारभूत प्रश्नों को या तो टालते रहते हैं, या उनके बारे में बिल्कुल मौन धारण कर लेते हैं, और उन प्रश्नों के अंदर छिपे हुए पारस्परिक विरोधों को छिपाने की कोशिश किया करते हैं।

इतिहास के विषय को लीजिए। इस संबंध में महत्त्व का सवाल सिर्फ यह है कि "श्रमजीवियों ने (जो संपूर्ण मनुष्य जाति का 999/1000वाँ भाग हैं) अब तक किस प्रकार का जीवन व्यतीत किया? इस सवाल का तो हमको इतिहास के पन्नों में कोई उत्तर नहीं मिलता। उसकी उपेक्षा की गई है। इसके विपरीत एक श्रेणी विशेष के इतिहासवेत्ताओं ने ढेरों पुस्तकें रच डाली हैं जिनमें या तो ग्यारहवें लुई की उदर-पीड़ाओं, इंग्लैंड की रानी एलिजाबेथ अथवा रूस के नृशंस जार इवान के जघन्य कृत्यों, औरंगजेब के अत्याचारों का और नादिरशाह की लूट का वर्णन मिलेगा या यह मिलेगा कि इनके कौन-कौन से मंत्री थे और इन राजाओं, इनकी प्रेमिकाओं और इनके सचिवों का मनोरंजन करने के लिए साहित्यिक पुरुषों ने कैसे-कैसे काव्य और नाटक लिखे हैं। उधर इसी श्रेणी के इतिहास-लेखक हमको यह बताते हैं कि अमुक लोग जिस देश में रहते थे वह देश कैसा था, वे किस प्रकार के कपड़े पहनते थे, कितनी तरह का और कैसा खाना खाते थे तथा किन-किन चीजों को खरीदते-बेचते थे। इस प्रकार उन्होंने साधारणतः उन सब बातों का वर्णन किया जिनका जनता के वास्तविक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और जिनको केवल उन लोगों के धर्म का प्रतिफल कहा जा सकता है। पर हमारे ये इतिहासवेत्ता धर्म को लोगों के रहन-सहन, खान-पान और वेश-भूषा का ही परिणाम समझते हैं।

"फिर भी श्रमजीवियों ने अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत किया?" इस प्रश्न का हमें तब तक कोई उत्तर प्राप्त नहीं हो सकता जब तक हम इस बात को स्वीकार न कर लें कि धर्म जनता के जीवन का एक अनिवार्य अंग है और इसलिए इस प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के धार्मिक विश्वासों के अध्ययन करने पर ही हमारे हाथ लग सकता है। इसकी वजह यह है कि यही धार्मिक विश्वास लोगों के अमुक प्रकार के जीवन के कारण होते हैं।

कोई यह सोच सकता है कि प्राकृतिक इतिहास का अध्ययन तो एक ऐसा विषय है जिसके संबंध में मनुष्य के साधारण ज्ञान पर पर्दा डालने और उसको धुँधला बनाने की कोई जरूरत नहीं थी; लेकिन इस क्षेत्र में भी आधुनिक विज्ञान ने जो रुख ग्रहण किया हुआ है उसी का अनुसरण किया गया। "चेतन-पदार्थों (वृक्षों और प्राणियों) का संसार क्या है, और वह किन-किन भागों में बँटा हुआ है?" इन प्रश्नों का अत्यंत सरल उत्तर देने के बजाय बिल्कुल निरुपयोगी, गोलमाल और बेकार चर्चा छेड़ दी जाती है जिसका उद्देश्य मुख्यतः सृष्टि-उत्पत्ति-संबंधी पौराणिक वर्णनों को झूठा साबित करना होता है। बहस यह की जाती है कि विभिन्न प्राणियों और वनस्पतियों के रूप किस प्रकार अस्तित्व में आए, हालाँकि वास्तव में न तो कोई व्यक्ति इस बात को जानना चाहता है और न वह इसे जान ही सकता है; क्योंकि जीवों के उद्गम को हम कितना ही क्यों न समझाएँ, वह सदा देश-काल की दूरी के कारण हमारी दृष्टि से ओझल ही रहेगा। फिर भी इस विषय पर तरह-तरह के सिद्धांत रचे जाते हैं, उन सिद्धांतों को असत्य साबित किया जाता है, पुनः परिशिष्ट सिद्धांतों का आविष्कार किया जाता है और इस प्रकार लाखों पुस्तकें इसी एक विषय के संबंध में रँग दी जाती हैं। अंत में इस सारे तर्क-वितर्क का जो अकल्पित परिणाम हमारे सामने रखा जाता है, वह यह है कि जीवन-संघर्ष जीवन का नियम है और मनुष्य को इसी नियम का पालन करना चाहिए।

इसके अलावा औषधि-विज्ञान तथा शिल्प-कला-विज्ञान जैसे प्रायोगिक विज्ञान धार्मिक सिद्धांत से कोई पथ-प्रदर्शक न मिलने के कारण अनिवार्यतः अपने युक्तियुक्त पथ से हटकर गलत दिशा में चले जाते हैं। उदाहरणार्थ शिल्प-कला-विज्ञान का उपयोग जनता के परिश्रम को हलका करने में नहीं किया जाता। उसका उपयोग ऐसे सुधार करने में किया जाता है जिनकी केवल धनवानों को जरूरत होती है और ये सुधार धनवानों और गरीबों-मालिकों और गुलामों के बीच के अंतर को और अधिक बढ़ानेवाले सिद्ध होते हैं। अगर इन आविष्कारों और सुधारों का थोड़ा-बहुत लाभ मजदूरों को मिल जाता है तो इसकी वजह यह कतई नहीं है कि वे जनता की भलाई को दृष्टि में रखकर किए गए थे; बल्कि उसकी वजह केवल यह है कि जनता को

उस लाभ से वंचित नहीं रखा जा सकता है।

यही बात औषधि-विज्ञान (आयुर्वेद-डॉक्टरी) के संबंध में भी लागू होती है। यह विज्ञान गलत दिशा की ओर इतना अधिक जा चुका है कि अब केवल लक्ष्मी के लाडले और धनवान लोग ही उससे लाभ उठा सकते हैं। दूसरी ओर सर्वसाधारण का जिस प्रकार जीवन है और जिस गरीबी में वे पड़े हुए हैं और गरीबों के जीवन को सुधारने-संबंधी प्रश्नों की हमने जिस प्रकार अवहेलना की है, उसकी वजह से सर्वसाधारण को जिन स्थितियों में औषधि-विज्ञान की सहायता मिलती है, उनसे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि औषधि-विज्ञान अपने वास्तविक उद्देश्य से कितना भटक गया है।

आजकल जिसको दर्शनशास्त्र कहा जाता है, उसमें भी अनिवार्य प्रश्नों की उपेक्षा और उनका विकृत रूप बड़े स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। सिर्फ एक ही मुख्य प्रश्न है जिसका दर्शन-शास्त्र को उत्तर देना है और वह यह है कि—

"मेरा कर्तव्य है क्या?" यूरोपीय राष्ट्रों के दर्शनशास्त्रों में इस प्रश्न के उत्तर किसी हद तक दिए भी गए हैं—हालाँकि स्पिनोजा, कैंट (जैसा कि उसके व्यावहारिक तर्क की आलोचना नामक ग्रंथ में लिखा है), शोपनहार और विशेषतः रूसो ने अपने मंतव्यों में बहुत-कुछ ऐसी बातें भी सम्मिलित कर दी हैं जो अनावश्यक और जटिल हैं। लेकिन जब से हेगल ने (जिसका कथन है कि—जो कुछ अस्तित्वमय है, वह सब तर्क-सम्मत है) इस क्षेत्र में कदम रखा है, तब से "मेरा कर्तव्य क्या है?" इस प्रश्न को पीछे धकेल दिया गया है। दर्शनशास्त्र ने पदार्थों का उनके वर्तमान स्वरूप में अनुसंधान करने और उनका पूर्व-निश्चित सिद्धांतों के साथ सामंजस्य मिलाने में अपनी सारी शक्ति लगा दी है। दर्शनशास्त्र का पतन की ओर यह पहला कदम था। इस दिशा में दूसरा कदम, जिसने मानव-विचार को अवनति की ओर थोड़ा और अग्रसर किया, उस समय बढ़ाया गया, जब दर्शनशास्त्र ने जीवन संघर्ष को जीवन का मौलिक नियम मान लिया। सिर्फ इसलिए कि ऐसा संघर्ष वृक्षों एवं पशुओं में देखा जा सकता है, इस नवीन सिद्धांत के प्रभाव में आकर लोग अब यह मानने लगे हैं कि दुर्बलों का विनाश एक ऐसा नियम है कि जिसमें हमें बाधा नहीं पहुँचानी चाहिए। अंत में पतन की ओर तीसरा कदम उस वक्त बढ़ाया गया जब हमारे जमाने के अग्रगण्य पुरुषों ने अर्ध-विक्षिप्त नीत्शे के अपने-आपको मौलिक साबित करने के थोथे प्रयत्नों को दर्शनशास्त्र के अंतिम वचन मान लिया। नीत्शे ने जनता के सामने किसी भी बात को अपने संपूर्ण और सुगठित रूप में नहीं रखा, बल्कि उसने अत्यंत निराधार विचारों को अनैतिक और अस्त-व्यस्त रूप में एकत्र कर दिया है। 'हमारा क्या कर्तव्य है?' इस प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट शब्दों में

यह उत्तर दिया जाता है—'दूसरे लोगों के जीवन की कुछ परवाह न करो और अपनी इच्छानुसार जीवन बिताओ।'

अगर किसी व्यक्ति को हमारे ईसाई समाज की इस पाशविकता और मूढ़ता में शंका हो तो नीत्शे के निबंधों की सफलता से ही उसकी शंका का निवारण हो जाना चाहिए। यदि ईसाई समाज का इतना घोर नैतिक पतन न हो गया होता तो क्या यह संभव था कि दक्षिण अफ्रीका और चीन में जो हत्याकांड हुए वे बिना किसी विरोध के चुपचाप सहन कर लिए जाते? हमारे धर्मगुरुओं तक ने इनका समर्थन किया और दुनिया के बड़े-बड़े लोगों ने उनको महान् कार्य घोषित किया। कैसी विचित्र बात है! एक यशलोलुप व्यक्ति जो एक साहसी, किंतु सीमित और साधारण जर्मन था, द्वारा लिखित कुछ असंबद्ध निबंध—जिनका उद्देश्य लोगों पर जबर्दस्ती प्रभाव डालना होता है—प्रकाशित होते हैं। इन लेखों में न तो कोई बौद्धिक प्रतिभा होती है और न युक्तियुक्तता ही, कि जिसकी वजह से लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो सके। केंट, लाइब्निज अथवा ह्यूम के जमाने में या उनसे पचास वर्ष पहले अगर ऐसे लेख लिखे जाते तो जनता का उनकी ओर ध्यान आकर्षित होना तो दूर रहा उनके प्रकाशित होने की भी नौबत नहीं आती। लेकिन हमारे जमाने में मनुष्य-जाति के सबके सब शिक्षित कहे जानेवाले लोग नीत्शे की बकवास पर बहुत प्रसन्न होते हैं। वे उसके विचारों के संबंध में परस्पर वाद-विवाद करते हैं, दूसरे लोगों को समझाते हैं और संसार की सब भाषाओं में उसकी रचनाओं की असंख्य प्रतियाँ छापी जाती हैं।

तुर्गनेव एक स्थान पर विनोद में आकर लिखता है कि दुनिया में कुछ 'बेसिर पैर की बातें हैं'। ऐसी बातें वे लोग किया करते हैं जिनमें प्रतिभा का अभाव होता है, लेकिन जो लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ प्रत्येक व्यक्ति इस बात को जानता है कि पानी गीला होता है। लेकिन अचानक हमारे सामने एक आदमी आकर खड़ा हो जाता है और गंभीरतापूर्वक कहने लगता है कि—"अरे भाई, बरफ नहीं, पानी सूखा होता है।" और जब इस प्रकार की बात आत्मविश्वास-पूर्वक कही जाती है तो लोगों का ध्यान उस ओर अवश्य आकर्षित हो जाता है।

इसी तरह सारा संसार इस बात को जानता है कि इंद्रिय-दमन और आत्म-त्याग ही मनुष्योचित गुण हैं। इस बात को न केवल ईसाई लोग ही जानते हैं (जिनके साथ नीत्शे का खयाल है कि वह झगड़ रहा है) बल्कि यह एक ऐसा अमर और सर्वश्रेष्ठ नियम है जिसको संपूर्ण मनुष्य-जाति स्वीकार करती है। क्या ब्राह्मण-धर्म, क्या बौद्ध धर्म, क्या कन्फ्यूशियन धर्म और क्या पुराने जमाने का पारसी धर्म, सबने इस नियम की श्रेष्ठता को स्वीकार कर रखा है; लेकिन अचानक एक

आदमी आता है और वह अपने इस आविष्कार की घोषणा करता है कि आत्मत्याग, तपस्या, विनय, प्रेम, दूसरों के प्रति आदर का भाव इत्यादि सब बुराइयाँ हैं जो मनुष्य-जाति का सर्वनाश कर रही है। यहाँ वह सिर्फ ईसाई-धर्म का जिक्र करता है और दुनिया के दूसरे सब धर्मों को भूल जाता है। यह समझ में आने योग्य बात है कि पहले-पहल इस प्रकार का कथन लोगों को असमंजस में डाल दे। लेकिन कुछ विचार करने के पश्चात् और उस व्यक्ति के लेखों में वर्णित अस्पष्ट मंतव्यों की सच्चाई का कोई प्रमाण न पाने पर प्रत्येक विवेकशील पुरुष को ऐसी पुस्तकों का बहिष्कार कर देना चाहिए और इस बात पर आश्चर्य भी प्रकट करना चाहिए कि आजकल के प्रकाशक ऐसी-ऐसी मूर्खतापूर्ण एवं निरर्थक पुस्तकों को प्रकाशित करने में भी नहीं सुकचाते। लेकिन नीत्शे की रचनाओं के संबंध में इस तरह का रवैया अख्तियार नहीं किया गया। सभ्यताभिमानी समुदाय के अधिकांश लोग गंभीरतापूर्वक नीत्शे के 'अति-मनुष्यत्व' (Super-Humanity) के सिद्धांत पर विचार-विनिमय करते हैं, इस सिद्धांत के प्रवर्तक को महान् तत्त्ववेत्ता का पद प्रदान करते हैं और उसको डिस्क्रेटीज, लाइब्निज एवं कैंट का उत्तराधिकारी मानते हैं।

यह सब किसलिए हुआ? सिर्फ इसलिए कि हमारे जमाने के सभ्यताभिमानी लोगों का अधिकांश समुदाय प्रत्येक ऐसी बात को न पसंद करता है जो उन्हें मनुष्योचित गुणों की याद दिलाती हो अथवा उन गुणों के आधार-स्तंभों—आत्म-त्याग और प्रेम का स्मरण कराती हो। ये लोग ऐसी किसी बात को पसंद नहीं करते जो उनके प्रचलित पाशविक और अनैतिक जीवन को निंदनीय ठहराती हो अथवा उनके इस जीवन को संयमित बनाती हो। बल्कि ये लोग प्रसन्नतापूर्वक स्वार्थ और निर्दयता से भरे हुए ऐसे सिद्धांतों का स्वागत करते हैं जिनका उद्देश्य—फिर वे सिद्धांत चाहे कितने ही साधारण समझ में न आने योग्य और असंगत रूप में क्यों न व्याप्त किए गए हों—उस प्रणाली का समर्थन करना होता है जो दूसरे लोगों के परिश्रम और कमाई पर खुद मौज उड़ाने और बड़े बनने की व्यवस्था को कायम रखती है। इसी प्रणाली के अनुसार उपर्युक्त नकली सभ्यताभिमानी लोग अपना जीवन बिताते हैं।

12

ईसामसीह ने यहूदियों के धर्म-गुरुओं और विद्वानों की इसलिए भर्त्सना की थी कि उन्होंने स्वर्ग के द्वार की चाबियों को हथिया लिया था; पर न तो वे स्वयं स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करते थे और न दूसरे लोगों को उसमें प्रविष्ट होने देते थे।

हमारे जमाने के ज्ञानी और विद्वान पुरुष भी ठीक यही काम कर रहे हैं। इन्होंने

स्वर्ग के राज्य की चाबियों पर तो कब्जा नहीं जमाया है; लेकिन शिक्षा और संस्कृति के भवन की चाबियों पर अधिकार जमा रखा है। न तो स्वयं उसमें प्रवेश करते हैं और न दूसरे लोगों को घुसने देते हैं।

सब प्रकार की धोखेबाजियाँ और मायाजाल के सहारे धर्म के दलालों ने—धर्म-गुरुओं और पंडे-पुजारियों ने—जन-साधारण के दिमाग़ में इस धारणा को बिठा दिया है कि ईसाई-धर्म मनुष्य-मनुष्य की समानता (विश्वबंधुता) के सिद्धांत की शिक्षा नहीं देता और इसलिए वह लोगों की वर्तमान संपूर्ण जीवन-व्यवस्था का नाशक भी नहीं है। इसके विपरीत वह आधुनिक समाज-व्यवस्था का समर्थक है, आकाश में स्थित नक्षत्रों की भाँति एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच भेद-भाव रखने का आदेश देता है और उन्हें अलग-अलग जातियों और वर्गों के सदस्य मानता है। ये धर्म-गुरु प्रत्येक प्रचलित धार्मिक संस्था और राज्य-प्रणाली को ईश्वरानुमोदित मानते हैं और उसकी आज्ञाओं का पूर्ण रूप से पालन करते हैं। सार यह कि ये लोग समाज के दलित और पीड़ित लोगों को यह सुझाया करते हैं कि स्वयं ईश्वर ने उनको इस दयनीय स्थिति में डाल रखा है, मनुष्यों का इसमें जरा भी दोष नहीं है और इसलिए उनको चाहिए कि वे विनयपूर्वक और दीनता के साथ अपनी इस अवस्था को सहन करते रहें। साथ ही उन्हें अपने अत्याचारियों—सम्राटों, राजाओं, पोपों, मठाधीशों, धर्म के गुरुओं, पंडे-पुजारियों, सरकारी अफसरों और आध्यात्मिक तथा सांसारिक सभी प्रकार के बड़े लोगों की आज्ञाओं का भी यथावत् पालन करना चाहिए; लेकिन इन अत्याचारियों के लिए यह जरूरी नहीं है कि वे विनयशील और दीन-वृत्तिवाले हों, बल्कि उन्हें चाहिए कि वे अपने अधीन जनता को धार्मिक उपदेश अथवा सजाएँ दे-देकर सुधारते रहें और स्वयं भोग-विलास एवं शान-शौकत की जिंदगी बसर करते रहें। उनके अधीन लोगों का यह कर्तव्य है कि वे अपने अत्याचारियों के लिए भोग-विलास और शान-शौकत के साधन जुटाते रहें। आजकल का ईसाई-धर्म—और दूसरे धर्मों की दशा भी अब करीब-करीब ऐसी ही है—लोगों को इसी तरह की बातों की शिक्षा दे रहा है और इस झूठी धार्मिक शिक्षा से प्रभावित और इसका प्रबल समर्थक शासक-समुदाय जनता पर कड़ाई के साथ शासन करता है और लोगों को शासकों के प्रमाद, भोग-विलास और पापाचारों के साधन जुटाने को विवश करता रहता है। इन अत्याचार-पीड़ितों और अत्याचारियों के अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी के लोग भी समाज में हैं। ये हैं वैज्ञानिक लोग जिन्होंने इस धार्मिक मायाजाल से अपने-आपको मुक्त कर लिया है। सिर्फ इन्हीं के अंदर जनता को अत्याचारों से मुक्ति दिलाने का सामर्थ्य है। लेकिन ये लोग भी जनता की मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं करते। वे हमेशा यही कहा करते हैं कि उनकी ऐसा करने की अभिलाषा है; लेकिन वे इस उद्देश्य को

सिद्ध करने के बजाय ठीक इसके विपरीत कार्य कर रहे हैं और मन-ही-मन समझते हैं कि उन कार्यों के द्वारा वे जनता की सेवा कर रहे हैं।

प्रत्येक विवेकशील पुरुष इस बात की इच्छा करेगा कि कितना अच्छा होता अगर इन लोगों ने इस बात को देखा होता कि वास्तव में कौन-सी वस्तु जनता को प्रेरित किया करती है और कौन-सी वस्तु उनको अपनी वर्तमान पतित अवस्था में पड़ा रखती है; फिर ये लोग अपनी सारी ताकत शक्ति के उस उद्गम-स्रोत को संचालित करने में लगा देते। जिन लोगों ने सर्व-साधारण को पराधीन बना रखा है वे लोग किस चीज से सबसे अधिक भय खाते हैं, यदि इस पर सरसरी तौर पर विचार किया जाए तो यह मालूम किया जा सकता है कि कौन-सी शक्ति जनता को प्रेरित करती है और कौन-सी उनको अपनी प्रचलित स्थिति में कायम रखती है। परन्तु हमारे वैज्ञानिक इस ओर जरा भी ध्यान नहीं देते। उल्टे वे इसको बिल्कुल निरर्थक कार्य समझते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग असलियत को जानना ही नहीं चाहते। ये लोग शुद्ध हृदय से और लगन के साथ विविध प्रकार के लोकोपयोगी कार्य करते रहते हैं। परंतु जनता के लिए जो सबसे पहली और सबसे आवश्यक बात है उसको कभी हाथ तक नहीं लगाते। अतएव इन लोगों का यह सारा कार्य ठीक उस आदमी के कार्य के समान है जो एक पूरी रेलगाड़ी को बलपूर्वक आगे धकेलने का प्रयत्न करता है, हालाँकि उसको जरूरत सिर्फ इस बात की है कि वह गाड़ी के इंजिन पर सवार हो जाए और फिर उस काम को करने लगे जिसको वह बार-बार ड्राइवर को करते हुए देखता है—अर्थात् भाप को पहियों में पहुँचने के लिए एक लीवर को घुमा दे। मनुष्यों की जीवन-संबंधी धार्मिक कल्पना की हम उस भाप से तुलना कर सकते हैं। कितना अच्छा होता अगर वैज्ञानिक इस बात को जान जाते कि भिन्न-भिन्न देशों का शासक-समुदाय कितनी उत्सुकता और सतर्कतापूर्वक इस प्रेरक-शक्ति को—जिसके द्वारा वह जनता पर हुकूमत करता और अधिकार जमाए रखता है—अपने अधीन बनाए रखने का प्रयत्न करता रहता है। यदि मानव-समाज के अग्रणी पुरुष इस तथ्य को समझ लें तो उन्हें ज्ञात हो जाएगा कि जनसाधारण को गुलामी और अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिए उन्हें किस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए।

तुर्की के सुल्तान को किस चीज की रक्षा करने की सबसे अधिक चिंता थी और किस चीज से वह सहायता की आशा रखता था? रूस का सम्राट अपनी यात्रा के समय किसी नगर में प्रवेश करते ही सबसे पहला काम कुमारी मेरी की मूर्ति को अथवा किसी संत-महात्मा के भग्नावशेष को चूमने का क्यों करता था? अपनी सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता का इतना अधिक गर्व अनुभव करते हुए भी जर्मन

सम्राट अपने सब भाषणों में—उचित और अनुचित सभी अवसरों पर—ईश्वर, ईसा मसीह, धार्मिक पवित्रता, शपथ इत्यादि बातों का उल्लेख क्यों किया करता था? केवल इसलिए कि ये सब लोग इस बात को जानते हैं कि इनकी शक्ति का आधार सेना है और सेना का आधार—निःसंदेह यह एक विचित्र बात है कि सेना-जैसी चीज का भी समाज में अस्तित्व हो—धर्म है। यदि धनवान लोग और साधारणतः विशेष रूप से धर्म-भीरु होते हैं और मंदिरों में जाकर और उपवास-व्रत रखकर धर्म के प्रति श्रद्धा रखने का दिखावा करते हैं तो इसका मुख्य कारण यह है कि आत्म-रक्षा का भाव उनको इस बात की चेतावनी देता है कि समाज में उन्होंने जो एक विशेष और अपने लिए लाभदायक दरजा बना लिया है वह तभी तक कायम रह सकता है जब तक कि वे प्रचलित धर्म को मानते रहें।

बहुधा इन लोगों को इस बात का पता नहीं होता कि धार्मिक दंभ पर किस प्रकार उनके विशेषाधिकार निर्भर हैं; लेकिन आत्मरक्षा की भावना उनको उस व्यवस्था के कमजोर स्थल की सूचना दे देती है, जिस पर कि उनकी शक्ति का आधार होता है, और ये लोग सबसे पहले उस कमजोर स्थल का ही बचाव करते हैं। कुछ हद तक लोग साम्यवादी और क्रांतिकारी प्रचार होने देते हैं, लेकिन धर्म के आधार-स्तंभों पर उन्होंने कभी किसी को हाथ नहीं डालने दिया।

इसलिए हमारे जमाने के अग्रगण्य पुरुषों—विद्वानों, उदार दलवालों, साम्यवादियों, क्रांतिकारियों और अराजकों—को यदि इतिहास और मनोविज्ञान का अध्ययन करने पर भी इस बात का पता नहीं लगता कि कौन-सी शक्ति जनता को प्रेरित करती है तो उनके समाधान के लिए यह स्पष्ट दिखलाई पड़नेवाली बात पर्याप्त होनी चाहिए कि वह प्रेरक-शक्ति भौतिक पदार्थों में नहीं है, बल्कि वह सिर्फ धर्म में ही विद्यमान है।

फिर भी यह अत्यंत आश्चर्य की बात है कि हमारे विद्वान और अग्रगण्य पुरुष जो भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के जीवन की अवस्थाओं को जानते और उन पर सूक्ष्म वाद-विवाद करते हैं, सीधी और स्पष्ट बात को नहीं देख सकते जो प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करती है। अगर ये लोग समाज के अल्पसंख्यक समुदाय में अपनी सुविधाजनक स्थिति कायम रखने के लिए जान-बूझकर जनता को धार्मिक अज्ञान में पड़े रहने देते हैं तो इसे भयंकर और वीभत्स दंभ कहना होगा। यही वे लोग हैं जिनको ईसा ने खासतौर पर दंभी कहकर निंदनीय ठहराया था। क्योंकि मनुष्य-जीवन में इन लोगों ने जितनी खराबियाँ पैदा की हैं उतनी बुरे-से-बुरे आदमी ने भी न की होंगी।

लेकिन अगर इन लोगों के अंदर सच्चाई है और ये अपना काम शुद्ध हृदय से

कर रहे हैं तो बुद्धि पर पर्दा पड़ने का हमको इसके अतिरिक्त और कोई कारण दिखलाई नहीं पड़ता कि जिस प्रकार जनसाधारण झूठे धर्म के मायाजाल में फँसे हुए हैं उसी प्रकार आजकल के ये नकली सभ्यताभिमानी पुरुष भी झूठे विज्ञान के मायाजाल में फँसे हुए हैं। इस झूठे विज्ञान ने इस बात की व्यवस्था दी है कि मानव-समाज की प्रमुख प्रेरक-शक्ति अर्थात् धर्म—जिसने अब तक मनुष्य-जाति को प्रेरित किया और जो अब भी प्रेरित कर रही है—बिल्कुल निकम्मा हो गया है और उसका स्थान किसी दूसरी वस्तु को मिल जाना चाहिए।

13

हमारी दुनिया के शिक्षित और विद्वान लोगों का यह भ्रम अथवा दंभ ही इस जमाने को विशेषता है। मनुष्य-जाति की वर्तमान दयनीय अवस्था और आपदाओं का कारण इन लोगों का यह भ्रम और दंभ ही है और इसी वजह से मानव-समाज दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक पाशविक होता जा रहा है।

आजकल के शिक्षित लोगों को यह कहने की कुछ आदत-सी पड़ गई है कि सर्व-साधारण में प्रचलित झूठे धार्मिक विश्वासों का कोई महत्त्व नहीं है और इसलिए उन विश्वासों के विरुद्ध जिस प्रकार ह्यूम, वाल्टेयर, रूसो आदि लोगों ने प्रत्यक्ष लड़ाई लड़ी थी वैसी लड़ाई लड़ना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनका खयाल है कि विज्ञान के द्वारा अर्थात् उस विशृंखल और आकस्मिक ज्ञान के द्वारा जिसका वे जनता में प्रचार करते रहते हैं, यह कार्य संपन्न हो जाएगा और जो लोग इस बात को जान जाएँगे कि पृथ्वी से सूर्य कितने करोड़ मील दूर है और सूर्य तथा नक्षत्रों में किस-किस तरह के धातु विद्यमान हैं, वे लोग पंडे-पुजारियों की बातों में विश्वास रखना अपने-आप बंद कर देंगे।

इस सच्चे अथवा झूठे कथन या मंतव्य में एक भारी भ्रम या भयंकर दंभ निहित है। बाल्यकाल के प्रारंभिक वर्षों में ही—उन वर्षों में ही जबकि बालक के दिल पर प्रत्येक वस्तु की तुरंत छाप पड़ा करती है और जब बालकों को शिक्षण देने वाले लोग इस बात की पूरी सावधानी नहीं रख सकते कि उन्हें क़िस प्रकार शिक्षा दी जाए—बालक पर कथित धर्म के नाम पर ऐसे मूर्खतापूर्ण और अनैतिक विधि-विधानों का मायाजाल फैला दिया जाता है जो हमारे ज्ञान और बुद्धि के बिल्कुल विपरीत होते हैं। उसको त्रिमूर्ति के अस्तित्व की शिक्षा दी जाती है जिसको हमारी विवेक-शक्ति कभी स्वीकार नहीं कर सकती। मनुष्य-जाति के उद्धार के लिए तीनों देवताओं में से किसी के पृथ्वी पर अवतार लेने, उनके निर्वाण पाने और स्वर्ग में चले जाने की शिक्षा दी जाती है। उसे कहा जाता है कि ईसा पुनः जन्म लेगा और जो इन बातों में

विश्वास नहीं करते उनको कल्पांत तक नरक यातनाएँ सहनी पड़ेंगी। उसको यह भी सिखलाया जाता है कि जिस चीज को उसको जरूरत हो उसके लिए वह परमात्मा की प्रार्थना करे। इसी प्रकार की और भी अनेक बातें उसको सिखाई जाती हैं और जब ये सारी बातें (जो वास्तव में मनुष्य की आत्मा, बुद्धि और प्रचलित ज्ञान-सामग्री के बिल्कुल विपरीत होती हैं) बालक के कोमल मन पर अमिट रूप से अंकित कर दी जाती हैं तो उसे इन धार्मिक विधि-विधानों से उत्पन्न होनेवाले पारस्परिक विरोधों के जंजाल में भटकाने के लिए अकेला छोड़ दिया जाता है। उन बातों को असंदिग्ध रूप से सच मान लेने से उसकी अवस्था अत्यंत दयनीय बन जाती है। वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। क्या सत्य है, और क्या असत्य—इस बात का विवेक करने की शक्ति उसके अंदर नहीं रहती। ऐसी अवस्था में उसको कोई आदमी यह नहीं बतलाता कि उसे किस प्रकार इन पारस्परिक विरोधों में साम्य स्थापित करना चाहिए अथवा यदि आध्यात्मिकता के ठेकेदार इन विरोधों में साम्य स्थापित करने की कुछ कोशिश करते भी हैं तो उनके प्रयत्न मामले को पहले से भी ज्यादा पेंचीदा और दुर्बोध बना देते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे आदमी के अंदर यह धारणा गहरी जड़ जमा लेती है (और आध्यात्मिकता के ठेकेदार उसकी इस धारणा का प्रबल समर्थन करते हैं) कि उसकी अपनी बुद्धि विश्वास के योग्य नहीं है और इसलिए कोई भी चीज इस दुनिया में संभव हो सकती है; और यह भी कि मनुष्य के अंदर ऐसी कोई योग्यता नहीं है जिसके द्वारा वह स्वयं अच्छाई को बुराई से और सत्य को असत्य से जुदा कर सके। इसके अलावा धीरे-धीरे वह इस बात को सोचने का भी आदी हो जाता है कि अपने लिए जो बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है—अर्थात् उसके दैनिक कार्य—उसमें भी उसको अपनी बुद्धि से काम नहीं लेना चाहिए; बल्कि दूसरे लोग जैसा कह दें उसी प्रकार उसको करते जाना चाहिए। पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि इस प्रकार की शिक्षा मनुष्यों के आध्यात्मिक संसार को कितने भयंकर रूप से दूषित और पतित बना देगी! खासकर उस समय जबकि वयस्क उम्र में भी धर्मगुरु लोगों पर हर किस्म के मायाजाल फैलाते रहते हैं।

अगर कोई पुरुष अपनी बाल्यावस्था में ऐसे धार्मिक मायाजाल के वातावरण में पला हो और जवानी के दिनों में भी उसने ऐसे मायाजाल को अपनाए रखा हो, और अगर वह अपने आत्मिक-बल, उद्योग और कष्ट-सहन के द्वारा अपने-आपको इस मायाजाल से मुक्त कर ले तो भी उसके मस्तिष्क में उस विकार का कुछ असर बाकी रह ही जाएगा, जो यह कहकर पैदा किया गया था कि उसको अपनी बुद्धि पर भरोसा नहीं करना चाहिए। यदि शरीर का कोई अवयव किसी तीक्ष्ण विष से विषाक्त हो जाए तो उसका असर पूर्णत: नहीं मिट सकता। यही बात मानसिक विकृति पर

भी लागू होती है। जो आदमी इस दंभ के जाल से अपने-आपको मुक्त कर लेता है और उस असत्य से घृणा करने लगता है जिसके जाल से वह अभी-अभी मुक्त हुआ होता है, ऐसे आदमी के लिए वह बिल्कुल स्वाभाविक है कि वह आजकल के प्रगतिशील लोगों के विचारों को अंगीकार कर ले और हर प्रकार के धर्म को मनुष्य जाति के उन्नति-पथ का रोड़ा मानने लगे। इस विचार को ग्रहण कर लेने पर वह व्यक्ति खुद भी अपने आचार्यों की भाँति एक सिद्धांतहीन व्यक्ति बन जाता है। फिर उसके अंदर किसी प्रकार की आत्मचेतना बाकी नहीं रहती और जीवन में वह केवल अपनी इच्छाओं के वशवर्ती होकर काम करने लगता है। अपनी इस अवनत अवस्था को निंदनीय नहीं समझता, इसके विपरीत वह उसे मानसिक विकास की सर्वोच्च अवस्था समझने लगता है जो मनुष्य के लिए सुलभ हो सकती है।

दृढ़ चित्तवाले व्यक्तियों का यही हाल होता है; लेकिन जो इतने दृढ़ नहीं होते उनके मन में शंकाएँ भले ही उठती हैं, पर वे पूर्ण रूप से अपने-आपको उस मायाजाल से मुक्त नहीं कर सकते जिसमें वे पले होते हैं! जिन विधि-विधानों को वे बहुधा स्वीकार कर चुके होते हैं, उनका समर्थन करने के लिए वे नाना प्रकार के धूर्ततापूर्ण, जटिल सिद्धांत मानने लगते हैं या नए गढ़ लेते हैं। वे शंका, अस्पष्टता, मिथ्या विश्वास और दंभ की दुनिया में रहते हैं और जनसाधारण को मायाजाल में रखने में सहयोग देते हैं और उनमें ज्ञान के प्रसार का विरोध करते हैं।

लेकिन बहुसंख्यक लोगों की जीवनचर्या ज्यों-की-त्यों चलती रहती है। उन पर जो मायाजाल फैलाया जाता है उसका सामना करने का न तो उनमें सामर्थ्य होता है और न उन्हें वैसा करने का अवसर ही मिलता है। वे वर्तमान काल की भाँति सदियों तक एक ही प्रकार का जीवन बिताते रहते हैं, सर्वोच्च मानव-कल्याण अर्थात् जीवन के संबंध में सच्चे धार्मिक ज्ञान से वंचित रहते हैं और हमेशा उन वर्गों के हाथों के खिलौने बने रहते हैं जो उन पर शासन करते हैं और उन्हें धोखा देते रहते हैं।

हमारे जमाने के अगुआ और विद्वान पुरुष इसी भयंकर मायाजाल को महत्त्वहीन और नगण्य समझते हैं। वे इस पर सीधा आक्रमण करना नहीं चाहते। अगर उनका सच्चाई के साथ यह विश्वास है तो उसकी वजह सिवाय इसके और कोई मालूम नहीं होती कि वे स्वयं झूठे विज्ञान के भ्रम-जाल में फँसे हुए हैं। अगर उनका यह विश्वास सच्चाई को लिए हुए नहीं है तो उनके इस व्यवहार का यही कारण हो सकता है कि प्रचलित धार्मिक विश्वासों पर आक्रमण करना लाभदायक नहीं होता और बहुधा खतरनाक होता है। कुछ भी हो यह कथन बिल्कुल झूठ है कि मिथ्या धर्म को मानते रहने से जनता को कोई नुकसान नहीं पहुँचता—और अगर नुकसान पहुँचता है, तो वह नुकसान कोई महत्त्व नहीं रखता—इसलिए बिना धार्मिक प्रपंच

और मायाजाल को नष्ट किए ही जनता में ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा और संस्कृति का प्रसार किया जा सकता है।

मनुष्य-जाति के लिए अपने दुःखों और आपदाओं से बच निकलने का एक ही रास्ता है। वह यह कि एक तो वह धर्मगुरुओं द्वारा फैलाए गए मायाजाल से अपने-आपको मुक्त कर ले, और दूसरे उस मायाजाल में पड़ने से भी अपने-आपको बचाए जिसकी ओर आजकल के विद्वान पुरुष उसको घसीट ले जाना चाहते हैं। भरी हुई बोतल में दूसरी चीज डालने के लिए यह आवश्यक है कि पहले उसमें पड़ी हुई चीज बाहर निकाल दी जाए। इसी तरह यह जरूरी है कि जनता को झूठे धार्मिक मायाजल से मुक्त किया जाए, ताकि फिर वह नवीन सच्चे धर्म को ग्रहण करने के योग्य बन सके। यह सच्चा धर्म और कुछ नहीं, सर्वांतर्यामी परमात्मा के साथ (मनुष्य-जाति ने अब तक जो उन्नति कर ली है उसके अनुसार) बाँधा गया यथार्थ संबंध है और इस संबंध को पहचान लेने पर लोग उससे अपने जीवन में पथ-प्रदर्शन पा सकते हैं।

14

"वास्तव में कोई सच्चा धर्म है भी? दुनिया में हमको तो हजारों तरह के धर्म दिखाई पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में हमको क्या अधिकार है कि हम उनमें से किसी खास धर्म को इसलिए सिर्फ सच्चा मानें कि वह हमारी रुचि के अधिक अनुकूल है?" ऐसे सवाल अक्सर उन लोगों की तरफ से पूछे जाते हैं जो धर्म के बाहरी स्वरूपों को एक प्रकार की बीमारी समझते हैं और जो इस बीमारी से अपने-आपको मुक्त किंतु दूसरों को उसका शिकार समझते हैं। उनकी यह मान्यता सही नहीं है। धर्मों के बाह्य रूप अलग-अलग होने पर भी उनके मूलतत्त्व एक जैसे होते हैं और यही वे सिद्धांत हैं जो तमाम धर्मों के मूलाधार हैं, इन्हीं से उसे सच्चे धर्म का निर्माण होता है जो आधुनिक युग में हम सब लोगों के लिए उपयुक्त हो सकता है और जिसको मान लेने से मनुष्य-जाति अपने कष्टों से छुटकारा पा सकती है।

मनुष्य-जाति को अस्तित्व में आए असंख्य वर्ष हो गए हैं। इन असंख्य वर्षों के अंदर इसने पीढ़ी-दर-पीढ़ी, जिस प्रकार अनेक व्यावहारिक आविष्कार किए और उनका विकास किया, उसी प्रकार वह ऐसे आध्यात्मिक सिद्धांतों का आविष्कार और विकास किए बिना भी नहीं रह सकती थी जो मनुष्य-जीवन के लिए आधार-स्वरूप बने हुए हैं। इसी प्रकार इन आध्यात्मिक सिद्धांतों से उत्पन्न होनेवाले व्यवहार-नियमों का आविष्कार और विकास भी मनुष्य-जाति ने किया है। अगर अंधे लोग इन बातों को नहीं देख सकते तो इससे यह साबित नहीं होता कि वे बातें

विद्यमान नहीं हैं।

सब लोगों के समान रूप से आचरण करने योग्य धर्म इस समय मौजूद हैं। यह कोई ऐसा संप्रदाय नहीं है जिसकी अपनी कुछ विशेषताएँ और विकृतियाँ हों बल्कि यह एक ऐसा धर्म है जिसमें ऐसे सिद्धांतों का समावेश है जो सभी बड़े-बड़े धर्मों में समान रूप से पाए जाते हैं। इन सिद्धांतों को मनुष्य-जाति के 90 प्रतिशत लोग आज भी अंगीकार किए हुए हैं और मनुष्यों के अब तक पूर्ण-रूपेण पाशविक न बन जाने की वजह भी सिर्फ यही है कि तमाम राष्ट्रों के अच्छे-अच्छे लोग अनजान में सही, इस धर्म को मानते और इसका पालन करते रहते हैं। यदि जनता इस धर्म को विवेकपूर्वक अंगीकार नहीं कर रही है तो इसका कारण केवल यह है कि वैज्ञानिकों और धर्म-गुरुओं की सहायता से उसको मायाजाल में फँसा रखा गया है।

इस सच्चे धर्म के सिद्धांत मनुष्यों के लिए इतने स्वाभाविक हैं कि ज्योंही वे लोगों के सामने रखे जाते हैं त्योंही लोग उन्हें बिल्कुल परिचित और स्वयंसिद्ध सिद्धांत समझकर स्वीकार कर लेते हैं। हमारे लिए ईसाई-धर्म ही सच्चा धर्म है; लेकिन यह उसी हद तक हमारे लिए सच्चा धर्म है जिस हद तक कि इसके और ब्राह्मण-धर्म, कनफ्यूशियन-धर्म, ताऊ-धर्म, यहूदी-धर्म और मुस्लिम धर्म के बाह्य विधि-विधान नहीं, बल्कि मूलभूत सिद्धांत एक समान मिलते हैं। इसी प्रकार जो ब्राह्मण, कनफ्यूशियन इत्यादि धर्मों को माननेवाले हैं, उनके लिए भी वही धर्म सच्चा धर्म है जिसके आधारभूत सिद्धांत दूसरे तमाम धर्मों के आधारभूत सिद्धांतों से मेल खाते हों और संसार के समस्त धर्मों के यह आधारभूत सिद्धांत अत्यंत सरल, बुद्धिगम्य और स्पष्ट हैं।

वे सिद्धांत इस प्रकार हैं। सब पदार्थों का, चर-अचर सृष्टि का आदिकरण एक सर्वव्यापी परमात्मा है। प्रत्येक मनुष्य के अंदर उस पूर्ण ब्रह्म-ज्योति का एक अंश विद्यमान है। भले-बुरे कर्मों द्वारा मनुष्य अपनी इस ईश्वरीय ज्योति के अंश को स्वयं बढ़ा या घटा सकता है। ईश्वरीय ज्योति के इस अंश का विकास करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी वासनाओं का दमन करे और अपने अंदर प्रेमभाव, अहिंसा-वृत्ति की वृद्धि करे। इस उद्देश्य को सिद्ध करने का व्यावहारिक तरीका यह है कि हम दूसरे लोगों के प्रति वैसा ईश्वरीय व्यवहार करें जैसा हमें दूसरे लोगों से अपने लिए चाहते हैं। ब्राह्मण-धर्म, यहूदी-धर्म, कनफ्यूशियन-धर्म, मुस्लिम-धर्म इत्यादि सब धर्मों में ये सिद्धांत समान रूप से विद्यमान हैं। बौद्ध धर्म यद्यपि ईश्वर को नहीं मानता और उसने ईश्वर की कोई व्याख्या नहीं की है, तथापि वह एक ऐसे पदार्थ को अवश्य मानता है जिसके साथ मनुष्य का तादात्म्य-संबंध है और जिसमें निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य विलीन हो जाता है। अतएव जिसके साथ मनुष्य

का तादात्म्य-संबंध है और निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् जिसमें मनुष्य विलीन हो जाता है, वह वस्तुत: वही आदि-कारण है जिसको यहूदी-धर्म, ईसाई-धर्म और मुस्लिम-धर्म ने ईश्वर के नाम से संबोधित किया है।

आजकल के जो लोग अलौकिक अर्थात् अर्थशून्य तत्त्व को ही धर्म की मुख्य चिह्न समझने के अभ्यस्त हैं, वे कहेंगे कि यह तो धर्म नहीं है। "इसे आप दर्शन-शास्त्र, आचार-शास्त्र, मीमांसा-शास्त्र और इसी प्रकार के किसी दूसरे शास्त्र का नाम भले ही दे दें; लेकिन इसको आप धर्म कदापि नहीं कह सकते।" इन लोगों के मतानुसार तो मूर्खतापूर्ण और समझ में न आने योग्य पदार्थ का नाम धर्म है। लेकिन सच बात तो यह है कि इन्हीं सिद्धांतों द्वारा, अथवा यों कहिए कि इन सिद्धांतों के धर्म-तत्त्वों के रूप में प्रचारित होने के परिणामस्वरूप और इनको विकृत बनाने की क्रिया के एक लंबे काल तक जारी रहने के पश्चात उन तमाम अलौकिक और अद्भुत घटनाओं की कल्पना की गई जो कि आजकल प्रत्येक धर्म की मूलभूत लक्षण समझी जाती हैं। यह कथन कि अलौकिक और अविवेकपूर्ण बातें ही धर्म का सबसे मुख्य लक्षण हैं, ठीक वैसा ही है जैसा एक सड़े सेब को खाकर यह कहना कि कड़वाहट और पेट में खराबी पैदा करना ही सेब नामक फल के खास लक्षण हैं।

लेकिन धर्म ऐसा पदार्थ नहीं है। धर्म बताता है कि मनुष्य और समस्त पदार्थों के मूल स्रोत परमात्मा का क्या संबंध है और मनुष्य-जीवन का क्या उद्देश्य है जो कि उस संबंध के फलस्वरूप पैदा होता है। यह धर्म उस उद्देश्य के अनुसार ही मनुष्य के लिए आचरण-संबंधी नियम सुलभ करता है और जो सार्वभौम धर्म होता है और जिसके प्रारंभिक सिद्धांत दूसरे तमाम धर्मों के सिद्धांतों से मेल खाते हैं, उसमें धर्म की उपरोक्त सब बातों का समावेश हो जाता है। ऐसा धर्म मनुष्य और ईश्वर के बीच के पारस्परिक संबंध की व्याख्या करता है अर्थात् वह बतलाता है कि मनुष्य संपूर्ण तत्त्व का एक अंश है। इस विधि से वह मनुष्य-जीवन का उद्देश्य निश्चित करता है और यह उद्देश्य सिवाय इसके और कुछ नहीं होता कि मनुष्य अपने अंदर विद्यमान ईश्वरीय अंश की वृद्धि करे। मनुष्य-जीवन का यह उद्देश्य मनुष्य को आचरण-संबंधी कुछ आदेश देता है जिसका सार यह है कि दूसरों के साथ तुम वैसा ही बर्ताव करो जैसा तुम अपने प्रति दूसरों से करवाना चाहते हो।

लोग बहुधा इस बात में शंका किया करते हैं—और स्वयं मैंने भी एक बार ऐसी शंका की थी—कि क्या इस प्रकार का नियम—अर्थात् 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—मनुष्य-जीवन का उसी प्रकार एक अनिवार्य व्यवहार-नियम बन सकता है जिस प्रकार कि उपवास, प्रार्थना आदि नियम बने हुए हैं। लेकिन हमारी इस शंका का समाधान उस समय पूरे तौर पर हो जाता है जब हम देखते हैं कि एक देहाती

किसान किसी देव-मंदिर से मिले हुए प्रसाद को अपवित्र स्थान में रखने की अपेक्षा मर जाना अधिक श्रेष्ठ समझता है; लेकिन वही किसान सत्ताधारियों का आदेश मिलने पर अपने भाइयों को कत्ल करने में जरा भी संकोच अनुभव नहीं करता।

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' इस नियम के फलस्वरूप कुछ आदेश बनते हैं। जैसे दूसरों की हत्या न करो, दूसरों की निंदा न करो, व्यभिचार न करो, बदला न लो, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए दूसरों की आवश्यकताओं और कठिनाइयों का अनुचित लाभ न उठाओ आदि-आदि। क्यों न इन आदेशों का ठीक उसी प्रकार जोरों से प्रचार किया जाए और क्यों न उनको वैसा ही अनिवार्य और अनुल्लंघनीय करार दिया जाए जैसा कि धर्मशास्त्रों और मूर्तियों की पवित्रता में विश्वास रखना अनिवार्य और अनुल्लंघनीय माना जाता है? लोगों का यह विश्वास किसी स्पष्ट आंतरिक अनुभूति पर नहीं बल्कि सहज श्रद्धा पर ही निर्भर होता है।

15

हमारे जमाने के तमाम लोगों के लिए समान रूप से उपयुक्त सिद्ध होनेवाले इस धर्म की सच्चाइयाँ इतनी सरल, इतनी बुद्धिगम्य और प्रत्येक मनुष्य के हृदय के इतनी निकट हैं कि मनुष्य-जाति की वर्तमान संपूर्ण जीवन-चर्या को बदलने के लिए माता-पिताओं, शासकों और शिक्षकों को सिर्फ एक ही बात करनी चाहिए। वह यह कि बालकों और बालिगों के दिमागों में त्रिमूर्तियों, कुमारी माताओं, पाप-कर्मों से उद्धार करने के कार्यों, देवी-देवताओं, इंद्रों और मुहम्मद साहब एवं भगवान् बुद्ध के स्वर्गलोक को उड़ जाने-संबंधी वाहियात और गए-गुजरे सिद्धांतों को जिनमें कि वे खुद बहुधा विश्वास नहीं करते, न ठूँसें। इसके बजाय उन सरल और स्पष्ट सिद्धांतों (सत्यों) की शिक्षा दें जिनका आध्यात्मिक निचोड़ इस बात में है कि प्रत्येक मनुष्य के अंदर ईश्वर का अंश विद्यमान है और जिनका व्यावहारिक नियम यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना आचरण इस वाक्य के अनुरूप रखना चाहिए— आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। मैं यहाँ दूसरे धर्मों का उल्लेख नहीं करता; लेकिन हमारे ईसाई समाज के बालकों के अंदर आजकल इस प्रकार के भाव भरे जाते हैं और बालिग व्यक्तियों में उन्हें पुष्ट किया जाता है कि ईश्वर ने अपने पुत्र (ईसा मसीह) को इसलिए पृथ्वी पर भेजा कि लोग आदम के पाप से मुक्ति पा सकें; उसने अपने गिरजे की स्थापना की, जिसकी आज्ञाओं का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। इन विश्वासों से निकलनेवाले नियमों का पालन करना चाहिए अर्थात् ईश्वर की प्रार्थना, पूजा और अर्चना कब और कहाँ की जाए, अमुक प्रकार का

भोजन कब न किया जाए और कौन-से दिन काम न किया जाए यानी छुट्टी रखी जाए। लेकिन अगर इन बातों की शिक्षा देने के बजाय सिर्फ यह बताया जाए और बाद में उसकी पुष्टि की जाए कि सब लोगों के अंदर ईश्वरीय शक्ति का अंश विद्यमान है और हम लोग अपनी जीवन-चर्चा और आचरण के द्वारा अपने अंदर स्थित इस ईश्वरीय अंश की वृद्धि कर सकते हैं तो मनुष्य-जाति का कितना उपकार हो सकता है। यदि उपरोक्त सत्य एवं उससे पैदा होनेवाले मनुष्य-जीवन संबंधी स्वाभाविक नियमों की लोगों को उसी प्रकार शिक्षा दी जाए जिस प्रकार आजकल अलौकिक घटनाओं के अर्थ-शून्य किस्से सुनाए जाते हैं और उन किस्सों के आधार पर निर्मित अर्थहीन विधि-विधानों का पालन करने की शिक्षा दी जाती है, तो मनुष्य-जाति के अंदर प्रचलित वर्तमान उद्देश्यहीन कलह और वैमनस्य निश्चय ही समाप्त हो सकते हैं और हम शीघ्र ही संपूर्ण मानव-समाज को कूटनीति-विशारदों, अंतरराष्ट्रीय कानून, शांति-परिषदों, अर्थशास्त्र के पंडितों और विभिन्न श्रेणियों के साम्यवादियों की सहायता के बिना ही एक सार्वभौम धर्म द्वारा परिचालित होता हुआ और शांतिमय, संयुक्त और सुखी जीवन व्यतीत करता हुआ देख सकते हैं।

लेकिन इस प्रकार की कोई बात नहीं हो रही है। झूठे धर्म के मायाजाल को नष्ट करने और उसके स्थान पर सच्चे धर्म की शिक्षा देना तो दूर रहा, लोग दिन-प्रतिदिन सत्य से इतने दूर भागते जा रहे हैं कि उनके लिए सत्य को स्वीकार करना बिल्कुल असंभव होता जा रहा है।

जो बात इतनी स्वाभाविक, आवश्यक और संभव है, उसको भी लोग नहीं कर रहे हैं। इसकी खास वजह हमको तो इसके अतिरिक्त और कोई दिखलाई नहीं पड़ती कि दीर्घकाल तक धर्महीन जीवन व्यतीत करते रहने के कारण लोग हिंसा, संगीनों, गोलियों, जेलखानों और फाँसी की तख्तियों के द्वारा अपने अस्तित्व को स्थापित करने और कायम रखने के इतने अधिक आदी हो गए हैं कि वे मनुष्य-समाज की आधुनिक व्यवस्था को न केवल स्वाभाविक, बल्कि एकमात्र संभव व्यवस्था मानने लगे हैं। जो लोग प्रचलित, समाज-व्यवस्था से लाभ उठा रहे हैं केवल उन्हीं की ऐसी धारणा नहीं है, प्रत्युत जो लोग इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के नीचे कुचले जा रहे हैं वे भी इस मायाजाल के शिकार होकर इतने अधिक मूढ़ बन गए हैं कि वे हिंसा को ही मानव-समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने का एकमात्र साधन मानते हैं। किंतु यह उस सामाजिक व्यवस्था और हिंसा द्वारा सार्वजनिक हितों की रक्षा करने की योजना का ही फल है कि लोगों को अपने कष्टों के कारणों को समझने में सबसे अधिक कठिनाई होती है और फलस्वरूप उत्तम-व्यवस्था की

स्थापना नहीं हो पाती।

इसके परिणाम समाज के लिए अत्यंत भयंकर और घातक सिद्ध हो रहे हैं। यदि बुरा और दुष्ट प्रकृति का डॉक्टर किसी बीमार के पेट में हलाहल पहुँचा दे तो बीमारी और ज्यादा बढ़ जाएगी और उसका उपचार असंभव हो जाएगा। ठीक यही दशा हमारे समाज की हो रही है।

जनता को गुलामी की बेड़ियों में जकड़ रखनेवाले सत्ताधारी लोग अपने मन में सोचा करते हैं और कहते रहते हैं कि हमारे मरने के बाद दुनिया डूब जाएगी।[1] सेना, धर्मगुरुओं, फौज के सिपाहियों, पुलिसवालों की सहायता से संगीनों, गोलियों, कैदखानों और फाँसी-घरों का भय दिखाकर गुलाम जनता को बड़ी आसानी से विवश कर सकते हैं कि वह दासता और अज्ञान में जकड़ी रहे और शासकों को शोषण करने से न रोके। शासक यही करते हैं और अपने इस कार्य को समाज में सुव्यवस्था कायम रखने का नाम देते हैं; लेकिन सच पूछा जाए तो उत्तम समाज-व्यवस्था स्थापित करने के मार्ग में इससे बढ़कर बाधक और कुछ नहीं है। इस प्रकार उत्तम समाज-व्यवस्था स्थापित होना तो दूर रहा, उल्टे दुष्टता की ही स्थापना होती है।

इन सब बातों के होते हुए भी लोगों में अब भी धार्मिक, सिद्धांतों की कुछ मात्रा मौजूद है और अगर हमारे ईसाई राष्ट्रों की जनता के सामने समाज में सुव्यवस्था और सदाचार की रक्षा का दम भरनेवाले लोगों के द्वारा किए अपराधों के सतत उदाहरण—यानी युद्धों, फांसियों, कैदखानों, कर-वसूली और शराब एवं अफीम की बिक्री आदि उदाहरण न होते तो वह आजकल धोखा, हिंसा और हत्यामूलक जो अपराध कर रही है, उसका सौवाँ हिस्सा भी करने की कल्पना नहीं करती। आज तो वह इन अपराधों को अच्छे और स्वाभाविक काम समझकर कर रही है।

मनुष्य-जीवन का नियम ही कुछ इस प्रकार है कि उसको सुधारने का केवल एक ही तरीका है। चाहे समाज के जीवन को सुधारना अभीष्ट हो, चाहे व्यक्ति के जीवन को। पूर्णता प्राप्त करने की दृष्टि से हमारे जीवन का आंतरिक नैतिक विकास होना चाहिए। बाहरी दबाव—अर्थात् हिंसा द्वारा मनुष्यों के जीवन को सुधारने के सारे प्रयत्न लोगों के सामने बुराई का उदाहरण रखते हैं और बुराई के लिए अत्यंत कारगर प्रचारक साबित होते हैं। इसलिए इस प्रकार के प्रयत्न मनुष्य-जीवन का सुधार नहीं करते। इसके विपरीत बुराई में उत्तरोत्तर वृद्धि करते हैं और मनुष्य को अपने जीवन-सुधार के एकमात्र वास्तविक मार्ग से अधिकाधिक दूर ले जाते हैं।

---

1. *श्रीमती पा-पेदौर कहा करती थी कि "After me (us) the deluge" अर्थात् मेरे मरने के बाद तो दुनिया में प्रलय हो जाएगा।*

व्यवस्था और सदाचार के रक्षकों द्वारा कानून के नाम पर हिंसा और अपराधों की मात्रा ज्यों-ज्यों अधिकाधिक और निर्दयतापूर्वक बढ़ती जाएगी और ज्यों-ज्यों धर्म के नाम पर फैले हुए झूठे मायाजाल के द्वारा उसका समर्थन होता रहेगा, त्यों-त्यों लोगों की यह धारणा अधिकाधिक दृढ़ होती जाएगी कि दूसरे लोगों की सेवा करना और उनसे प्रेम रखना मनुष्य-जीवन का नियम नहीं है, बल्कि मनुष्य-जीवन का नियम तो यह है कि वे परस्पर एक-दूसरे से झगड़ते रहें और एक-दूसरे को हड़प कर जाएँ। ज्यों-ज्यों उनका यह विचार दृढ़ होता जाएगा जो लोगों को पशुओं की श्रेणी में गिरा देता है, त्यों-त्यों उनके लिए अपने ऊपर फैले हुए मायाजाल को छिन्न-भिन्न करने और अपने जीवन के आधारस्वरूप हमारे जमाने के सच्चे धर्म को—जो सारी मनुष्य-जाति के लिए समान है—स्वीकार करने का काम अधिकाधिक मुश्किल होता जाएगा।

इस प्रकार चारों ओर एक भयंकर इंद्रजाल फैला हुआ है। धर्म के अभाव ने हमारे जीवन को पाशविक बना दिया है, जिसका आधार ही हिंसा है। हिंसा पर आधार रखनेवाले पाशविक जीवन ने हमारे लिए इस इंद्रजाल से मुक्ति पाना और सच्चे धर्म को अंगीकार करना अधिकाधिक असंभव बना दिया है और इसलिए मनुष्य उन कार्यों को नहीं करते जो इस युग में अत्यंत स्वाभाविक, संभव और आवश्यक हैं—अर्थात् धर्म के मायाजाल और नकलीपन को नष्ट नहीं करते और न सच्चे धर्म को अंगीकार करके उसका प्रसार ही करते हैं।

16

क्या इस लुभावने इंद्रजाल में से बच निकलने का कोई रास्ता संभव है? अगर है, तो वह कौन-सा रास्ता है?

ऊपर से देखने पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिन सरकारों ने सार्वजनिक हित की दृष्टि से जन-साधारण के जीवन का पथ-प्रदर्शन करना अपना कर्तव्य समझ रखा है, वही हमको इस इंद्रजाल से छुड़ा देंगी। जिन लोगों ने हिंसा पर निर्भर समाज-व्यवस्था को बदलने और उसके स्थान पर पारस्परिक सेवा और प्रेम पर आश्रित न्यायोचित समाज-व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया है, उनकी हमेशा यही धारणा रही है। ईसाई समाज-सुधारकों और यूरोप के भिन्न-भिन्न साम्यवादी सिद्धांतों के प्रवर्तकों ने भी जनता के कष्टों का अंत करने का सरकारों को एकमात्र साधन समझा था। सुप्रसिद्ध चीनी समाज-सुधारक श्री० मोतें का भी यही मत था। उन्होंने लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर चीन की सरकार से यह अनुरोध किया था कि वह पाठशालाओं में शिक्षा प्राप्त करनेवाले बालकों को फौजी कवायद

और सत्संबंधी विज्ञान की शिक्षा देना बंद कर दें और सैनिक पराक्रम प्रदर्शित करनेवाले किसी बालिग व्यक्ति को पारितोषिक, सम्मान एवं उपाधियाँ न दे; प्रत्युत, इसके स्थान पर बालक और वयस्क सभी को परस्पर एक-दूसरे से प्रेम रखने और एक-दूसरे का आदर पाने की शिक्षा दे और जो लोग दूसरों के प्रति अद्भुत प्रेम दिखलाएँ, उन्हें प्रोत्साहन और पारितोषिक दे। किसानों में सुधार-कार्य करनेवाले धर्म-परायण व्यक्तियों की भी यही सम्मति थी और है। इनमें से कइयों को मैं जानता था और अब भी जानता हूँ। एक वृद्ध पुरुष ने रूस से सम्राट की सेवा में पाँच बार इस आशय का आवेदन-पत्र भेजा था कि शाही फरमान द्वारा झूठे धर्म का मूलोच्छेद कर दिया जाए और उसके स्थान पर सच्चे ईसाई धर्म के प्रचार करने की आज्ञा दी जाए।

लोगों को यह बात बिल्कुल स्वाभाविक मालूम होती है और वे सोचते हैं कि जनता के हित-साधन के लिए सरकारें केवल उन्हीं साधनों का इस्तेमाल करना चाहती हैं जिनसे जनता को कोई नुकसान न पहुँचे और जिनके द्वारा अधिक-से-अधिक अच्छा परिणाम निकल सके; क्योंकि सरकारें लोगों की हित-रक्षा के नाम पर ही अपने अस्तित्व का समर्थन करती हैं। किंतु सरकारों ने भी कभी भी इसे अपना कर्तव्य नहीं समझा। बल्कि, इसके विपरीत, उन्होंने सर्वत्र और सर्वदा अपने युग में प्रचलित झूठे और सत्त्वहीन धर्म की अत्यंत आसक्तिपूर्वक रक्षा करने का प्रयत्न किया है और जिन लोगों ने जनता को सच्चे धर्म के सिद्धांतों से अवगत कराने का प्रयत्न किया है उनका हर प्रकार के दमन किया है। वस्तुत: इसके अतिरिक्त और कुछ हो भी नहीं सकता था; क्योंकि सरकारें प्रचलित धर्मों के पाखंड का भंडा फोड़कर और जनता को धर्म की शिक्षा देकर अपने ही हाथों अपने पाँवों पर कुल्हाड़ी कैसे मारतीं? यह तो वैसी ही बात होती जैसी कि आदमी पेड़ की उसी डाली को खुद अपने हाथों काटने की कोशिश करे जिस पर वह स्वयं बैठा हो।

परंतु अगर सरकारें इस कार्य को नहीं करतीं तो यह निश्चित-सा है कि जिन विद्वानों ने झूठे धर्म के मायाजाल से अपने-आपको मुक्त कर लिया है और जो यह कहते हैं कि वे जन-साधारण की सेवा करने के इच्छुक हैं; क्योंकि जनता के परिश्रम की बदौलत उन्होंने शिक्षा प्राप्त की है और उनका पालन-पोषण हुआ है, वे अवश्य ही इस कार्य को करेंगे। पर ये लोग भी सरकारों की तरह इस संबंध में बिल्कुल अकर्मण्य बने हुए हैं। इसकी पहली वजह यह है कि सरकारें जिस पाखंड की रक्षा करती रहती हैं, उस पाखंड का भंडाफोड़ करके ये लोग सत्ताधारियों की नाराजगी मोल लेने और परिणामत: कष्टों और आपदाओं को सहन करने की जोखिम उठाने को तैयार नहीं हैं। वे सोचते हैं कि वह पाखंड

अपने-आप मिट जाएगा। दूसरी वजह यह है कि लोग सब-के-सब धर्मों को एक दुर्बलतायुक्त भूल समझते हैं और इसलिए जिस मायाजाल का नाश करने की इन लोगों से आशा की जाती है, उस मायाजाल के बदले दूसरी कोई चीज इनके पास जनता को देने के लिए नहीं है।

अब रह जाता है वह महान् अशिक्षित जन-समुदाय जो मंदिरों और मठों के ऐंद्रजालिक प्रभाव में है और साथ ही सरकारों के दंभ का भी शिकार है। यह विशाल जन-समाज उस नकली धर्म को ही, जिसको इसने अंगीकार कर रखा है, एकमात्र सच्चा धर्म मानता है और उसका खयाल है कि इसके सिवाय न तो कोई दूसरा धर्म है और न हो सकता है। यह बहुसंख्यक जन-समाज अत्यंत विकट और सतत मायाजाल में फँसा हुआ है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी ये लोग उसे अज्ञानाच्छन्न अवस्था में जन्म धारण करते, जीवन व्यतीत करते और मर जाते हैं, जिसमें धर्म-गुरुओं और सरकारों द्वारा ये रहने को बाध्य किए जाते हैं। और अगर ये लोग इस ऐंद्रजालिक प्रभाव से अपने-आपको मुक्त कर भी लें तो इनके अंदर अज्ञान की मात्रा इतनी अधिक है कि वे फौरन उन वैज्ञानिकों के चंगुल में फँस जाते हैं जो किसी भी धर्म को नहीं मानते, इन वैज्ञानिकों का प्रभाव धर्म-गुरुओं के प्रभाव की भाँति ही निरर्थक और हानिकर सिद्ध होता है।

इस प्रकार अधर्म का खंडन और सद्धर्म का प्रचार जहाँ कुछ लोगों के लिए लाभदायक नहीं, वहाँ दूसरे लोगों के लिए एक असंभव कार्य है।

17

ऐसा प्रतीत होता है, मानो इस दलदल में से बच निकलने का कोई मार्ग ही नहीं है।

यह बात वास्तव में सच भी है कि अधार्मिक लोगों के लिए इस विकट परिस्थिति में से निकलने का न तो कोई रास्ता है और न हो ही सकता है। समाज के उच्च वर्ग और शासक-समुदाय के लोग जन-साधारण के कल्याण की कितनी ही चिंता क्यों न प्रकट करें वे कभी भी गंभीरतापूर्वक जनता की अज्ञानपूर्ण और पराधीन अवस्था दूर करने का प्रयत्न नहीं करेंगे; क्योंकि उस अवस्था में ही उच्च वर्ग के लोग जनता पर शासन करते रह सकते हैं। उनका लक्ष्य सांसारिक होता है, इसलिए वे ऐसा नहीं कर सकते। इसी प्रकार गुलामी की बेड़ियों से जकड़ी हुई सर्वसाधारण जनता भी, जिसका उद्देश्य साधारणत: अपनी सांसारिक वासनाओं की तृप्ति करना होता है, झूठी धार्मिक शिक्षा की पोल खोलते हुए उसके स्थान पर सच्चे धर्म के उपदेशों का प्रचार करके सत्ताधारियों के खिलाफ लड़ाई छेड़कर अपनी विषम परिस्थिति को और अधिक विषम बनाना नहीं चाहती। इन दोनों श्रेणियों के लोगों में

ऐसा कार्य करने की कोई प्रेरणा विद्यमान नहीं है; और अगर ये लोग समझदार और दूरदर्शी हैं तो भी करने का प्रयत्न नहीं करेंगे।

लेकिन धर्म-परायण लोगों की बात बिल्कुल जुदा है। चाहे समाज कितना ही पतित, भ्रष्ट और दूषित क्यों न हो जाए, फिर भी समाज में ऐसे लोग ढूंढ़ने पर अवश्य ही मिल जाते हैं जो धर्म की पवित्र ज्योति को अपनी सच्चरित्रता और सदाचारपूर्ण जीवन से हमेशा जगमगाये रखते हैं। इस पवित्र धार्मिक ज्योति के अभाव में मनुष्य-जीवन कभी कायम नहीं रह सकता। हां, यह बात सच है कि मनुष्य-जाति के इतिहास में ऐसे अवसर आया करते हैं (और वर्तमान युग भी इसी प्रकार का एक अवसर है) जब ऐसे लोग एक कोने में पड़े रहते हैं, उनकी कोई पूछ नहीं होती; उनका तिरस्कार किया जाता है, उनको अनेक प्रकार की यंत्रणाएँ पहुँचाई जाती हैं; निर्वासित किया जाता है, जेलों में डाला जाता है; लेकिन फिर भी वे जीवित रहते हैं और उन्हीं की तपस्या और बलिदान पर मनुष्य-जाति का बौद्धिक जीवन निर्भर करता है। इन लोगों की संख्या कितनी ही कम क्यों न हो, किंतु यही लोग हैं जो मनुष्यों को दासता-पाश में जकड़े रखनेवाले इस भयानक इंद्रजाल को नष्ट कर सकते हैं और करेंगे। ये लोग इस पवित्र कार्य को कर सकते हैं; क्योंकि एक सांसारिक मनुष्य को प्रचलित समाज-व्यवस्था का विरोध करने में जिन असुविधाओं और खतरों का सामना करना पड़ता है, वे धार्मिक पुरुषों के मार्ग को नहीं रोक सकते, उलटे वे असत्य का विरोध करने के लिए और भी उत्साह दिलाते हैं और जिसको वे ईश्वरीय सत्य समझते हैं, उसको शब्द और कार्य द्वारा प्रकट करने की प्रेरणा देते हैं। ऐसे धार्मिक पुरुष यदि शासक वर्गों में हुए तो वे अपनी सुविधाजनक स्थिति का खयाल करके सत्य पर पर्दा न डालेंगे, बल्कि इसके विपरीत वे ऐसी सुविधाओं को घृणा की नजर से देखेंगे और उनसे छुटकारा पाने में और सत्य का प्रचार करने में अपनी सारी शक्ति खर्च कर देंगे। उनके आगे जीवन में एक ही लक्ष्य होता है और वह यह कि ईश्वर की सेवा कर। यदि ऐसे पुरुष पराधीन वर्गों में हुए तो वे अपनी श्रेणी के अन्य लोगों की भाँति सांसारिक दशा सुधारने की चिंता न करेंगे। पाखंड का भंडाफोड़ करना और सत्य का प्रचार करना और इस प्रकार परमात्मा की इच्छा पूर्ति करना ही उनका लक्ष्य होगा। जीवन में जिस लक्ष्य को उन्होंने अपनाया होगा, उससे वे हरगिज विरत न होंगे, चाहे उन्हें कितना ही कष्ट सहन क्यों न करना पड़े। दोनों प्रकार के लोगों का आचरण उतना ही स्वाभाविक होगा जितना कि सांसारिक मनुष्य का होता है जो धन कमाने के लिए परिश्रम करता है, फिर हर प्रकार के कष्ट उठाता है, अथवा कुछ प्राप्ति की आशा में किसी राजा की खुशामद करता है। प्रत्येक धर्म-

परायण पुरुष का आचरण इसी प्रकार का होता है; क्योंकि जिसकी आत्मा धर्म के द्वारा पावन और निर्मल हो जाती है वह फिर दूसरे विषयासक्त स्त्री-पुरुषों की तरह सांसारिक और धर्म-हीन जीवन बिताना छोड़ देता है। वह तो ऐसा शाश्वत और अनंत जीवन बिताने लगता है जिसमें भौतिक कष्टों और मृत्यु आदि का कोई महत्त्व नहीं होता। ये कष्ट उसके लिए वैसे ही महत्त्वहीन होते हैं जैसे कि हाथ की फुँसी अथवा हल चलाते समय किसान के अंगों की थकावट।

ये ही दरअसल वे लोग हैं जो जन-साधारण के चारों ओर फैले हुए इंद्रजाल को फाड़ फेंकेंगे। ये लोग संख्या में कितने ही थोड़े क्यों न हों, इनका सामाजिक दर्जा कितना ही निम्न क्यों न हो, इनकी शिक्षा और योग्यता अल्प ही क्यों न हो, संपूर्ण संसार में ये उतने ही निश्चय के साथ आग लगा देंगे जिस निश्चय के साथ आग सूखी घास को जला डालती है। ये लोग उन तमाम मनुष्यों के हृदयों को सत्य और धर्म की ज्योति से पुनः आलोकित कर देंगे जिनके हृदय धर्म के दीर्घकालीन अभाव के कारण कुम्हला गए हैं और जो नवजीवन के लिए उत्कंठित हैं।

एक विशिष्ट अवसर पर घटित होनेवाली किसी अलौकिक घटना में सदा विश्वास करते रहने का नाम धर्म कदापि नहीं है। न किन्हीं खास तरह की प्रार्थना और रीति-रिवाजों को मानने की आवश्यकता में विश्वास रखना ही धर्म है। इसके अतिरिक्त धर्म वह पदार्थ भी नहीं है जिसके लिए वैज्ञानिक लोग अक्सर कहा करते हैं कि यह प्राचीन काल के अज्ञान और अंधविश्वासों का अवशिष्ट चिह्न है और इसलिए अर्वाचीन युग में मनुष्य-जीवन के लिए इसका कोई उपयोग या प्रयोजन नहीं है। बल्कि धर्म शाश्वत जीवन और परमात्मा के प्रति बाँधा गया एक संबंध है। यह संबंध बुद्धि और आधुनिक ज्ञान-सामग्री के बिल्कुल अनुकूल है और यही एक ऐसा पदार्थ है जो मनुष्य-जाति को अपने निश्चित ध्येय की ओर निरंतर अग्रसर करता रहता है।

यहूदियों के अंदर एक प्रसिद्ध लोकोक्ति प्रचलित है—"मनुष्य की आत्मा परमात्मा का दीपक है।" जब तक मनुष्य के अंदर ईश्वर की ज्योति प्रकाशित नहीं होती, तब तक यह केवल एक दुर्बल और दयनीय प्राणी होता है। लेकिन जब यह ज्योति जगमगाने लगती है (और वह केवल धर्म से आलोकित आत्माओं के अंदर ही जगमगाती है), तब मनुष्य संसार में सबसे शक्तिशाली प्राणी बन जाता है। इसके अलावा दूसरी कोई बात हो भी नहीं सकती, क्योंकि उसके अन्दर जो शक्ति कार्य करने लगती है, वह उसकी निज की शक्ति नहीं, बल्कि परमात्मा की शक्ति होती है।

बस, यही सब कुछ धर्म है और इसी में धर्म का तत्त्व समाया हुआ है।

धर्म और नैतिकता[1]

(1) धर्म शब्द से आप क्या समझते हैं ?

(2) धर्म का आप जो अर्थ करते हैं, उससे पृथक क्या कोई नैतिकता हो सकती है ?

मैं इन दोनों महत्त्वपूर्ण और ठीक ढंग से पूछे गए प्रश्नों का यथाशक्ति उत्तर दूँगा।

धर्म शब्द की आमतौर पर तीन भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की जाती हैं।

पहली परिभाषा तो यह है कि धर्म परमात्मा की ओर से मनुष्य को एक खास और सच्चा मार्ग-दर्शन है। जो लोग प्रचलित धर्मों में से किसी धर्म को मानते हैं और जो फलस्वरूप अपने धर्म को ही एक सच्चा धर्म समझते हैं, वे धर्म का यही अर्थ करते हैं।

दूसरी परिभाषा यह है कि कुछ अंधविश्वास-जनित मान्यताओं और अन्य मान्यताओं के अनुसार अंधविश्वासमय पूजा-पाठों के संग्रह का नाम धर्म है। जो आमतौर पर धर्म में श्रद्धा नहीं रखते अथवा उस धर्म में श्रद्धा नहीं रखते जिसकी वे व्याख्या करते हैं, उनकी धर्म की यही परिभाषा होती है।

तीसरी परिभाषा यह है कि धर्म कुछ ऐसे विधि-विधानों के संग्रह का नाम है जिनका बुद्धिमान लोगों ने आविष्कार किया है। इनकी आम लोगों को संतोष देने और उनके विकारों को संयम में रखने के लिए आवश्यकता होती है। इन्हीं के सहारे जनसाधारण को वश में रखा जा सकता है। धर्म की यह परिभाषा वे लोग करते हैं, जिन्हें धर्म के रूप में उतनी चिंता नहीं होती, बल्कि जो धर्म को शासन-तंत्र के हाथों में एक उपयोगी अस्त्र समझते हैं।

पहली परिभाषा के अनुसार धर्म एक अचूक और निश्चित सत्य है, जिसका मानव-हित के लिए सभी संभव उपायों द्वारा प्रचार किया जाना वांछनीय ही नहीं, आवश्यक भी है।

दूसरी परिभाषा के अनुसार धर्म अंधविश्वासों का एक संग्रह है जिससे मानव-हित के लिए मनुष्य को सब संभव उपायों द्वारा मुक्त करना वांछनीय ही नहीं, आवश्यक भी है।

तीसरी परिभाषा के अनुसार धर्म एक उपयोगी अस्त्र है जो उच्च संस्कृतिवान पुरुषों के लिए आवश्यक नहीं है, बल्कि आम लोगों को वश में रखने और उन्हें संतोष देने के लिए आवश्यक है और इसलिए उसको कायम रखा जाना चाहिए।

---

1. *जर्मनी की एक नैतिकता-प्रसारक संस्था के प्रश्नों का म. टॉल्सटॉय द्वारा दिया गया उत्तर।*

पहली परिभाषा की तुलना हम उस व्यक्ति की परिभाषा से कर सकते हैं जो यह कहता है कि संगीत एक विशेष प्रकार का स्वर है—ऐसा स्वर जो उसकी जानकारी में सर्वश्रेष्ठ है और जो उसे सबसे अधिक प्रिय है और इसलिए उसकी अधिक-से-अधिक लोगों को शिक्षा दी जानी चाहिए।

दूसरी परिभाषा की तुलना हम उस व्यक्ति की परिभाषा से कर सकते हैं जो संगीत को नहीं समझता और इसलिए उसे नापसंद करता है। वह यह कहेगा कि संगीत गले या मुँह की आवाज से अथवा अमुक वाद्य-साधनों को हाथों द्वारा इस्तेमाल करने से पैदा होता है और यह कि यह एक बेकार और हानिकारक कार्य है, जिससे जल्दी-से-जल्दी लोगों को विरत कर देना चाहिए।

तीसरी परिभाषा की तुलना हम उस व्यक्ति की परिभाषा से कर सकते हैं जो संगीत को नृत्य की शिक्षा और फौजी कवायद के लिए उपयोगी समझता है और यह मानता है कि इन कार्यों के लिए उसे कायम रखना चाहिए।

इन परिभाषाओं में जो विविधता और अपूर्णता है उसका कारण यह है कि संगीत के मुख्य गुण को नहीं समझा गया और परिभाषा करनेवाले के दृष्टिकोण के अनुसार केवल उसके कुछ रूपों की व्याख्या की गई है।

पहली परिभाषा के अनुसार धर्म एक ऐसी वस्तु है जिसमें परिभाषा करनेवाला सही तौर पर श्रद्धा रखता है।

दूसरी परिभाषा के अनुसार धर्म वह वस्तु है, जिसको परिभाषा करनेवाले की दृष्टि से दूसरे लोग गलत तौर पर मानते हैं।

तीसरी परिभाषा के अनुसार धर्म वह वस्तु है, जिसको परिभाषा करनेवाला दूसरों से मनवाना उपयोगी समझता है।

तीनों ही अवस्थाओं में धर्म के असली तत्त्व की व्याख्या नहीं की गई, बल्कि किसी ऐसी चीज की व्याख्या की गई है जिसको लोग मानते हैं और धर्म समझ बैठे हैं।

पहली परिभाषा परिभाषा करनेवाले की श्रद्धा को धर्म का स्थान प्रदान करती है, दूसरी परिभाषा दूसरे लोगों की श्रद्धा को धर्म बताती है और तीसरी परिभाषा लोगों की उस श्रद्धा को धर्म कहती है जिसका उन्हें धर्म के नाम पर विश्वास कराया जाता है।

किंतु श्रद्धा है क्या? लोग अपनी श्रद्धा पर क्यों कायम रहते हैं? श्रद्धा क्या है और वह कैसे पैदा हुई है? आजकल के पढ़े-लिखे लोगों के झुंड में ज्यादातर लोग यह मान बैठे हैं कि प्रकृति के तत्त्वों को न समझने के कारण जो अंधविश्वासमय भय पैदा होता है और प्रकृति की इन शक्तियों को देवताओं का रूप देकर उनकी जो पूजा की जाती है, वही प्रत्येक धर्म का मूल तत्त्व है।

आजकल के पढ़े-लिखे लोगों का झुंड बिना किसी आलोचना के इस परिभाषा

को श्रद्धापूर्वक मान लेता है और वैज्ञानिक लोग इसका न केवल खंडन ही नहीं करते, बल्कि वे इस परिभाषा के आमतौर पर कट्टर समर्थक पाए जाते हैं। मैक्समूलर या इसी प्रकार के और किसी व्यक्ति की, जो धर्म का भिन्न उद्गम और अर्थ बताते हैं, अगर यदा-कदा आवाज सुनाई भी देती है तो धर्म को आमतौर पर अज्ञान और अंधविश्वास का प्रदर्शन समझनेवालों को इतनी प्रचुरता है कि वह आवाज सुनी-अनसुनी हो जाती है। यह बहुत पहले की बात नहीं है, बल्कि 14वीं शताब्दी के शुरू की बात है। उस समय के मुखिया लोगों ने यद्यपि कैथोलिक प्रोटेस्टेंट और रूसी-यूनानी पुरातन धर्मों का खंडन किया; किंतु इस बात से कभी इनकार नहीं किया कि धर्म आमतौर पर हरेक मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक अंग रहा है और है। हम इस संबंध में डीस्टवादियों का उल्लेख न भी करें तो भी वोल्टेयर और रॉब्सपियरी के उदाहरण हमारे सामने हैं। इनमें से प्रथम ने ईश्वर का स्मारक खड़ा किया और दूसरे ने ईश्वर के नाम पर एक विराट उत्सव की योजना की थी। किंतु, हमारे युग में आगस्ट कोम्टे की, जो अन्य अधिकांश फ्रांसीसियों की भाँति कैथोलिकवाद को ही पूर्ण ईसाइयत मानता था, बेहूदा और ऊपरी शिक्षाओं की कृपा से पढ़ी-लिखी जनता ने (जो निकृष्ट दृष्टिकोण अपनाने का हमेशा तत्पर और उत्सुक रहती है) यह निर्णय कर लिया और मान लिया कि धर्म मानव-जाति के विकास का एक खास गया-गुजरा पहलू है। इसको स्वयंसिद्ध मान लिया जाता है कि मानव-जाति धार्मिक और आध्यात्मिक दो अवस्थाओं में से होकर गुजर चुकी है—और उसने तीसरी अवस्था यानी वैज्ञानिक अवस्था में प्रवेश किया है और यह कि मनुष्यों में अब जो भी धर्म का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है वह मानवजाति के आध्यात्मिक अंग का अवशेष मात्र है जो घोड़े के पंजे के पाँचवें नाखून की भाँति निरर्थक और बेकार हो चुका है।

यह मान लिया जाता है कि प्रकृति की अज्ञात शक्तियों से उत्पन्न भय, काल्पनिक देवताओं में विश्वास और उनकी पूजा में धर्म का तत्त्व निहित है। प्राचीनकाल में लोकतन्त्रवादी ऐसा ही समझते थे और आधुनिक तत्त्ववेत्ता और धार्मिक इतिहासवेत्ता भी यही कहते हैं।

यह भी एक खयाल है कि अगोचर, अलौकिक हस्तियों अथवा ऐसी किसी एक हस्ती में श्रद्धा हमेशा ही प्रकृति की अज्ञात शक्तियों के भय के कारण पैदा नहीं होती, पुराने जमाने के सुकरात, डेस्कार्टेज, न्यूटन आदि और इस युग के सैकड़ों अत्यंत प्रमुख और उच्च शिक्षित व्यक्तियों के उदाहरणों से हम इस बात की सत्यता अनुभव कर सकते हैं। ये लोग प्रकृति की अज्ञात शक्तियों के भय से प्रेरित होकर किसी सर्वोच्च अलौकिक हस्ती में विश्वास न करते थे; किंतु इस प्रमाण को एक

ओर रख दिया जाए तो भी प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों के संबंध में मनुष्यों के अंधविश्वासजनित भय ने धर्म को जन्म दिया है, इस कथन से मुख्य प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता। मुख्य प्रश्न तो यह है कि मनुष्यों में वह ऐसी कौन-सी बात थी कि जिसके कारण उन्हें अगोचर, अलौकिक शक्तियों की कल्पना हुई?

यदि मनुष्यों को बादलों की कड़क और बिजली से भय लगा तो इसका कारण यह था कि बादलों की कड़क और बिजली स्वयमेव भयोत्पादक चीजें हैं; किंतु उन्हें इस बात की कोई आवश्यकता न थी कि वे किसी ऐसी अगोचर, अलौकिक हस्ती का आविष्कार करते जो कहीं-न-कहीं रहती है और यदा-कदा लोगों की तरफ तीर फेंकती रहती है।

मृत्यु का दृश्य देखकर मनुष्यों के दिल में मृत्यु से भय पैदा हो सकता है; किंतु उन्हें मृतात्माओं की कल्पना करने की क्या आवश्यकता, जिनके साथ कि वे काल्पनिक संबंध स्थापित करते हैं? बिजली की कड़क से मनुष्य घरों में छिप सकता है। मृत्यु के भय से मनुष्य मृत्यु से भाग पाने के लिए प्रयत्न कर सकता है; किंतु यदि मनुष्यों ने शाश्वत और सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना की और यह समझा कि वही उनका आधार है; यदि मनुष्यों ने मृत लोगों की जीवित आत्माओं का आविष्कार किया तो उन्होंने यह सब केवल भय से प्रेरित होकर नहीं किया, बल्कि इसके अन्य कारण थे, स्पष्ट है कि उन कारणों में ही जिसे हम धर्म कहते हैं, इसका तत्त्व निहित है।

इसके अलावा प्रत्येक मनुष्य जिसने कभी भी, बचपन में भी धार्मिक भावना का अनुभव किया होगा, वह अपने खुद के अनुभव से यह जानता है कि उसके दिल में वह भावना किसी बाह्य आतंककारी भौतिक दृश्य के कारण नहीं पैदा हुई, बल्कि वह एक ऐसी अनुभूति थी जिसकी प्रकृति की अज्ञात शक्तियों के भय के साथ कोई संबंध नहीं हो सकता। वह अनुभूति थी उसकी अपनी क्षुद्रता की, एकाकीपन की और अपराधों की और इसलिए मनुष्य बाह्य अवलोकन और व्यक्तिगत अनुभव दोनों के ही द्वारा यह जान सकता है कि धर्म देवताओं की उस पूजा का नाम नहीं है जो प्रकृति की अज्ञात शक्तियों के मिथ्या भय से प्रेरित होकर की जाती है। मनुष्यों के विकास की एक खास अवस्था में ही यह संभव होता है। धर्म तो भय और लोगों की शिक्षा की मात्रा दोनों से पृथक वस्तु है—ऐसी वस्तु है जो संस्कृति का चाहे जितना विकास क्यों न हो जाए, नष्ट नहीं हो सकती। कारण जब तक मनुष्य रहेगा, उसको हमेशा यह भान रहा है और रहेगा कि इस अनंत विश्व में वह एक सीमित प्राणी है और उसने वह सब कार्य नहीं किए जो उसे करने थे और जिनको वह कर सकता था।

वस्तुतः जब मनुष्य बचपन की पशु-स्थिति और आरंभिक बाल्यकाल की अवस्था को पार कर लेता है, उस अवस्था को पार कर लेता है, जबकि वह शारीरिक

आवश्यकताओं से ही प्रेरित होता है अर्थात् वह बौद्धिक रूप से जागृत होता है तो वह अपने चारों ओर यह देखे बिना नहीं रह सकता कि सारी दृष्टि कायम है, नवीन रूप धारण करती रहती है, नष्ट नहीं होती और एक निश्चित शाश्वत नियम के अधीन होकर काम करती है। वह अपने-आपको शेष संसार से पृथक समझता है और अनुभव करता है कि केवल उसे ही मृत्यु का ग्रास बनना है, अनंत स्थल और काल में विलीन हो जाना है। उसे यह कष्टजनक विचार सताता है कि उसे अपने कार्यों का फल भुगतना पड़ेगा अर्थात् वह यह सोचता है कि बुरे कामों के बजाय मैं अच्छे काम कर सकता था। यह समझने के बाद कोई भी समझदार आदमी अपने-आपसे यह प्रश्न पूछे बिना नहीं रह सकता—"इस अनंत, सुनिश्चित और असीम विश्व में मेरे इस क्षणिक, अनिश्चित और अस्थायी अस्तित्व का क्या अर्थ है?" वास्तविक मानव-जीवन में प्रवेश करने के बाद मनुष्य इस प्रश्न की उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रत्येक मनुष्य के सामने यह प्रश्न पैदा होता है और प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी रूप में उसको हल करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रश्न के उत्तर में प्रत्येक धर्म का तत्त्व निहित है। "मैं क्यों जीवित हूँ और मेरे चारों ओर फैले हुए असीम विश्व[1] के साथ मेरा क्या संबंध है?" केवल इसी एक प्रश्न के उत्तर में धर्म का तत्त्व समाया हुआ है।

तमाम धर्मशास्त्र, देवी-देवताओं और सृष्टि की उत्पत्ति-संबंधी तमाम सिद्धांत और पूजा-अर्चना के तमाम बाह्य प्रकार—जिनको बहुधा धर्म ही समझा जाता है—(भौगोलिक, लौकिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण भिन्न होते हुए भी) धर्म के अस्तित्व के सूचक हैं। आपको उच्च-से-उच्च और भद्दे-से-भद्दा कोई धर्म ऐसा न मिलेगा जो मनुष्य का इस विश्व के साथ अथवा ईश्वर के साथ संबंध स्थापित न करता हो। प्रत्येक भद्दी-से-भद्दी धार्मिक विधि और प्रत्येक उन्नत-से-उन्नत धार्मिक सिद्धांत की जड़ में यह बात अवश्य मिलती है। प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक ने मनुष्य का विश्व और विश्व-नियंता के साथ जो संबंध निर्धारित किया, वही उस धर्म की शिक्षाओं में व्यक्त हुआ है।

मनुष्य और ईश्वर के ये संबंध भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुए हैं। उनका स्वरूप धर्म-प्रवर्तकों और उनके धर्मानुयायियों के वंश और इतिहास के अनुसार बना है। इसके अलावा धर्म-प्रवर्तक तो जनसाधारण की अपेक्षा सैकड़ों और कभी-कभी हजारों वर्ष आगे की बात सोचने में समर्थ थे; किंतु उनके अनुयायियों ने उनकी

1. *विश्व शब्द यहाँ और अन्यत्र उसके मौलिक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है और उसमें आध्यात्मिक और भौतिक तमाम विद्यमान वस्तुओं का समावेश हो जाता है।*

शिक्षाओं की विविध परिभाषाएँ कीं और गलत अर्थ भी कर डाला। इस प्रकार मनुष्य का विश्व के साथ अर्थात् धर्म के साथ विविध प्रकार का संबंध दृष्टिगोचर होता है, हालाँकि मनुष्य और विश्व तथा विश्व-नियंता के बीच तीन प्रकार के मौलिक संबंध हैं, पहला प्रारंभिक व्यक्तिगत संबंध है, दूसरा, सामाजिक अथवा कुटुंब और राष्ट्रगत संबंध है और तीसरा, धार्मिक अथवा दैवी संबंध है।

सच पूछा जाए तो इस विश्व के साथ मनुष्य के दो ही संबंध हो सकते हैं—एक तो व्यक्तिगत और दूसरा धार्मिक। पहले संबंध को माननेवाला व्यक्तिगत हित-साधन को ही जीवन का उद्देश्य समझता है और उसे व्यक्तिगत रूप से अथवा अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर सिद्ध करता है। दूसरे संबंध को माननेवाला, जिस परमात्मा ने मनुष्य को इस संसार में भेजा है, उसकी सेवा करना अपने जीवन का लक्ष्य समझता है। पहले विभाजन में जिन तीन संबंधों का उल्लेख किया गया है उनमें से दूसरे संबंध अर्थात् सामाजिक संबंध को पहले संबंध का ही विस्तार समझना चाहिए।

पहली कल्पना सबसे प्राचीन कल्पना है। यह उन लोगों में अब भी प्रचलित है जिनका नैतिक विकास कम-से-कम हो पाया है। इसके अनुसार मनुष्य अपने हित का विचार करके ही काम करता है; वह इस दुनिया में अधिक-से-अधिक व्यक्तिगत सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और इस बात की परवाह नहीं करता कि ऐसा करते हुए वह दूसरों को कितना दुःख या पीड़ा पहुँचाता है।

विश्व के प्रति मनुष्य के संबंध की यह अति प्राचीन कल्पना है। हरेक शिशु जब इस दुनिया में जन्म लेता है तो उसकी यही कल्पना होती है। मानव-जाति की अपने विकास की प्रथम अवस्था में यही कल्पना रही है और आज भी अनेक व्यक्ति, जिनका नैतिक मापदंड सूक्ष्म नहीं है और जंगली जातियाँ इसी कल्पना का अनुसरण करती हैं। इसी कल्पना से अल्प-विकसित धर्मों का उदय हुआ और उनके बाद जो धर्म पैदा हुए अर्थात् बुद्ध धर्म,[1] ताओ धर्म और इस्लाम धर्म के निकृष्ट और विकृत रूपों का उद्गम भी इसी कल्पना द्वारा हुआ है। आधुनिक अध्यात्मवाद भी इसी कल्पना का फल है जिसके मूल में व्यक्तित्व की रक्षा और कल्याण की भावना

---

1. बुद्ध धर्म अपने अनुयायियों को सांसारिक सुखों और जीवन तक को त्याग देने का उपदेश देता है, किंतु पूर्व निश्चित व्यक्तिगत कल्याण को ही वह अपना आधार मानता है। अंतर केवल इतना है कि जहाँ अन्य मूर्तिपूजक धर्म सुख प्राप्त करना मनुष्य का अधिकार मानते हैं, वहाँ बुद्ध धर्म यह मानता है कि यह दुनिया लुप्त हो जानी चाहिए, क्योंकि वह प्राणियों के लिए दुःख की सामग्री उपस्थित करती है। बुद्ध धर्म नकारात्मक अल्प-विकसित धर्म है।

काम करती है। जितने भी अल्पविकसित धर्म हैं, अज्ञात की खोज के अलौकिक साधन हैं, उनमें मनुष्य की भाँति सुखोपभोग करनेवाले प्राणी देवता माने गए हैं, मनुष्य और परमात्मा के बीच मध्यस्थता करनेवाले संत हैं, मनुष्य के पार्थिव कल्याण के लिए और संकटों से छुटकारा पाने के लिए जितने यज्ञ होते हैं और प्रार्थनाएँ की जाती हैं, उन सबका मूल जीवन-विषयक यही कल्पना है।

दुनिया के प्रति मनुष्य के इहलौकिक संबंध का दूसरा रूप सामाजिक है, जिसे वह अपने विकास की दूसरी सीढ़ी पर अपनाता है। यह संबंध मुख्यत: वयस्क लोगों के लिए स्वाभाविक होता है। इसमें मनुष्य व्यक्तिगत हित-साधन को नहीं, बल्कि व्यक्ति-समूहों के हित-साधन को जीवन का लक्ष्य समझता है। व्यक्ति-समूहों में परिवार, वंश, जाति, साम्राज्य अथवा समस्त मानव-जाति तक का समावेश हो जाता है।

इस कल्पना के अनुसार जीवन का लक्ष्य व्यक्ति की परिधि से हटकर परिवार, वंश, राष्ट्र अथवा साम्राज्य तक फैल जाता है—व्यक्तियों के अमुक संगठन उसके दायरे में आ जाते हैं और उनकी भलाई जीवन का लक्ष्य समझ लिया जाता है। अमुक प्रकार के सब धर्म अर्थात् खानदानी और सामाजिक धर्म, चीनी और जापानी धर्म, ईश्वर के प्यारों अर्थात् यहूदियों के धर्म, रोम का राष्ट्र-धर्म, गिरजा और राष्ट्र धर्म (जिसे गलती से ईसाई धर्म कहा जाता है) और प्रस्तावित निश्चयात्मक मानव-धर्म—इन सबका इसी कल्पना से उद्‌भव हुआ है।

चीन और जापान में पूर्वजों की पूजा के समस्त समारोह, रोम में सम्राटों की पूजा, यहूदियों के असंख्य समारोह, जिनका उद्देश्य ईश्वर और उनके प्यारों के बीच अमुक समझौता कायम रखना है, राष्ट्र की भलाई के लिए या युद्ध में विजय मिलने के लिए की जानेवाली गिरजों की प्रार्थनाएँ और कौटुंबिक और सामाजिक प्रार्थनाएँ—इन सबका आधार वही कल्पना है जो मनुष्य और विश्व के संबंधों के विषय में की गई है।

इस संबंध के बारे में तीसरी कल्पना ईसाई अर्थात् शुद्ध धार्मिक कल्पना है। तमाम वृद्ध व्यक्तियों को इसका अनजाने भान है और मेरी राय में जिसको अब मानवता अपनाने लगी है। इस कल्पना के अनुसार जीवन का उद्देश्य व्यक्तिगत उद्देश्यों अथवा व्यक्तियों के अमुक संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकता। उसके अनुसार जीवन का उद्देश्य उस परम पिता परमात्मा की इच्छा की पूर्ति करना है, जिसने मनुष्य की और इस समस्त विश्व को मनुष्य के उद्देश्यों के लिए नहीं, बल्कि अपने ही उद्देश्यों के लिए पैदा किया है।

इस कल्पना से ही दुनिया की उस श्रेष्ठतम धार्मिक शिक्षा का जन्म हुआ है जिसके बीज यूनानियों, मिस्रियों, पर्शियनों, ब्राह्मणों, बौद्धों और ताओ-धर्मियों के श्रेष्ठ पुरुषों में विद्यमान थे; किंतु जिनकी पूर्ण और अंतिम अभिव्यक्ति सिर्फ ईसाई

धर्म के शुद्ध और निर्विकार रूप में हुई है। जीवन की इस कल्पना को लेकर जो प्राचीन धर्म पैदा हुए, उनके तमाम कर्मकांडों और इस युग के कुछ समूहों के पूजा-पाठ के बाह्य प्रकारों में हमको मनुष्य और विश्व के संबंधों की उसी कल्पना का धार्मिक प्रदर्शन दिखाई देता है।

जितने प्रकार के धर्म हो सकते हैं, उन सबको संसार-विषय उक्त तीन कल्पनाओं में से किसी एक में विभाजित किया जा सकता है।

प्रत्येक मनुष्य जो पशु-अवस्था को पार कर चुकता है, अनिवार्यतः पहली, दूसरी या तीसरी कल्पना को अपनाता है और चाहे वह नाम के लिए किसी धर्म को मानता हो, वही उसका वास्तविक धर्म बन जाता है ?

प्रत्येक मनुष्य इस तरह की कोई-न-कोई कल्पना अवश्य करता है कि उनके और इस विश्व के बीच क्या संबंध है, क्योंकि कोई भी समझदार प्राणी जिस विश्व में वह रहता है, उसके साथ कोई-न-कोई संबंध रखे बिना जी नहीं सकता। और चूँकि मनुष्य ने अभी तक हमारी जानकारी में तीन प्रकार के संबंधों का ही आविष्कार किया है, इसलिए यह नतीजा निकला कि हरेक मनुष्य तीनों में से किसी एक संबंध को मानता है और वह चाहे या न चाहे, वह उन तीन मूलभूत धर्मों में से एक के साथ संबद्ध है, जिसमें कि मानव-जाति बँटी हुई है।

इसलिए ईसाई धर्म को माननेवाले पढ़े-लिखे लोगों में जो यह बात आमतौर पर कही जाती है कि वे विकास की उस सीढ़ी पर पहुँच चुके हैं, जहाँ उन्हें किसी धर्म की आवश्यकता नहीं रह गई है या उनका कोई धर्म नहीं रह गया है, उसका सिर्फ यही अर्थ निकलता है कि वे ईसाई धर्म का तो खंडन करते हैं, जो हमारे युग के लिए एकमात्र स्वाभाविक धर्म है, और अनजाने निम्न श्रेणी के सामाजिक, कौटुंबिक, राष्ट्रगत अथवा प्रारंभिक अल्पविकसित धर्म को मानते हैं। धर्म के बिना मनुष्य का होना अर्थात् विश्व के साथ मनुष्य का कोई संबंध न होना उतना ही असंभव है जितना कि हृदय के बिना मनुष्य का होना। यह हो सकता है कि मनुष्य को यह पता न हो कि उसका अपना कोई धर्म है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि किसी मनुष्य को यह पता न हो कि उसके हृदय हैं; किंतु जिस प्रकार वह हृदय के बिना नहीं जी सकता, उसी प्रकार वह धर्म के बिना भी नहीं जी सकता।

धर्म एक प्रकार का वह संबंध है कि जिसको मनुष्य अपने चारों ओर फैले हुए असीम विश्व के अथवा उसके स्रोत और मूल कारण के प्रति स्वीकार करता है, और विवेकवान व्यक्ति को उनके प्रति-कुछ-न-कुछ संबंध रखना ही पड़ता है।

किंतु शायद आप कहेंगे कि विश्व के प्रति मनुष्य के संबंध की व्याख्या करना धर्म का काम नहीं है। यह तो दर्शनशास्त्र (यदि उसका समावेश विज्ञान में किया

जाए तो) अथवा सामान्य विज्ञान का काम है; किंतु मेरा यह खयाल नहीं है। इसके विपरीत, मेरा तो खयाल है कि यदि हम विज्ञान का व्यापक अर्थ करें और उसमें दर्शनशास्त्र को भी शामिल कर लें तो भी वह विश्व के प्रति मनुष्य के संबंध की व्याख्या नहीं कर सकता। हमारे समाज के पढ़े-लिखे लोगों में धर्म, विज्ञान और नैतिकता के संबंध में जो भ्रांति फैली हुई है, उसका मुख्य कारण यही विचार हैं।

विज्ञान, जिसमें हम दर्शनशास्त्र को भी शामिल कर लेते हैं, विश्व अथवा उसके मूल कारण के प्रति मनुष्य के संबंध को निर्धारित नहीं कर सकता। इसका एक बड़ा सबूत यह है कि दर्शनशास्त्र और विज्ञान का जन्म होने के पहले भी उस वस्तु का अस्तित्व अवश्य रहा होगा, जिसके बिना कोई विचार-प्रवृत्ति और मनुष्य एवं विश्व के बीच किसी प्रकार का संबंध हो ही नहीं सकता।

जिस प्रकार मनुष्य किसी भी प्रकार की गति के द्वारा यह मालूम नहीं कर सकता कि उसको किस दिशा में जाना चाहिए, हालाँकि उसकी प्रत्येक हलचल अनिवार्यत: किसी-न-किसी दिशा में प्रवाहित होती है, उसी प्रकार दर्शनशास्त्र और विज्ञान के क्षेत्र में चाहे जितना सोच-विचार किया जाए तो भी यह नहीं मालूम किया जा सकता कि इस प्रकार के प्रयत्न किस दिशा में किए जाने चाहिए। किंतु सब प्रकार के बौद्धिक प्रयत्न एक खास दिशा में किए जाते हैं जो पहले से निश्चित हो चुकी होती है और वह धर्म ही है जो हमेशा सब प्रकार के बौद्धिक कार्यों की दिशा सूचित करता है। प्लेटो से लगाकर शोपनहार तक सब तत्त्ववेत्ताओं ने हमेशा और अनिवार्यत: धर्म द्वारा सूचित दिशा का अनुसरण किया है। प्लेटो और उसके अनुयायियों का दर्शनशास्त्र अल्प-विकसित दर्शनशास्त्र है, जिसमें अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अधिक-से-अधिक कल्याण प्राप्त करने के साधनों और एक राष्ट्र की सीमा में व्यक्तियों के सहयोग पर विचार किया गया है। मध्ययुग के गिरजा-सम्मत ईसाई दर्शनशास्त्र ने भी व्यक्तियों के लिए मुक्ति प्राप्त करने के साधनों की खोज की अर्थात् इस बात का पता लगाया कि भावी जीवन में सबसे अधिक व्यक्तिगत कल्याण किस प्रकार प्राप्त किया जाए। यदि उसने समाज की भलाई का विचार किया तो केवल उस समय जब उसने अपने विचारों के अनुसार राज्य-संगठन को चलाने के प्रयत्न किए। इस दर्शनशास्त्र का जन्म भी जीवन-संबंधी उसी अविकसित कल्पना से हुआ।

हेगल और कोमटे दोनों के आधुनिक दर्शनशास्त्र की जड़ जीवन की राष्ट्रवादी सामाजिक-धार्मिक कल्पना है। शोपनहार और हार्टमेन के निराशावादी दर्शनशास्त्र ने यहूदियों की सृष्टि-विषयक कल्पना से छुटकारा पाने के लिए अनजाने बुद्ध-धर्म के धार्मिक आधार को स्वीकार किया।

धर्म मनुष्य और विश्व के बीच जो संबंध स्थापित करता है, उसके फलस्वरूप

जो परिणाम पैदा होते हैं, उनकी खोज करना ही हमेशा दर्शनशास्त्र का काम रहा है और आगे भी रहेगा। कारण, जब तक वह संबंध निर्धारित नहीं हो जाता, तब तक. दर्शनशास्त्र के विचार के लिए कोई आधार ही पैदा नहीं होता।

विज्ञान भी हरेक वस्तु का अध्ययन नहीं करता जैसा कि आजकल वैज्ञानिक लोग मूर्खतापूर्वक समझते हैं। कारण, ऐसा किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसे असंख्य पदार्थ हैं, जिनका अध्ययन किया जा सकता है। जिन असख्य पदार्थों, रूपों और अवस्थाओं का अध्ययन करना है, उनका हरेक के महत्त्व के अनुसार धर्म एक क्रम निर्धारित करता है और उस क्रम के अनुसार ही विज्ञान का परीक्षण-कार्य हमेशा चला है और आगे भी चलेगा, और इसलिए विज्ञान एक और अविभक्त नहीं है। जितने प्रकार के धर्म हैं, उतने ही प्रकार के विज्ञान हैं। प्रत्येक धर्म खोज के लिए पदार्थों की एक सरणि-विशेष का चुनाव करता है और इसलिए हरेक विभिन्न समय लोगों के विज्ञान पर उस धर्म का चिह्न अंकित होता है जिस धर्म के दृष्टि-बिंदु से वह पदार्थों को देखता है।

इस प्रकार अल्पविकसित विज्ञान ने, जिसकी पुनरुत्थान काल में पुनर्स्थापना हुई, और जो अब हमारे समाज में ईसाई नाम से प्रचलित है, हमेशा उन परिस्थितियों और अवस्थाओं की खोज की है और कर रहा है, जिनके द्वारा मनुष्य का अधिक-से-अधिक हित सिद्ध हो सकता है। ब्राह्मण और बुद्ध दर्शन-विज्ञान ने हमेशा केवल उन परिस्थितियों की खोज की जिनके अधीन मनुष्य को उन कष्टों से छुटकारा मिल सकता है, जिनसे वह संतप्त है। यहूदी-विज्ञान ने हमेशा उन शर्तों का अध्ययन और विवेचन किया, जिनका मनुष्य को परमात्मा के साथ अपने इकरार की पूर्ति के लिए पालन करना पड़ता है। उसका यह भी लक्ष्य था कि ईश्वर के प्यारे पुत्र अपना श्रेष्ठ धंधा करते रहें। गिरजा-सम्मत ईसाई-विज्ञान ने उन परिस्थितियों की खोज की है और कर रहा है, जिनके अनुसार मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। सच्चा ईसाई-विज्ञान, जिसका अभी-अभी जन्म हो रहा है, उन बातों की खोज कर रहा है जिनके द्वारा मनुष्य अपने परमपिता परमात्मा के आदेशों का पता लगा सके और यह जान सके कि उन आदेशों पर जीवन में किस प्रकार अमल किया जाए।

न तो दर्शनशास्त्र और न ही विज्ञान विश्व के साथ मनुष्य का संबंध निर्धारित कर सकता है, कारण दर्शनशास्त्र अथवा विज्ञान के जन्म लेने से पहले ही यह संबंध निर्धारित हो जाता है। दर्शनशास्त्र और विज्ञान यह कार्य इसलिए भी नहीं कर सकते कि वे खोज करनेवाले की स्थिति अथवा उसकी भावनाओं की परिधि से अलग केवल बुद्धि द्वारा अपना खोज-कार्य करते हैं। किंतु विश्व के साथ मनुष्य का संबंध केवल बुद्धि द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता, बल्कि मनुष्य की भावना और उसकी

आध्यात्मिक शक्तियों के संपूर्ण संयोग से यह कार्य होता है। आप किसी आदमी को चाहे जितना आश्वासन दीजिए, उसे चाहे जितना समझाइए कि जो कुछ अस्तित्व में है, वह केवल विचार द्वारा है, अथवा यह कि प्रत्येक वस्तु परमाणुओं से बनी है, अथवा यह कि तत्त्व या इच्छा ही जीवन का मूल है अथवा यह कि गर्मी, रोशनी, गति और विद्युत एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न प्रदर्शन हैं, किंतु जो मनुष्य अनुभव करता है, कष्ट भोगता है, प्रसन्न होता है, भय खाता और आशाएँ बांधता है, उसको इन सब बातों से यह समझ में नहीं आ सकता कि उसका इस विश्व में क्या स्थान है?

धर्म ही उसको यह स्थान बताता है और फलत: यह बताता है कि इस विश्व के साथ उसका क्या संबंध है? धर्म उसको कहता है कि—"दुनिया का अस्तित्व ही तुम्हारे लिए है, इसलिए जीवन से जितना आनंद उठाया जा सके, उठा लो।" अथवा—"तुम ईश्वर की प्यारी जाति के पुत्र हो, इसलिए उस जाति की सेवा करो, ईश्वर ने जो कुछ आदेश दिया है, उसका पालन करो, तुम्हारा और जाति का अधिक-से-अधिक कल्याण होगा।" अथवा—"तुम सर्वशक्तिमान के हाथ के अस्त्र हो, जिसने तुम्हें इस दुनिया में एक निश्चित कार्य करने के लिए भेजा है; उसकी इच्छा मालूम करो और उसको पूरा करो और तुम अपना सर्वोत्तम कर्तव्य पूरा करोगे।"

दर्शनशास्त्र और विज्ञान के कथनोपकथनों को समझने के लिए तैयारी और अध्ययन आवश्यक होते हैं, किंतु धर्म को समझने के लिए उनकी आवश्यकता नहीं होती; हरेक आदमी, यहाँ तक कि अत्यंत मर्यादित और अज्ञ आदमी भी उसे समझ सकता है।

मनुष्य का इस जगत और उसके मूल कारण के साथ क्या संबंध है, यह जानने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसको दर्शनशास्त्र अथवा विज्ञान का ज्ञान हो, (मनुष्य के अंत:करण पर ज्ञान का बाहुल्य बोझ बनकर बाधक बन जाता है)। यदि कुछ आवश्यक है तो सिर्फ यही कि कुछ क्षण के लिए ही सही, वह दुनिया के झंझटों को त्याग दे, उसे अपनी पार्थिव नगण्यता का भान हो जाए और वह सच्चाई को अपने हृदय में स्थान दे दे। जैसा कि धर्मशास्त्रों में कहा गया है, यह गुण बच्चों में और सीधे-सादे, बिना पढ़े-लिखे लोगों में प्राय: देखे जाते हैं। यही कारण है कि प्राय: देखते हैं कि जो अत्यंत सीधे-सादे कम-से-कम विद्वान और पढ़े-लिखे लोग होते हैं, बड़ी स्पष्टता, समझ और सरलता के साथ जीवन के सर्वश्रेष्ठ धार्मिक लक्ष्य को ग्रहण कर लेते हैं और अत्यंत विद्वान और 'सुसंस्कृत' व्यक्ति कुरूप और निम्न श्रेणी के धार्मिक विचारों के चक्कर में फँसे रहते हैं। उदाहरण के लिए आपको ऐसे लोग मिलेंगे जो अत्यंत सुसंस्कृत और सुशिक्षित होंगे। उनके समीप जीवन का लक्ष्य यही होता है कि व्यक्तिश: आनंदोपभोग करें अथवा दु:खों से दूर रहें। महाविद्वान

और उच्च शिक्षा प्राप्त शोपनहार यही मानता था और अच्छे पढ़े-लिखे पादरी भी यही मानते आए हैं कि धार्मिक कर्मकांड अथवा प्रभु की कृपा से आत्मा को मुक्ति मिल सकती है। इसके विपरीत आपको बिलकुल बेपढ़ा-लिखा देहाती किसान मिल जाएगा—जो बिना किसी बौद्धिक प्रयत्न के जीवन का वही लक्ष्य समझ लेगा जैसा कि दुनिया के बड़े-बड़े संतों ने समझा था—अर्थात् यह कि वह परमात्मा का पुत्र है और उसकी इच्छा के अनुसार काम करनेवाला एक अस्त्र है।

किंतु आप पूछेंगे, इस अदार्शनिक, अवैज्ञानिक ज्ञान का सार क्या है ? यदि वह न तो दार्शनिक है और न ही वैज्ञानिक, तो आखिर वह है क्या ? उसकी व्याख्या कैसे की जाए ? इन प्रश्नों का मैं यही उत्तर दे सकता हूँ कि चूँकि धार्मिक ज्ञान वह ज्ञान है जिस पर अन्य सब ज्ञान आश्रित होते हैं, और चूँकि इस ज्ञान का जन्म सबसे पहले होता है, इसलिए हम उसकी व्याख्या नहीं कर सकते, क्योंकि वैसा करने के लिए हमारे पास साधन ही नहीं हैं। धर्मशास्त्रों की भाषा में इस ज्ञान को ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं और यदि हम 'ईश्वरीय ज्ञान' शब्द का कोई रहस्यवादी अर्थ न करें तो यह शब्द बिल्कुल यथार्थ शब्द प्रतीत होता है। कारण, यह ज्ञान न तो अध्ययन द्वारा प्राप्त होता है और न एक अथवा अनेक व्यक्तियों के प्रयत्नों से प्राप्त होता है। यह तो केवल उसी व्यक्ति या उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होता है जो उस अनंत ज्ञान के प्रदर्शन को स्वीकार करते हैं जो धीरे-धीरे मानव-जाति पर प्रकट हो रहा है।

क्या कारण था कि आज से दस हजार वर्ष पहले लोग यह समझने में असमर्थ थे कि जीवन का लक्ष्य अपनी खुद की भलाई तक ही सीमित नहीं हो सकता ? इसके बाद ऐसा समय क्यों आया, जब लोगों को जीवन का उच्चतर लक्ष्य ज्ञात हुआ अर्थात् उनमें कौटुंबिक, सामाजिक, जातीय और राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई ? और यह तो इतिहास काल की बात है जब लोगों को जीवन की ईसाई कल्पना का ज्ञान हुआ। इस व्यक्ति को अथवा अमुक लोगों को ही उसका ज्ञान क्यों हुआ, अमुक समय और अमुक रूप में ही वह ज्ञान क्यों हुआ ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए यदि हम जीवन के इस दृष्टिकोण को अपनाने और उसे सर्वप्रथम व्यक्त करनेवाले लोगों के उस काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों, उनके जीवन और चरित्र तथा विशेष गुणों की विवेचना करने की कोशिश करेंगे तो यह ठीक वैसा ही होगा जैसा कि यदि हमसे कोई पूछे कि उदीयमान सूर्य अन्य वस्तुओं पर प्रकाश डालने के पहले अमुक वस्तुओं पर ही पहले क्यों प्रकाश डालता है और हम उसका उत्तर देने का प्रयत्न करें। सत्य-रूपी सूर्य ज्यों-ज्यों आकाश में आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों वह दुनिया को अधिकाधिक प्रकाशित करता जाता है; उसका प्रतिबिंब पहले उन्हीं पदार्थों पर पड़ता है जिन पर उसकी प्रकाश-किरणें पहले पड़ती हैं और जो उसके प्रकाश को ग्रहण करने के लिए सबसे अधिक

उपयुक्त होते हैं। किंतु जो गुण कुछ व्यक्तियों को उदीयमान सत्य को ग्रहण करने की क्षमता प्रदान करते हैं, वे बुद्धि के खास, सक्रिय गुण नहीं होते; इसके विपरीत वे तो हृदय के निष्क्रिय गुण हुआ करते हैं, तो तीक्ष्ण बुद्धिवाले व्यक्तियों में कदाचित ही रखे जाते हैं। दुनिया की झंझटों से छुटकारा पाना, अपनी भौतिक नगण्यता का भान होना और दर्पण के समान ईमानदारी का होना—यही वे गुण हैं जो हमको सभी धर्म-प्रवर्तकों के जीवन में देखने को मिलते हैं। इन धर्म-प्रवर्तकों में न तो असाधारण दार्शनिक प्रतिभा थी और न असाधारण वैज्ञानिक प्रतिभा ही।

मेरी राय में ईसाई समाज की वास्तविक प्रगति के मार्ग में मुख्य बाधा यह है कि वैज्ञानिकों ने हजरत मूसा का पद ग्रहण कर लिया है। इन वैज्ञानिकों ने पुनरुत्थान काल में पुन: प्रतिपादित जीवन के अल्पविकसित दृष्टिकोण को अपनाया हुआ है, जो वस्तुत: ईसाई धर्म का विकृत रूप है। उन्होंने यह निर्णय कर लिया है कि मानव-समाज ईसाई धर्म से आगे बढ़ चुका है और जीवन के जिस प्राचीन, अल्पविकसित राष्ट्रगत सामाजिक दृष्टिकोण को उन्होंने अपना रखा है, वही जीवन का सर्वोत्तम ज्ञान है और उसी पर मानव-समाज को दृढ़तापूर्वक डटे रहना चाहिए। इस प्रकार के विचारों के कारण ही वे न केवल ईसाई धर्म को नहीं समझ पाते, बल्कि उसको समझने की कोशिश भी नहीं करते। किंतु वास्तव में यही जीवन का सर्वोच्च दृष्टिकोण है जिसकी ओर मानव-समाज अग्रसर हो रहा है।

इस गलतफहमी का मुख्य कारण यह है कि वैज्ञानिक ईसाई धर्म से अलग जा पड़े हैं और यह मानने लगे हैं कि उनके विज्ञान का उसके साथ मेल नहीं बैठता। वे अपने विज्ञान का दोष नहीं मानते, प्रत्युत ईसाई धर्म में दोष निकालते हैं। दूसरे शब्दों में वे यह मानते हैं कि ईसाई धर्म विज्ञान से 1800 वर्ष पीछे पड़ गया है, हालाँकि वस्तुस्थिति यह है कि उनका विज्ञान, जो आधुनिक समाज के एक बड़े भाग को प्रभावित कर रहा है, ईसाई धर्म से 1800 वर्ष पीछे है।

वस्तुस्थिति के इस उलट-फेर का यह आश्चर्यजनक परिणाम निकला है कि धर्म, नैतिकता अथवा जीवन के सारतत्त्व और वास्तविक महत्त्व के संबंध में जितनी भ्रांति वैज्ञानिकों में फैली हुई है उतनी अन्य किन्हीं लोगों में नहीं पाई जाती। फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि जिस आधुनिक विज्ञान ने भौतिक सृष्टि के तत्त्वों के अन्वेषण में महान सफलता प्राप्त की है, वह मानव-जीवन का पथ-प्रदर्शन करने में निष्फल सिद्ध हो रहा है। यही नहीं, बल्कि उसको हानि भी पहुँचा रहा है।

इसीलिए मेरी राय में न तो दर्शन और न विज्ञान विश्व के प्रति मनुष्य के संबंध को निर्धारित करता है; बल्कि धर्म ही सदा यह कार्य करता है।

अत: आपके प्रश्न का कि मैं धर्म शब्द का क्या अर्थ समझता हूँ, मेरा उत्तर यह

है : धर्म वह संबंध है जो मनुष्य अपने और इस असीम और अनंत विश्व अथवा विश्वपति, और जगत के आदि कारण के बीच स्थापित करता है।

पहले प्रश्न के उत्तर में से स्वभावतः दूसरे प्रश्न का उत्तर निकल आता है।

यदि धर्म वह संबंध है जो मनुष्य अपने और विश्व के बीच स्थापित करता है— जो जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है तो हम उस मानव-प्रवृत्ति को नैतिकता का सूचक और स्पष्टीकरण कह सकते हैं, जो मनुष्य द्वारा विश्व के प्रति अमुक संबंध रखने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। यदि हम अल्पविकसित, सामाजिक संबंध को व्यक्तिगत संबंध का विकसित रूप मान लें तो दो प्रकार के मौलिक संबंधों और यदि हम सामाजिक संबंध को पृथक समझें तो तीन प्रकार के संबंधों का अस्तित्व पाया जाता है। इससे यह नतीजा निकलता है कि नैतिकता-संबंधी तीन प्रकार की शिक्षाओं का अस्तित्व है—(1) प्रारंभिक, जंगली-व्यक्तिगत, (2) अल्पविकसित, कौटुंबिक, राष्ट्रगत अथवा सामाजिक और (3) धार्मिक अथवा दैवी शिक्षा अर्थात् मानस-सेवा या प्रभु-सेवा की शिक्षा।

विश्व के प्रति मनुष्य के प्रथम प्रकार के संबंध से नैतिकता की उस शिक्षा का जन्म होता है जो उन सब अल्पविकसित धर्मों में सामान्य रूप से पाई जाती है जिनके मूल में व्यक्तिगत कल्याण सिद्ध करने की भावना कार्य करती है। इसलिए इन धर्मों में यह बताया जाता है कि किन परिस्थितियों में व्यक्ति का सबसे अधिक कल्याण सिद्ध हो सकता है और उसको प्राप्त करने के कौन-कौन से साधन हैं। इस संबंध से अल्पविकसित शिक्षाओं का जन्म होता है—निम्नतम प्रकार की 'एपीक्युयिन' शिक्षा, सदाचार की मुसलमानी शिक्षा जो इस दुनिया और अगली दुनिया में पार्थिव व्यक्तिगत आनंद दिलाने का आश्वासन देती है, गिरजा-सम्मत ईसाई शिक्षा जो व्यक्ति को मुक्ति दिलाने, खासतौर पर दूसरी दुनिया में सुख पहुँचाने की कल्पना करती है, और लौकिक उपयोगितावादी नैतिकता की शिक्षा जो केवल इसी दुनिया में व्यक्ति के कल्याण की कामना करती है—इन सब शिक्षाओं का जन्म प्रथम प्रकार के संबंध से होता है।

इसी शिक्षा से, जिसमें व्यक्तिगत कल्याण को ही जीवन का लक्ष्य माना जाता है और इसलिए व्यक्तिगत कष्ट-सहन से मुक्ति की आकांक्षा रखी जाती है, असंस्कृत रूप में बुद्ध-धर्म की नैतिक शिक्षाओं और निराशावादियों की भौतिक शिक्षाओं का जन्म होता है।

दूसरे प्रकार के संबंध से, जिसमें व्यक्तियों के समूह का हित सिद्ध करना जीवन का लक्ष्य समझा जाता है, नैतिकता-संबंधी उस शिक्षा का जन्म होता है, जिसके अनुसार मनुष्य का उस समूह की सेवा करनी होती है जिसका हित सिद्ध

करना जीवन का लक्ष्य समझा जाता है। इस शिक्षा के अनुसार व्यक्तिहित का उसी हद तक खयाल रखा जा सकता है जिस हद तक सारे समूह के लिए प्राप्त किया जा सकता है। इस संबंध से नैतिकता-संबंधी उन सुप्रसिद्ध रोमन और यूनानी शिक्षाओं का जन्म होता है जिसमें व्यक्तित्व को हमेशा समाज के लिए कुर्बान कर दिया जाता है। चीनी नैतिकता का जन्म भी उसी से होता है। यहूदियों की नैतिकता का जन्म भी इसी संबंध से होता है, जिसके अनुसार व्यक्ति के कल्याण को प्रभु के प्यारे पुत्रों के कल्याण पर कुर्बान कर दिया जाता है। इस युग की गिरजे की ओर राष्ट्रीय नैतिकता का जन्म भी इसी संबंध से होता है जिसके अनुसार राष्ट्र की भलाई के लिए व्यक्ति को बलिदान करने के लिए कहा जाता है। विश्व के प्रति इस संबंध से ही अधिकांश स्त्रियों की नैतिकता का जन्म होता है जो अपने परिवार और खासकर अपने बच्चों की खातिर अपने सारे व्यक्तित्व को बलिदान कर देती है।

सारे प्राचीन इतिहास में और कुछ हद तक मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास में इसी कौटुंबिक, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय नैतिकता के उदाहरण भरे पड़े हैं। इस जमाने के अधिकतर लोग जो यद्यपि यह समझते हैं कि वे ईसाई नैतिकता को मानते हैं, क्योंकि वे ईसाई धर्म को मानते हैं, किंतु वास्तव में वे इसी कौटुंबिक और राष्ट्रीय नैतिकता को मानते हैं और अगली पीढ़ी को शिक्षा देते समय इसी को आदर्श रूप में उसके सामने उपस्थित करते हैं।

तीसरे प्रकार के धार्मिक संबंध से, जिसमें मनुष्य अपने-आपको जगन्नियंता के उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए उसका साधन समझता है, उस नैतिक शिक्षा का जन्म होता है जो उसी के अनुसार जीवन का अर्थ करती है और यह बताती है कि मनुष्य जगन्नियंता की इच्छा के अधीन है और वह उससे क्या काम लेना चाहता है। संसार में जितनी भी सर्वश्रेष्ठ नैतिक शिक्षाएँ हैं, उन सबका जन्म इसी संबंध से होता है। ब्राह्मण-धर्म, बुद्ध-धर्म, ताओ-धर्म और यूनानी धर्म और ईसाई धर्म की शुद्ध शिक्षाओं की गणना हम इस श्रेणी में कर सकते हैं। इनमें यह कहा गया है कि उस प्रभु की इंच्छा की पूर्ति करने के लिए, जिसने हमें संसार में भेजा है, मनुष्य को न केवल अपना व्यक्तिगत हित, बल्कि कुटुंब, समाज और देश का हित भी बलिदान कर देना चाहिए और प्रभु की यह इच्छा अपने अंत:करण से जानी जाती है। इस प्रकार मनुष्य विश्व के प्रति उपरोक्त तीनों प्रकारों में से जिस किसी प्रकार का संबंध स्थापित करता है, उसी के अनुसार उसकी वास्तविक और विशुद्ध नैतिकता का जन्म होता है। जिस नैतिकता को मानने का वह दावा करता है अथवा जिस नैतिकता का वह प्रचार करता है, वह उसकी वास्तविक नैतिकता से बिल्कुल भिन्न वस्तु हो सकती है। वह बाहर से अपना कैसा भी रूप रखने का प्रयत्न कर सकता है; किंतु

उसका असली रूप उपर्युक्त संबंधों की कल्पना के अनुसार ही होगा।

इस प्रकार जो मनुष्य विश्व के प्रति अपने संबंध की वास्तविकता इसी बात में समझता है कि अपने लिए अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त किया जाए, वह भले ही यह कहता रहे कि वह अपने कुटुंब, समाज, राष्ट्र, मानवता अथवा परमात्मा की इच्छा की पूर्ति के लिए जीवित रहना नैतिक समझता है और वह चाहे जितनी चतुराई के साथ दंभ क्यों न करे और लोगों को धोखा क्यों न दे, किंतु हमेशा उसका असली उद्देश्य केवल अपना व्यक्तिगत हित-साधन ही रहेगा। इस प्रकार जब उसके सामने चुनाव करने का अवसर आता है तो वह अपने परिवार, राष्ट्र अथवा ईश्वर के आदेश के मुकाबले में अपने व्यक्तित्व का बलिदान नहीं करता, बल्कि अपनी खातिर इन सबका बलिदान कर देता है। चूँकि वह व्यक्तिगत हित-साधन को ही जीवन का लक्ष्य समझता है, इसलिए वह इसके अलावा और कुछ कर ही नहीं सकता, जब तक कि वह विश्व के प्रति अपने संबंध की कल्पना में परिवर्तन नहीं करता।

इसी प्रकार जो अपने परिवार की सेवा करना (जैसा कि अधिकांश स्त्रियाँ समझती हैं) अथवा अपने वंश या राष्ट्र की सेवा करना जीवन का लक्ष्य समझता है (जैसा कि दलित जातियाँ और लड़ाई-झगड़ों के समय क्रियाशील राजनीतिज्ञ समझते हैं), वह अपने-आपको चाहे जितना ईसाई घोषित क्यों न करे, उसकी नैतिकता हमेशा कौटुंबिक अथवा राष्ट्रगत होगी, धार्मिक नहीं और जब कभी परिवार अथवा सामाजिक हित और अपने व्यक्तिगत हित अथवा ईश्वर के आदेशों की पूर्ति में संघर्ष उत्पन्न होता है तो वह अनिवार्यतः उस समूह की सेवा करना पसंद करता है, जिसके लिए वह अपने जीवन का अस्तित्व आवश्यक समझता है, क्योंकि इस प्रकार की सेवा को ही वह जीवन का लक्ष्य समझता है। इसी प्रकार जो ईश्वर के आदेशों की पूर्ति करना जीवन का उद्देश्य समझता है, उसको आप चाहे जितना समझाइए कि अपना, अपने परिवार, अपनी जाति, साम्राज्य अथवा समस्त मानव-जाति का हित-साधन करने के लिए ईश्वरीय आदेशों की अवहेलना की जा सकती है (विवेक और प्रेम के सहारे ईश्वरीय आदेश जाना जाता है), परंतु वह ईश्वरीय आदेशों की अवहेलना करने की अपेक्षा समस्त मानव-जिम्मेदारियों को बलिदान कर देगा; कारण की वह इस प्रकार के आचरण को मानव-जीवन का लक्ष्य समझता है।

नैतिकता धर्म से पृथक नहीं हो सकती, क्योंकि वह धर्म से उत्पन्न ही नहीं होती, बल्कि धर्म में ही उसका समावेश होता है। प्रत्येक धर्म इस प्रश्न का उत्तर देता है—"मेरे जीवन का क्या लक्ष्य है?" धर्म इस प्रश्न का जो उत्तर देता है उसमें कुछ नैतिक आदेशों का समावेश होता है जो जीवन के लक्ष्य का स्पष्टीकरण करते

हैं। "जीवन का क्या उद्देश्य है?" इस प्रश्न का यह उत्तर हो सकता है : "व्यक्तिगत हित-साधन ही जीवन का लक्ष्य है, इसलिए तुम्हें जो साधन उपलब्ध हैं, उनका अधिक-से-अधिक उपयोग करो।" अथवा "अमुक जन-समूह का हित-साधन करना जीवन का लक्ष्य है, इसलिए शक्ति भर उस समूह की सेवा करो।" अथवा "जिस ईश्वर ने तुमको इस दुनिया में भेजा है, उसकी इच्छा की पूर्ति करना जीवन का लक्ष्य है, इसलिए उस इच्छा को जानने और पूरा करने की शक्ति भर कोशिश करो।" अथवा इसी प्रश्न का यों भी उत्तर दिया जा सकता है—"तुम्हारे जीवन का लक्ष्य व्यक्तिगत सुखोपभोग है, कारण मनुष्य-जीवन का यही लक्ष्य होता है।" अथवा "उस समुदाय की सेवा करना तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है, जिसका कि तुम अपने-आपको अंग समझते हो, कारण यही तुम्हारा भवितव्य है अथवा ईश्वर की सेवा करना तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है, कारण यही तुम्हारी भाग्य-रेखा है।"

धर्म जीवन के लक्ष्य की जो व्याख्या करता है, उसी में नैतिकता का समावेश होता है और इसलिए किसी भी तरह उसको धर्म से जुदा नहीं किया जा सकता। गैर-ईसाई दार्शनिकों के प्रयत्नों में यह सत्य विशेष रूप से प्रकट है जिन्होंने अपने तत्त्वज्ञान के द्वारा सर्वश्रेष्ठ नैतिकता का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है। इन दार्शनिकों का मत है कि ईसाई नैतिकता अनिवार्य है, हम उसके बिना जिंदा नहीं रह सकते। वे तो यह भी मानते हैं कि वह पहले ही अस्तित्व में आ चुकी है। उसको गैर-ईसाई तत्त्वज्ञान के साथ संबद्ध करने का कोई-न-कोई मार्ग निकालना चाहते हैं और वे तथ्यों को इस रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न करते हैं मानो ईसाई नैतिकता का उनके निम्न श्रेणी के सामाजिक तत्त्वज्ञान से उद्भव हुआ हो। यही उनकी कोशिश होती है; किंतु अन्य किसी बात की अपेक्षा उनके लिए खुद के प्रयत्न ही यह सिद्ध कर देते हैं कि ईसाई नैतिकता न केवल व्यक्तिगत अथवा सामाजिक तत्त्वज्ञान से पृथक है, बल्कि व्यक्तिगत हित-साधन करने अथवा व्यक्तिगत कष्टों से छुटकारा पाने अथवा सामाजिक हित साधन करने को अपने लक्ष्य बताने वाले तत्त्वज्ञान के सर्वथा विरुद्ध है।

ईसाई नैतिकता, जिसको हम अपनी जीवन की धार्मिक कल्पना के अनुसार स्वीकार करते हैं, कहती है कि न केवल समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान कर दो, बल्कि ईश्वर की सेवा के निमित्त व्यक्ति और समाज दोनों को त्याग दो। इसके विपरीत सांसारिक तत्त्व ज्ञान केवल इस बात का पता लगाता है कि किस प्रकार व्यक्ति अथवा समाज के लिए अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त किया जा सकता है। अतः दोनों में अंतर अनिवार्य है। इस अंतर को छिपाने का एक ही उपाय है और वह यह कि एक के बाद एक सशर्त कल्पनाओं का जाल बिछा दिया जाए और

अध्यात्मवाद के धुँधले क्षेत्र से बाहर कदम न रखा जाए।

उत्थान काल के पश्चात् जितने भी दार्शनिक हुए हैं, उन्होंने यही किया है। पूर्व स्वीकृत ईसाई नैतिकता के आदेशों के साथ सांसारिक आधार पर निर्मित तत्त्वज्ञान के आदेशों का मेल बिठाने की असंभव कोशिश का ही यह फल है कि आधुनिक तत्त्वज्ञान में हमको घोर अवास्तविकता, अस्पष्टता, गहनता और जीवन से पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। स्पिनोजा और कांट इसके अपवाद हुए हैं। स्पिनोजा अपने को ईसाई नहीं कहता था; किंतु उसका तत्त्वज्ञान सच्चे ईसाई आधारों पर विकसित हुआ है और कांट एक प्रतिभाशाली पुरुष था। उसने जिस नैतिक प्रणाली का प्रतिपादन किया, उसको अपने अध्यात्म-ज्ञान पर अवलंबित नहीं रखा। इन दोनों तत्त्ववेत्ताओं के अलावा शेष तत्त्ववेत्ताओं, यहाँ तक कि प्रतिभाशाली शोपनहार तक ने अपने नीति-नियमों और अपने अध्यात्म-ज्ञान के बीच प्रकट रूपेण कृत्रिम संबंध जोड़ने का प्रयत्न किया है।

यह महसूस किया जाता है कि ईसाई नीति-नियम ऐसे नियम हैं, जो पहले ही स्वीकार कर लिए जाने चाहिए। ये स्वयंसिद्ध नियम हैं और किसी तत्त्व ज्ञान पर निर्भर नहीं करते। उनको कृत्रिम सहारों की आवश्यकता नहीं। यह भी महसूस किया जाता है कि तत्त्वज्ञान केवल कुछ तथ्यों का प्रतिपादन करता है ताकि नीति-नियम उसका खंडन न कर सकें, बल्कि उसके साथ जुड़े हुए रहें और ऐसा प्रतीत हो, मानो उससे उनका जन्म हुआ है। इस प्रकार के तथ्यों का जब हम सूक्ष्म रूप में विचार करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वे ईसाई नीति-नियमों का ही समर्थन करते हैं। किंतु ज्योंही उनको व्यावहारिक जीवन के नियमों पर लागू किया जाता है त्योंही तत्त्वज्ञान और नैतिकता में असमानता और प्रकट विसंगतता पूर्ण रूप से नजर आने लगती है।

अभागे नीत्शे ने, जो पिछले दिनों इतना प्रसिद्ध हो चुका है, इस विरोधाभास का भंडा-फोड़ करके बहुमूल्य सेवा की है। वह कहता है कि प्रचलित अ-ईसाई तत्त्वज्ञान के लिहाज से नैतिकता के तमाम नियम असत्य और दंभ के नमूने हैं और यह कहीं अधिक लाभदायक, सुखदायक और युक्तियुक्त है कि मनुष्य अपने ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषों का निर्माण करे और खुद भी एक महापुरुष बन जाए, बजाय इसके कि वह अंकिचनों में एक अंकिचन बनकर रहे, जिन्हें कि महापुरुषों के लिए फाँसी के तख्ते का काम अंजाम देना पड़ता है। नीत्शे के इस कथन का खंडन नहीं किया जा सकता। जीवन के सांसारिक दृष्टि-कोण पर अवलंबित तात्त्विक मंतव्यों से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि जिस हित की वह कामना करता है, जिसको वह समझता है और जो उसे अपने लिए अथवा अपने कुटुंब या समाज के लिए संभव प्रतीत होता है, उसके लिए नहीं, बल्कि दूसरों की भलाई के लिए जीवित रहना लाभदायक और बुद्धिमत्तापूर्ण

है। दूसरों की भलाई की उसे न इच्छा होती है, न समझ और न वह अपनी अल्प मानव-शक्ति से उसको प्राप्त ही कर सकता है। जो तत्त्वज्ञान मनुष्य के कल्याण तक मर्यादित जीवन के दृष्टिकोण पर आधार रखता हो, वह तर्क पर भरोसा रखनेवाले उस व्यक्ति के आगे, जो यह जानता है कि वह किसी भी क्षण मर सकता है, यह साबित नहीं कर सकता कि उसके लिए यह अच्छा है और उसे अपना मनोवांछित, बुद्धिगम्य और असंदिग्ध हित छोड़ देना चाहिए, दूसरों के किसी निश्चित हित के लिए नहीं (कारण वह यह कभी जान नहीं सकता कि उसके बलिदानों का क्या परिणाम निकलेगा) बल्कि केवल इस खयाल से कि ऐसा करना सही या अच्छा है—अर्थात् वह यह सिद्ध नहीं कर सकता उसके लिए वैसा करना स्पष्ट रूप से आवश्यक है।

सांसारिक तत्त्वज्ञान के लिहाज से ऐसा साबित करना असंभव है। सब लोग बराबर हैं, दूसरों से अपना काम कराने के लिए उनके जीवन को कुचलने की अपेक्षा यह अच्छा है कि मनुष्य दूसरों की सेवा के लिए अपना जीवन बलिदान कर दे, यह साबित करने के लिए उसको विश्व के प्रति अपने संबंधों की पुनः व्याख्या करनी पड़ेगी। उसे यह सिद्ध करना पड़ेगा कि मनुष्य की स्थिति ही ऐसा है कि उसके सामने एक ही मार्ग है, उसके जीवन का एक ही लक्ष्य है कि जिस परमात्मा ने उसको इस संसार में भेजा है, उसकी इच्छा की पूर्ति करे और वह इच्छा यह है कि उसे मनुष्यों की सेवा के लिए अपना जीवन अर्पित कर देना चाहिए। विश्व के प्रति मनुष्य के संबंधों में यह परिवर्तन धर्म के द्वारा ही हो सकता है।

भौतिक विज्ञान के मूलभूत आधारों द्वारा ईसाई नैतिकता का प्रतिपादन करने और उनके साथ मेल बिठाने की कोशिशों का यही परिणाम होता है। आप चाहे जितना बाल की खाल खींचे और चाहे जितना दंभ करें, इस सरल और स्पष्ट सत्य को नहीं मिटाया जा सकता कि विकास का कानून जो आजकल के समस्त विज्ञान का मूलाधार है, इस सामान्य, शाश्वत और अपरिवर्तनीय कानून पर आश्रित है कि जीवन के लिए संघर्ष हो रहा है और उसमें वही सफल होता है जो सबसे अधिक बलवान होता है। इसलिए हरेक मनुष्य को अपना और अपने समुदाय का कल्याण सिद्ध करने के लिए अपने को और अपने समुदाय को सबसे अधिक बलवान बनाना चाहिए, ताकि वह और उसका समुदाय नष्ट न हो, बल्कि जो कम बलवान हो, वही नष्ट हो।

इस कानून के तर्क-संगत परिणामों और मानव-जीवन पर उनको लागू करने की कल्पना से भयभीत होकर कुछ प्रकृतिवादी शब्दों द्वारा इस विषय को जटिल बनाने और इस कानून की कठोरता को कम करने की कितनी ही कोशिश क्यों न करें, उनके प्रयत्नों का सिर्फ यही नतीजा निकलता है कि इस कानून की अनिवार्यता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। यह कानून समस्त ऐंद्रिक सृष्टि

पर शासन करता है और चूँकि मनुष्य भी पशु ही समझा जाता है, इसलिए वह भी इसी के आधीन है।

जब मैंने यह लेख लिखना प्रारंभ किया तो मि० हक्सले का एक लेख रूसी-भाषा में प्रकट हुआ। यह उस भाषण का सार था जो मि० हक्सले ने किसी अंग्रेजी संस्था के सामने 'विकास और नैतिकता' विषय पर दिया था। इस लेख में विद्वान प्रोफेसर ने सुप्रसिद्ध रूसी प्रोफेसर बेकेटोफ और इस विषय के अन्य लेखकों की भाँति यह सिद्ध करने की असफल कोशिश की है कि जीवन के लिए संघर्ष का नियम नैतिकता का खंडन नहीं करता और यह कि जीवन-संघर्ष को जीवन का मौलिक नियम मान लेने के साथ-साथ नैतिकता न केवल कायम रह सकती है, बल्कि उन्नति भी कर सकती है। मि० हक्सले के लेख में प्राचीन धर्म और दर्शन पर तरह-तरह के विनोदात्मक वाक्य, पद्य और सामान्य विचार भरे पड़े हैं और फलस्वरूप वह इतना अलंकारपूर्ण और जटिल हो गया है कि बहुत अधिक प्रयत्न करने पर ही उसकी मूलभूत कल्पना का पता लग पाता है। वह कल्पना इस प्रकार है : विकास का नियम नैतिक नियम के विरुद्ध जाता है। प्राचीन यूनानियों और हिंदुओं को इस बात का पता था। इन दोनों के तत्त्वज्ञान और धर्म ने उनको आत्म-त्याग के सिद्धांत को अपनाने के लिए प्रेरित किया। लेखक का खयाल है कि यह सिद्धांत सही नहीं है। सही सिद्धांत यह है : एक नियम है जिसको लेखक विकास का नियम कहता है और जिसके अनुसार सब प्राणी आपस में संघर्ष करते हैं और जो सबसे बलवान होता है, वही जीवित रहता है। मनुष्य भी इसी नियम के आधीन है। इसी की कृपा का फल है कि मनुष्य उसकी आज की स्थिति में पहुँच पाया है; किंतु यह नियम नैतिकता के विपरीत पड़ता है। तब फिर उसका नैतिकता के साथ सामंजस्य कैसे हो सकता है? यह इस प्रकार हो सकता है—सामाजिक उन्नति का भी एक नियम है। वह संघर्ष के नियम पर अंकुश रखने का प्रयत्न करता है और उसके स्थान पर दूसरी अर्थात् ऐसी नैतिक प्रणाली जारी करना चाहता है जिसके अनुसार सबसे बलवान नहीं, बल्कि नैतिक अर्थों में जो सर्वश्रेष्ठ हो, वह जीवित रहे। मि० हक्सले ने यह नहीं बताया कि यह नैतिक प्रणाली आखिर उत्पन्न हुई कहाँ से? किंतु वह कहता है कि इस प्रणाली के मूल में एक ओर तो यह तथ्य है कि पशुओं की भाँति मनुष्य भी समूह में रहना पसंद करते हैं और इसलिए समाज के लिए हानिकर गुणों को दबाकर रखते हैं तथा दूसरी ओर यह बात भी होती है कि समाज के लोग समाज के हित के विरुद्ध पड़नेवाली प्रवृत्तियों को बलपूर्वक दबा देते हैं। मि० हक्सले का यह खयाल प्रतीत होता है कि अपने समूह को कायम रखने के लिए और समाज के दंड के भय से मनुष्य अपनी इच्छाओं को संयत रखने के लिए बाध्य होता है और इसलिए

वह नैतिक कानून बना है जिसका मि० हक्सले अस्तित्व सिद्ध करना चाहते हैं। मि० हक्सले इतने भोले हैं कि अंग्रेजी समाज में निम्न श्रेणियों की दरिद्रता, धनियों की निरंकुश विलासिता, अफीम और शराब का व्यापार, फाँसी लगाने की प्रथा, व्यापार और राजनीति की खातिर आदिम निवासियों को निर्मूल करने की योजना, गुप्त व्यभिचार और दंभ आदि दोषों के होते हुए भी यह मान लेते हैं कि जो मनुष्य पुलिस के नियमों को भंग नहीं करता, वह सदाचारी व्यक्ति है, नैतिक कानून को मानता है। वे यह भूल जाते हैं कि जिस समाज में मनुष्य रहता है, उस समाज को कायम रखने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे उस समाज के लिए उपयोगी हो सकते हैं, जिस प्रकार कि लुटेरों के एक दल के लोगों के गुण उस दल के लिए उपयोगी हो सकते हैं अथवा हमारे अपने समाज में जल्लादों, जेलरों, न्यायाधीशों, सैनिकों और पाखंडी पंडे-पुजारियों के गुणों का हम उपयोग करते हैं, किंतु इन गुणों का नैतिकता के साथ कोई सरोकार नहीं हो सकता।

नैतिकता एक ऐसी वस्तु है, जिसका निरंतर विकास होता रहता है, इसलिए अमुक समाज के प्रचलित नियमों का पालन करने और बंदूक की नोक अथवा फाँसी (मि० हक्सले ने इन्हीं को नैतिकता के अस्त्र कहा है) के जरिए उन नियमों को कायम रखने में नैतिकता न केवल कायम ही नहीं रहेगी, बल्कि इस प्रकार तो नैतिकता का भंग करना होगा। इसके विपरीत प्रचलित व्यवस्था को भंग करना अर्थात् मुकदमेबाजी और जनसंहार के कार्यों में हिस्सा न लेना न केवल नैतिकता को भंग न करना होगा, बल्कि नैतिकता के प्रदर्शन का अनिवार्य रूप से द्योतक होगा। ईसा मसीह और उनके शिष्यों ने भी तो तत्कालीन रोम-नियमों का भंग किया था।

प्रत्येक मनुष्य-भक्षी जो यह समझता है कि उसे मनुष्यों का मांस न खाना चाहिए और तदनुसार आचरण करता है, अपने समाज के नियम को भंग करता है। इसलिए यद्यपि किसी समाज का नियम भंग करना अनैतिक हो सकता है, किंतु ऐसा प्रत्येक नैतिक कार्य, जो नैतिकता की सीमा को बढ़ाता है, वह निश्चय ही समाज की व्यवस्था का उल्लंघन करनेवाला होगा। इसलिए यदि समाज में ऐसे नियम का अस्तित्व प्रकट हुआ है जिसके अनुसार समाज की एकता की रक्षा करने के लिए लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान कर देते हैं तो वह नैतिक नियम नहीं कहला सकता, बल्कि इसके विपरीत साधारणतः वह समस्त नीति-शास्त्र के विरुद्ध होगा; वह तो छिपे हुए रूप में वही जीवन-संघर्ष का नियम होगा, इस अंतर के साथ, कि उसकी सीमा व्यक्ति से व्यक्ति-समूह तक विस्तृत हो जाती है। इसमें संघर्ष का अंत नहीं होता, यह तो केवल हाथ को जरा पीछे की ओर ले जाना हुआ ताकि पहले से भी ज्यादा वेग से प्रहार किया जा सके।

यदि जीवन-संघर्ष का नियम और सबसे बलवान व्यक्ति के जीवित रहने का नियम सृष्टि का शाश्वत नियम हो (यदि हम मनुष्य को पशु की श्रेणी में मान लें तो हमें मानना होगा कि यह सृष्टि का शाश्वत नियम है) तो हम सामाजिक उन्नति की कल्पना और उससे उद्‌भव होनेवाले अथवा जब कभी हमें जरूरत हो तभी किसी अज्ञात स्रोत से प्रकट होनेवाले नैतिक कानून के बारे में चाहे जितना गहन वाद-विवाद करें, उक्त 'शाश्वत' नियम को आँच नहीं आ सकती।

यदि सामाजिक प्रगति की कल्पना, जैसा कि मि० हक्सले हमको बताते हैं, मनुष्यों को समूह-रूप में एकत्र कर देती है तो उन परिवारों, खानदानों और राष्ट्रों में संघर्ष जारी रहेगा और यह संघर्ष न केवल ज्यादा नैतिक नहीं होगा, बल्कि जैसा कि हम वास्तविक जीवन में देखते हैं, व्यक्तियों के संघर्ष की अपेक्षा अधिक निर्दय और अधिक़ अनैतिक होगा। यदि हम असंभव को संभव मान लें और यह कल्पना करें कि अगले हजार वर्षों में सारी मानव-जाति केवल सामाजिक प्रगति की भावना द्वारा एक ईकाई बन जाएगी और एक ही जाति और एक राष्ट्र के झंडे तले एकत्र हो जाएगी, तो भी (यदि हम इस खयाल को एक ओर रख दें कि जातियों और राष्ट्रों में जिस संघर्ष का अंत हो चुका होगा, वह मनुष्यों और प्राणिजगत में जारी रहेगा और यह संघर्ष सदा संघर्ष ही रहेगा अर्थात् जिस ईसाई नैतिकता की संभावना हम स्वीकार करते हैं, उसकी सीमा से वह परे रहेगा) इस महासंघ के व्यक्तियों, परिवारों, खानदानों और जातियों में संघर्ष खत्म न होगा, बल्कि नए रूप में जारी रहेगा, जैसा कि हम व्यक्तियों, परिवारों, जातियों और राष्ट्रों के सभी समूहों में देखते हैं। परिवार के लोग बाहरी लोगों के साथ लड़ते-झगड़ते हैं तो आपस में भी लड़ते-झगड़ते हैं और बहुधा आपस में ज्यादा मात्रा में और अधिक शत्रुता के साथ लड़ते हैं। यही अवस्था एक राष्ट्र में दिखाई देती है। एक राष्ट्र में जो लोग रहते हैं उनमें लड़ाई होती रहती है जिस प्रकार कि दूसरे राष्ट्र में रहनेवाले लोगों के साथ होती है, सिर्फ उस लड़ाई का रूप बदल जाता है। एक उदाहरण में तीरों और चाकुओं से हत्या होती है और दूसरे में भूख के द्वारा। यदि परिवार और राष्ट्र दोनों में कमजोरों की रक्षा होती है तो वह सामाजिक एकता के कारण नहीं, बल्कि इसलिए होती है कि परिवारों और राष्ट्रों में आबद्ध लोगों में प्रेम और त्याग की भावना विद्यमान होती है। परिवार के बाहर यदि दो बच्चों में से जो ज्यादा बलवान होता है, वह जिंदा रहता है तो एक भली माता के परिवार में दोनों बच्चे जीवित रहते हैं, और इसका कारण परिवारों का संगठन नहीं होता, बल्कि यह माता का प्रेम और त्याग का परिणाम होता है। सामाजिक संगठन द्वारा न तो त्याग का और न प्रेम का उदय हो सकता है।

यह कहना कि सामाजिक संगठन से नैतिकता पैदा होती है, ठीक वैसा ही है

जैसा कि यह कहना कि चूल्हों के बनाने से गर्मी पैदा होती है। गर्मी सूरज से पैदा होती है और चूल्हे से गर्मी तभी पैदा होती है जब उसमें ईंधन डाला जाता है, जो सूरज के द्वारा बनता है। इसी प्रकार नैतिकता का जन्म धर्म से होता है। विशेष प्रकार का सामाजिक संगठन उसी समय नैतिकता उत्पन्न कर सकता है जब धार्मिक प्रभाव के परिणामों का उसमें प्रसार होता है और इन्हीं परिणामों का नाम नैतिकता है।

चूल्हों में आग सुलगाई जा सकती है और वे गर्मी दे सकते हैं। यदि आग न सुलगाई जाएगी तो वे ठंडे पड़े रहेंगे। इसी प्रकार समाज-संगठनों में नैतिकता हो सकती है, उस दशा में वे समाज पर नैतिक प्रभाव डाल सकते हैं। यदि उनमें नैतिकता न हो तो उनका समाज पर कोई असर न पड़ेगा।

ईसाई नैतिकता जीवन की सांसारिक अथवा सामाजिक कल्पना पर खड़ी नहीं की जा सकती। वह तत्त्वज्ञान अथवा विज्ञान से भी नहीं निकाली जा सकती। न केवल यही, बल्कि इनके साथ उसका मेल भी नहीं बिठाया जा सकता।

प्रत्येक गंभीर और पूर्णत: तर्क-संगत तत्त्वज्ञान और विज्ञान ने इस विषय को हमेशा इसी रूप में समझा है, उनमें बिल्कुल ठीक कहा गया है—''यदि हमारे मंतव्य नैतिकता से मेल नहीं खाते तो यह नैतिकता का मंद भाग्य है।'' और उन्होंने अपनी खोज जारी रखी।

नैतिक निबंध, जिनमें धर्म को आधार नहीं माना जाता, और लौकिक प्रश्नोत्तर लिखे और पढ़ाए जाते हैं और लोग यह खयाल कर सकते हैं कि मानव-जाति उनसे पथ-प्रदर्शन पाती है; किंतु ऐसा दिखाई ही देता है। कारण लोग वस्तुत: इन निबंधों और प्रश्नोत्तरियों के द्वारा अपना मार्ग तय नहीं करते, बल्कि उन धर्मों का आश्रय लेते हैं जिन्हें वे हमेशा मानते आए हैं और अब भी मानते हैं। जो बातें स्वाभाविक रूप से धर्म से निकलती हैं, इन निबंधों और प्रश्नोत्तरियों में उनकी केवल झूठी नकल मात्र होती है।

लौकिक नैतिकता के आदेश, जो धार्मिक शिक्षा पर अवलंबित नहीं होते, उनकी तुलना उस आदमी के काम से की जा सकती है जो संगीत तो नहीं जानता, फिर भी निर्देशक के स्थान पर जा बैठता है और अनुभवी संगीतज्ञों के आगे, जो संगीत सुना रहे होते हैं, अपने हाथ हिलाने लगता है। थोड़ी देर के लिए तो संगीत, अपने ही प्रवाह के जोर से जारी रहेगा और इसलिए भी जारी रहेगा कि संगीतज्ञों ने पुराने निर्देशकों से कुछ सीखा हुआ होगा। किंतु यह स्पष्ट है कि एक अनाड़ी आदमी के लकड़ी हिलाने मात्र से कोई नतीजा नहीं निकल सकता, बल्कि अंतत: उसका इसके सिवाय और कोई परिणाम न निकलेगा कि संगीतज्ञ गड़बड़ में पड़ जाएँगे और आरचेस्ट्रा (एक अंग्रेजी वाद्य) विसंगठित हो जाएगा। इसी प्रकार की

गड़बड़ आजकल लोगों के दिमागों में पैदा होने लगती है, जब समाज के अगुआ लोगों को ऐसी नैतिकता की शिक्षा देना शुरू करते हैं जो सर्वोत्तम धर्म पर आधारित नहीं होती। इसी प्रकार की नैतिकता को लोगों ने ग्रहण करना शुरू कर दिया है और ईसाई जनसमाज ने एक हद तक उसको ग्रहण भी कर लिया है।

अवश्य ही यह वांछनीय है कि अंधविश्वासरहित नैतिकता की शिक्षा दी जाए; किंतु असलियत यह है कि नैतिक शिक्षा उस संबंध का परिणाम होती है जो मनुष्य संसार के प्रति अथवा ईश्वर के प्रति कायम करता है। यदि यह संबंध ऐसे रूप में प्रकट होता है जो उनमें अंधविश्वासमूलक प्रतीत हो तो हम उस संबंध को ज्यादा विवेकपूर्वक, स्पष्ट और ठीक-ठीक रूप में व्यक्त करने का प्रयत्न करें अथवा इस संबंध की पुरानी कल्पना को नष्ट भी कर डालें (जो अब नाकाफी हो चुकी है) और उसके स्थान पर अधिक श्रेष्ठतर, स्पष्टतर और अधिक विवेकपूर्ण कल्पना प्रचलित करें। किंतु हमको कभी भी कथित लौकिक, धर्म-रहित नैतिकता की योजना न करनी चाहिए जो मिथ्या दलीलों पर आश्रित हो अथवा किसी पर आश्रित ही न हो।

धर्म से पृथक नैतिकता प्रचलित करने का प्रयत्न ठीक वैसा ही है जैसा कि बच्चे किया करते हैं। जब वे किसी सुंदर फूल को दूसरी जगह लगाना चाहते हैं तो उसे उस टहनी से तोड़ लेते हैं जो उन्हें कुरूप या बेकार प्रतीत होती है और बिना किसी मूल के सहारे जमीन में गाड़ देते हैं। किंतु जिस प्रकार बिना मूल के असली फूल जिंदा नहीं रह सकता, उसी प्रकार धार्मिक मूल के बिना असली, सच्ची नैतिकता का भी अस्तित्व नहीं हो सकता।

अतः दूसरे प्रश्न का मैं यह उत्तर देता हूँ—"धर्म वह संबंध है जो मनुष्य अपने पृथक व्यक्तित्व और इस असीम विश्व अथवा उसके मूल कारण परमात्मा के साथ स्थापित करता है और नैतिकता जीवन की वह सदा प्रस्तुत पथ-प्रदर्शिका है जो उस संबंध से पैदा होती है।"

धर्म और तर्क

क्या उन लोगों को जो विशेष बौद्धिक योग्यता नहीं रखते, आंतरिक जीवन-संबंधी अपने अनुभवजनित सत्यों को शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहिए?

क्या अपने आंतरिक जीवन के बारे में पूर्ण और स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करना सार्थक हो सकता है?

संघर्ष अथवा शंका के समय हम यह कैसे मालूम करें कि जो कुछ हमको भान

हो रहा है वह अंत:करण की आवाज है अथवा हमारी अपूर्णताओं द्वारा भ्रष्ट हुई बुद्धि की आवाज है ?

मेरे खयाल से इन तीनों प्रश्नों का सार दूसरे प्रश्न में आ जाता है, कारण यदि हम अपने आंतरिक जीवन के बारे में पूर्ण और स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश न करेंगे तो हम अपने अनुभवजनित सत्यों को शब्दों द्वारा प्रकट नहीं कर सकते और शंका पैदा हो जाने पर हमारे पास अंत:करण और भ्रमपूर्ण बुद्धि में भेद करने का कोई साधन न होगा। किंतु यदि हम अपनी मानसिक शक्तियों का पूर्ण उपयोग करके (चाहे वे अल्प हों या महान्) अधिक-से-अधिक स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना उचित समझेंगे तो हम अपने अनुभव-जनित सत्यों को शब्दों द्वारा प्रकट कर सकेंगे और उन सत्यों के द्वारा, जो अधिक-से-अधिक स्पष्ट और शब्दों द्वारा प्रकट हो चुके होंगे हम संघर्ष और शंका के समय अपना मार्ग तय कर सकेंगे। इसलिए मूल प्रश्न का उत्तर मैं 'हाँ' में देता हूँ। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, जिसके लिए कि वह इस संसार में भेजा गया है और वास्तविक कल्याण की प्राप्ति के लिए (दोनों समान हैं), अपने आधारभूत धार्मिक तत्त्वों को मालूम करने के लिए अपनी संपूर्ण बौद्धिक शक्ति खर्च कर देनी चाहिए। दूसरे शब्दों में उसे जीवन का लक्ष्य स्पष्ट कर लेना चाहिए।

नहरें आदि खोदने का काम करनेवाले अपढ़ मजदूरों में, जिनको घनफुट के हिसाब से मजदूरी दी जाती है, मैंने अक्सर यह धारणा प्रचलित पाई है कि गणित के हिसाब भ्रमात्मक होते हैं और उन पर विश्वास न करना चाहिए। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि ये मजदूर गणित नहीं जानते या यह कि जो लोग उनके काम का हिसाब लगाते हैं, वे जान-बूझकर या अनजाने उनको धोखा देते हैं। कारण कुछ भी हो, वस्तुस्थिति यह है कि इन अपढ़ मजदूरों में परिमाण का अंदाजा लगाने के लिए गणित की पर्याप्तता अथवा उपयोगिता के बारे में अविश्वास घर कर गया और उनमें से अधिकांश इस अविश्वास को निर्विवाद रूप से सत्य समझ बैठे हैं जिसे सिद्ध करने की भी वे कोई आवश्यकता नहीं समझते। इसी प्रकार की धारणा उन लोगों में भी घर कर गई है जिनको मैं निर्भय होकर अधार्मिक कह सकता हूँ। इन लोगों का खयाल है कि बुद्धि द्वारा धार्मिक समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता; उनको हल करने के लिए जो बुद्धि का प्रयोग किया जाता है वही भ्रांतियों का मुख्य कारण है और धार्मिक समस्याओं को बुद्धि द्वारा हल करना मिथ्या अभिमान का द्योतक है।

मैंने इस बात का उल्लेख इसलिए किया है कि उपर्युक्त प्रश्नों में जो यह शंका प्रकट की गई है कि मनुष्य को पूर्ण और स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए अथवा नहीं, वह इसी विचार के आधार पर उत्पन्न हो सकती है कि

धार्मिक समस्याओं को हल करने के लिए बुद्धि का प्रयोग नहीं किया जा सकता। किंतु यह विचार उतना ही विचित्र और गलत है जितना कि यह विचार कि हिसाब के द्वारा गणित के प्रश्नों को हल नहीं किया जा सकता।

मनुष्य को परमात्मा से एक ही साधन मिला है जिसके द्वारा वह अपने-आपको और इस विश्व के प्रति अपने संबंध को जान सकता है। यह साधन और कुछ नहीं, केवल बुद्धि है। किंतु एकाएक उसे यह बतलाया जाता है कि अपने घर, परिवार, व्यवसाय, राजनीति-विज्ञान अथवा कला-संबंधी समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए तो बुद्धि का उपयोग किया जा सकता है; पर उस कार्य के लिए उसका उपयोग नहीं किया जा सकता जिसके लिए वह उसे प्रदान की गई है। दूसरे शब्दों में जिन अत्यंत महत्त्वपूर्ण सत्यों पर मनुष्य का समस्त जीवन निर्भर करता है, उन पर प्रकाश डालने के लिए मनुष्य किसी भी दशा में बुद्धि का उपयोग न करे, बल्कि उन सत्यों को अपनी बुद्धि से पृथक स्वीकार करे, हालाँकि अपनी बुद्धि से पृथक वह कुछ नहीं जान सकता। लोग कहते हैं : "स्फूर्ति द्वारा, श्रद्धा द्वारा सत्यों को पहचानो!" किंतु सच्चाई यह है कि मनुष्य बुद्धि की सहायता के बिना किसी बात को भी मान नहीं सकता। यदि मनुष्य एक बात को मानता है और दूसरी को नहीं तो वह ऐसा सिर्फ इसीलिए करता है कि उसकी बुद्धि उसे यह कहती है कि उसको अमुक बात माननी चाहिए और अमुक नहीं। मनुष्य को बुद्धि का उपयोग नहीं करना चाहिए यह कहना ठीक वैसा ही है जैसा कि उस मनुष्य को जो एक अँधेरी सुरंग में दीपक लिए जा रहा हो, यह कहना कि उसे रास्ता खोजने के लिए दीपक को बुझा देना चाहिए और प्रकाश का नहीं, बल्कि और किसी वस्तु का सहारा लेना चाहिए।

किंतु शायद यह कहा जाएगा कि सभी मनुष्य महान् बौद्धिक शक्तियों के स्वामी नहीं होते और खासकर अपने विचारों को प्रकट करने की क्षमता नहीं रखते और इसलिए वे धर्म के संबंध में अपने विचारों को बेढंगेपन से प्रकट कर गलती कर सकते हैं। इसका मैं बाइबिल के शब्दों में यह उत्तर दूँगा कि बुद्धिशाली जिस बात को नहीं जानते, वह शिशुओं को ज्ञात होती है। यह कहावत अत्युक्ति अथवा अलंकार नहीं (बाइबिल के जो कथन हमको पसंद नहीं आते उनके बारे में हम ऐसा ही सोचने के अभ्यस्त हो गए हैं) बल्कि अत्यंत सरल और निर्विवाद सत्य है। दूसरे शब्दों में इस संसार में प्रत्येक प्राणी के लिए एक कानून बना दिया गया है जिसका उसे अनुसरण करना चाहिए; और इस कानून को जानने के लिए प्रत्येक प्राणी को योग्य इंद्रियाँ दी गई हैं और इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को बुद्धि प्रदान की गई है और उस बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य को उस कानून का ज्ञान होता है जिसका उसे पालन करना चाहिए। इस कानून का केवल उन्हीं लोगों को पता नहीं चलता, जो उस पर

अमल नहीं करना चाहते और जो कानून की अवहेलना करने के लिए बुद्धि को तिलांजलि दे देते हैं और सत्य का पता लगाने के लिए जो बुद्धि उन्हें मिली होती है, उसका उपयोग करने के बजाय श्रद्धापूर्वक उन लोगों का पथ-प्रदर्शन स्वीकार कर लेते हैं जो बुद्धि को तिलांजलि दे चुके होते हैं।

मनुष्य को जिस कानून पर अमल करना चाहिए, वह इतना सरल है कि जिसको हरेक बच्चा भी समझ सकता है। खासकर इसलिए कि मनुष्य को अपने जीवन के इस कानून की कोई नई खोज करनी नहीं पड़ती। हमारे पूर्वज उसकी खोज कर चुके और उसको व्यक्त भी कर चुके। जो मंतव्य परंपरा में व्यक्त हैं, मनुष्य को केवल अपनी बुद्धि की कसौटी पर उन्हें परख लेना चाहिए और फिर स्वीकार या अस्वीकार कर देना चाहिए। किंतु जो लोग उस कानून का पालन नहीं करना चाहते, उनकी सलाह पर उसे न चलना चाहिए, परंपरा के खयाल से उसे अपनी बुद्धि की गति को न रोकना चाहिए, बल्कि इसके विपरीत परंपरा पर बुद्धि का अंकुश रखना चाहिए। मनुष्य ही परंपरा का निर्माण करता है और वह गलत भी हो सकती है; किंतु बुद्धि निश्चय ही परमात्मा की देन है और गलत नहीं हो सकती। इसलिए सत्य को जानने और प्रकट करने के लिए खास महान् योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, हमको केवल यह मान लेना चाहिए कि सत्य को प्राप्त करने के लिए, मनुष्य के पास बुद्धि न केवल सर्वश्रेष्ठ दैवी गुण है, बल्कि एकमात्र अस्त्र है।

सत्य को जानने और प्रकट करने के लिए नहीं, बल्कि असत्य का आविष्कार करने और उसको प्रकट करने के लिए विशेष योग्यता और बौद्धिक प्रतिभा की आवश्यकता होती है। एक बार जब लोग बुद्धि के पथ-प्रदर्शन को छोड़ देते हैं और उस पर विश्वास करने के बजाय दूसरे लोगों द्वारा प्रतिपादित सत्य को सहज भाव से स्वीकार कर लेते हैं तो वे आमतौर पर नियमों, ईश्वरीय मंतव्यों और धार्मिक विधानों की ओट में ऐसे जटिल, अस्वाभाविक और परस्पर असंगत मंतव्यों का पहाड़ खड़ा कर लेते हैं और उन्हें तत्परतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं कि इन मंतव्यों को प्रकट करने और सत्य के साथ उनका मेल बिठाने के लिए वस्तुतः भारी बौद्धिक सूक्ष्मता और असाधारण प्रतिभा की आवश्यकता होती है। आप कल्पना कीजिए कि आपने आज की दुनिया में जन्म लिया है और आपको प्रचलित धार्मिक संप्रदायों के धार्मिक विश्वासों की शिक्षा दी गई है। अब यदि आप उन धार्मिक सिद्धांतों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें जो आपको बचपन में सिखाए गए थे और उनका वास्तविक जीवन के साथ मेल बिठाने लगें तो आपको अपने संप्रदाय की विरोधी बातों में सामंजस्य लाने के लिए कितना भारी बौद्धिक श्रम करना पड़ेगा; अर्थात् यह कि जो ईश्वर सृष्टिकर्ता और दयालु है, वही बुराई को जन्म देता है, लोगों को नरक भेजता

है और गुनाहों से छुटकारा देने के लिए भेंट-पूजा चाहता है। हम खुद प्रेम और क्षमा के कानून को मानते हैं, फिर भी हम लोगों को फाँसी चढ़ाते हैं, युद्ध करते हैं और गरीबों के परिश्रम का फल छीन लेते हैं।

इस न हल होनेवाली भूल-भुलैया से छुटकारा पाने के लिए अथवा उस पर पर्दा डालने के लिए महान् योग्यता और विशेष बौद्धिक प्रतिभा की आवश्यकता होती है; किंतु अपने जीवन के नियम को जानने अथवा अपने विश्वास के बारे में पूर्ण और स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने के लिए खास बौद्धिक योग्यता की आवश्यकता नहीं; हमको सिर्फ इतनी-सी सावधानी रखना चाहिए कि हम बुद्धि के विपरीत कुछ स्वीकार न करें, अपनी बुद्धि को इनकार न करें, धार्मिकता के साथ बुद्धि की रक्षा करें और केवल उसी में श्रद्धा रखें। यदि किसी मनुष्य को अपने जीवन का उद्देश्य अंधकारमय प्रतीत होता है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि उसकी बुद्धि उस उद्देश्य पर प्रकाश डालने में असमर्थ होती है; इससे सिर्फ यह पता चलता है कि उसने अनेक ऐसी बुद्धिविसंगत बातों को स्वीकार कर लिया है; अत: जिन बातों को बुद्धि की कसौटी पर नहीं कसा गया है, उन्हें दूर हटा देना चाहिए।

इसलिए हमको आंतरिक जीवन की स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए या नहीं—इस मुख्य प्रश्न का मैं यह उत्तर देता हूँ कि यही सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण बात है जो हमको अपने जीवन में करनी चाहिए। यह इसलिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है कि मनुष्य-जीवन का एकमात्र युक्तियुक्त उद्देश्य परमात्मा की इच्छा की पूर्ति करना है, जिसने कि हमको इस विश्व में भेजा है। किंतु परमात्मा की इच्छा किसी असाधारण दैवी चमत्कार, देवता की लेखनी, निर्भ्रांत धर्मग्रंथ अथव निर्भ्रांत संत या संतों द्वारा नहीं मालूम की जा सकती, बल्कि सब मनुष्यों द्वारा बुद्धि का उपयोग करने से ही वह जानी जा सकती है। वे शब्दों और कार्यों द्वारा सत्य की अनुभूति को एक-दूसरे पर प्रकट करते रहते हैं और यह अनुभूति उनके आगे अधिकाधिक प्रकाशित होती रहती है। यह ज्ञान न तो कभी पूर्ण हुआ है और न आगे होगा, किंतु ज्यों-ज्यों मानव-जाति प्रगति करेगी, त्यों-त्यों उसमें वृद्धि होगी। जितना ही अधिक हम जीवित रहते हैं, उतना ही हम परमात्मा की इच्छा को जान पाते हैं और फलस्वरूप यह भी जान पाते हैं कि हमको उसे पूरा करने के लिए क्या करना चाहिए। इसलिए मेरे खयाल से उन सब सत्यों को जो मनुष्य के लिए सुलभ हैं, समझना और उनको शब्दों द्वारा प्रकट करना (शब्दों द्वारा किसी बात को प्रकट करना विचारों की संपूर्ण स्पष्टता का द्योतक होता है) प्रत्येक मनुष्य का, चाहे वह अपने अथवा दूसरों के नजदीक कितना ही छोटा क्यों न प्रतीत होता हो—छोटे ही बड़े होते हैं—एक मुख्य और अत्यंत पवित्र कार्य है। □

जीवन-साधना

अनुवादक

शोभालाल गुप्त

आत्म-संयम

1

यदि एक आदमी काम करने का बहाना नहीं कर रहा है, बल्कि हाथ में लिए हुए काम को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील है, तो उसके प्रयत्नों का कार्य के स्वरूप के अनुसार अनिवार्यत: एक खास सिलसिला होगा। कार्य के स्वरूप के अनुसार जो बात उसे पहले करना चाहिए, यदि वह उसको बाद के लिए छोड़ देता है, अथवा उसके कुछ आवश्यक हिस्से को सर्वथा छोड़ देता है, तो निश्चय ही वह गंभीरतापूर्वक काम नहीं कर रहा, बल्कि काम का बहाना मात्र कर रहा है। चाहे काम शारीरिक हो, अथवा अन्य प्रकार का, यह नियम समान रूप से लागू होता है। जब तक कोई पहले आटा न गूँदे, चूल्हे की राख हटाकर उसमें आग न सुलगाए, तब तक यह कैसे कहा जाता है कि वह सचमुच रोटी पकाना चाहता है, इसी प्रकार आवश्यक गुण प्राप्त करने के लिए जब तक कोई एक सिलसिले से कुछ खास नियमों का पालन नहीं करता, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि वह सचमुच सद्जीवन बिताना चाहता है।

जहाँ तक उत्तम जीवन बिताने का संबंध है, यह नियम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। कारण शारीरिक काम के संबंध में, जैसे रोटी बनाने के बारे में परिणाम के द्वारा यह आसानी से मालूम किया जा सकता है कि आदमी सचमुच काम में जुटा हुआ है, या केवल बहाना मात्र कर रहा है किंतु सद्जीवन की इस प्रकार की कोई कसौटी नहीं है। अगर लोग बिना आटा गूँदे या चूल्हा सुलगाए रोटी पकाने का बहाना मात्र करें जैसा कि वे सिनेमा में करते हैं, तो परिणाम से अर्थात् रोटी के अभाव से यह प्रकट हो जाता है कि वे केवल बहाना कर रहे हैं, किंतु जब मनुष्य सद्जीवन बिताने का बहाना करता होता है तो हमारे पास यह मालूम करने के कोई प्रत्यक्ष चिह्न नहीं होते कि वह सचमुच प्रयत्न कर रहा है या केवल बहाना कर रहा है, कारण सद्जीवन के परिणाम न केवल आस-पास के लोगों के सामने हमेशा स्पष्ट और बुद्धिगम्य ही नहीं होते, बल्कि ये परिणाम उन्हें बहुधा हानिकारक प्रतीत होते हैं। किसी व्यक्ति के कार्यों के प्रति आदर की भावना होना और उसके समकालीन व्यक्तियों द्वारा उन कार्यों की उपयोगिता और अच्छाई का स्वीकार किया जाना इस

बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि वस्तुत: उसका जीवन अच्छा जीवन है।

इसलिए सद्‌जीवन के बाह्य दिखावे और असलियत में भेद करने के लिए एक खास नियमित सिलसिले से गुणों की प्राप्ति-द्वारा जो संकेत मिलता है, वह खासतौर पर बहुमूल्य होता है। यह संकेत इसलिए बहुमूल्य नहीं होता कि इसके द्वारा हम अच्छाई की दिशा में दूसरे लोगों की कोशिशों की गंभीरता का पता लगा सकते हैं, बल्कि उसके द्वारा हम अपनी सच्चाई को ही कसौटी पर परख सकते हैं, कारण इस दिशा में हम दूसरों को धोखा देने की अपेक्षा अपने-आपको बहुत अधिक धोखा दे सकते हैं।

सद्‌जीवन की ओर प्रगति करने के लिए मनुष्य को क्रमपूर्वक सद्‌गुणों को प्राप्त करना चाहिए। फलस्वरूप मानव जाति के गुरुओं ने इस प्रकार के सद्‌गुणों का हमेशा एक निश्चित क्रम निर्धारित किया है।

तमाम नैतिक शिक्षाओं की सीढ़ियाँ निर्धारित की हुई हैं और जैसा कि चीनी कहावत है, ये सीढ़ियाँ पृथ्वी से स्वर्ग को जाती हैं। इन सीढ़ियों के शिखर पर तभी पहुँचा जा सकता है जब निम्नतम सीढ़ी से ऊपर चढ़ना शुरू किया जाय। हिंदुओं, बौद्धों और कन्फ्युशियनों की और यूनानी तत्ववेत्ताओं की शिक्षाओं में भी सीढ़ियां निर्धारित कर दी गई हैं और नीचे की सीढ़ी पार किए बिना ऊपर की सीढ़ी पर नहीं पहुँचा जा सकता। मानव जाति के समस्त नैतिक गुरुओं ने चाहे वे धार्मिक श्रेणी के रहे हों या अधार्मिक श्रेणी के सद्‌जीवन के लिए जरूरी गुणों के एक निश्चित क्रम की आवश्यकता स्वीकार की है। इस क्रम की आवश्यकता सृष्टि की व्यवस्था में स्वयं सिद्ध है और इसलिए स्वभावत: हरेक आदमी को उसे मान लेना चाहिए।

किंतु यह अजीब बात है कि लोगों में सद्‌गुणों के इस आवश्यक क्रम को मान अधिकाधिक कम होता जा रहा है और अब केवल साधु-संत ही उसका ख्याल रखते हैं। साधारण गृहस्थ तो यह समझते हैं कि न केवल निम्न श्रेणी के गुणों का अभाव होते हुए भी जो कि उच्च गुणों के लिए आवश्यक होते हैं, उच्च गुण प्राप्त किए जा सकते हैं। बल्कि बड़े-से-बड़े दुर्गुणों के साथ भी उच्च गुण संभव हो सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज के अधिकांश लोगों के दिमागों में सद्‌जीवन किसे कहते हैं इस बारे में बड़ा भ्रम पैदा हो गया है।

2

आजकल लोगों को इस बात की आवश्यकता ही महसूस नहीं होती कि उत्तम जीवन बिताने के लिए मनुष्य को अपने भीतर एक क्रम से सद्‌गुणों का विकास करना चाहिए। फलस्वरूप लोगों का इस बात का ज्ञान भी नष्ट हो गया है कि उत्तम जीवन किसे कहते हैं। मेरे ख्याल से यह इस प्रकार घटित हुआ है।

जब ईसाई धर्म का उदय हुआ तो उसने पहले की अपेक्षा अधिक उच्च नैतिक आदेश प्रचलित किए और साथ ही सद्‌गुणों की प्राप्ति के लिए एक अनिवार्य क्रम भी निर्धारित कर दिया अर्थात् उत्तम जीवन बिताने के लिए कुछ उपाय प्रस्तुत किए। ईसाई धर्म ने यह कोई नई बात नहीं की। उसके पहले भी नैतिकता का एक क्रम बँधा हुआ था।

प्लेटो ने जिन सद्‌गुणों का प्रतिपादन किया था, उनमें पहला स्थान आत्म-संयम को दिया गया, उसके बाद साहस और बुद्धिमत्ता को और अंत में न्याय को। ईसाई धर्म के अनुसार सद्‌गुणों की शुरुआत आत्म-त्याग से होती है और फिर भक्ति और सर्वार्पण के बाद प्रेम को स्थान दिया गया है।

जिन लोगों ने गंभीरतापूर्वक ईसाई धर्म को स्वीकार किया और उसके अनुसार सद्‌जीवन बिताने का प्रयास किया, उन्होंने ईसाई धर्म को इसी रूप में समझा और अपनी वासनाओं का परित्याग कर सद्‌जीवन बिताना आरंभ किया। इस आत्म-त्याग में आत्म-संयम का भी समावेश हो जाता है।

किंतु यह नहीं समझना चाहिए कि इस मामले में ईसाई धर्म ने केवल अन्य धर्मों का अनुसरण मात्र किया। मैं ईसाई धर्म को उसके उच्च स्थान से अन्य अल्प-विकसित धर्मों की श्रेणी में नहीं बिठा सकता। यदि मुझ पर ऐसा करने का दोष लगाया जाएगा तो यह मेरे प्रति अन्याय होगा, कारण मैं इसाई धर्म की शिक्षा को संसार में सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। वह अल्प-विकसित धर्मों की शिक्षाओं से सर्वथा भिन्न है। ईसाई धर्म की शिक्षा पूर्व प्रचलित शिक्षा का स्थान इसीलिए ले सकी कि वह उससे भिन्न और उच्च थी। किंतु दोनों ही प्रकार की शिक्षाएँ मनुष्यों को सत्य और श्रेष्ठता की ओर ले जाती हैं और चूँकि ये हमेशा एक जैसी होती हैं, इसलिए उनको प्राप्त करने का मार्ग भी एक ही होना चाहिए। और इस मार्ग पर आगे बढ़ने के प्रथम प्रयास भी अनिवार्यतः ईसाई और अईसाई दोनों के लिए समान होंगे।

ईसाई और अईसाई सद्‌जीवन की शिक्षा में यह अंतर है कि जहाँ अईसाई शिक्षा अंतिम पूर्णता की शिक्षा है, वहाँ इसाई शिक्षा असीम पूर्णता की शिक्षा है। प्रत्येक अईसाई शिक्षा मनुष्य के सामने अंतिम पूर्णता का आदर्श उपस्थित करती है, किंतु ईसाई शिक्षा उसके सामने असीम पूर्णता का आदर्श उपस्थित करती है। उदाहरण के लिए तत्त्वज्ञानी प्लेटो न्याय को पूर्णता का आदर्श बताता है, किंतु ईसा का आदर्श प्रेम की असीम पूर्णता है। बाइबिल में कहा है, 'तुम वैसे ही पूर्ण बनो जैसे स्वर्ग में तुम्हारे परम पिता पूर्ण हैं।' यही वह अंतर है और इसी के फलस्वरूप अईसाई और ईसाई शिक्षाओं में विभिन्न श्रेणी के सद्‌गुणों को अलग-अलग महत्त्व दिया गया है। अईसाई शिक्षा के अनुसार सर्वश्रेष्ठ सद्‌गुण प्राप्त किया जा सकता है और इस दिशा

में प्रत्येक कदम का तुलनात्मक महत्त्व होता है। जितना ही अधिक बड़ा कदम उठाया जाएगा, उतना ही बड़ा उसका महत्त्व होगा। इस प्रकार अईसाई दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्यों को नैतिक और अनैतिक, कम नैतिक या अधिक नैतिक श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। किंतु ईसाई शिक्षा के अनुसार, जो असीम पूर्णता का आदर्श उपस्थित करती है, इस प्रकार का विभाजन नहीं किया जा सकता। उसके अनुसार उच्चतर और निम्नतर श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं। उसमें तो असीम आदर्श की ओर प्रत्येक प्रयास को समान माना जाता है।

अईसाई समाज में मनुष्य जिस सद्‌गुण को प्राप्त कर लेता है, उसी को उसकी योग्यता की निशानी समझ लिया जाता है। ईसाई धर्म के अनुसार मनुष्य का महत्त्व सद्‌गुणों की प्राप्ति की क्रिया में समझा जाता है अर्थात् मनुष्य कितने धीमे या कितनी तेजी से सद्‌गुणों का प्राप्त करता है। अईसाई मतानुसार विवेक-गुण-संपन्न मनुष्य इस गुण से शून्य मनुष्य से नैतिक दृष्टि से उच्च समझा जाएगा, विवेक के अलावा जो मनुष्य साहस-युक्त होगा, वह और भी ऊँचा समझा जाएगा, और विवेक और साहस के अलावा न्यायवान होगा, वह और भी उच्च समझा जाएगा। किंतु ईसाई नैतिक दृष्टि से एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा ऊँचा या नीचा नहीं समझा जा सकता। मनुष्य अमुक समय चाहे जितना ऊँचा क्यों न उठ जाए, किंतु जिस तेजी के साथ वह असीम पूर्णता की ओर आगे बढ़ेगा, उसी के अनुसार वह कम या अधिक मात्रा में ईसाई कहलाने का अधिकारी होगा। यही कारण है कि पुराण पंथी की गतिरहित न्याय-निष्ठा को शूली पर चढ़नेवाले पश्चात्ताप-संतप्त चोर की प्रगति से निकम्मा समझा गया।

ईसाई और अईसाई शिक्षाओं में यही अंतर है। फलतः सद्‌गुणों की जो सीढ़ियाँ अर्थात् आत्म-संयम और साहस अईसाई समाज में योग्यता की कसौटी समझी जाती है, इसाई धर्म में उनका वैसा कोई महत्त्व नहीं समझा जाता। इसी संबंध में दोनों शिक्षाओं में अंतर है। किंतु नीचे की सीढ़ियों पर चढ़े बिना सद्‌गुणों की ओर, पूर्णता की ओर कोई प्रगति नहीं हो सकती, इस बारे में ईसाई और अईसाई शिक्षाओं में समानता है। इस विषय में कोई अंतर नहीं हो सकता।

ईसाई को अईसाई की भाँति ही अपने-आपको पूर्ण बनाने की शुरुआत करनी पड़ेगी अर्थात् उसे वहीं से प्रारंभ करना पड़ेगा, जहाँ से अईसाई शुरू करता है—उसे आत्म-संयम का आश्रय लेना होगा। जो मनुष्य ऊपर की मंजिल में जाना चाहता है, वह नीचे की सीढ़ियों को पार किए बिना ऊपर नहीं जा सकता। अंतर है तो सिर्फ यही कि जहाँ अईसाई व्यक्ति के लिए आत्म-संयम स्वयं एक सद्‌गुण है, वहाँ ईसाई के लिए वह उस आत्म-त्याग का एक अंग है जो पूर्णता प्राप्त करने की हर

आकांक्षा का अनिवार्य कर्तव्य है। इसलिए देखने में सच्चे ईसाई धर्म ने उसी पथ का अनुसरण किया है।

किंतु सभी लोगों ने ईसाई धर्म को पूर्णता प्राप्त करने की आकांक्षा के रूप में ग्रहण नहीं किया है। अधिकांश लोग इसको मुक्ति प्राप्त करवानेवाली शिक्षा समझते हैं। ठीक इसी शिक्षा ने ईसाई धर्म की नैतिक शिक्षा के प्रति मनुष्यों की हार्दिकता और गंभीरता को नष्ट कर दिया है। विविध ईसाई संप्रदायों के प्रतिनिधि चाहे जितना पिष्ट-पेषण क्यों न करें कि उनके मुक्ति के साधन मनुष्य के सद्जीवन प्राप्त करने के मार्ग में बाधक नहीं होते, बल्कि उल्टे साधक होते हैं, फिर भी अमुक मंतव्यों से अमुक निष्कर्ष निकलते ही हैं। फिर आप चाहें जितनी दलीलें दीजिए यदि एक बार आपने उन मंतव्यों को स्वीकार कर लिया तो उनसे पैदा होनेवाले निष्कर्षों को भी मानना ही पड़ेगा। यदि एक आदमी यह विश्वास करता है कि पादरी की दया से वह बच सकता है तो स्वभावतः वह यह सोचेगा कि सद्जीवन बिताने के लिए प्रयत्न करना बेकार है—खासकर उस समय जब उसे यह कहा जाता हो कि अपने प्रयत्नों से अच्छा बनने की आशा करना भी एक पाप है। फलस्वरूप जो मनुष्य यह मानता है कि पाप या पाप के परिणामों से बचने के लिए अपने खुद के प्रयत्नों के अलावा भी अन्य साधन हैं, वह उस व्यक्ति के समान उत्साह और गंभीरता से प्रयत्न नहीं कर सकता, जो अन्य साधनों से अनुमिल है। और जब पूरी गंभीरता के साथ प्रयत्न नहीं किया जाएगा और व्यक्तिगत प्रयत्नों के अलावा अन्य साधनों का ज्ञान भी होगा तो मनुष्य उत्तम जीवन के लिए आवश्यक सद्गुणों की प्राप्ति के अनिवार्य क्रम को भी अनिवार्यतः उपेक्षा करेगा। जो लोग ईसाई धर्म मानते हैं, उनमें से अधिकांश की यही अवस्था हुई है।

3

आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य व्यक्तिगत प्रयत्न करे, बल्कि उसकी प्राप्ति के अन्य साधन भी हैं—इस सिद्धांत ने उत्तम जीवन बिताने के लिए किए जानेवाले प्रयत्नों में शिथिलता पैदा कर दी और लोग इस बात की उपेक्षा करने लगे कि सद्जीवन के लिए क्रमपूर्वक सद्गुणों का विकास किया जाना चाहिए।

जिन लोगों ने ईसाई धर्म को स्वीकार किया, उनमें से अधिकांश ने उसको बाहरी तौर पर ही स्वीकार किया। उन्होंने पौराणिकवाद के स्थान पर ईसाई धर्म की स्थापना का लाभ उठाकर अपने-आपको पौराणिक सद्गुणों की प्राप्ति के झंझट से मुक्त कर लिया। इस प्रकार उन्होंने अपनी पशु-वृत्ति से संघर्ष करना छोड़ दिया।

जो लोग गिरजे की शिक्षाओं पर विश्वास करना छोड़ देते हैं, उनकी भी ऐसी ही दशा होती है। उनको भी ईसाई धर्म के उपासकों के समान समझना चाहिए। ये 'प्रभु-कृपा' के बजाय अधिकांश लोगों द्वारा पसंद किए जानेवाले किसी काल्पनिक अच्छे काम का अर्थात् विज्ञान, कला अथवा मानवता का सहारा लेते हैं और इस प्रकार के कल्पित अच्छे काम के नाम पर यह समझ बैठते हैं कि सद्जीवन के लिए क्रमपूर्वक सद्गुणों का विकास करना आवश्यक नहीं है। ये लोग रंगमंच के अभिनेताओं की भाँति उत्तम जीवन बिताने का बहाना करके ही संतोष मान लेते हैं।

जिन लोगों ने ईसाई धर्म को उसके यथार्थ रूप में स्वीकार नहीं किया, और पौराणिकवाद से विचलित हो गए, वे आत्म-त्याग और आत्म-संयम को छोड़कर ईश्वरीय और मानवीय प्रेम तथा न्याय का उपदेश देने लगे अर्थात् निम्न सद्गुणों को छोड़कर उच्च सद्गुणों का प्रचार करने लगे। दूसरे शब्दों में उन्होंने असली सद्गुणों का नहीं बल्कि दिखावटी सद्गुणों का प्रचार किया।

कुछ लोग आत्म-त्याग किए बिना ही ईश्वर और मनुष्य से प्रेम करने का उपदेश देते हैं और कुछ आत्म-संयम किए बिना मानवीयता, मानवता की सेवा का प्रचार करते हैं। और चूँकि यह शिक्षा एक ओर मनुष्य को उच्च नैतिक आसन पर स्थित होने का दंभ करने का मौका देती है और दूसरी ओर उसे अत्यंत मूलभूत नैतिक नियमों से मुक्त करके उसकी पशु-वृत्ति को प्रोत्साहन देती है, इसलिए धर्म पर आस्था रखनेवाले और न रखनेवाले दोनों ही इस शिक्षा को तत्काल स्वीकार कर लेते हैं।

कुछ समय पहले की बात है कि पोप का समाजवाद पर एक गश्ती-पत्र प्रकाशित हुआ था। इस पत्र में समाजवाद के इस दृष्टिकोण का खंडन किया गया था कि संपत्ति पर व्यक्ति का अधिकार माना जाना एक अन्याय है। उसमें साफतौर पर यह कहा गया था कि 'अपनी खुद की अथवा अपनी गृहस्थी की आवश्यकता के लिए जिस चीज की जरूरत हो, धर्म उसे दूसरों में बाँटने का आदेश नहीं देता और न ही अपने पद-प्रतिष्ठा के अनुसार जीवन बिताने के लिए जिस चीज की आवश्यकता हो उसे दूसरों को देना चाहिए। कारण किसी को भी अपने पद-प्रतिष्ठा के प्रतिकूल जीवन न बिताना चाहिए, किंतु जब आवश्यकता की भलीभाँति पूर्ति हो जाए और अपनी पद-प्रतिष्ठा का भली प्रकार विचार कर लिया जाय, तब जो कुछ बच रहे, उसमें से गरीबों को देना कर्तव्य है। जो कुछ बच रहे, उसका दान करो।'

यह है वह उपदेश जो गिरजों के मुखिया ने अर्थात् पोप महोदय ने दिया है। गिरजे के अन्य पादरी भी ऐसा ही उपदेश देते हैं, जो यह मानते हैं कि केवल कर्म द्वारा मुक्ति नहीं हो सकती। एक ओर तो ये लोग यह स्वार्थमय शिक्षा देते हैं कि तुम

अपने पड़ोसियों को वही वस्तु दे सकते हो जिसकी तुम्हें खुद को आवश्यकता न हो, और दूसरी ओर ये प्रेम का उपदेश देते हैं।

यद्यपि बाइबिल में आत्म-त्याग के आदेश भरे पड़े हैं और यह बताया गया है कि पूर्णता प्राप्त करने के लिए आत्म-त्याग की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है, फिर भी लोग खुद यह यकीन कर लेते हैं और दूसरों को करा देते हैं, कि जिस वस्तु का सेवन करने का उन्हें अभ्यास पड़ा हुआ है, अथवा जिस वस्तु को वे अपनी शान के लिए आवश्यक समझते हैं, उसका त्याग किए बिना ही मनुष्यों से प्रेम किया जा सकता है। जो लोग गिरजे और ईसाई धर्म को नहीं मानते और अपने-आपको स्वतंत्र विचारक कहते हैं, वे भी इसी प्रकार बोलते, लिखते और कार्य करते हैं। ये लोग खुद भी समझ लेते हैं और दूसरों को भी समझने की कोशिश करते हैं कि अपनी आवश्यकताओं को घटाए बिना, अपने विकारों को वश में किए बिना ही वे मानव जाति की सेवा कर सकते हैं, उत्तम जीवन बिता सकते हैं।

मनुष्यों ने सद्गुणों के पौराणिक क्रम को एक ओर ताक में रख दिया और ईसाई धर्म की शिक्षाओं का वास्तविक अर्थ ग्रहण न करने के कारण ईसाई क्रम को भी स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार वे पथ-प्रदर्शन को खो बैठे।

4

पुराने जमाने में जब ईसाई शिक्षाओं का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था सुकरात से लगाकर अन्य सभी धर्मगुरुओं ने आत्म-संयम को जीवन का सर्वप्रथम सद्गुण समझा। यह ख्याल किया जाता था कि हरेक सद्गुण का प्रारंभ आत्म-संयम से होना चाहिए और उसको प्राप्त करने के बाद ही अन्य गुण प्राप्त किए जा सकते हैं। यह साफ तौर पर समझा जाता था कि जिस आदमी ने आत्म-संयम नहीं किया और अपनी असंख्य इच्छाएँ बढ़ाकर उसके अधीन हो गया, वह उत्तम जीवन नहीं बिता सकता। यह भी स्पष्ट था कि उदारता और प्रेम की बात तो दूर रही, तटस्थता और न्याय की कल्पना करने के पहिले मनुष्य को संयम का पाठ सीखना चाहिए। हमारे आजकल के विचारों के अनुसार इस प्रकार की किसी बात की आवश्यकता नहीं। हमको पक्का यकीन है कि जिस मनुष्य ने अपनी इच्छाओं को समाज में अधिक-से-अधिक बढ़ा लिया है और जो मनुष्य उसे गुलाम बनाकर रखनेवाली सैकड़ों अनावश्यक आदतों को संतुष्ट किए बिना जीवित नहीं रह सकता, वहाँ मनुष्य सर्वथा नैतिक और उत्तम जीवन बिता सकता है। किसी भी दृष्टिकोण से देखिए, चाहे वह उपयोगितावाद का निम्नतम दृष्टिकोण हो, चाहे पौराणिकता का उच्चतर दृष्टिकोण (जो न्याय पर जोर देता है) अथवा सर्वश्रेष्ठ ईसाई दृष्टिकोण हो (जो प्रेम का आदेश देता है) आपको निश्चय ही यह साफतौर

पर मालूम होगा कि जो मनुष्य दूसरों के श्रम का, बहुधा कष्टकारक श्रम का, अपने आनंद के लिए उपयोग करता है। (इस श्रम के बिना वह आसानी से काम चला सकता है) वह अन्याय करता है। और यही वह पहला अन्याय है जिसको यदि वह उत्तम जीवन बिताना चाहता है तो उसे छोड़ देना चाहिए।

उपयोगितावाद के दृष्टिकोण के अनुसार इस प्रकार का आचरण बुरा है, कारण जब तक मनुष्य दूसरों को अपने लिए काम करने को मजबूर करता है, तब तक उसकी सदा अस्थिर दशा बनी रहती है, वह अपनी इच्छाओं को संतुष्ट करने का आदी हो जाता है और उनका गुलाम बन जाता है तथा जो लोग उसके लिए काम करते हैं, उनमें उसके प्रति ईर्ष्या और घृणा के भाव पैदा हो जाते हैं और वे उस घड़ी की प्रतीक्षा में रहते हैं जब वे अपने-आपको उस काम के बंधन से मुक्त कर सकें। फलस्वरूप उस आदमी के लिए हमेशा इस बात का खतरा रहता है कि वह अपनी जड़ जमाकर बैठी हुई आदतों को सन्तुष्ट करने में असमर्थ हो जाए।

न्याय के दृष्टिकोण से भी ऐसा आचरण बुरा है, कारण अपने आनंद के लिए उन लोगों से श्रम कराना उचित नहीं है जो इस आनंद का सौवाँ हिस्सा भी अपने लिए प्राप्त नहीं कर सकते।

ईसाई धर्म द्वारा अनुमोदित प्रेम के दृष्टिकोण के अनुसार यह सिद्ध करने की शायद ही जरूरत हो कि जो मनुष्य दूसरों से प्रेम करता है वह अपने आनंद के लिए दूसरों की मेहनत के फल का उपभोग करने की बजाय स्वयं उनके लिए काम करेगा।

किंतु आधुनिक समाज में, उपयोगिता, न्याय और प्रेम के आदेशों की सर्वथा अवहेलना की जाती है। अपनी इच्छाओं को मर्यादित करना न तो सर्वप्रथम और न ही अंतिम कर्तव्य समझा जाता है। उत्तम जीवन के लिए इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती।

इसके विपरीत जीवन की प्रचलित और बहुमान्य शिक्षा के अनुसार अपनी इच्छाओं में वृद्धि करना आवश्यक माना जाता है, इसे विकास, सभ्यता, संस्कृति और पूर्णता का चिह्न समझा जाता है। पढ़े-लिखे कहलानेवाले लोग आराम-सूचक आदतों यानी स्त्रियोचित नजाकत को न केवल निर्दोष बल्कि उत्तम समझते हैं, नैतिक उच्चता का द्योतक मानते हैं। वे इसे करीब-करीब एक सद्गुण ही मान बैठे हैं।

यह ख्याल किया जाता है कि आवश्यकताओं की मात्रा जितनी ही अधिक होगी और आवश्यकताएँ जितनी सुसंस्कृत (बढ़ी-चढ़ी) होंगी, उतना ही अच्छा होगा। गत दो शताब्दियों की वर्णनात्मक कविता और खासकर उपन्यासों से यह बात भलीभाँति प्रकट हो जाती है। सद्गुणों को व्यक्त करनेवाले नायक और नायिकाओं

का इनमें कैसा चित्र खींचा गया है ? अधिकतर उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि जिनको उच्चता और श्रेष्ठता का प्रतिनिधि माना गया है, वे पथभ्रष्ट आलसियों के अतिरिक्त कुछ नहीं । वे हजारों लोगों के श्रम का लाभ उठाकर आनंद लूटते हैं और खुद किसी के लिए कुछ भी उपयोगी काम नहीं करते। इन उपन्यासों में नायिकाएँ भी ऐसी चित्रित की गई हैं जो ऐसे लोगों का किसी-न-किसी तरह मनोरंजन करती है, उनके समान ही आलसी होती हैं, और उनकी तरह ही अपने भोग-विलास की खातिर दूसरों के श्रम को हड़पने को सदा उद्यत रहती हैं।

मैं उनका जिक्र नहीं करता जो वास्तव में संयमी और परिश्रमी हैं और जिनका साहित्य में कहीं-कहीं अस्तित्व पाया जाता है। मैं तो सामान्य नमूने का जिक्र करता हूँ जो सर्वसाधारण के लिए आदर्श का काम देता है। मैं तो उस चरित्र का उल्लेख करता हूँ जिसको अपनाने का अधिकांश स्त्री-पुरुष प्रयत्न कर रहे हैं। मुझे याद है कि जब मैंने उपन्यास लिखे थे तो मुझे कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ा था। मैं मानता हूँ कि उन उपन्यासकारों को, जिन्हें वास्तविक नैतिक सौंदर्य की धुँधली-सी भी कल्पना होती है मेरे ही समान कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कठिनाई इस बात की होती है कि उच्च श्रेणी के किसी ऐसे पात्र का चित्रण किया जाए जो आदर्श रूप से भला और दयालु हो और साथ ही चित्रण वास्तविक भी हो। वास्तविक चित्रण करने के लिए उच्च, पढ़े-लिखे वर्ग के स्त्री-पुरुष को उसके सामान्य वातावरण में दिखाना चाहिए अर्थात् उसके भोग-विलास, शारीरिक बेकारी और दूसरों से सेवाएँ लेना आदि का वर्णन किया जाना चाहिए। नैतिक दृष्टि से इस प्रकार का मनुष्य निश्चय ही अवांछनीय समझा जाएगा। किंतु उसका इस प्रकार का चित्रण करना आवश्यक होता है ताकि वह आकर्षक प्रतीत हो। और उपन्यासकार उसको ऐसा ही चित्रित करने की कोशिश करते हैं। मैंने भी ऐसा ही किया था और विचित्र बात यह है कि ऐसा चित्र चित्रित करने में अर्थात् एक नैतिकता-विहीन व्यभिचारी और हत्यारे, सर्वथा निरुपयोगी, बेकार, इधर-उधर डोलनेवाले, बने-ठने हास्य-पात्र को आकर्षक चित्रित करने में अधिक कला अथवा प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। उपन्यासों के पाठक अधिकतर ऐसे ही आदमी होते हैं और इसलिए फौरन विश्वास कर लेते हैं कि उपन्यासों के ऐसे पात्र वस्तुतः बड़े श्रेष्ठ आदमी होते हैं।

5

आज-कल के लोग आत्म-संयम और आत्म-त्याग को वस्तुतः उत्तम और वांछनीय सद्‌गुण नहीं समझते, बल्कि इसके विपरीत आवश्यकताओं में वृद्धि करने को अच्छा और उन्नति का द्योतक समझते हैं। इस बात का स्पष्ट प्रमाण वह शिक्षा है जो हमारे

समाज में अधिकतर बालकों को दी जा रही है। उनको आत्म-संयम अथवा आत्म-त्याग की शिक्षा नहीं दी जाती, बल्कि उनको जान-बूझकर नजाकत, शारीरिक बेकारी और विलासिता की शिक्षा दी जाती है।

मेरी बहुत दिनों से यह इच्छा रही कि निम्न कथानकवाली एक कहानी लिखूँ। एक स्त्री को एक दूसरी स्त्री हानि पहुँचाती है। पहली स्त्री बदला लेने पर उतारू होती है। वह अपने शत्रु का बच्चा उठा ले जाती है और एक जादूगर के पास जाकर यह पूछती है कि यह चुराकर लाए हुए शिशु का—अपने शत्रु के एक मात्र शिशु से किस प्रकार कड़े-से-कड़ा बदला ले। जादूगर शिशु को एक खास जगह ले जाने के लिए कहता है और स्त्री को यकीन दिलाता है कि वहाँ उससे भयंकर बदला ले लिया जाएगा। दुष्ट स्त्री जादूगर की सलाह मान लेती है, किंतु उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि उस शिशु को एक निस्संतान धनिक गोद ले लेता है। स्त्री पुनः जादूगर के पास जाती है और उसे बुरा-भला कहती है। जादूगर उसे प्रतिज्ञा करने को कहता है। शिशु विलासिता और नजाकत के वातावरण में बड़ा होता है। स्त्री असमंजस में पड़ जाती है, किंतु जादूगर उसे फिर प्रतीक्षा करने को कहता है। आखिर ऐसा वक्त आता है जब दुष्ट स्त्री न केवल संतुष्ट हो जाती है बल्कि उसे अपने शत्रु के पुत्र पर दया आने लगती है। वह संपत्तिजनित भोग-विलास और स्वच्छंदता के वातावरण में बड़ा होता है और अपनी अच्छी प्रकृति के कारण बर्बाद हो जाता है। इसके बाद शारीरिक कष्टों, दरिद्रता और अपमान का युग प्रारंभ होता है। खासकर अपमान उसके हृदय में शूल की तरह चुभता है, किंतु उसे पता नहीं होता है कि उसका उसे किस प्रकार सामना करना चाहिए। एक ओर नैतिक जीवन बिताने की इच्छा उसके मन में जागृत होती है और दूसरी ओर उसका नाजुक शरीर, जो विलासिता और बेकारी का आदी होता है, जवाब दे देता है। ऊँचे उठने के उसके सब प्रयास निष्फल जाते हैं। उसका अधिकाधिक पतन होता है। अपने-आपको भूलने के लिए वह शराब पीने लगता है, जुआ खेलता है, चोरी करता है और अंत में पागल हो जाता है अथवा आत्महत्या कर लेता है।

आजकल धनिक वर्ग के बालकों को जैसी शिक्षा दी जाती है, उस पर किसी भी व्यक्ति को वेदना हुए बिना नहीं रह सकती। इन बालकों में इनके माता-पिता, खासकर माताएँ, जो अवगुण और बुराइयाँ भर रहे हैं, उन्हें निष्ठुर-से-निष्ठुर शत्रु भले ही भरना पसंद करें। यदि हमको इस बात का पता हो कि माता-पिता द्वारा भली प्रकार तबाह किए जानेवाले बालकों की आत्माओं में क्या हो रहा है तो हम इस दृश्य को और इससे भी अधिक इसके परिमाणों को देखकर स्तंभित रह जाएँगे। उनमें ऐसे समय नजाकत की आदतें डाली जाती हैं, जब वे उनके नैतिक महत्त्व को

नहीं समझ पाते। सादगी और आत्म-संयम की केवल उपेक्षा ही नहीं की जाती बल्कि पुराने जमाने की शिक्षण-पद्धति के सर्वथा विपरीत इस गुण को पूर्णतः कुंठित कर दिया जाता है। न तो मनुष्य को काम करने की शिक्षा दी जाती है और न उसमें वे गुण विकसित किए जाते हैं जो उपयोगी श्रम के लिए आवश्यक होते हैं अर्थात् मन को एकाग्रता, कठिन परिश्रम, सहनशीलता, कार्य के लिए उत्साह, बिगड़े हुए काम को बनाने की योग्यता, कार्य के सफल होने पर प्रसन्नता अनुभव करने की शक्ति आदि। बल्कि उसे आलस्य की और श्रम द्वारा तैयार होनेवाली चीजों को तुच्छ समझने की शिक्षा दी जाती है। वह यह नहीं सोचता कि चीजें किस प्रकार तैयार होती हैं, वह तो चीजों को खराब करता रहता है, फेंक देता है और पैसा खर्च करके चाहे जैसी फिर चीजें खरीद लेता है। विवेक प्रारंभिक सद्‌गुण है, अन्य सद्‌गुण प्राप्त करने के लिए उसकी अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है, किंतु मनुष्य यह सद्‌गुण नहीं प्राप्त कर सकता। उसे असमर्थ बना दिया जाता है। उसे ऐसी दुनिया में खुला छोड़ दिया जाता है जहाँ लोग न्याय, मानव सेवा और प्रेम के उच्च्व गुणों की बड़ाई मारते हैं और उनका प्रचार करते हैं।

यदि एक नौजवान नैतिक दृष्टि से मंद और कुंठित स्वभाववाला हो तो कोई हर्ज नहीं, क्योंकि वह वस्तुतः उत्तम जीवन और नकली उत्तम जीवन में भेद नहीं कर सकता; वह प्रचलित भ्रम की दुनिया में संतुष्ट रहता है। ऐसी दशा में प्रकटतः सब ठीक-ठाक चलता रहता है और कभी-कभी मृत्यु तक भी ऐसे आदमी का नैतिक अंतःकरण जाग्रत नहीं हो पाता।

किंतु हमेशा ऐसा नहीं होता। खासकर पिछले दिनों में ऐसा वातावरण बन गया है कि इस प्रकार के जीवन की अनैतिकता का ज्ञान हुए बिना नहीं रहता और अनचाहे वह हृदय में समा जाता है। वास्तविक शुद्ध नैतिकता का अधिकाधिक तकाजा होने लगता है और तब एक कष्टदायक आंतरिक संघर्ष और मुसीबतों की शुरुआत होती है। और इसका परिणाम कुछ अपवादों को छोड़कर नैतिक भावना की पराजय हो जाता है।

मनुष्य यह महसूस करता है कि उसका जीवन बुरा है और उसको जड़ से सुधारना चाहिए, क्योंकि जो लोग ऐसे संघर्ष में से गुजर चुके होते हैं, और परास्त हो चुके होते हैं, चारों तरफ से उस पर हमला कर देते हैं, उसके इरादों को तोड़ डालने का प्रयत्न करते हैं। वे हर प्रकार से उसको यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न करते हैं कि इस सुधार की बिल्कुल आवश्यकता नहीं, उत्तम जीवन का आत्म-संयम और आत्म-त्याग से कोई वास्ता नहीं, ठूँस-ठूँसकर खाते रहने, सज-धजकर रहने, शरीर से कुछ भी श्रम न करने और दुराचार करने के बावजूद मनुष्य बिल्कुल भला और

उपयोगी हो सकता है और अधिकांश उदाहरणों में यह संघर्ष शोचनीय ढंग से समाप्त हो जाता है। या तो मनुष्य अपनी दुर्बलता के वश होकर सर्वसाधारण की राय के आगे झुक जाता है, अंत:करण की आवाज को दबा देता है, अपना समर्थन करने के लिए अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करता है और पुराना स्वच्छंद जीवन जारी रखता है और अपने दिल में यह समझ लेता है कि देवताओं पर श्रद्धा रखने या विज्ञान, राष्ट्र अथवा कला की उन्नति में सहयोग देने से उद्धार हो जाएगा, या संघर्ष करता है, सहन करता है और अंत में पागल हो जाता है या आत्म-हत्या कर लेता है।

चारों ओर से प्रलोभनों द्वारा घिरे रहने के कारण आजकल का मनुष्य उस सत्य को क्वचित ही समझ पाता है, जो हजारों वर्ष पहले सभी विवेकशील व्यक्तियों के लिए प्रारंभिक सत्य था और आज भी है। अर्थात् उत्तम जीवन प्राप्त करने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि बुरे जीवन को छोड़ दिया जाए इसी प्रकार उच्च सद्‌गुणों को प्राप्त करने के लिए सबसे पहले निवृत्ति अथवा आत्म-संयम या आत्म-त्याग की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि मनुष्य अपने क्रमिक प्रयत्नों द्वारा इस प्रारंभिक सद्‌गुण को प्राप्त करने में क्वचित ही सफल होता है।

6

मैंने हाल ही में निर्वासित रूसी ओगारियोफ के पत्र पढ़े हैं। ओगारियोफ उन उच्च शिक्षा-प्राप्त और प्रगतिशील पुरुषों में था जो सन् 1830-40 के बीच हुए हैं। उन्होंने यह पत्र इरजन नाम के एक उच्च शिक्षित और प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति को लिखे थे। ओगारियोफ ने इन पत्रों में अपने हार्दिक विचारों और उच्च आकांक्षाओं को प्रकट किया है और हम समझे बिना नहीं रह सकते कि जैसा एक नौजवान के लिए स्वाभाविक होता है, ओगारियोफ ने अपने मित्र के आगे अपने-आपको अच्छे रूप में पेश करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने आत्म-साधना, पावन-मित्रता, प्रेम, विज्ञान तथा मानव सेवा आदि विषयों की चर्चा की है। साथ ही उन्होंने बड़ी शक्ति के साथ यह भी लिखा है कि मैं बहुधा अपनी जीवन-संगिनी को नाराज कर देता हूँ जब मैं नशे की हालत में घर लौटता हूँ अथवा एक पतित किंतु प्रिय प्राणी के साथ घंटों गायब रहता हूँ।

वस्तुतः इस दयालु, प्रतिभाशाली और सुशिक्षित व्यक्ति को इस बात में कोई बुराई ही नहीं मालूम हुई कि अपनी पत्नी के मौजूद होते हुए, जबकि उसके बच्चा होने वाला था, वह शराब के नशे में घर लौटा और एक भ्रष्ट औरत के साथ गायब हो गया। उसके दिमाग में यह बात पैठ ही न पाई कि जब तक वह अपने साथ संघर्ष नहीं करता और शराब पीने और व्यभिचार करने की अपनी इच्छा पर कुछ

अंशों में ही सही काबू नहीं पा लेता, तब तक वह किसी की सेवा करना तो दूर रहा, मित्रता और प्रेम की कल्पना भी नहीं कर सकता। किंतु उसने न केवल इन दुर्गुणों के विरुद्ध संघर्ष ही नहीं छोड़ा, बल्कि उसका यह ख्याल रहा कि ये दुर्गुण नहीं, बल्कि अच्छी बातें हैं और आत्म-साधना में इनके कारण कोई रुकावट पैदा नहीं होती। इसीलिए वह इनको छिपाने के बजाय अपने मित्र के आगे, जिसकी दृष्टि में वह अच्छे रूप में उपस्थित होना चाहता है, प्रकट कर देता है।

यह अर्द्ध-शताब्दी पहले की बात है। मैं ऐसे व्यक्तियों के जमाने में रह चुका हूँ। मुझे ओगारियोफ और इरजन और इसी नमूने के दूसरे लोगों और इसी परंपरा में शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला था। इन सभी लोगों के जीवन में उल्लेखनीय विषमता थी। एक ओर तो उनमें सद्जीवन की हार्दिक और उत्कट इच्छा थी और दूसरी ओर उनकी व्यक्तिगत इच्छाओं पर कोई लगाम न थी। उनके ख्याल से असंयत जीवन श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में कोई रुकावट नहीं डाल सकता और न अच्छे और महान कार्य करने में बाधक हो सकता है। वे बिना गूँदे हुए आटे की रोटियाँ सर्द चूल्हे में रखकर यह आशा करते थे कि उन्हें पकी हुई रोटी प्राप्त हो जाएगी और जब उम्र बढ़ने के साथ वे यह कहते कि रोटी तो पकी नहीं, अर्थात् उनके जीवन का सद्परिणाम नहीं निकला, तो उन्हें इसमें एक खास किस्म का दु:खांत संयोग प्रतीत होता।

और वस्तुत: ही ऐसी जिंदगियों की दु:खांत समाप्ति भयंकर होती है और जो दु:खांत संयोग इरजन, ओगारियोफ और उनके समय के दूसरे व्यक्तियों के जीवन में पाया जाता है, वही आज के बहुत से कथित पढ़े-लिखे लोगों के जीवन में पाया जाता है, जो कि उनके जैसे ही विचार रखते हैं। एक मनुष्य सद्जीवन बिताना चाहता है, किंतु इसके लिए जो क्रमबद्धता आवश्यक होती है, वह उस समाज में खो जाती है, जिसमें कि वह रहता है। जैसा कि पचास वर्ष पहले ओगारियोफ, इरजन और दूसरे लोगों का विचार था उसी के अनुसार इस जमाने के अधिकांश लोगों को यह यकीन दिलाया जाता है कि विलासी जीवन बिताने, मीठे और गरिष्ठ पदार्थ खाने, हर प्रकार से आनंद भोगने और अपनी समस्त इच्छाओं को संतुष्ट करने आदि की चेष्टाएँ सद्जीवन बिताने के मार्ग में बाधक नहीं होतीं। किंतु जैसा कि प्रकट है, उनको सद्जीवन नसीब नहीं होता और तब वे निराश होकर कहते हैं— मानव जीवन का दु:खांत संयोग ऐसा ही है।

इस विषय में एक और विचित्र बात है। यह लोग जानते हैं कि मनुष्यों में सुख-साधनों का बँटवारा समान नहीं है। वे इस विषमता को बुरा समझते हैं और उसको ठीक करना चाहते हैं, किंतु अपने सुख-साधनों में वृद्धि करने अर्थात् सुख-साधनों

के विभाजन में वृद्धि करने के प्रयत्न नहीं छोड़ते। उनके इस व्यवहार की तुलना उन लोगों के व्यवहार से की जा सकती है जो एक बगीचे में पहले घुस पड़ते हैं और जितनी जल्दी हो सके सब फल अपने ही लिए इकट्ठे करने की कोशिश करते हैं। एक ओर तो वे अपने और बाद में आनेवालों के बीच बगीचों के फलों का अधिक समान विभाजन करना चाहते हैं और दूसरी ओर अपने बस भर सब फलों को अपने लिए तोड़ते रहते हैं।

7

मनुष्य अपनी वासनाओं की पूर्ति में लगे रहें और इस वासनामय जीवन को अच्छा समझें और साथ ही वे यह समझते रहें कि वे अच्छा, उपयोगी, न्याय तथा प्रेम-पूर्ण जीवन बिता सकते हैं, यह इतना आश्चर्यकारक भ्रम है कि मेरे ख्याल से आनेवाली पीढ़ियाँ यह समझ ही न पाएँगी कि इस जमाने के लोगों का 'उत्तम जीवन' से क्या तात्पर्य था, जब धनिक वर्गों के ठूँस-ठूँसकर खानेवाले विलासी और कामुक लोगों के लिए यह कहा जाता था कि वे उत्तम जीवन बिताते हैं। सच बात तो यह है कि यदि कोई केवल हमारे धनिक वर्गों के जीवन के परंपरागत दृष्टिकोण को क्षण भर के लिए एक ओर रख दे और—मैं नहीं कहता धार्मिक दृष्टिकोण से विचार करे, बल्कि न्याय की अतिसाधारण व्यवस्था को सामने रखकर विचार करे तो उसे यकीन हो जाएगा कि न्याय अथवा औचित्य के स्पष्टतम नियमों की अवहेलना करते हुए, जैसी अवहेलना करना बच्चे खेल तक में ठीक नहीं समझते, हम धनिक वर्गों के लोगों को उत्तम जीवन की चर्चा करने का कोई अधिकार नहीं है।

हमारे समाज का कोई भी आदमी जो उत्तम जीवन बिताने की शुरुआत करना चाहे—नहीं, नहीं उत्तम जीवन बिताने की दिशा में थोड़ा भी आगे बढ़ने की ओर प्रवृत्ति हो, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह सबसे पहले बुरा जीवन व्यतीत करना त्याग दे, दुष्ट जीवन के उस वातावरण को ही नष्ट कर दे जिसके बीच वह घिरा हुआ रहता है।

हम अपने जीवन में सुधार न करने के लिए बहुधा यह दलील सुनते हैं कि जिस प्रकार का जीवन हम बिताते आए हैं उससे विपरीत कोई भी काम अस्वाभाविक और हास्यास्पद होगा। हमारे दिखावटीपन की इच्छा का द्योतक होगा—और इसलिए सत्कार्य न होगा। प्रतीत होता है यह दलील इसलिए जान-बूझकर गढ़ी गई है कि लोग अपने बुरे जीवन में परिवर्तन ही न कर पाएँ। यदि हमारा समस्त जीवन अच्छा, न्यायपूर्ण और दयालु हो, तभी सामान्य जीवन-पद्धति के अनुकूल होनेवाला कार्य सत्कार्य हो सकता है। यदि हमारा आधा जीवन अच्छा हो और शेष आधा जीवन

बुरा, तो सामान्य जीवन-पद्धति के प्रतिकूल पड़नेवाला कार्य अच्छा भी हो सकता है और नहीं भी। उस कार्य के अच्छे या बुरे होने की बराबर-बराबर संभावना रहती है' किंतु यदि जीवन सर्वथा बुरा और गलत हो जैसा कि उच्च श्रेणियों का होता है, ‹. मनुष्य जीवन की सामान्य धारा के विपरीत गए बिना कोई अच्छा काम कर ही नहीं सकता। जीवन-धारा के अनुसार चलकर वह बुरा काम तो कर सकता है किंतु अच्छा काम नहीं कर सकता।

जो मनुष्य हमारे धनिक वर्गों के जीवन का अभ्यस्त हो, वह जब तक बुरे वातावरण से, जिसमें वह डूबा रहता है, बाहर नहीं निकलता तब तक उत्तम जीवन नहीं बिता सकता; जब तक वह बुराई करना नहीं छोड़ देता, तब तक अच्छाई करना शुरू नहीं कर सकता। यह असंभव है कि मनुष्य भोग-विलास में रहकर सत्यतापूर्ण जीवन बिता सके। जब तक वह अपने जीवन में परिवर्तन नहीं करता, सत्य की ओर जाने वाली पहली सीढ़ी पर पैर नहीं धरता, तब तक सद्‌जीवन के लिए वह जो भी प्रयत्न करेगा, सब निष्फल जाएँगे। पौराणिक और इससे भी अधिक ईसाई मतानुसार उत्तम जीवन को एक ही तरीके से नापा जा सकता है। उसे हम गणित का तरीका कह सकते हैं। हमें यह देखना होगा कि मनुष्य खुद को कितना प्रेम करता है और दूसरों को कितना। हम खुद को ही जितना कम प्रेम करेंगे, अपने लिए कम चिंता करेंगे और अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के श्रम का कम उपयोग करेंगे तथा दूसरों से जितना अधिक प्रेम करेंगे, दूसरों की जितनी चिंता करेंगे, उनके लिए परिश्रम करेंगे, उतना ही हमारा जीवन उत्तम होगा।

संसार के सभी संतों ने अच्छाई का यही अर्थ समझा है, सभी सच्चे धार्मिक पुरुष ऐसा ही मानते हैं और आज जन-साधारण भी उसका ठीक यही अर्थ करते हैं। मनुष्य जितना ही अधिक दूसरों को देता है और दूसरों से जितना ही कम अपने लिए चाहता है, उतना ही वह श्रेष्ठ होता है। इसके विपरीत जितना ही कम वह दूसरों को देता है और अपने लिए अधिक चाहता है, उतना ही वह बुरा होता है।

जो मनुष्य दूसरों के लिए अपने दिल में अधिक-से-अधिक प्रेम-भावना रखता है और अपनी खुद की ओर से उदासीन रहता है, वह न केवल नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ हो जाता है, बल्कि वह अपनी जितनी ही कम चिंता करता है उतना ही उसके लिए श्रेष्ठ बनना सुगम होता है। इसके विपरीत जो मनुष्य अपने को जितना ही अधिक प्रेम करता है और फलस्वरूप दूसरों से जितनी ही अधिक सेवा लेता है उतनी ही उसके लिए दूसरों से प्रेम करने और उनकी सेवा करने की कम संभावना होती है और यह संभावना उतने ही अंशों में कम नहीं होती जितने अंशों में कि हमारी अपने प्रति प्रेम की मात्रा बढ़ी हुई होती है, बल्कि वह उससे कहीं अधिक कम हो जाती

है। जिस प्रकार कि यदि हम वजन करने के काँटे को लंबे सिरे से छोटे सिरे की ओर चलाएँ, तो इसके फलस्वरूप लंबा डंडा न केवल लंबा होगा, बल्कि छोटा, और भी छोटा हो जाएगा। इसी प्रकार यदि किसी आदमी में प्रेम करने का गुण है और वह अपने-आप से ज्यादा प्रेम करने लगता है, अपनी ज्यादा फिक्र करता है, तो दूसरों से प्रेम करने और दूसरों की चिंता करने की उसकी शक्ति कम हो जाएगी, न केवल उतनी मात्रा में जितनी मात्रा में कि उसने अपने प्रति अपना प्रेम बढ़ाया होगा, बल्कि उससे कहीं अधिक मात्रा में उसकी परसेवा की शक्ति कम हो जाएगी। एक मनुष्य दूसरों को खिलाने के बजाय खुद बहुत अधिक खा लेता है। इस प्रकार वह बचा हुआ भोजन दूसरों को देने की संभावना को ही कम नहीं करता बल्कि ज्यादा खा लेने से, दूसरों की मदद करने की अपनी शक्ति भी खो बैठता है।

दूसरों को केवल शब्दों द्वारा नहीं बल्कि वस्तुतः प्रेम करने के लिए मनुष्य को अपने से प्रेम करना छोड़ना होगा, केवल शब्दों द्वारा ही नहीं बल्कि वास्तव में भी। बहुत से उदाहरणों में होता यह है कि हम समझते हैं, हम दूसरों से प्रेम करते हैं। हम खुद भी ऐसा मान बैठते हैं और दूसरों को भी ऐसा ही यकीन दिलाते हैं, किंतु वास्तव में दूसरों के प्रति हमारा प्रेम शब्दों तक ही सीमित होता है, जबकि हम अपने-आपको वस्तुतः प्रेम करते हैं। दूसरों को भोजन खिलाना या आश्रय देना हम भूल जाते हैं, किंतु अपने लिए भोजन और आश्रय प्राप्त करना कभी नहीं भूलते। अतः दूसरों को सचमुच प्रेम करने के लिए हमको वस्तुतः अपने-आपको प्रेम करना भूलना होगा, जिस प्रकार हम दूसरों को भोजन कराना और आश्रय देना भूल जाते हैं, उसी प्रकार हमको खुद को भोजन करना और सोना भूल जाना पड़ेगा।

हम विलासी जीवन बिताने के अभ्यस्त स्व-भोगी व्यक्ति के लिए कहते हैं कि वह अच्छा आदमी है और उत्तम जीवन बिताता है। किंतु ऐसा व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो या पुरुष और चाहे उसमें चरित्रशीलता के कितने ही अच्छे गुण, नम्रता, अच्छा स्वभाव आदि क्यों न हो, अच्छा आदमी नहीं हो सकता और न अच्छा जीवन बिता सकता है; जिस प्रकार कि चाकू को जब तक धार न लगाई जाए, वह बढ़िया-से-बढ़िया धातु का और श्रेष्ठतम कारीगर के हाथों बना होने पर भी तेज नहीं हो सकता। अच्छा आदमी बनने और अच्छा जीवन बिताने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य जितना दूसरों से ग्रहण करे, उससे अधिक उन्हें लौटा दे। किंतु स्व-भोगी मनुष्य जो विलासी जीवन का अभ्यस्त होता है, ऐसा कर ही नहीं सकता। इसका पहला कारण तो यह है कि हमेशा उसको अपने लिए खूब सारे पदार्थों की जरूरत रहती है (यह उसकी स्वार्थपरता के कारण नहीं होता, बल्कि इसलिए होता है कि वह भोग-विलास का अभ्यस्त होता है और जिन पदार्थों का वह अभ्यस्त होता है

उनसे वंचित रहना उसको कष्टकर प्रतीत होता है)। दूसरे, वह अन्य लोगों से जो कुछ प्राप्त करता है, उस सबका उपयोग करके अपने-आपको कमजोर और काम करने के अयोग्य बना लेता है और इस प्रकार दूसरों की सेवा करने में असमर्थ हो जाता है। एक स्वयं-भोगी मनुष्य, जो देर तक कोमल शय्या पर सोता है, गरिष्ठ और मिष्ठ पदार्थों का सेवन करता है, हमेशा स्वच्छ और वायुमान के अनुकूल कपड़े पहनता है, कभी मेहनत का काम नहीं करता, वह कुछ नहीं कर सकता।

हम अपने झूठ और दूसरों के झूठ के इतने अभ्यस्त होते हैं और दूसरों के झूठ को न देखना हमारे लिए इतना सुविधाजनक होता है ताकि वे हमारे झूठ को न देख सकें और जो लोग सर्वथा असंयत जीवन बिताते हैं, वही जब गुण-संपन्नता और कभी-कभी पवित्रता का दावा करते हैं तो हमको जरा भी आश्चर्य नहीं होता और हम उनके दावों की सत्यता में शंका नहीं करते।

एक आदमी है जो स्प्रिंगदार पलंग पर सोता है। उस पर दो गद्दे, गद्दों पर दो नरम, स्वच्छ चादर और खोलीदार तकिये पड़े होते हैं। पलंग के पास ही एक चटाई पड़ी रहती है ताकि बिछौने पर से उतरने पर पाँव ठंडे न हों, हालाँकि चप्पल जोड़ी भी पास ही धरी हुई रहती है। यहीं आवश्यक बर्तन रखे रहते हैं ताकि उसे मकान से बाहर न जाना पड़े। जो कुछ गंदगी वह करता है, वह उठा ली जाती है और सब साफ-सुथरा बना दिया जाता है। खिड़कियों पर पर्दे पड़े रहते हैं ताकि धूप उसको जगा न सके। वह जब तक इच्छा होती है, सोता रहता है इस सबके अलावा ऐसे उपाय किए जाते हैं, ताकि कमरा सर्दी में गरम और गर्मी में सर्द रहे और मक्खियों और कीट-पतंगों के शोर से उसकी शांति भंग न हो। वह सोता होता है, तभी उसके हाथ-मुँह धोने और कभी-कभी नहाने के लिए ठंडा और गर्म पानी और हजामत बनाने का सामान तैयार कर लिया जाता है। चाय और कहवा भी बना लिया जाता है, क्योंकि उठते ही स्फूर्तिदायक पेय की जरूरत होती है। बूट, जूते आदि जो पिछले दिन धूल से भर जाते हैं, पहले ही साफ कर लिए जाते हैं। धूल का एक कण भी उन पर बाकी नहीं रहता और वे काँच की भाँति चमकने लगते हैं। इसी प्रकार दूसरे पहनने के कपड़ों को भी, जो पिछले बिगड़ चुके होते हैं, साफ किया जाता है। इन कपड़ों की बनावट न केवल सर्दी-गर्मी, बल्कि बसंत, पतझड़, वर्षा, शीत और ग्रीष्म आदि सभी ऋतुओं के अनूकूल होती है। साफ कपड़ा धोकर, कलफ लगाकर और इस्तरी चढ़ाकर तैयार रखा जाता है। बटन, बटन के छेद, आदि ठीक हैं या नहीं, इस बात को खासतौर पर नियुक्त लोग पहले ही देख लेते हैं।

यदि वह आदमी क्रियाशील हुआ तो वह प्रातःकाल जल्दी 7 बजे उठ जाता है। उसके जागने का समय उन लोगों से दो-तीन घंटे बाद होता है जो उसके लिए

यह सब तैयारियाँ करते रहते हैं। दिन में पहनने के कपड़ों और रात को ओढ़ने के कपड़ों के अलावा कपड़े पहनने के समय काम में आनेवाले कपड़े और जूते अलग होते हैं। उठने के बाद वह अपनी सफाई करना शुरू करता है। वह कई प्रकार के ब्रुश, साबुन और भारी मात्रा में पानी का उपयोग करता है (कुछ स्त्री-पुरुष अत्यधिक मात्रा में साबुन और पानी इस्तेमाल करने में खास गौरव अनुभव करते हैं।) इसके बाद वह पोशाक पहनता है, एक खास दर्पण के सामने बालों को सँवारता है। यह काँच उन काँचों से भिन्न होता है जो उसके बँगले के हर कोने में टँगे होते हैं। फिर वह अपनी आवश्यकता की चीज चश्मा आदि लेता है, अलग-अलग जेबों में अलग-अलग चीजें रखता है। एक जेब में नाक साफ करने के लिए साफ-सुथरा जेबी रूमाल रखता है, दूसरी में जंजीरवाली घड़ी डालता है, हालाँकि हर कमरे में जहाँ भी उसे जाना होता है घड़ी मौजूद होती है, नोट, रुपया और रेजगी लेता है। (बहुधा रेजगी वह खास किस्म की डिब्बी में रखता है, ताकि आवश्यक सिक्का निकालने में उसे कष्ट न हो, चेक बुक भी वह साथ रखता है, अपने नाम के छपे हुए कार्ड भी उसके पास रहते हैं, ताकि उसे अपना नाम बताने का कष्ट न करना पड़े। पाकेट बुक और पेंसिल लेना भी वह नहीं भूलता। औरतों के नहाने-धोने का काम तो और भी पेचीदा होता है। उन्हें अपने-आपको सँवारने के लिए अनेक प्रकार की चीजों की आवश्यकता होती है।) अंत में साज-शृंगार समाप्त हो जाता है और आमतौर पर खाने के साथ दिन की शुरुआत होती है। चाय और कहवा बहुत सारी शक्कर मिलाकर पिए जाते हैं। बढ़िया- से-बढ़िया सफेद आटे की बनी हुई रोटी मक्खन की भारी मात्रा के साथ खाई जाती है। कभी-कभी अंडे, मांस आदि का भी सेवन किया जाता है। पुरुष इस बीच में अधिकतर सिगार या सिगरेट पीते और ताजा खरीदकर लाए हुए समाचार-पत्र पढ़ते हैं। इसके बाद गंदे और अव्यवस्थित बने कमरे को ठीक करने का भार दूसरों पर छोड़कर दफ्तर या काम-धंधे पर जाते हैं अथवा ऐसी गाड़ियों में निकल पड़ते हैं जो ऐसे लोगों को इधर-उधर ले जाने के लिए खासतौर पर बनाई जाती हैं। इसके बाद कत्ल किए जानवरों, पक्षियों और मछलियों का उपयोग होता है फिर दुपहर का भोजन होता है। इसमें यदि वह बहुत साधारण हुआ तो भी तीन दौर होते हैं। फिर स्प्रिंगदार नरम आरामकुर्सियों में बैठकर ताश खेला जाता है, संगीत सुना जाता है, नाटक देखा जाता है, पढ़ा जाता है, या बातचीत की जाती है। मोमबत्ती, गैस और बिजली की केंद्रित और आवरण युक्त रोशनी जलती रहती है। इसके बाद फिर चाय का, सायंकाल के खाने का और सोने का नंबर आता है। बिछौना, झाड़-झूड़कर साफ कर दिया जाता है और बर्तन भी पुनः गंदे किए जाने के लिए धो-धाकर रख दिए जाते हैं।

साधारण जिंदगी बितानेवाले के दिन इस प्रकार गुजरते हैं। यदि वह अच्छे स्वभाव का हो और उसमें कोई ऐसी आदत न हो जो उसके इर्द-गिर्द रहनेवालों को बुरी मालूम दे तो यह कहा जाता है कि यह आदमी उत्तम और सद्गुणी जीवन व्यतीत करता है।

किंतु उत्तम जीवन उसी मनुष्य का होता है जो दूसरों की भलाई करे, पर जो मनुष्य इस प्रकार रहने का अभ्यस्त हो क्या वह दूसरों का भला कर सकता है? मनुष्यों का भला करने के पहले उसे बुराई करना छोड़ना पड़ेगा। आप अंदाज लगावें कि ऐसा मनुष्य बहुधा अनजाने, दूसरों को कितनी हानि पहुँचाता है और आपको मालूम होगा कि वह भलाई करने से कोसों दूर है। वह जो बुराई करता है उससे छुटकारा पाने के लिए उसे अनेक वीरतापूर्ण काम करने पड़ेंगे, किंतु अपने वासना-परिपूर्ण जीवन के कारण वह ऐसे काम करने में अति असमर्थ बन जाता है। वह अपना लंबा कोट पहने फर्श पर नैतिक और शारीरिक दृष्टि से अधिक आराम की नींद सो सकता है और इस प्रकार गद्दे, स्प्रिंग और तकिये बनाने में जो श्रम और कष्ट होता है, उसकी बचत कर सकता है, कपड़े धोनेवाली नौकरानी के श्रम की भी बचत कर सकता है जो बच्चे पैदा करने और उनका लालन-पालन करने के बोझ के नीचे दबी होती है। जल्दी सोकर और जल्दी जागकर वह खिड़कियों के पर्दों और लैंप का खर्च बचा सकता है। जो कमीज वह दिन में पहनता है, उसी को पहने हुए रात में सो सकता है, फर्श पर नंगे पाँव चल सकता है और टट्टी-पेशाब के लिए चौक में जा सकता है। नल पर हाथ-पाँव धो सकता है। एक शब्द में कहें तो वह ठीक उन्हीं की तरह रह सकता है जो उसकी सेवा करते हैं और इस प्रकार इन सब कामों की बचत कर सकता है जो उसके लिए किए जाते हैं। उसके कपड़ों, बढ़िया भोजन और मनोरंजन पर जो श्रम होता है, उसे वह बचा सकता है और वह यह जानता है कि किन परिस्थितियों में यह श्रम होता है, उसको करने में किस प्रकार मनुष्य नष्ट होते हैं, कष्ट उठाते हैं और बहुधा उन लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं जो उनकी गरीबी का लाभ उठाकर उनको काम करने के लिए विवश करते हैं। ऐसी दशा में वह मनुष्य अपने भोग-विलासमय जीवन को तिलांजलि दिए बिना किस प्रकार दूसरों का भला कर सकता है, सद्जीवन व्यतीत कर सकता है?

किंतु दूसरे लोग हमारी नजरों में कैसे लगते हैं, इसका जिक्र हम छोड़ दें। हमको तो खुद अपनी ही ओर देखना और विचार करना चाहिए।

मैं इस एक ही बात को बार-बार दुहराऊँगा, चाहे लोग मेरे शब्दों के प्रति उदासीनता और विरोध-सूचक मौन का ही परिचय क्यों न दें? एक नीतिमान मनुष्य, जो आराम की जिंदगी गुजारता है, वह और मध्यम वर्ग का आदमी भी निश्चित

होकर नहीं बैठ सकता, (मैं उच्च वर्गों के व्यक्तियों का जिक्र नहीं करूँगा, जो अपनी मनमानी इच्छाओं को पूरा करने के लिए नित्य सैकड़ों दिनों के परिश्रम का फल हड़प कर जाते हैं। क्योंकि वह जानता है कि जिन पदार्थों का वह उपयोग करता है वे पददलित श्रमजीवियों के श्रम से तैयार होते हैं। ये श्रमजीवी, जो अज्ञानी, शराबी, व्यभिचारी और असभ्य जीव होते हैं, खानों ,कारखानों और खेतों में काम करते हैं और उसके उपयोग में आनेवाले पदार्थों का उत्पादन करते हैं।

इस क्षण जो मैं लिख रहा हूँ और आप जो इसको पढ़ेंगे—आप कोई भी क्यों न हों—आप और मैं दोनों स्वास्थ्यकर, पर्याप्त और संभवतः विपुल और स्वादिष्ट भोजन पाते हैं। हमें साँस लेने के लिए शुद्ध और गर्म हवा मिलती है, हमारे पास सर्दी और गर्मी के कपड़े हैं, मनोरंजन के विविध साधन उपलब्ध हैं और इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि हमारे पास दिन में अवकाश है और रात में हम चैन की नींद सो सकते हैं। और यहीं, हमारी बगल में ऐसे श्रमजीवी लोग रहते हैं, जिन्हें न तो स्वास्थ्यकर भोजन मिलता है और न स्वास्थ्यकर मकान, न काफी कपड़े मिलते हैं और न मनोरंजन के साधन ही नसीब होते हैं, और जो न केवल अवकाश से ही बल्कि आराम से भी वंचित रहते हैं। वृद्ध, बालक और स्त्रियाँ जो श्रम, निद्रारहित रातों और रोग के कारण जर्जर हो चुके हैं, वे हमारे लिए आराम और विलास की वे चीजें तैयार करने में अपने जीवन खपा देते हैं जो उन्हें कभी नसीब नहीं होतीं और जो हमारे लिए आवश्यक नहीं बल्कि और जरूरी होती है। इसलिए एक नीतिमान मनुष्य जो ईसाई भी न हो लेकिन जो मानवी दृष्टिकोण रखता हो या केवल न्याय की कद्र करता हो, अपने जीवन में जरूर ही परिवर्तन करना चाहेगा और इन चीजों का उपयोग करना बंद कर देगा।

यदि एक आदमी के दिल में वास्तव में उन लोगों के प्रति दया की भावना पैदा होती है, तो स्वभावतः वह पहली बात यह करेगा कि तंबाकू पीना बंद कर देगा, क्योंकि यदि वह तंबाकू खरीदता और पीता रहेगा, तो वह तंबाकू बनाने के काम को प्रोत्साहन देगा जिससे कि मनुष्यों का स्वास्थ्य नष्ट होता है। अन्न पैदा करने में जो कठोर परिश्रम करना पड़ता है, उसके बावजूद अगर मनुष्य रोटी खाना जारी रखता है तो इसकी वजह यह है कि वह श्रम की परिस्थितियों के बदलने की प्रतीक्षा में, जो अनिवार्य है, उसे छोड़ नहीं सकता। लेकिन जो चीजें न केवल जरूरी ही नहीं होतीं, बल्कि गैर-जरूरी होती हैं उनके बारे में इसके अलावा और कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि यदि मैं अमुक चीजों को बनाने के काम में लगे हुए लोगों की हालत पर तरस खाता हूँ तो मुझे किसी भी दशा में उन चीजों को काम में लेने की आदत नहीं डालनी चाहिए।

किंतु आजकल लोग दूसरे ही ढंग की बहस करते हैं। वे तरह-तरह की और पेचीदा दलीलें गढ़ लेते हैं, किंतु उस बात का जिक्र तक नहीं करते, जो हरेक साधारण आदमी को स्वभावत: समझ में आ जाती है। इन लोगों के अनुसार विलासात्मक पदार्थों से दूर रहने की कोई आवश्यकता नहीं। एक आदमी श्रमजीवियों की दशा के प्रति सहानुभूति रख सकता है, उनके पक्ष में भाषण दे सकता है, पुस्तकें लिख सकता है और साथ ही उस श्रम से लाभ भी उठाता रह सकता है जो उसकी जानकारी में उन्हें बर्बाद करता रहता है।

एक दलील तो यह है कि मैं उस श्रम से जो श्रमजीवियों के लिए हानिकर है, लाभ उठा सकता हूँ, कारण यदि मैं न उठाऊँगा तो दूसरे उठाएँगे। यह तो ऐसी ही दलील हुई कि शराब मेरे लिए हानिकर है, फिर भी मुझे उसे पीना चाहिए, क्योंकि वह खरीद ली गई है और यदि मैं उसे न पीऊँगा, तो दूसरे लोग उसे पीएँगे।

दूसरी दलील यह है कि भोग-विलास की चीजें बनवाने से श्रमजीवियों को ही लाभ पहुँचता है, कारण इस तरह हम उनके लिए पैसा अर्थात् आजीविका सुलभ करते हैं। मानो हमारे पास उन्हें आजीविका देने का इसके सिवाय और कोई तरीका नहीं है कि हम उनसे ऐसी चीजें तैयार कराएँ जो उनके लिए तो हानिकर हों और हमारे लिए अनावश्यक।

किंतु एक तीसरी दलील और है और यह आजकल बहुत प्रचलित है। मानो श्रम का विभाजन हो चुका है और मनुष्य जिस भी काम में लगा हुआ है, चाहे वह सरकारी नौकर हो, पंडा-पुजारी हो, जमींदार हो, कारखानेदार हो अथवा व्यापारी हो, वह इतना उपयोगी है कि उससे श्रमजीवियों के उस श्रम की पूरी तरह पूर्ति हो जाती है जिससे वह लाभ उठाता है। एक राज्य-सेवा करता है, दूसरा मंदिर में पूजा करता है, तीसरा विज्ञान की, चौथा कला की और पाँचवाँ उन लोगों की सेवा करता है जो राज्य, विज्ञान और कला की सेवा करते हैं और सबको इस बात का दृढ़ विश्वास होता है कि वे मानव जाति को जो कुछ देते हैं, उसके द्वारा वे जो कुछ लेते हैं उसकी बिलाशक पूर्ति हो जाती है। और यह आश्चर्य की बात है कि किस प्रकार अपने कार्यों में वृद्धि किए बिना और अपनी भोग-विलास की जरूरतें बराबर बढ़ाते रहकर ये लोग यह मानते रह सकते हैं कि वे जो कुछ करते हैं, उससे वे जो कुछ उपयोग करते हैं उसकी पूर्ति हो जाती है।

किंतु यदि आप इन लोगों का एक-दूसरे के बारे में निर्णय सुनें तो आपको प्रतीत होगा कि हरेक व्यक्ति जितना उपयोग करता है उससे कहीं कम का अधिकारी है। सरकारी कर्मचारी कहते हैं कि जमींदार जितना खर्च करते हैं, उतनी कीमत का उनका काम नहीं होता। जमींदार व्यापारियों के बारे में और व्यापारी सरकारी

कर्मचारियों के बारे में यही कहते हैं। किंतु इससे उनको कुछ बाधा नहीं पहुँचती और वे लोगों को यह यकीन दिलाते रहते हैं कि उनमें से हरेक जितनी लोगों की सेवा करता है, उसी के अनुपात में दूसरे लोगों के श्रम से लाभ उठाता है। यह अदायगी काम से नहीं नापी जाती, किंतु काल्पनिक काम का मूल्य अदायगी के रूप में आँका जाता है। इस तरह वे एक-दूसरे को यकीन दिलाते हैं, किंतु वे अपने दिल के भीतर अच्छी तरह से जानते हैं कि उनकी सारी दलीलों से भी उनका समर्थन नहीं होता, वे श्रमजीवियों के लिए आवश्यक नहीं हैं। वे जो इन लोगों के श्रम का लाभ उठाते हैं, वह श्रम विभाजन के कारण नहीं, बल्कि इसलिए है कि उनके पास ऐसा करने की शक्ति है और वे इतने बिगड़ चुके हैं कि उनके बिना उनका काम चलता ही नहीं।

यह सब गड़बड़ इसलिए पैदा होती है कि लोग यह समझ लेते हैं कि उत्तम जीवन के लिए आवश्यक प्रारंभिक गुण हस्तगत किए बिना उत्तम जीवन बिताया जा सकता है। और यह पहला गुण है—आत्म-संयम।

8

आत्म-संयम के बिना न तो उत्तम जीवन कभी संभव हुआ है और न हो सकता है। आत्म-संयम से पृथक् उत्तम जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। श्रेष्ठता की प्राप्ति का इसी से प्रारंभ होना चाहिए।

सद्गुणों का एक स्तंभ होता है और यदि कोई उसके शिखर पर पहुँचना चाहे तो उसको नीचे से नीचेवाली सीढ़ी से चढ़ना प्रारंभ करना चाहिए, और यदि मनुष्य अन्य सद्गुणों को प्राप्त करना चाहे तो उसे पहला गुण आत्म-संयम अथवा सादगी को अपनाना चाहिए।

ईसाई धर्म में आत्म-त्याग की कल्पना में ही आत्म-संयम का समावेश कर लिया गया था, फिर भी अन्य गुणों का सिलसिला नहीं रहा, और आत्म-संयम के बिना कोई भी अन्य ईसाई सद्गुण प्राप्त नहीं किया जा सकता है। ऐसा इसलिए नहीं है कि किसी ने यह नियम गढ़ा है, बल्कि इसलिए है कि स्थिति मूलत: ऐसी ही है।

किंतु आत्म-संयम भी, जो कि सद्जीवन की पहली सीढ़ी है, एकदम नहीं बल्कि क्रमश: ही प्राप्त किया जा सकता है।

आत्म-संयम का अर्थ है मनुष्य का वासनाओं से मुक्त होना, वासनाओं को सीमित और सरल बनाना। किंतु मनुष्य की वासनाएँ अनेक और विविध होती हैं और उनका सरलतापूर्वक सामना करने के लिए मनुष्य की मौलिक वासनाओं को,

जिनके आधार पर कि जटिल वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, पहले चुनौती देना चाहिए। उन जटिल वासनाओं को उसे पहले नहीं छेड़ना चाहिए जो मौलिक वासनाओं पर खड़ी होती हैं। कुछ तो जटिल वासनाएँ होती हैं जैसे कि शरीर को सँवारना, खेल-कूद, मनोरंजन, गपशप, पराई चर्चा आदि-आदि और कुछ मौलिक वासनाएँ होती हैं जैसे अतिमात्रा में भोजन करना, आलस्य और काम-वासना आदि। और मनुष्य को इन वासनाओं का प्रारंभ से ही सामना करना चाहिए, जटिल वासनाओं का नहीं, बल्कि मौलिक वासनाओं का, और सामना भी एक निश्चित क्रम से करना चाहिए। और यह क्रम तथ्यों के स्वरूप और मानव-विवेक की परंपरा दोनों ही के द्वारा निर्धारित होता है।

जो मनुष्य अत्यधिक खाता है, वह आलस्य से नहीं लड़ सकता और अति-पेटू आलसी मनुष्य काम-वासना का कभी सामना नहीं कर सकता। इसलिए सभी नैतिक शिक्षाओं के अनुसार आत्म-संयम की दिशा में आगे बढ़ने के लिए मनुष्य को सबसे पहले जीभ की वासना से संघर्ष शुरू करना चाहिए, व्रत-उपवास से शुरुआत करनी चाहिए, किंतु हमारे जमाने में लोगों ने श्रेष्ठ जीवन प्राप्त करने के लिए आवश्यक प्रत्येक गंभीर साधन को इतने अर्से से और इस पूरी तरह गँवा दिया है कि पहला सद्गुण आत्म-संयम, जिसके बिना और कोई सद्गुण प्राप्त नहीं किया जा सकता, न केवल अनावश्यक समझा जाता है, बल्कि उस क्रम की भी उपेक्षा की जाती है जो इसे प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। व्रत-उपवासों को बिल्कुल भुला दिया जाता है अथवा मूर्खतापूर्ण अंध-विश्वास और अनावश्यक समझा जाता है।

यह सब होने पर भी आत्म-संयम सद्जीवन की पहली शर्त है, उसी प्रकार व्रत-उपवास संयमित जीवन की पहली शर्त है।

बिना व्रत-उपवास किए मनुष्य उत्तम बनने की इच्छा कर सकता है, श्रेष्ठता के स्वप्न देख सकता है, किंतु व्रत-उपवास किए बिना श्रेष्ठ पुरुष बन सकना ठीक उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार कि मनुष्य अपने पाँवों पर खड़े हुए बिना आगे नहीं बढ़ सकता।

व्रत-उपवास सद्जीवन की पहली अनिवार्य शर्त है, इसके विपरीत अति मात्रा में भोजन करना, हमेशा बुरे जीवन का पहला चिह्न माना गया है और है भी। और दुर्भाग्य की बात यह है कि हमारे जमाने के अधिकांश मनुष्यों में बहुत बड़ी मात्रा में यह दुर्गुण पाया जाता है।

आप अपने आस-पास के और अपने समय के मनुष्यों को देखिए, आपको लटके हुए गालों और ठुड्डियोंवाले चेहरों पर, मांसल अंगों और बढ़े हुए पेटों पर, असंयत जीवन के अमिट चिह्न दिखाई देंगे। वस्तुस्थिति इससे अन्यथा हो भी नहीं

सकती। अपने जीवन पर विचार कीजिए और इस बात पर भी विचार कीजिए कि हमारे समाज में अधिकतर आदमियों का क्या लक्ष्य है, और अपने-आप से प्रश्न पूछिए—"इन बहुसंख्यक लोगों की दिलचस्पी का मुख्य विषय क्या है?" हम अपने वास्तविक हेतुओं को छिपाने और झूठे, बनावटी हेतु प्रकट करने के अभ्यस्त हो गए हैं अत: हमको यह भले ही आश्चर्यजनक प्रतीत हो किंतु आपको ज्ञात होगा कि उनके जीवन में स्वाद की तृप्ति, भोजन का आनंद ही मुख्य दिलचस्पी का विषय होता है। गरीब-से-गरीब लगाकर अमीर-से-अमीर तक, मेरे ख्याल से हरेक के जीवन में भोजन का आनंद ही मुख्य आनंद माना जाता है। गरीब श्रमजीवी लोगों को हम इसका अपवाद समझ सकते हैं, किंतु यह अपवाद उतने ही अंशों में होता है जितने अंशों में कि दरिद्रता उन्हें इस विकार के वशीभूत होने से दूर रखती है। ज्योंही उन्हें अवकाश और साधन मिल जाते हैं, त्योंही वे उच्च वर्गों की नकल करके स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट और मिष्ठ पदार्थ प्राप्त करते हैं और शक्ति भर खूब खाते-पीते हैं। जितना अधिक वे खाते हैं, उतना ही वे अपने-आपको न केवल सुखी बल्कि मजबूत और तंदुरुस्त ख्याल करते हैं। और उच्च वर्ग के लोग, जिनकी भोजन के विषय में ठीक यही धारणा होती है, उनके इस विश्वास को पुष्ट करते हैं। डॉक्टर लोग कहते हैं कि बहु-व्यय साध्य भोजन साँस सबसे अधिक स्वास्थ्यदायक होता है, और पढ़े-लिखे लोग इन डॉक्टरों का अनुसरण करके यह समझते हैं कि सुस्वादु, पोषक और सरलता से पच जानेवाला भोजन ही सुख और संतोष का कारण है, हालाँकि वे इस बात को छिपाने की कोशिश करते हैं।

धनी आदमियों के जीवन की ओर देखिए, उनकी बातचीत को सुनिए। दर्शन, विज्ञान, कला, कविता, संपत्ति का विभाजन, लोक कल्याण, बालकों की शिक्षा आदि कैसे बड़े-बड़े विषयों की वे चर्चा करते हैं किंतु अधिकतर लोगों के लिए यह सब चर्चा कोई अर्थ नहीं रखती—काम से असली काम के बीच अर्थात् दुपहर के भोजन और सायंकाल के भोजन के बीच उन्हें जो समय मिलता है उसको व्यतीत करने के लिए वे ऐसी चर्चाएँ करते रहते हैं, जबकि उनका पेट पूरी तरह भरा होता है और उनके लिए और अधिक खा सकना असंभव होता है। अधिकतर स्त्री-पुरुषों की, खासकर प्रारंभिक अवस्था के बाद, जीवित दिलचस्पी केवल इसी बात में रहती है कि कैसे खाया जाए, क्या खाया जाए तथा कब और कहाँ खाया जाये। कैसा भी गंभीर समारोह हो; उत्सव का प्रसंग हो, पूजा-पाठ का अवसर हो, उद्घाटन समारोह हो, भोजन कार्य-क्रम अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है।

यात्रा करनेवाले लोगों को देखिए। इन लोगों के उदाहरण में यह बात खासतौर पर प्रकट हो जाती है। अजायबघर, वाचनालय, धारा सभा के भवन—यह सभी बड़े

अच्छे स्थान हैं। किंतु हम खाना कहाँ खाएँगे ? सबसे बढ़िया खाना कहाँ मिलता है। जब लोग बढ़िया पोशाक पहने और सुगंधित इत्र और तेल लगाए फूलों के गुलदस्तों से सजी हुई मेज के चारों ओर भोजन के लिए एकत्र होते हैं तो कितनी प्रसन्नता के साथ वे अपने हाथों को रगड़ते हैं और मुस्कराते हैं।

यदि हम अधिकतर लोगों के दिलों में झाँक सकें, तो हमको उनकी सर्वोपरि इच्छा क्या ज्ञात होगी ? नाश्ते और भोजन की भूख! बचपन से लगाकर बड़ी उम्र तक के मनुष्य के लिए सबसे कठोर दंड क्या होता है ? खाने के लिए केवल रोटी और पीने के लिए पानी देना। वे कौन से कारीगर हैं जो सबसे ऊँचे वेतन पाते हैं ? रसोइए! घर की मालकिन की दिलचस्पी का मुख्य विषय कौन-सा होता है ? मध्यम वर्ग की स्त्रियों से बातचीत आमतौर पर किस विषय पर होती है ? यदि उच्च वर्गों के लोगों की बातचीत का झुकाव इसी ओर नहीं होता तो इसका यह कारण नहीं कि वे ज्यादा शिक्षित होते हैं अथवा अधिक उच्च विषयों की चर्चा में जुटे रहते हैं, बल्कि इसका कारण यह है कि उन्हें ऐसा नौकर या रसोइया मिला होता है जो भोजन संबंधी चिंताओं से उन्हें मुक्त रखता है। किंतु एक बार आप उन्हें इस सुविधा से वंचित कर दीजिए, तो आपको मालूम हो जाएगा कि उन्हें किस बात की चिंता होगी। सारी चर्चा भोजन के विषय पर आकर समाप्त हो जाती है। बटेर की कीमत क्या है ? कहवा सबसे अच्छा कैसे बनाया जाता है, मीठी रोटियाँ कैसे पकाई जाती हैं आदि-आदि। नामकरण संस्कार के लिए, शादी या गमी के मौके पर, पूजा-पाठ के निमित्त, मित्र के आगमन या विदायगी के अवसर पर, यादगार दिवस मनाने के लिए, किसी महान वैज्ञानिक, दार्शनिक या महात्मा की जन्म या मृत्यु तिथि मनाने के लिए लोग इकट्ठे होते हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो वे अत्यंत उच्च उद्देश्यों में संलग्न हों। वे कहते ऐसा ही हैं, किंतु यह तो केवल दंभ होता है। वे सब इस बात को जानते हैं कि उक्त अवसरों पर अच्छा खाने और पीने को मिलेगा और इस बात को लेकर वे मुख्यत: एकत्र होते हैं। ऐसे अवसरों के लिए कई दिन पहले से जानवरों की हत्या की जाती है, टोकरों खाने-पीने का सामान खरीदा जाता है। रसोइए और उनके सहायक, भोजन के घर में काम करनेवाले लड़के और लड़कियाँ, साफ कलफदार कुर्ते पहने और टोपियाँ लगाए हुए काम में जुटे रहते हैं। मुख्य रसोइए जिनको सात-सात और आठ-आठ सौ मासिक वेतन मिलता है, हिदायतें देते रहते हैं। रसोइये भोजन के पदार्थों को काटने, गूँदने, भूनने, जमाने और सँवारने में लगे रहते हैं। इतनी ही गंभीरता और महत्त्व के साथ समारोह का मुख्य व्यवस्थापक एक कलाकार की भाँति व्यस्त रहता है। वह अनुमान लगाता है, सोचता है और अपनी आँख से व्यवस्था करता रहता है। फूलों की देखभाल करने का काम एक माली को

सुपुर्द होता है। बर्तन माँजने और धोनेवाली नौकरानियाँ अलग काम करती रहती हैं। आदमियों की फौज-की-फौज काम में जुटी रहती है, हजारों काम के दिनों की मेहनत का फल निगल लिया जाता है और यह सब इसलिए होता है कि लोग इकट्ठे हों और किसी विज्ञान के महापंडित या धर्मगुरु की चर्चा करें, या किसी मृतक मित्र की यादगार मनावें या किसी नवविवाहिता दंपती का जीवन में प्रवेश करने के अवसर पर अभिनंदन करें।

मध्यम और निम्न श्रेणियों में तो यह बात बिल्कुल प्रकट रूप में पाई जाती है कि प्रत्येक त्यौहार और शादी-गमी का उपयोग पेट-पूजा के लिए होता है। उनमें इन प्रसंगों का यही अर्थ समझा जाता है। लोगों के एकत्र होने का अर्थ भोजन का आनंद लूटना होता है। यह तथ्य इतना व्यापक है कि यूनानी और फ्रांसीसी भाषा में 'शादी' और 'दावत' शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। किंतु धनिक लोगों की उच्च श्रेणियों में, खासकर सुसंस्कृत लोगों में, जो एक अर्से से संपत्ति के स्वामी चले आए हैं, बड़े कौशल के साथ इस बात को छिपाया जाता है और ऐसा प्रकट किया जाता है कि भोजन गौण विषय है और केवल दिखावे के लिए आवश्यक होता है। और यह बहाना आसान भी होता है, कारण अधिकतर उदाहरणों में अतिथि लोग सच्चे अर्थों में तृप्त होते हैं, वे कभी भी भूखे नहीं होते।

वे यह दंभ करते हैं कि भोजन उनके लिए जरूरी नहीं है, बल्कि एक बोझ है, किंतु यह झूठ है। भोजन की बढ़िया तश्तरियों के बजाय, रोटी और पानी का जिक्र छोड़िए, आप उन्हें मामूली पकौड़ियाँ या अरारोट का पानी या इसी किस्म की अन्य खाने की चीजें देकर देखिए, तो कैसा तूफान उठ खड़ा होगा और किस प्रकार वास्तविक सत्य प्रकट हो जाएगा अर्थात् यह मालूम हो जाएगा कि एकत्रित लोगों की दिलचस्पी का मुख्य विषय पेट-पूजा है, न कि वह जो प्रकट किया जाता है।

लोग क्या बेचते हैं, इस पर नजर डालिए। नगर में जाकर देखिए लोग क्या खरीदते हैं। साज-शृंगार की चीजें और पेट-पूजा की सामग्री। और वास्तव में इसके सिवाय अन्यथा हो ही नहीं सकता। भोजन के बारे में सोचना तभी बंद हो सकता है, इस विकार को तभी वश में किया जा सकता है, जब मनुष्य आवश्यकता पूर्ति के अलावा कुछ न खाए। किंतु जब मनुष्य आवश्यक हो जाने पर ही अर्थात् पेट ठसाठस भर चुकने के बाद ही खाना बंद करता है तो हालत जैसी है उससे अन्यथा नहीं हो सकती। यदि भोजन के आनंद का उपयोग करना चाहें, यदि इस आनंद के प्रति उनके मन में गहरी आसक्ति हो, यदि वे इसको अच्छा समझें (जैसा कि इस जमाने के अधिकतर आदमी समझते हैं, चाहे वे शिक्षित हों या अशिक्षित) तो इस आनंद के विस्तार की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती, उसे चाहे जितना बढ़ाया जा

सकता है। आवश्यकता पूर्ति की सीमा हो सकती है किंतु आनंद की कोई सीमा नहीं। हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रोटी, चावल, दाल और शाक-भाजी जरूरी और काफी हो सकते हैं, किंतु आनंद की पूर्ति के लिए नाना भाँति के व्यंजन भी काफी नहीं हो सकते।

रोटी आवश्यक और काफी खाद्य है। (यह इस बात से सिद्ध है कि केवल रोटी खाकर करोड़ों आदमी मजबूत, क्रियाशील, तंदुरुस्त रहते हैं और कठोर परिश्रम करते हैं।) किंतु रोटी को किसी स्वादिष्ट पदार्थ के खाने में ज्यादा आनंद आता है। रोटी को यदि मांस के उबले हुए पानी में भिगो दिया जाए तो वह अच्छी लगती है। यदि इस पानी में कुछ तरकारी या तरकारियाँ मिला दी जाएँ तो और भी अच्छा रहता है। मांस खाने में अच्छा लगता है, किंतु मांस उबाला हुआ नहीं, बल्कि भूना हुआ अच्छा होता है। मक्खन के साथ वह और भी अच्छा लगता है। मांस के कुछ खास हिस्से विशेष पसंद किए जाते हैं। इसके साथ तरकारियाँ और दाल वगैरा और शामिल कर लीजिए। फिर शराब भी पीजिए; लाल शराब ज्यादा अच्छी होती है। मनुष्य को इससे अधिक कुछ न चाहिए, किंतु यदि शोरबे में अच्छी तरह भीगी हुई मछली मिल जाए तो सफेद शराब के साथ वह भी निगली जा सकती है। अब तो ऐसा मालूम देगा मानो आदमी और कुछ न खा सकेगा चाहे कितना ही बढ़िया या स्वादिष्ट पदार्थ सामने क्यों न आ जाए। किंतु एक मीठी तश्तरी फिर भी पेट में डाल ली जा सकती है। गर्मियों में तरह-तरह के बर्फ और सर्दियों में उबले हुए फल और सुरक्षित पदार्थ वगैरा-वगैरा। यह हुआ हमारा भोजन, साधारण भोजन। ऐसे भोजन के आनंद में भारी वृद्धि की जा सकती है, भोजन के पहले उत्तेजक नाश्ते किए जा सकते हैं, दुपहरी की जा सकती है, स्वादिष्ट पदार्थों के भिन्न-भिन्न सम्मिश्रण तैयार किए जा सकते हैं, भोजन के कमरे को फलों से तथा अन्य प्रकार सजाया जा सकता है। भोजन के समय संगीत की व्यवस्था की जा सकती है।

और विचित्रता यह है कि जो आदमी इस प्रकार नित्य ठसाठस भोजन करते हैं, उन्हें बड़ी सरलता के साथ यह यकीन दिलाया जाता है कि वे फिर भी नैतिक जीवन बिता सकते हैं।

9

व्रत-उपवास उत्तम जीवन की एक आवश्यक शर्त है, किंतु सामान्य आत्म-संयम की भाँति व्रत-उपवास करने में भी यह प्रश्न पैदा होता है कि प्रारंभ हमको कहाँ से करना चाहिए? उपवास किस प्रकार किया जाए? कितनी बार खाया जाए? क्या खाया जाए? क्या न खाया जाए? और जिस प्रकार हम एक क्रम का पालन किए

बिना कोई काम नहीं कर सकते, उसी प्रकार हम यह जाने बिना कि भोजन के विषय में आत्म-संयम का प्रारंभ कहाँ से किया जाना चाहिए, हम उपवास नहीं कर सकते। उपवास! उपवास-विधि का विश्लेषण और उपवास का प्रारंभ कहाँ से किया जाए? यह ख्याल ही अधिकांश लोगों को हास्यास्पद और अटपटा प्रतीत होता है।

मुझे याद पड़ता है कि एक पादरी ने, जिसे अपनी मौलिकता पर अभिमान था, संन्यासियों के वैराग्य की टीका करते हुए मुझसे कहा था कि "हमारा ईसाई धर्म व्रत-उपवासों और कष्ट-सहन का धर्म नहीं है, बल्कि गो-मांस-सेवी धर्म है।" कहाँ तो सद्गुणों का समुच्चय ईसाई धर्म और कहाँ गो-मांस सेवन! अंधकार के एक लंबे युग के दौरान में और हर प्रकार के पथ-प्रदर्शन से वंचित रहने के कारण हमारे जीवन में इतने अटपटे और अनैतिक विचार घुस गए हैं। (खासकर उत्तम जीवन के निचले क्षेत्र में भोजन के विषय में, जिसके बारे में किसी ने ध्यान नहीं दिया) कि इस जमाने में हम धार्मिक जीवन और गो-मांस सेवन में कितना भारी अंतर है, यह भी नहीं समझ सकते।

धर्म और गो-मांस सेवन को एक पंक्ति में बिठाए जाने पर हमें जरा भी रोमांच नहीं होता, इसका केवल यही कारण है कि हम एक विचित्र परिस्थिति के शिकार बन चुके हैं। हमारी आँखें हैं, किंतु हम देखते नहीं, हमारे कान हैं, लेकिन हम सुनते नहीं। कोई ऐसी दुर्गंधि नहीं, ऐसी आवाज नहीं, ऐसी बीभत्सता नहीं कि जिसका मनुष्य इतना अभ्यस्त न हो जाए कि वह चूँ भी न करे, हालाँकि एक अनभ्यस्त मनुष्य को वह तुरंत खटकेगा। नैतिक क्षेत्र में भी ठीक यही बात होती है। धर्म और नैतिकता और गो-मांस सेवन का मेल यही सिद्ध करता है।

कुछ दिनों पहले मैंने टुला नगर के कसाई-घर को देखा। यह नए और सुधरे हुए तरीके पर बनाया गया है ताकि पशुओं को कम-से-कम कष्ट हो। वह शुक्रवार का दिन था। बहुत से पशु वहाँ मौजूद थे।

'भोजन विज्ञान' नाम की बढ़िया पुस्तक को पढ़ने से बहुत पहले ही मैं किसी कसाई घर को देखना चाहता था, ताकि मैं अपनी आँखों से उस प्रश्न की असलियत को देख सकूँ, जो निरामिष भोजन की चर्चा के समय उठाया जाता है। किंतु पहले तो मुझे ऐसा करने में लज्जा अनुभव हुई, क्योंकि जब आपको यह मालूम होता है कि अमुक स्थान पर पशुओं को काटा जाता है और आप उस कष्टकर कार्य को नहीं रोक सकते, जो उस उत्पीड़न को देखने में आपको लज्जा महसूस हुए बिना नहीं रह सकती। अतः मैं कसाई-घर को देखने की अपनी इच्छा को टालता रहा।

किंतु कुछ दिनों पहले मुझे सड़क पर एक कसाई मिला जो अपने घर से टुला लौट रहा था। वह कुशल कसाई न था और उसका काम छूरा भोंकना मात्र था। मैंने

उससे पूछा कि तुम जो पशुओं को मारते हो, उस पर तुमको क्या अफसोस नहीं होता? उसने मुझे वही जवाब दिया जो आम तौर पर दिया जाता है। "मैं क्या अफसोस करूँ? यह तो आवश्यक है।" पर जब मैंने उससे कहा कि मांस खाना जरूरी नहीं है बल्कि एक विलासिता है तो वह मुझसे सहमत हो गया और उसने स्वीकार किया कि उसे उन जानवरों के लिए अफसोस है। "लेकिन मैं करूँ क्या? मुझे अपनी रोटी तो कमानी ही पड़ेगी। पहले मुझे मारने में डर लगता था। मेरे पिता ने तो अपनी सारी उम्र एक मुर्गी के बच्चे तक को हलाल नहीं किया।" अधिकतर रूसी प्राण हरण करना पसंद नहीं करते, उन्हें दया आ जाती है और दया की भावना को वे 'डर' शब्द से प्रकट करते हैं। यह आदमी भी डरता था, किंतु अब नहीं डरता। उसने मुझे बताया कि कसाई-घर में अधिक काम शुक्रवार को होता है और काम बड़ी देर तक होता रहता है।

बहुत दिन हुए, जब मेरी एक निवृत्त हुए सिपाही से, जो कसाई का काम करता था, बातचीत हुई। जब मैंने उससे कहा कि मारना एक निष्ठुर काम है तो उसे आश्चर्य हुआ और उसने वही प्रचलित बात दुहराई कि यह तो विधि-विहित कार्य है। किंतु बाद में वह मुझसे सहमत हो गया और बोला—"खासतौर पर जब वे शांत होते हैं, पालतू पशु होते हैं। वे बिचारे हम पर विश्वास करके आते हैं। यह दृश्य बड़ा करुणाजनक होता है।" यह भयंकर स्थिति है। पशुओं की पीड़ा और मौत नहीं, बल्कि यह बात भयंकर है कि मनुष्य अकारण अपनी सर्वोच्च आत्मिक शक्ति—अपने ही जैसे जीवों के प्रति दया और सहानुभूति की भावना को कुचल देता है और अपनी भावनाओं की अवहेलना करके निर्दयी बन जाता है। और मनुष्य के दिल में किसी के प्राण न लेने के धार्मिक विधान ने कितना गहरा घर किया हुआ है।

एक बार जब मैं मास्को से गाँव के लिए पैदल रवाना हुआ, (टॉल्सटॉय अक्सर पैदल यात्रा किया करते थे। —अनुवादक) तो रास्ते में कुछ गाड़ीवानों ने, जो पास के जंगल में ईंधन लेने जा रहे थे, मुझे गाड़ी पर बैठ जाने के लिए कहा। मैं पहले नंबर की गाड़ी में बैठा हुआ था। गाड़ीवान एक मजबूत सुर्ख रंग का देहाती आदमी था। ऐसा मालूम होता था कि वह शराब पीता होगा, जब हम एक गाँव में दाखिल हुए तो हमने देखा कि एक मोटे-ताजे, नंगे, गुलाबी रंग के सूअर को कत्ल करने के लिए चौक में से घसीटकर ले जाया जा रहा है। वह बड़ी बुरी तरह चीख और चिल्ला रहा था और उसकी चीख-चिल्लाहट आदमी-सी मालूम देती थी। हमारे देखते-देखते लोग उसे मारने लगे। एक आदमी ने उसके गले में चाकू घुसेड़ दिया। सूअर और भी जोर और तीखी आवाज में चीखने लगा, आदमियों के पंजे से अपने-आपको

छुड़ाकर खून से लथपथ हुआ भाग निकला। मेरी नेत्रशक्ति कमजोर होने के कारण मैं सारी बातें न देख सका। मैंने सिर्फ सूअर का मनुष्य जैसा गुलाबी बदन देखा और उसकी विवश चीख-पुकार सुनी। किंतु गाड़ीवान ने सब बातों को बड़े ध्यानपूर्वक देखा। लोगों ने सूअर को पकड़ा, दबोचा और उसका गला काट डाला। जब सूअर की चीख-पुकार शांत हो गई तो गाड़ीवान ने एक लंबी साँस ली। वह बोला— "क्या मनुष्य को ऐसी बातों के लिए सचमुच जवाब नहीं देना पड़ता?"

हिंसा के विरुद्ध मनुष्य की भावना इतनी तीव्र है। किंतु उदाहरण से, लोभवृत्ति को प्रोत्साहन मिलने से, हिंसा परमात्मा द्वारा अनुमोदित मानी जाने के कारण और सबसे अधिक स्वभाववश लोगों से यह स्वाभाविक भावना पूर्णत: लुप्त हो जाती है।

शुक्रवार मैंने टुला जाने का निर्णय किया और अपने एक विनीत दयालु परिचित को साथ चलने के लिए कहा।

'हाँ, मैंने सुना है कि कसाई-घर की व्यवस्था अच्छी है और उसको देखने जाने का मेरा इरादा भी रहा है। किंतु यदि वहाँ जानवरों को कत्ल किया जा रहा होगा तो मैं भीतर न जाऊँगा।'

'क्यों नहीं? मैं यही तो देखना चाहता हूँ। यदि हम मांस खाते हैं तो जानवरों को तो मारा ही जाएगा।'

'नहीं, नहीं, मैं नहीं जा सकता।'

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि मेरा यह परिचित शिकारी था और खुद पशु-पक्षियों का शिकार करता था।

हाँ, तो हम कसाई घर पहुँचे। अहाते में घुसते ही हमको भारी वमनकारक, तीखी गंध का अनुभव हुआ। बढ़ई के सरेस या सरेस के वार्निश जैसी यह गंध थी। इमारत लाल ईंटों की थी, बहुत बड़ी थी, उसमें महराबदार छत और ऊँची-ऊँची चिमनियाँ थीं। हम फाटक के भीतर दाखिल हुए। दाहिने हाथ की ओर एक विशाल बाड़ा था— कोई तीन-चौथाई एकड़ होगा। सप्ताह में दो बार जानवर बिक्री के लिए यहाँ लाए जाते हैं। इस बाड़े के पास ही द्वार-रक्षक का कमरा था। बाईं ओर के कमरे थे, वे जिनके महराबदार दरवाजे थे, ढालू फर्श कोलतार की थी और लाशों को हटाने तथा टाँगने के साधन बने हुए थे। द्वार-रक्षक के कमरे की दीवार के सामने बेंच पर आधे दर्जन कसाई बैठें हुए थे। उनके कपड़े खून से भरे हुए थे। उनकी चढ़ी हुई बाँहों से पता चलता था कि उनके बाजुओं पर भी खून के छींटे पड़े हुए हैं। उनको अपना काम खत्म किए आधा घंटा हो गया था, इसलिए हम उस दिन केवल खाली कमरों को ही देख सके। जिनमें दोनों ओर से खुले होने पर भी खून की तीखी गंध फैली हुई थी, फर्श

भूरे रंग का था और चमक रहा था। उसकी दरारों में काला खून जमा था।

एक कसाई ने पशुओं के कत्ल किए जाने की क्रिया हमको समझाई और व स्थान भी बताया जहाँ पशुओं को कत्ल किया जाता था। मैं उसकी बात को अच्छी तरह न समझ पाया और पशुओं के कत्ल किए जाने के बारे में गलत किंतु भयंकर खयाल बना बैठा। मैंने खयाल किया, जैसा कि अक्सर होता है, कि कल्पना की अपेक्षा वस्तु स्थिति का मुझ पर कम गहरा असर पड़ेगा। किंतु मेरा यह ख्याल ठीक न था।

अगली बार जब मैं कसाई-घर देखने गया तो समय पर पहुँच गया। उस दिन शुक्रवार था और वह जून का महीना था। जब मैं पहली मर्तबा कसाई-घर आया, उस समय की अपेक्षा इस समय सरेस और रक्त की गंध अधिक तीव्र और तीखी थी। काम पूरे जोरों पर था। रेतीला चौक जानवरों से भरा हुआ था और सब जानवर बाड़ों से हाँककर कत्लगाह के नजदीक ले आए गए थे।

अहाते के बाहर सड़क पर गाड़ियाँ पड़ी हुई थीं, जिनसे बैलों, बछड़ों और गायों को बाँधा हुआ था। दूसरी गाड़ियों को खींचने के लिए अच्छे घोड़े थे। इन गाड़ियों में जिंदा बछड़े भरे हुए थे। इनके सिर नीचे लटके हुए थे और इधर-से-उधर हिल रहे थे। ये गाड़ियाँ एक के बाद एक आ रही थीं और खाली की जा रही थीं। ऐसी कुछ गाड़ियाँ बैलों की लाशों को लिए हुए वापस लौट रही थीं। इनके काँपते हुए पैर बाहर छटपटा रहे थे। उनके सिर और चमकते हुए लाल फेफड़े और भूरे रंग के यकृत भी नजर आ रहे थे। अहाते के पास जानवरों को बेचनेवालों के घोड़े खड़े थे। बेचनेवाले खुद लंबे कोट पहने हुए और हाथों में चाबुक तथा कोड़े लिए हुए चौक में इधर-उधर घूम रहे थे। वे या तो एक ही मालिक के जानवरों पर कोलतार से निशान लगा रहे थे, या सौदा कर रहे थे, या बैलों और साँडों को बड़े चौक से कत्लगाह को जाने वाले अहातों में हाँककर ले जा रहे थे। ये लोग प्रकटतः रुपए-पैसे का हिसाब लगाने और जोड़-बाकी करने में व्यस्त थे और इन जानवरों को मारना ठीक है या नहीं, यह ख्याल उनसे उतना ही दूर था, जितना कि यह प्रश्न कि कमरों की फर्श पर फैलने वाले रक्त का रासायनिक रूप कैसा होता है।

चौक में कसाई नजर न आते थे। वे कमरों के भीतर काम कर रहे थे। उस दिन करीब सौ पशुओं के सिर धड़ से जुदा किए गए। मैं एक कमरे के भीतर घुसने जा ही रहा था कि मुझे दरवाजे पर रुक जाना पड़ा। एक कारण तो यह हुआ कि कमरा लाशों से पटा पड़ा था। इन लाशों को हटाया जा रहा था; दूसरे फर्श पर खून भी बह रहा था और ऊपर से भी टपक रहा था। सब-के-सब कसाई जो वहाँ मौजूद थे खून से भरे हुए थे और मैं भी यदि भीतर दाखिल हो गया होता तो खून से भरे बिना न

रहता। एक लटकी हुई लाश को नीचे उतारा जा रहा था, दूसरी दरवाजे की ओर ले जाई जा रही थी, एक तीसरा कत्लशुदा बैल अपनी सफेद टाँगों को ऊपर उठाए हुए पड़ा था और एक कसाई मजबूत हाथ से उसकी तनी हुई खाल को उतार रहा था।

जिस दरवाजे पर मैं खड़ा था, उसके सामनेवाले दरवाजे के भीतर एक बड़े लाल रंग के मोटे-ताजे बैल को ले जाया गया। दो आदमी उसको घसीट रहे थे, और वह मुश्किल से भीतर घुसा होगा कि मैंने एक कसाई को बैल की गर्दन के ऊपर छुरा उठाकर भोंकते हुए देखा। बैल मानो उसकी चारों टाँगों ने एकाएक जवाब दे दिया हो, पेट के बल जोर से गिर पड़ा और अपनी पिछली टाँगों और सारे पिछले हिस्से को छुड़ाने की कोशिश करने लगा। दूसरा कसाई फौरन बैल पर तड़फड़ाती हुई टाँगों के सामने की ओर से झपटा, उसके सींगों को पकड़ लिया और उसके सिर को मरोड़कर जमीन पर रख दिया। इसी दूसरे कसाई न छूरे से उसके गले को काट डाला। सिर के नीचे मैले लाल खून का फव्वाग फूट निकला, जिसे खून से लथपथ हुए एक लड़के ने टिन के पीपे में भर लिया। जब तक यह सब होता रहा तब तक बैल लगातार अपने सिर को मरोड़ता रहा मानो वह उठने की कोशिश कर रहा हो और अपनी चारों टाँगों को हवा में हिलाता रहा। टिन का बर्तन जल्दी से भरता जा रहा था, किंतु बैल अब भी जीवित था। उसका पेट जोर-जोर से साँस ले रहा था। उसके अगले और पिछले पाँव इतनी तेजी से तड़फड़ा रहे थे कि कसाइयों ने अलग खड़े रहने में ही खैर समझी। जब एक बर्तन भर चुका तो लड़का उसे अपने सिर पर रखकर उठा ले गया। इस बीच दूसरे लड़के ने एक और बर्तन बैल के सिर के पास रख दिया। यह बर्तन भी तेजी के साथ भरने लगा। किंतु फिर भी बैल अपने शरीर को हिला और पिछली टाँगों को पछाड़ रहा था।

जब खून गिरना बंद हो गया तो कसाई ने जानवर का सिर उठाया और खाल उतारने लगा। बैल अब भी मरोड़े खा रहा था। उसका सिर खाल उतार लिए जाने के बाद सुर्ख नजर आता था और बीच-बीच में सफेद नसें दिखाई दे रही थीं। जिस जगह कसाई ने उसे टिका दिया, वहीं वह पड़ा रहा। दोनों तरफ खाल लटक रही थी। किंतु फिर भी बैल का मरोड़े खाना बंद न हुआ। तब एक दूसरे कसाई ने उसकी एक टाँग पकड़कर तोड़ डाली और काटकर जुदा कर दी। शेष टाँगों और पेट में मरोड़े फिर भी जारी थे। दूसरी टाँगें भी काटकर अलग फेंक दी गईं जहाँ उसी मालिक के दूसरे बैलों की टाँगें पड़ी हुई थीं। इनके बाद लाश को घसीटकर टाँगने की जगह पर ले जाया गया और टाँग दिया गया। अब मरोड़े बंद हो चुके थे।

इस प्रकार मैंने दरवाजे से दूसरे, तीसरे, चौथे बैल का हाल देखा। हर बैल की समान दशा होती थी। कटी हुई जीभ सहित सिर काट लिया जाता था और कटे हुए

अंग उसी प्रकार मरोड़े खाते रहते थे। अंतर था तो केवल यही कि कसाई हमेशा एकदम वार नहीं करता था जिससे कि जानवर गिर पड़े। कभी-कभी निशाना चूक भी जाता था। जब ऐसा होता बैल उछलता, चीखता और खून से लथपथ हुआ भागने की कोशिश करता। किंतु उस दशा में उसका सिर एक डंडे के नीचे खींच लिया जाता, दुबारा वार किया जाता और वह गिर पड़ता।

बाद में मैं उस दरवाजे के भीतर घुसा, जहाँ बैलों को ले जाया जाता था। यहाँ भी मैंने वही बात देखी। और चूँकि यहाँ मैं नजदीक से देख सका, इसलिए ज्यादा साफ-साफ देख पाया। हर बार जब भी अहाते में किसी बैल को पकड़ा जाता और उसे सींगों पर रस्सी बाँधकर आगे खींचा जाता, तथा वह खून की गंध से भड़ककर आगे बढ़ने से इनकार कर देता और कभी-कभी चीखने लगता और पीछे हट आता। दो आदमी सारा जोर लगाकर भी उसको आगे न घसीट पाते, अतः कोई कसाई हर बार घूमकर जाता, जानवर की पूँछ पकड़ता और उसको इतने जोर से मरोड़ता कि पूँछ की हड्डी कड़कड़ा उठती और बैल आगे बढ़ जाता।

जब कसाई लोग एक मालिक के जानवर का खात्मा कर लेते तो दूसरे मालिक के जानवरों का नंबर आता। दूसरे झुंड में पहला जानवर बैल न था, बल्कि साँड़ था बढ़िया किस्म का, अच्छी नस्ल, टाँगों पर सफेद धब्बे थे, जवान था, गठीले शरीरवाला और जीवन से भरा-पुरा। उसे आगे घसीटा गया, किंतु उसने अपना सिर नीचे झुका लिया और दृढ़तापूर्वक मुकाबला किया। तब जो कसाई उसके पीछे आ रहा था उसने उसकी पूँछ पकड़ी, जिस प्रकार कि एक इंजिन ड्राइवर सीटी के हत्थे को पकड़ता है, उसको मरोड़ा, पूँछ की हड्डी कड़कड़ाई और साँड़ आगे की ओर झपटा और जो लोग रस्सी पकड़े हुए थे वे अस्त-व्यस्त हो गए। वह फिर रुक गया, अपनी काली आँखों से अगल-बगल देखने लगा। उसकी आंखों के सफेद हिस्सों में खून उतर आया था। किंतु पूंछ फिर कड़कड़ाई गई और साँड़ आगे झपटा और निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गया। वार करने वाला आगे आया, निशाना साधा और प्रहार किया। किंतु निशाना चूक गया। साँड़ उछला, सिर को धड़धड़ाया, चीखा और खून से लथपथ हुआ रस्सी तुड़ाकर पीछे भाग निकला। दरवाजे पर खड़े हुए आदमी दूर जा खड़े हुए। किंतु अनुभवी कसाइयों ने खतरों का मुकाबला करने के अभ्यस्त आदमियों के समान सूझ से काम लेकर जल्दी से रस्सा पकड़ लिया, पुनः मरोड़ने की क्रिया दुहराई गई और साँड़ कत्लगाह में जा पहुंचा। वहां उसको खींचकर डंडे के नीचे ले जाया गया, जहाँ से वह फिर न बच सका। वार करनेवाले ने ठीक उस जगह निशाना दागा जहाँ बाल तारे की भाँति अलग नजर आते हैं और हालाँकि खून बह रहा था, फिर भी उसने वह जगह मालूम कर ली और प्रहार किया। वह सुंदर

जानवर, जो जीवन से भरा हुआ था, लड़खड़ाकर गिर पड़ा। जब तक खून इकट्ठा किया जाता रहा और सिर की खाल उतारी जाती रही, तब तक उसका सिर और पाँव मरोड़े खाते रहे।

कसाई सिर की खाल उतारते-उतारते बड़बड़ा रहा था—"अभागा दुष्ट सीधा भी तो नहीं गिरा।" पाँच मिनट में सिर की खाल उतार ली गई। सिर सुर्ख के बजाय काला पड़ गया। पाँच मिनट पहले जो आँखें इस कदर भव्य प्रकाश में चमक रही थीं, अब स्थिर और जड़ हो गईं।

इसके बाद मैं उस हिस्से में गया जहाँ छोटे जानवर कत्ल किए जाते थे। यह बहुत बड़ा कमरा था, फर्श कोलतार का था। कमरे में पीठवाली मेजें पड़ी हुई थीं। इन पर भेड़ों और बछड़ों को कत्ल किया जाता था। यहाँ काम पहले ही खत्म हो चुका था। इस लंबे कमरे में, जहाँ खून की गंध भरी हुई थी, सिर्फ दो कसाई मौजूद थे। एक तो मुर्दा भेड़ के बच्चे की टाँग में हवा भर रहा था और फूले हुए पेट को अपने हाथ से थपथपा रहा था। दूसरा कसाई नौजवान था। उसके पहनने के कपड़े खून से खराब हो गए थे। वह एक मुड़ी हुई सिगरेट पी रहा था। उसके अलावा इस लंबे अँधेरे और तीव्र गंध से परिपूर्ण कमरे में और कोई न था। मेरे बाद कमरे में एक आदमी और दाखिल हुआ। सूरत-शक्ल से वह निवृत्त सिपाही प्रतीत होता था। वह एक-डेढ़ साल का बिना खस्सी किया हुआ भेड़ का बच्चा लाया। उसका रंग काला था और गर्दन पर सफेद निशान थे। उसकी टाँगें बँधी हुई थीं। इस जानवर को एक मेज पर रखा, जैसे बिस्तर पर सुलाते हों। बुढ़े सिपाही ने कसाइयों से अभिवादन किया। ऐसा प्रतीत होता था कि उसकी इनसे पहले की पहचान रही होगी। वह उनसे पूछने लगा कि उनका मालिक उन्हें कब छुट्टी देता है। जो कसाई सिगरेट पी रहा था, चाकू लिए हुए आगे बढ़ा, मेज के कोने पर उसने धार लगाई और जवाब दिया कि छुट्टियों के दिन उन्हें काम नहीं करना पड़ता। जीवित भेड़ का बच्चा फूले हुए मुर्दा भेड़ के बच्चे के समान निश्चल पड़ा हुआ था। अंतर केवल इतना था कि वह अपनी छोटी दुम को जल्दी-जल्दी हिला रहा था और उसकी बगलें मामूली से अधिक तेजी के साथ फूल और बैठ रही थीं। सिपाही ने उसके उठे हुए सिर को धीरे से बिना किसी प्रयत्न के नीचे दबा दिया। कसाई ने, जो अब भी बातचीत कर रहा था, अपने बाएँ हाथ से भेड़ के बच्चे का सिर पकड़ा और उसका सिर काट डाला। भेड़ का बच्चा तड़फड़ाया और उसकी छोटी दुम सख्त हुई और हिलना बंद हो गया। कसाई खून गिरने की प्रतीक्षा में बुझी हुई सिगरेट को फिर से जलाने लगा। खून बह चला और भेड़ का बच्चा मरोड़े खाने लगा। बातचीत बिना किसी बाधा के जारी थी। सारा दृश्य बीभत्स था।

और उन मुर्गियों और मुर्गों के बच्चों का क्या जिक्र किया जाए जो अस्त-व्यस्त दशा में अपने पंखों को फड़फड़ाते हुए इधर-उधर डोलते रहते हैं और जिनका नित्य हजारों रसोईघरों में खून किया जाता है ?

इस पर मजा यह कि यह एक दयालु सुसंस्कृत महिला इन जानवरों की लाशों को इस पूरे भरोसे के साथ निगल जाती है कि वह जो कुछ कर रही ठीक कर रही है। साथ ही वह दो विरोधी बातें भी कहती है—

पहली बात तो वह कहती है उसके डॉक्टरों की राय में वह इतनी नाजुक है कि सिर्फ शाक-भाजी के आहार पर जीवित नहीं रह सकती और उसके कमजोर ढाँचे के लिए मांस नितांत आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि वह इतनी संवेदनशील है कि वह न केवल खुद जानवरों को पीड़ा नहीं देना चाहती, बल्कि उनकी पीड़ा को देख भी नहीं सकती।

किंतु वस्तुस्थिति यह है कि बिचारी यह महिला कमजोर तो इसलिए है कि उसे मनुष्यों की प्रकृति के विपरीत आहार खाने की आदत डाली गई और वह जानवरों के उत्पीड़न को इस कारण नहीं रोक सकती कि वह उनको खाती है।

10

हम यह दंभ नहीं कर सकते कि हम इस बात को नहीं जानते। हम शुतुरमुर्ग नहीं हैं और यह नहीं मान सकते कि यदि हम जिस चीज को न देखना चाहें, उसकी ओर से आँखें बंद कर लें तो उस चीज का अस्तित्व ही मिट जाएगा। जिस चीज को हम देखना नहीं चाहते, उस चीज को जब हम खाना चाहते हैं, तो यह बात खासतौर पर चरितार्थ होती है। किंतु मांस वस्तुत: अनिवार्य अथवा यदि अनिवार्य नहीं तो कम-से-कम किसी रूप में उपयोगी हो तब न! वह तो सर्वथा अनावश्यक है, वह पशु-वृत्तियों को बढ़ाता है, वासनाएँ जागृत करता है और व्यभिचार और शराबखोरी का प्रसार करता है। और इस कथन की इस सत्य से लगातार पुष्टि होती रहती है कि युवक, दयालु, विवेकशील व्यक्ति खासकर स्त्रियाँ और लड़कियाँ, अनजाने यह महसूस करते हैं कि गो-मांस-सेवन और सद्गुण परस्पर विरोधी तत्त्व हैं और ज्योंही वे भले बनने की इच्छा करते हैं मांस खाना छोड़ देते हैं।

जिन लोगों को इस कथन की सत्यता में शक हो उन्हें वैज्ञानिक और डॉक्टरों की इस विषय की पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए। डॉक्टर ए. हेग की 'भोजन और आहार' काम की छोटी पुस्तक अथवा 'यूरिक एसिड किस प्रकार रोड़ा पैदा करता है' शीर्षक विस्तृत वैज्ञानिक ग्रंथ पढ़ना चाहिए। इसमें यह सिद्ध किया गया है कि मांस मनुष्य के पोषण के लिए आवश्यक नहीं है। उन्हें पुराने ढर्रे के डॉक्टरों की

बात न सुनना चाहिए जो इस कथन को पुष्ट करते हैं कि मांस आवश्यक है सिर्फ इसलिए कि उनके पूर्वज ऐसा मानते थे और वे खुद भी ऐसा ही मानते हैं। यह डॉक्टर अपनी राय का ठीक उसी प्रकार दृढ़ता और द्वेषपूर्वक समर्थन करते हैं जिस प्रकार कि पुरानी और परंपरागत चीजों का समर्थन किया जाता है।

तो, फिर क्या कहना चाहता हूँ? क्या यह कि लोगों को नैतिक बनने के लिए मांस खाना छोड़ देना चाहिए? बिल्कुल नहीं।

मैं तो केवल यही कहना चाहता हूँ कि उत्तम जीवन के लिए सद्कार्यों का एक क्रम आवश्यक होता है, यदि मनुष्य गंभीरतापूर्वक सही जीवन बिताने का प्रयत्न करें तो उन्हें एक निश्चित क्रम का अनुसरण करना होगा और इस क्रम में आत्म-संयम, आत्म-निरोध पहला सद्गुण है जिसे प्राप्त करने की मनुष्य को कोशिश करनी चाहिए। और आत्म-संयम सिद्ध करने के लिए मनुष्य को अनिवार्यत: एक निश्चित क्रम का अनुसरण करना पड़ेगा और इस क्रम में पहला स्थान आहार विषयक संयम, अर्थात् उपवास को देना पड़ेगा। और यदि मनुष्य वस्तुत: उत्तम जीवन निर्वाह करने के लिए उत्सुक हुआ तो उपवास के सिलसिले में सबसे पहले मांस का परित्याग करेगा, क्योंकि मांस-सेवन से न केवल विकार जागृत होते हैं, बल्कि उसका उपयोग ही अनैतिक है। मांस के लिए एक ऐसा कार्य करना पड़ता है जो नैतिक भावनाओं के विपरीत होता है। उसके मूल में लोभ और स्वादु भोजन की इच्छा है।

मांस से क्यों परहेज करना चाहिए और उपवास और नैतिक जीवन के लिए मांस-निषेध क्यों पहला कदम है, यह बात 'भोजन और आहार' नामक पुस्तक में बड़ी योग्यतापूर्वक प्रतिपादित की गई है। सिर्फ एक आदमी ने ही नहीं, बल्कि मानवता के समस्त जागृत जीवन-काल में जितने भी श्रेष्ठ पुरुष हुए हैं उनके रूप में सारी मानव जाति ने उक्त सत्य का प्रतिपादन किया है।

किंतु यदि मांस-भोजन का अनौचित्य अर्थात् अनैतिकता मानवता को इतने लंबे अर्से से ज्ञात थी तो लोग इस नियम को अब क्यों न मानने लगे? यह प्रश्न उन लोगों द्वारा पूछा जाएगा, जो विवेक की अपेक्षा लोकमत से अधिक प्रभावित होते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मानवता की नैतिक प्रगति, जो अन्य सब प्रगतियों की मूलाधार होती है, हमेशा धीमी होती है। किंतु आकस्मिक नहीं, बल्कि वास्तविक प्रगति का चिह्न यह है कि वह बिना किसी बाधा के सतत होती रहे।

और निरामिष आहार आंदोलन की प्रगति इसी किस्म की है। यह प्रगति उपरोक्त में वर्णित लेखकों के शब्दों और मानव जाति के अमली जीवन में प्रदर्शित हुई है। मानव जाति अनेक कारणों से स्वयमेव मांसाहार से शाकाहार की ओर बढ़ी है और जान-बूझकर आंदोलन के उसी मार्ग पर जा रही है, जिसमें प्रकटत: बल

पाया जाता है और जो अधिकाधिक विस्तृत होता जा रहा है। यह आंदोलन निरामिष भोजी आंदोलन है। यह गत दस वर्षों में अधिकाधिक तेजी से आगे बढ़ा है। प्रतिवर्ष इस विषय पर अधिकाधिक पुस्तकें और पत्र प्रकाशित हो रहे हैं। ऐसे लोग अधिकाधिक हमारे देखने में आ रहे हैं जिन्होंने मांस-सेवन छोड़ दिया है। और विदेशों में खासतौर पर जर्मनी, इंग्लैंड और अमेरिका में शाकाहारी होटलों और विश्रांति-गृहों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ रही है।

इस आंदोलन पर उन लोगों को खासतौर पर प्रसन्नता होनी चाहिए जो पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसलिए नहीं कि निरामिषतावाद उस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है (प्रत्येक सही कदम महत्त्वपूर्ण और अ-महत्त्वपूर्ण दोनों होते हैं) बल्कि इसलिए कि यह इस बात का द्योतक है कि मानव जाति की पूर्णता प्राप्त करने की आकांक्षा गंभीर और सच्ची है, क्योंकि उसका पहले कदम से लगाकर एक ही अपरिवर्तनीय क्रम रहा है।

जिस प्रकार लोग किसी मकान की दूसरी मंजिल पर पहुँचने के लिए विभिन्न स्थानों से दीवार पर चढ़ने की निष्फल और यदा-कदा कोशिश करने के बाद अंत में सीढ़ियों के आगे जमा हो जाएँ और उन्हें इस बात का यकीन हो जाए कि पहली सीढ़ी से होकर ही ऊपर चढ़ा जा सकता है, तो उन्हें प्रसन्नता हुए बिना नहीं रह सकती, इसी प्रकार निरामिषतावाद की प्रगति पर कोई भी व्यक्ति प्रसन्न हुए बिना नहीं रह सकता।[1]

लोग नशा क्यों करते हैं ?

1

लोग ऐसी चीजों का इस्तेमाल क्यों करते हैं, जो उनको बेवकूफ और बेहोश बनाती हैं ? लोग शराब, गाँजा, भाँग, ताड़ी, तंबाकू इत्यादि क्यों पीते हैं ? वे अफीम, चरस, सुल्फा और कोकीन जैसी नशीली चीजों का इस्तेमाल क्यों करते हैं ? नशा करने की आदत लोगों में पहले किस तरह और क्यों शुरू हुई ? इस आदत का प्रसार इतना जल्दी क्यों हुआ और अब भी यह सभ्य और जंगली सब तरह के लोगों में इतनी तेजी से क्यों फैलती जा रही है ? जहाँ पर शराब, ताड़ी इत्यादि का प्रचार नहीं है, वहाँ पर भी अफीम, सुल्फा, गाँजा, चरस, भाँग इत्यादि का इतना रिवाज क्यों है ?

1.- यह निबंध हावर्ड विलियम्स की 'भोजन-विज्ञान' (The Ethics of Diet) नामक पुस्तक के रूसी भाषांतर की भूमिका के रूप में लिखा गया था।

क्या वजह है कि दुनिया के इस कोने से उसे कोने तक सर्वत्र तंबाकू का इतना अधिक प्रचार हो रहा है? लोग नशा करके संज्ञाहीन बनना क्यों पसंद करते हैं?

जब हम किसी व्यक्ति से पूछते हैं कि भाई, तुम्हें शराब पीने की लत कैसे पड़ी और तुम अब भी शराब क्यों पीते हो तो वह फौरन जवाब देता है, ओह, इसके पीने में बड़ा मजा आता है। और सब लोग इसको पीते हैं इसलिए मैं भी पीता हूँ। इसके अलावा वह यह भी कहता है कि "इसके पीने से चित्त प्रसन्न रहता है।" कुछ लोग तो—जिन्होंने संभवतः कभी इस बात को सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि शराब पीकर वे कोई अच्छा काम कर रहे हैं या बुरा—यहाँ तक कह डालते हैं कि शराब स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है। इसके पीने से शरीर की ताकत बढ़ती है। अर्थात् वे एक ऐसी बात कहते हैं जो कभी की निराधार साबित हो चुकी है।

किसी तंबाकू पीनेवाले से पूछिए कि भाई तुमने तंबाकू पीना क्यों शुरू किया और अब भी तुम तंबाकू क्यों पीते हो; नो वह भी यही जवाब देगा कि हर एक आदमी तंबाकू पीता है इसलिए मैं भी पीता हूँ, और इसके अलावा तंबाकू पीने से समय अच्छी तरह से कट जाता है।

जो लोग अफीम, चरस, सुल्फा, गाँजा, भाँग वगैरा का इस्तेमाल करते हैं वे भी शायद इसी तरह के जवाब देंगे।

यदि कोई आदमी 'अपना समय अच्छी तरह से काटने', 'अपने चित्त को प्रसन्न करने', अथवा 'दूसरे आदमियों की देखा-देखी करने' के लिए हारमोनियम पर अपनी अँगुलियाँ फिराए, बंशी बजाए, वीणा के स्वर निकाले, सितार झनझनाए, अथवा इसी प्रकार दूसरा कोई काम करे तो उसका ऐसा करना क्षम्य माना जा सकता है। अर्थात् अगर कोई आदमी ऐसा काम करे जिससे प्रकृति-प्रदत्त संपत्ति का अपव्यय न होता हो, बड़े भारी परिश्रम से उपार्जित वस्तुओं का नाश न होता हो और न अपना अथवा दूसरे लोगों का प्रत्यक्षतः कोई नुकसान होता हो, तो उसका यह कार्य क्षम्य समझा जा सकता है। लेकिन तंबाकू, शराब, गाँजा, अफीम इत्यादि चीजों को तैयार करने में लाखों आदमियों की मेहनत खर्च होती है और लाखों बीघा बढ़िया-से-बढ़िया जमीन में (और वह भी बहुधा वहाँ पर जहाँ लोगों के पास अनाज की खेती करने के लिए जमीन का अभाव होता है) आलू*, सन*, पोस्त, अंगूर*, तंबाकू और चाय की खेती की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति इस बात को जानता और स्वीकार करता है कि ये मादक द्रव्य स्पष्टतः हानिकर हैं और इनका उपयोग करने में लोगों में भयानक बुराइयाँ

---

* *यूरोप में इन चीजों का इस्तेमाल तरह-तरह की शराबें और दूसरी नशीली वस्तुएँ तैयार करने में बहुतायत से होता है।*

पैदा हो जाती हैं। नशीली चीजों की बदौलत दुनिया में जितने आदमी मौत के शिकार होते हैं उतने तमाम युद्धों और छूतवाली बीमारियों की बदौलत भी नहीं होते। लोग इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं। और इसलिए यह कहना कि "सब लोग पीते हैं इसलिए मैं भी पीता हूँ", या "समय काटने के लिए पीता हूँ", या "मजा हासिल करने के लिए पीता हूँ" बिल्कुल गलत है।

अतएव लोगों के नशा करने के कारण कुछ दूसरे ही होने चाहिए। हमको सब जगह बराबर ऐसे लोग मिलते हैं जो अपने बाल-बच्चों से प्रेम करते हैं और उनके लिए सब तरह का बलिदान करने को तैयार होते हैं। लेकिन फिर भी ये लोग शराब, ताड़ी अथवा चरस, सुल्फा, गाँजा, अफीम और यहाँ तक कि तंबाकू पर इतना पैसा बर्बाद कर डालते हैं जितना उनके नंगे-भूखे बच्चों के भोजन और वस्त्र के लिए पूरे तौर पर काफी हो सकता है अथवा कम-से-कम उससे उनको कष्टों से बचाया जा सकता है। अगर किसी आदमी के सामने एक तरफ तो यह प्रश्न हो कि जिस कुटुंब से वह प्रेम करता है वह और अभाव-ग्रस्त हो जाएगा और दूसरी तरफ उसके सामने नशीली चीजों को इस्तेमाल न करने का सवाल हो और यदि फिर भी वह पिछली बात की अपेक्षा पहली बात पसंद करे तो उसके ऐसा करने की वजह यह नहीं हो सकती कि वह दूसरों की देखादेखी या प्रसन्न होने के लिए ऐसा करता है। उसको इसकी तरफ प्रेरित करनेवाला कोई दूसरा अधिक प्रबल कारण होना चाहिए। क्योंकि यह स्पष्ट है कि समय काटने अथवा केवल मजा हासिल करने के लिए इस तरह का काम नहीं किया जाता। किसी बड़े प्रबल कारण से प्रेरित होकर ही आदमी ऐसा काम करता है।

जहाँ तक मैंने इस विषय का अध्ययन किया, एवं इसके बारे में सोचा-विचारा है, दूसरे लोगों के इस तरह के उदाहरणों पर गौर किया है और अपने निज के विषय में—जब मैं स्वयं शराब और तंबाकू पिया करता था—गहराई से छान-बीन की है वहां तक मुझको मालूम हुआ है कि लोगों की इस आदत का कारण मामूली नहीं बल्कि बहुत बड़ा और गंभीर है। मेरी सम्मति में वह कारण नीचे लिखे ढंग से वर्णन किया जा सकता है—

यदि मनुष्य अपने जीवन की ओर दृष्टि डाले तो उसको अपने शरीर के अंदर बहुधा दो प्राणी दिखाई पड़ेंगे—एक तो वह जो अंधा है और जिसका संबंध शरीर से है और दूसरा वह जो देखता है और जिसका संबंध आत्मा से है। उसके शरीर का अंधा भाग मशीन की तरह खाता है, विश्राम लेता है, सोता है, संतानोत्पत्ति करता है और हिलता-डुलता है। उसके शरीर का आत्मिक या देखनेवाला भाग शारीरिक भाग के बिल्कुल जुड़ा होने पर भी स्वयं कुछ नहीं करता। वह सिर्फ पहलेवाले भाग की चेष्टाओं और कार्यों को देखा करता है। जब वह उसके किसी काम को

पसंद करता है तो उसके साथ सहयोग करता है और जब नापसन्द करता है तो उससे असहयोग कर देता है।

शरीर के इस देखनेवाले या आत्मिक भाग की तुलना हम दिशा-सूचक यंत्र की सूई के साथ कर सकते हैं। इस सूई का एक सिरा उत्तर की तरफ होता है और दूसरा सिरा दक्षिण की तरफ। यह सूई अपनी पूरी लंबाई तक एक ऐसी चीज से ढँकी रहती है तो तब तक हमारी नजर नहीं आ सकती जब तक कि यह सूई उपर्युक्त दिशाओं को बतलाती रहती है। परंतु ज्योंही सूई इधर-उधर हिली-डुली और ज्योंही इसने दूसरी दिशाओं को बतलाना शुरू किया त्योंही वह ढँकनेवाली चीज हमारे सामने प्रत्यक्ष हो जाती है।

ठीक इसी प्रकार हमारा देखनेवाला या आत्मिक अंश, जिसके बाह्य स्वरूप को हम लोग सामान्यत: अंत:करण कहकर संबोधित करते हैं, हमको हमेशा एक तरफ सत्य और दूसरी तरफ असत्य का बोध कराता है। जब तक हम इस आत्मिक अंश के बतलाए हुए मार्ग अर्थात् गलत रास्ते के बजाय सही रास्ते का अनुसरण करते रहते हैं तब तक हमको उसके अस्तित्व का अनुभव नहीं होता, परंतु ज्योंही हम कोई काम अपनी अंतरात्मा के आदेश के विपरीत करते हैं त्योंही हमको इस आत्मिक अंश के अस्तित्व का पता लग जाता है और तब वह हमको बतलाता है कि हमारे शारीरिक अंश का काम अंतरात्मा के निर्देश के विपरीत हुआ है। जब किसी मल्लाह को यह मालूम हो जाता है कि वह गलत रास्ते पर जा रहा है तब अपने मन का समाधान दो तरीकों से कर सकता है। एक यह कि जब तक दिशासूचक यंत्र द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर वह अपनी नाव को नहीं ले आए तब तक पतवारों को घुमाने, एंजिन को चलाने अथवा पालों को बाँधने की क्रिया को रोक दे। दूसरे यह कि वह इस बात को भुला दे कि उसने गलत रास्ता पकड़ लिया है। इसी तरह जो आदमी इस बात का अनुभव करता है कि उसकी अंतरात्मा और उसके शारीरिक अंश के कार्यों में परस्पर विरोध है तो वह अपना काम केवल इन्हीं दो तरीकों से जारी रख सकता है—एक यह कि वह अपने शारीरिक अंश के कार्यों को आत्मा के आदेशों के अनुकूल बना ले और दूसरे यह कि अंतरात्मा द्वारा बहलाई गई अपने शारीरिक अंश की गलतियों की तरफ से आँखें मींच ले।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मनुष्य के जीवन में मुख्यत: दो प्रकार के कार्य दिखाई देते हैं। एक तो वे कार्य हैं जिन्हें अंतरात्मा स्वीकार करता है और जो उसी के अनुसार किए जाते हैं और दूसरे वे कार्य हैं जिन्हें अंतरात्मा स्वीकार नहीं करता और जो अंतरात्मा की राय के खिलाफ किए जाते हैं, ताकि मनुष्य पहले की भाँति ही अपनी जीवनचर्या जारी रख सके।

कुछ लोग पहले प्रकार के कार्य करते हैं और कुछ लोग दूसरे प्रकार के। पहले प्रकार के कार्यों में सफलता पाने का सिर्फ एक उपाय है, और वह यह कि हम अपनी आत्मा को उन्नत बनाएँ, अपने आत्मिक ज्ञान की वृद्धि करें और अपने आत्मिक सुधार की ओर दत्त-चित्त हों। दूसरे प्रकार के कार्यों अर्थात् अंतरात्मा के आदेशों पर परदा डालने के कार्यों में सफलता पाने के दो उपाय हैं। एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। बाह्य उपाय यह है कि हम ऐसे कामों में अपने-आपको लगाए रखें जिनके कारण हमारा ध्यान अंतरात्मा की पुकार की ओर न जाने पाए और आंतरिक उपाय यह है कि हम अपनी अंतरात्मा को ही मैला कर डालें।

अगर कोई आदमी अपने सामने की चीज को न देखना चाहे तो वह दो प्रकार से यह कार्य कर सकता है। या तो वह अपनी नजर को किसी ऐसी दूसरी चीज पर लगा दे जो उससे ज्यादा आकर्षक है या वह अपनी आँखों को ही बंद कर ले। इसी प्रकार हर एक आदमी अपनी अंतरात्मा के आदेशों की दो प्रकार से उपेक्षा कर सकता है। या तो वह अपने ध्यान को खेल-कूद, राग, रंग, नाटक, सिनेमा, इसी तरह के अन्य कामों में लगा दे या वह अपनी देखने की आंतरिक शक्ति को कुंठित बना ले।

जिनकी नैतिक अनुभूति मंद और मर्यादित होती है, वे जब मनोरंजन के बाह्य कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं तो बहुधा अंत:करण के उन संकेतों को नहीं सुन पाते जो यह सूचित करते हैं कि वे जीवन में कहाँ पथ-भ्रष्ट हो रहे हैं। किंतु जिनका अंत:करण जाग्रत होता है, उनकी अनुभूति पर पर्दा डालने के लिए यह बाह्य्य साधन बहुधा काफी नहीं होते।

बाह्य साधन मनुष्य का ध्यान इस बात पर से सर्वथा नहीं हटा पाते कि उसके जीवन और अंतरात्मा के आदेशों में अंतर है। यह मनुष्य के जीवन में बाधक बनता है, अत: लोग यथापूर्व जीवनयापन करने के लिए, अचूक आंतरिक उपाय का आश्रय लेते हैं अर्थात् नशीली चीजों द्वारा मस्तिष्क को विषाक्त करके अंत:करण को कुंठित कर डालते हैं।

मनुष्य यह जानते हुए भी कि वह अपने अंतरात्मा के आदेशों के अनुसार जीवन-यापन नहीं कर रहा है, अपनी जीवन-चर्या को नहीं बदल पाता, अंतरात्मा के अंशों का अनुसरण नहीं कर पाता। जिन बाह्य कर्मों द्वारा जीवन और आत्मा के विरोध पर से ध्यान हट सकता है, वे नाकाफी सिद्ध होते हैं या पुराने पड़ जाते हैं और इसलिए लोग जीवन की गलतियों के संबंध में अंत:करण के आदेशों की उपेक्षा करके यथापूर्व जीवन बिताने के लिए शरीर के उस अंग को कुछ समय के लिए विषाक्त बनाकर बेकार कर देते हैं जिसके द्वारा अंत:करण व्यक्त होता है। यह वैसी ही बात है जैसी कि यह बात कि जब कोई मनुष्य किसी चीज को नहीं देखना चाहता तो अपनी आँखें बंद कर लेता है।

2

दुनिया में लोग शराब, अफीम, चरस, भाँग और तंबाकू इत्यादि इसलिए नहीं पीते कि ये चीजें स्वादिष्ट होती हैं, या इनसे आनंद प्राप्त होता है, या शरीर में फुर्ती और ताजगी आती है। बल्कि लोग नशा इसलिए करते हैं कि वे अपनी अंतरात्मा की आवाज नहीं सुनना चाहते।

एक दिन मैं एक सड़क पर चला जा रहा था। उस सड़क पर कुछ गाड़ीवाले आपस में बातचीत करते हुए जा रहे थे। उनमें से एक को मैंने यह कहते हुए सुना, "सचमुच, जो आदमी अपने होश में होगा वह इस काम को करते हुए जरूर लज्जित होगा।"

उनके इस कथन का मतलब हुआ कि मनुष्य को जो काम नशे में ठीक मालूम होता है, होश आने पर उसी काम को करने में उसको शरम मालूम पड़ती है। इन शब्दों से हमको उस मूल कारण का पता लगता है जो मनुष्य को नशा करने के लिए प्रेरित करता है। लोग नशा इसलिए करते हैं कि अपनी अंतरात्मा के विरुद्ध कोई काम कर लेने के बाद उन्हें शरम मालूम न पड़े या वे ऐसी हालत में हो जाएँ कि उनको उन कार्यों को करने में कोई हिचक मालूम न हो जो उनकी अंतरात्मा के तो विरुद्ध हैं लेकिन जिन्हें करने के लिए उनकी पशुवृत्ति उनको प्रेरित करती है।

जब कोई आदमी नशे की हालत में नहीं होता तो वह किसी वेश्या के यहाँ जाने, चोरी करने या किसी की हत्या करने में हिचकिचाता तथा शरम महसूस करता है। परंतु जो आदमी नशे में होता है वह इन कामों को करता हुआ जरा भी नहीं शरमाता। यही वजह है कि जो मनुष्य अपनी अंतरात्मा और विवेक-बुद्धि के विरुद्ध कोई काम करना चाहता है, वह नशा पीकर अपने-आपको बदहोश कर लेता है।

मुझको उस रसोइए का बयान अच्छी तरह याद है जिसने मेरी एक रिश्तेदार वृद्ध महिला को मार डाला था। वह रसोइया इस महिला के यहाँ नौकर था। उसने अदालत के सामने बयान देते हुए कहा कि पहले तो मैंने अपनी प्रेमिका को—जो उसी घर में नौकर थी घर के बाहर भेज दिया। बाद में जब मालकिन को मारने का समय आया तब मैंने हाथ में छुरा लेकर उसके सोने के कमरे में जाने का इरादा किया। लेकिन इस वक्त मुझको अनुभव हुआ कि जब तक मैं अपने पूरे होश में हूँ तब तक मैं इस काम को नहीं कर सकूँगा।..."जब मनुष्य अपने होश में होता है, तब वह ऐसा काम करते हुए शरमाता है।" इसलिए मैं लौटकर वापस अपनी जगह पर चला आया। यहाँ पर पहले से शराब के दो गिलास भरकर मैं रख गया था। मैं इन दोनों गिलासों को पी गया। इसके बाद मुझमें इस काम को करने की हिम्मत आई। और मैंने महिला को मार डाला।

दुनिया में नब्बे फीसदी अपराध इसी तरह से किए जाते हैं।—"अपनी हिम्मत रखने के लिए नशा करो।"

दुनिया में जिन स्त्रियों का पतन होता है, उनमें से आधी स्त्रियाँ शराब के नशे में ही पतित होती हैं। जो लोग पतित स्त्रियों के घरों अथवा वेश्यालयों में जाते हैं, उनमें से करीब-करीब सब लोग तभी ऐसा करते हैं जब वे नशे में बदहोश होते हैं। लोग शराब के इस गुण को अच्छी तरह से जानते हैं कि उसके पीने से अंतरात्मा और विवेक-बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है। इसी मतलब से वे जान-बूझकर शराब पीते हैं।

लोग न सिर्फ अंतरात्मा की आवाज को दबाने के लिए खुद नशा करते हैं बल्कि (इस बात को जानते हुए कि शराब का क्या असर होता है) जब वे दूसरों से अपनी अंतरात्मा के विरुद्ध कोई काम कराना चाहते हैं तो उनको भी जान-बूझकर मादक द्रव्य पिला देते अर्थात् अंत:करण से वंचित करने के लिए बदहवाश कर देते हैं। युद्ध में सिपाहियों को आमने-सामने लड़ाने के लिए आमतौर पर शराब पिलाकर मत्त बना दिया जाता है क्योंकि शराब पीने के बाद ही सिपाही अच्छी तरह लड़ सकते हैं। सेवास्टोपोल पर आक्रमण करनेवाले सारे-के-सारे फ्रांसीसी सिपाही शराब के नशे में चूर थे।

लड़ाई में जब कोई किला या दुर्ग जीत लिया जाता है और जब विजयी फौज के सिपाही अरक्षित बुड्ढों और बच्चों को कत्ल करने तथा लूट-मार करने से हिचकते हैं तो बहुधा उन सिपाहियों को शराब पिलाने का हुक्म दिया जाता है। तब वे अपने अफसरों की आज्ञा के अनुसार सब तरह का अत्याचार करने पर उतारू हो जाते हैं।

हर एक आदमी ऐसे लोगों को जानता है जिन्होंने अपने किसी दुष्कर्म के परिणामस्वरूप इसलिए शराब पीना शुरू कर दिया कि वे अपनी अंतरात्मा की प्रताड़नाओं से बच सकें। प्रत्येक व्यक्ति इस बात को देख सकता है कि जो लोग हीन चरित्र के हैं और जो दुराचारपूर्ण जीवन बिताते हैं वे दूसरे लोगों की अपेक्षा नशीली चीजों की ओर जल्दी आकर्षित होते हैं। डाकुओं और चोरों के गिरोह, वेश्याएँ और व्यभिचारी पुरुष—सब-के-सब बिना नशे के जिंदा नहीं रह सकते।

प्रत्येक व्यक्ति इस बात को जानता और स्वीकार करता है कि अंतरात्मा और विवेक-बुद्धि की ताड़ना से बचने के लिए लोग नशीली चीजों का इस्तेमाल करते हैं। वह यह भी जानता है कि कुछ खास प्रकार का अनैतिक जीवन व्यतीत करते समय मनुष्य अपनी अंतरात्मा को कुंठित करने के लिए इन नशीले पदार्थों का इस्तेमाल करता है। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति इस बात को भी जानता और स्वीकार करता है कि नशों का उपयोग करने से अंतरात्मा कुंठित हो जाती है अर्थात् जब आदमी शराब के नशे में चूर होता है तब वह ऐसे-ऐसे कामों के करने पर उतारू हो

जाता है, होश-हवास दुरुस्त होने पर जिनको करने की क्षण के लिए भी कल्पना नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति इन बातों को मानता है, लेकिन फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि नशों का इस्तेमाल करने के बाद जब उनका नतीजा चोरी, हत्या, बलात्कार तथा इसी तरह के दूसरे जघन्य कर्मों के रूप में नहीं निकलता, जब नशीली चीजों का इस्तेमाल लोग किसी भयानक अपराध को कर लेने के बाद नहीं करते, बल्कि नशीली चीजों का इस्तेमाल उन लोगों के द्वारा किया जाता है जिनके रोजगारों को हम जघन्य नहीं ठहराते और जब नशीली चीजों का इस्तेमाल एक साथ बहुत बड़ी तादाद में नहीं प्रत्युत नियमित रूप से थोड़ी-थोड़ी मात्रा में होता है तो किसी कारणवश यह मान लिया जाता है कि नशीली चीजों से अंत:करण कुंठित नहीं होता।

इस तरह से लोगों का ख्याल है कि एक संपन्न घर के रूसी पुरुष के लिए दोनों समय के भोजन से पूर्व एक-एक गिलास वोड़का और भोजन करते समय एक-एक गिलास शराब पी लेने अथवा एक फ्रांसनिवासी के लिए एवसिंधे नामक मदिरा पी लेने या एक अंग्रेज के लिए बरांडी अथवा ह्विस्की का एक गिलास ले लेने या एक जर्मन के लिए लेगर-बीयर नामक शराब का इस्तेमाल कर लेने या एक संपन्न घर के चीन निवासी के लिए अफीम की एक हल्की सी मात्रा ले लेने और इन सबके साथ थोड़ी-सी तंबाकू की फूँकें खींच लेने से सिवाय तबीयत खुश हो जाने के और कोई बात नहीं होती और इसका लोगों की अंतरात्मा पर कोई असर नहीं पड़ता।

इस प्रकार का नियमित और परिमित नशा करने के बाद यदि लोग कोई जुर्म नहीं करते, न हत्या करते हैं और न चोरी, अपनी आदत के मुताबिक सिर्फ कुछ बुरे और मूर्खतापूर्ण काम कर डालते हैं, तो ऐसा समझा जाता है कि ये काम नशे की वजह से नहीं किए गए, बल्कि अपने-आप हो गए हैं। लोगों का ख्याल है कि नशा करनेवाले लोग यदि फौजदारी कानून के खिलाफ कोई जुर्म न करें तो उसके लिए अपनी अंतरात्मा और विवेक-बुद्धि को कुंठित करने का सवाल ही पैदा नहीं होता है और उसका जीवन बिल्कुल अच्छा जीवन होता है। यदि वे नशा न करते होते तो भी ठीक वैसा ही जीवन बिताते होते। इसके अतिरिक्त लोगों की यह भी धारणा है कि नशीले पदार्थों का रोजाना इस्तेमाल करने से अंतरात्मा और विवेक-बुद्धि कुंठित नहीं होती है।

प्रत्येक व्यक्ति इन बातों को निजी अनुभव से जानता है कि शराब अथवा तंबाकू पीने से दिमाग की हालत बदल जाती है, नशे की हालत में आदमी उन बुरे कामों को करने से जरा भी नहीं शरमाता जिनकी वह होश में कल्पना तक नहीं कर सकता। अंतरात्मा की हल्की-से-हल्की प्रस्तावना के बाद मनुष्य को किसी नशीली

चीज का इस्तेमाल करने की प्रेरणा होती है और नशे की हालत में मनुष्य के लिए अपने जीवन और परिस्थिति का सिंहावलोकन करना तथा उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना कठिन होता है। साथ ही प्रत्येक आदमी इस बात को भी जानता है कि नशीली चीजों को सतत और नियमित उपयोग का शरीर पर ठीक वही परिणाम होता है जो उनका कभी-कभी एक साथ अत्यधिक मात्रा में इस्तेमाल करने का होता है। इन बातों के बावजूद, परिमित मात्रा में शराब का नशा करनेवाले और तंबाकू पीनेवाले भलेमानसों को हम यह कहते हुए सुनते हैं कि वे अंतरात्मा और विवेक-बुद्धि को कुंठित कर लेने के लिए इन चीजों का इस्तेमाल नहीं करते प्रत्युत बदन में फुर्ती लाने और चित्त को प्रसन्न करने के लिए ही ऐसा किया करते हैं।

परंतु यदि कोई मनुष्य इस विषय पर गंभीरता के साथ और निष्पक्ष भाव से विचार करेगा—और अपनी बुरी आदतों के बचाव का प्रयत्न नहीं करेगा—तो उसको सारा मामला स्पष्टतापूर्वक समझ में आ जाएगा। तब उसको पहली बात यह मालूम होगी कि अगर कभी-कभी अधिक मात्रा में नशा करने से मनुष्य की अंतरात्मा और विवेक-बुद्धि कुंठित हो जाती है, तो लगातार नियमित रूप से कम अथवा ज्यादा परिमाण में शराब, तंबाकू वगैरह पीने से वही असर पैदा होता है अर्थात् शराब, तंबाकू आदि नशीली चीजें पहले तो उसकी दिमागी कार्य-शक्ति को तेज करती हैं और बाद में बिल्कुल निस्तेज बना देती हैं। दूसरी बात उसको यह मालूम होगी कि तमाम नशीली चीजों के अंदर अंतरात्मा को कुंठित करने का गुण मौजूद होता है। चाहे नशीली चीजों के प्रभाव में आकर मनुष्य हत्या, डकैती, बलात्कार इत्यादि पाशविक जुर्मों को करे, और चाहे उनका इस्तेमाल करने के बाद वह ऐसे शब्द अपने मुँह से निकाले जिनको वह साधारण हालत में कभी नहीं निकाल सकता या ऐसी बातों को सोचे और अनुभव करे जिनको वैसा कभी सोच या अनुभव नहीं कर सकता, इन दोनों हालतों में नशीली चीजों के अंदर अंतरात्मा को कुंठित करने और विवेक-बुद्धि पर पर्दा डालने का गुण सर्वदा विद्यमान रहता है। तीसरे उसको यह भी मालूम होगा कि अगर चोरों, लुटेरों, वेश्याओं और व्यभिचारियों को अपनी अंतरात्मा को कुंठित करने के लिए इन नशीली चीजों की आवश्यकता पड़ती है, तो उन लोगों को भी इन चीजों की जरूरत पड़ती है जो अपनी आत्मा के द्वारा निंदनीय ठहराए गए धंधों को करते हैं। फिर चाहे इन धंधों को दूसरे लोग समुचित और सम्मानपूर्ण ही क्यों न समझते हों।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस बात को समझे और स्वीकार किए बिना हमारा छुटकारा नहीं है कि नशीली चीजों के इस्तेमाल करने का एक मात्र कारण, चाहे वह इस्तेमाल कम मात्रा में होता हो चाहे अधिक मात्रा में, चाहे नियमित रूप से

होता हो चाहे कभी-कभी, और चाहे समाज के उच्च वर्गों में होता हो चाहे निम्न श्रेणी के लोगों में, वही है जिसका उल्लेख किया जा चुका है। अर्थात् लोग अपनी अंतरात्मा की आवाज को दबाने की आवश्यकता अनुभव करते हैं, और वह इसलिए कि वे उस विरोध को न देख सकें जो उनके अमली जीवन और अंतरात्मा के आदेशों के बीच विद्यमान होता है।

3

अंतरात्मा की आवाज को दबाने की आवश्यकता ही नशीली चीजों के संसार-व्यापी इस्तेमाल का एकमात्र कारण है। तंबाकू के सार्वत्रिक उपयोग की वजह भी यही है। संभवतः तंबाकू का ही संसार में सबसे ज्यादा प्रचार है और यही सबमें अधिक हानिकर है।

ऐसा ख्याल किया जाता है कि तंबाकू पीने से बदन में एक तरह की फुर्ती आ जाती है, दिमाग साफ हो जाता है। सिर्फ दूसरी आदतों की तरह से ही यह भी मनुष्य को आकर्षित करती है। और इसके जरिए अंतरात्मा को कुंठित करने वाला घातक असर भी पैदा नहीं होता जो शराब के पीने से होता है। लेकिन अगर आप ध्यान देकर इस बात को देखें कि किस हालत में आपको तंबाकू पीने की इच्छा होती है तो आपको निश्चय हो जाएगा कि तंबाकू का नशा भी अंतरात्मा को उसी तरह कुंठित कर देता है जिस तरह शराब का नशा करता है। और लोग उसी समय जान-बूझकर तंबाकू पीते हैं जिस समय उन्हें अपनी आत्मा को कुंठित करने की जरूरत पड़ती है। अगर तंबाकू के इस्तेमाल से सिर्फ दिमाग साफ होता या बदन में फुर्ती आती तो लोगों को उसके इस्तेमाल की इतनी तेज इच्छा नहीं होती और यह इच्छा खास अवसरों पर प्रकट होती है। हम लोगों को अक्सर यह कहते हुए भी नहीं सुनते कि हम चाहे बिना भोजन के रह जाएँ लेकिन तंबाकू के बिना नहीं रह सकते और न ही हम लोगों को कभी-कभी सचमुच भोजन पर तंबाकू को प्रधानता देते हुए देखते।

मैंने ऊपर उस रसोइए का जिक्र किया है जिसने अपनी मालकिन को मार डाला था। उस रसोइए ने अदालत के सामने बयान देते हुए कहा कि शराब के दो गिलास चढ़ाकर मैं अपनी मालकिन के सोने के कमरे में घुस गया। उस समय मालकिन अपने बिछौने पर सोई हुई थी। मैंने उसके गले में छुरा भोंक दिया। उसके गले में जोरों की गड़गड़ाहट हुई और वह गड़ ड़ ड़ ड़ करती हुई बिछौने से जमीन पर गिर पड़ी और खून का फव्वारा फूट निकला। यह देखकर मेरी हिम्मत जाती रही। मेरा होश उड़ गया। मैं उसको पूरी तरह नहीं मार सका। वह छटपटा रही थी। मैं उसके

सोने के कमरे में से निकलकर बैठक के कमरे में जाकर एक कुर्सी पर बैठ गया। वहाँ मैंने अपनी जेब में से एक सिगरेट निकालकर पिया। सिगरेट का नशा चढ़ते ही मेरे बदन में फुर्ती आ गई और मेरा दिल फिर से मजबूत हो गया। तब मैं उठकर वापस सोने के कमरे में चला गया। अब मुझको अपनी मालकिन का गला काटने में जरा भी झिझक मालूम नहीं हुई। मैंने उसका सिर धड़ से अलग कर डाला। इसके बाद मैं उसके माल-असबाब को टटोलने लग गया।

रसोइए के उपर्युक्त बयान से यह साफ जाहिर हो जाता है कि उस समय उसके अंदर सिगरेट पीने की इच्छा इसलिए पैदा नहीं हुई कि वह अपना दिमाग साफ करना चाहता था, या अपने चित्त को प्रसन्न करना चाहता था, बल्कि इस इच्छा के पैदा होने का कारण यह था कि वह उस वस्तु (अंतरात्मा) को कुंठित करना चाहता था जो उसको हत्या करने से रोक रही थी।

तंबाकू पीनेवाला प्रत्येक मनुष्य इस बात को देख सकता है कि उसके अंदर तंबाकू पीने की इच्छा कुछ खास-खास और विशेषत: कठिनाई के अवसरों पर ही पैदा हुआ करती है। मुझको उस समय का भलीभाँति स्मरण है जब मैं स्वयं तंबाकू पिया करता था। जब मुझे उस समय की याद आती है तो मेरे मन में स्वत: यह प्रश्न उठने लगता है कि "मुझको तंबाकू पीने की विशेष आवश्यकता कब मालूम होती है ?" मुझे तंबाकू पीने की खास जरूरत उसी समय पड़ा करती थी जब मुझे याद आनेवाली किसी बात को मैं याद रखना नहीं चाहता था—अर्थात् किसी बात को भुलाना चाहता था और उस पर विचार नहीं करना चाहता था। मैं बिना किसी काम के यों ही बेकार बैठा हुआ हूँ और जानता हूँ कि मुझको काम में लग जाना चाहिए। परंतु मेरे मन में काम करने की इच्छा नहीं है और इसलिए तंबाकू पीते हुए यों ही बैठा रहता हूँ। मैंने एक आदमी को वचन दिया है कि मैं ठीक 5 बजे उसके घर पहुँच जाऊँगा। पर मुझको एक दूसरी जगह बहुत देर हो गई है। मैं जानता हूँ कि मुझको वहाँ ठीक समय पर पहुँच जाना चाहिए था। पर मैं इस बात का स्मरण नहीं करना चाहता, इस पर सोच-विचार करना नहीं चाहता। इसलिए तंबाकू पीकर इस बात को भुला देता हूँ। मैं किसी आदमी से नाराज हो जाता हूँ और उसको झिड़कते हुए गालियाँ दे रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि गलती कर रहा हूँ और मुझको अपशब्द कहना बंद कर देना चाहिए। लेकिन मैं अपने चिड़चिड़ेपन और बदमिजाजी को जारी रखना चाहता हूँ। इसलिए मैं तंबाकू पी लेता हूँ और गालियां देने का क्रम जारी रखता हूँ। मैं ताश के पत्तों का जुआ खेल रहा हूँ। खेलते-खेलते मैं हार को भुला देना चाहता हूँ, और इसलिए तंबाकू पीने लगता हूँ। मैं कोई खराब काम कर बैठा हूँ। मैंने गलती की है। फलत: मेरी अवस्था किंकर्तव्य-विमूढ़ की हो गई है। मुझको

चाहिए कि अपनी गलती को स्वीकार करके जिस दलदल में मैं फँस गया हूँ उसमें से अपने-आपको बाहर निकाल लूँ। पर मैं अपनी गलती को स्वीकार नहीं करना चाहता—मैं उसके बुरे नतीजे से बचना चाहता हूँ। अतएव मैं उस गलती को दूसरों पर मढ़ता हूँ और अपने चित्त को शांत करने के लिए सिगरेट पीने लगता हूँ। मैं कुछ लिख रहा हूँ, लेकिन जो कुछ मैंने लिखा है, उससे मुझको पूरा-पूरा संतोष नहीं है। मुझे चाहिए कि मैं अपना लिखना बंद कर दूँ। किंतु मैं अपनी पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार अपने लेख को समाप्त करना चाहता हूँ। इसलिए मैं तंबाकू पी लेता हूँ और अपना लेखन-कार्य जारी रखता हूँ। मैं किसी के साथ वाद-विवाद कर रहा हूँ, मैं देखता हूँ कि हम एक-दूसरे की बात को समझ नहीं रहे हैं और न समझ ही सकते हैं। फिर भी मैं अपनी राय जाहिर करना चाहता हूँ। इसलिए मैं सिगरेट पीने लगता हूँ और बातचीत का सिलसिला जारी रखता हूँ। तंबाकू पीने की आवश्यकता से संबंध रखने वाले इस तरह के सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं।

दूसरे मादक द्रव्यों की तुलना में तंबाकू का एक खास गुण है कि उसके द्वारा मनुष्य बहुत आसानी के साथ प्रमत्त बन सकता है। वह प्रकटत: निर्दोष प्रतीत होती है और उसका प्रयोग मनुष्य अपने को अशांति पहुँचानेवाले छोटे-छोटे और पृथक-पृथक मौकों पर कर सकता है। इस बात को कौन नहीं जानता कि शराब, अफीम और भाग का नशा करने के लिए कुछ ऐसे साधनों और चीजों की आवश्यकता पड़ा करती है जो हर समय सुलभ नहीं होते! लेकिन तंबाकू के लिए ऐसे साधनों की कोई आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य जेब में बीड़ी, सिगरेट या चिलम-तंबाकू और दियासलाई डालकर हर जगह घूम सकता है। साथ ही इस बात को भी सब लोग जानते हैं कि शराबियों और अफीमचियों को लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं जबकि तंबाकू पीनेवालों के लिए हमारे मन में कोई विशेष घृणा का भाव जागृत नहीं होता। दूसरी नशीली चीजों की अपेक्षा तम्बाकू में एक खास गुण यह है कि जहाँ शराब, अफीम या कोकीन का असर एक विशेष अवधि के बीच पैदा होनेवाले तमाम विचारों और कार्यों पर पड़ता है, वहाँ तंबाकू के नशे का उपयोग एक घटना विशेष के लिए किया जा सकता है। आप एक ऐसा काम करना चाहते हैं जो घटना विशेष में आपको नहीं करना चाहिए इसलिए आप एक बीड़ी अथवा सिगरेट पीकर अपनी विवेक-बुद्धि पर उतने अंश तक पर्दा डाल देते हैं जितने अंश तक कि आप में इतना सामर्थ्य आ जाए कि आप न करने योग्य काम को करने में हिचकिचाहट महसूस न करें। तब आपके बदन में फुर्ती आ जाती है और आप पुन: स्पष्टतापूर्वक बोलने और विचारने लगते हैं। अथवा आपको महसूस हो रहा है कि आपने एक ऐसा काम कर डाला जिसे आपको नहीं करना चाहिए था। इस समय आप बीड़ी या सिगरेट

सुलगाकर अपने मुँह में रख लेते हैं। अपनी गलती अथवा बुरे काम की दु:खद स्मृति आपके अंदर से गायब हो जाती है और आप दूसरे कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं, उस बात को भूला देते हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोग रोजमर्रा की आदत को पूरा करने अथवा समय अच्छी तरह काटने के लिए तंबाकू का नशा नहीं किया करते, बल्कि प्रत्येक तंबाकू पीनेवाला तंबाकू इसलिए पीता है कि वह तंबाकू को अपनी अंतरात्मा को कुंठित करने का एक साधन मानता है और इसका नशा कर लेने पर उसको उन बुरे कामों का स्मरण नहीं आता जिनको उसने किया है अथवा जिन्हें वह करने जा रहा है। इसके बाद क्या वह बात लोगों की समझ में नहीं आती कि मनुष्यों की जीवनचर्या और उनकी तंबाकू पीने की लालसा में कोई मजबूत और निश्चित संबंध है!

छोटे-छोटे लड़के तंबाकू पीना कब शुरू करते हैं? आम तौरपर तब जबकि उनकी बालोचित सरलता जाती रहती है। क्या वजह है कि ज्योंही तंबाकू पीनेवाले अच्छे पुरुषों की संगति में उठने-बैठने लगते हैं त्यों ही वे तंबाकू पीना छोड़ देते हैं? और क्या वजह है कि ज्योंही उनका पुन: दुराचारपूर्ण परिस्थितियों से पाला पड़ता है त्यों ही फिर से तंबाकू पीने लग जाते हैं? क्या कारण है कि करीब-करीब सारे-के-सारे जुवारी तंबाकू पीते हैं? क्या कारण है कि नियमित और सात्विक जीवन व्यतीत करने वाले स्त्री-पुरुष तंबाकू के पास तक नहीं फटकते? क्या वजह है कि वेश्याएँ और सारे-के-सारे पागल मनुष्य तंबाकू पीते हैं? यह सच है कि किसी चीज की आदत पड़ जाने पर मनुष्य को उस चीज का इस्तेमाल करने की समय-समय पर याद आ जाया करती है। लेकिन प्रकटत: अंतरात्मा को कुंठित करने की लालसा के साथ तंबाकू के नशे का एक स्पष्ट और निश्चित संबंध है, जिस बात की आशा रखी जाती है उनको यह पूरा करता है।

कोई भी मनुष्य प्रत्येक तंबाकू पीनेवाले आदमी का ध्यानपूर्वक अवलोकन करके इस बात का पता लगा सकता है कि तंबाकू का नशा अंतरात्मा की आवाज को किस हद तक दबाता है। तंबाकू पीनेवाला हर एक आदमी जब उसके अंदर तंबाकू पीने की इच्छा पैदा होती है तो सामाजिक जीवन के उन अत्यंत प्राथमिक कर्तव्यों को भूल जाता है अथवा उसकी अपेक्षा करता है जिनके पालन की वह दूसरे लोगों से आशा रखता है और जिनका पालन वह तब तक बराबर करता है जब तक कि तंबाकू पीकर वह अपनी अंतरात्मा और विवेक-बुद्धि को कुंठित नहीं कर डालता। औसत दर्जे का प्रत्येक शिक्षित मनुष्य इस बात को अपने लिए अनुचित, अशिष्टतापूर्ण और अमानुषिक समझता है कि वह सुख-सुविधा के लिए दूसरे लोगों के आराम तथा

शांति में खलल डाले और दूसरों के स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाए। किसी भी आदमी को इस बात का ख्याल नहीं आएगा कि जिस कमरे में बहुत से लोग बैठे हों उसको यह यकायक पानी से गीला कर दे, न उसको इस बात का ही विचार आएगा कि वह वहाँ शोर मचाए, चिल्लाए अथवा उस कमरे के अंदर ठंडी, गरम या दुर्गंधपूर्ण वायु को आने दे अथवा कोई ऐसा दूसरा काम करे जिससे अन्य व्यक्तियों को असुविधा झेलनी पड़े अथवा उनका नुकसान हो जाए। लेकिन एक हजार तंबाकू पीनेवालों में से एक भी आदमी ऐसा नहीं निकलेगा जो ऐसे कमरे में अस्वास्थ्यकर एवं बदबूदार धुआँ पैदा करने में संकोच अनुभव करे कि जिसकी हवा में तंबाकू न पीनेवाली स्त्रियाँ और बच्चे साँस लेते हैं।

ऐसे मौकों पर शिष्टाचार की दृष्टि से तंबाकू पीनेवाले लोग दूसरे उपस्थित व्यक्तियों से कहा करते हैं मैं तंबाकू पी लूँ? आपको कुछ आपत्ति तो नहीं है? लेकिन इस प्रकार के प्रश्न करनेवाले प्रत्येक मनुष्य को इस बात का दृढ़ विश्वास होता है कि उसके प्रश्न का दूसरे लोगों की ओर से साधारणत: यही उत्तर मिलेगा कि बड़े शौक से पीजिए, हमें जरा भी आपत्ति नहीं है। यद्यपि तंबाकू पीनेवाले इस तरह तंबाकू पीने के लिए दूसरे लोगों की स्वीकृति प्राप्त कर लेते हैं तथापि इससे यह नहीं कहा जा सकता कि तंबाकू पीने वाले लोगों को दुर्गंधित वायु में साँस लेने से तकलीफ नहीं होती है और मेज, तस्तरी, आँगन अथवा खिड़की में सिगरेट और बीड़ी के बदबूदार टुकड़ों को इधर-उधर पड़ा देखकर उन्हें कष्ट नहीं होता। इसके अतिरिक्त अगर इस बात को मान भी लें कि बड़े उम्र के स्त्री-पुरुषों ने तंबाकू पीने के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं की तो भी इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि उन छोटे-छोटे बच्चों को तंबाकू के धुएँ में साँस लेने से आराम मिलता है अथवा यह उनके स्वास्थ्य के लिए लाभदायक हो सकता है, जिनकी तंबाकू पीने के बारे में अनुमति कभी माँगी ही नहीं जाती। फिर भी समाज में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो दूसरी दृष्टि से सम्मान और मनुष्यता-पूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए भी छोटे-छोटे रसोई-घरों में बच्चों के साथ बैठकर भोजन करते समय तंबाकू पीने में संकोच नहीं करते और इस प्रकार संपूर्ण कमरे की हवा को तंबाकू के धुएँ से जहरीला बना देते हैं और फिर भी अपनी अंतरात्मा की हल्की चुटकी अनुभव नहीं करते।

साधारणत: यह बात कही जाती है और मैं ऐसा ही कहा करता था कि तंबाकू पीने से आदमी को दिमागी काम करने में मदद मिला करती है। यदि हम किसी व्यक्ति के बौद्धिक कार्य के केवल परिणाम का ही विचार करें—और उसके गुण-दोष की तरफ कोई ध्यान न दें—तो यह कथन बिल्कुल सत्य है। जो आदमी तंबाकू पीता है और तंबाकू पीने के परिणामस्वरूप जो अपने विचारों को अच्छी तरह से तौल

नहीं सकता और न उनका वास्तविक मूल्य ही आँक सकता है उसको तंबाकू पीते ही फौरन ऐसा मालूम होता है मानो उसके मतिष्क में असंख्य विचार उपस्थित हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि दरअसल उसके दिमाग में बहुत से विचार हैं बल्कि वास्तविक बात यह है कि अपने विचारों पर उसका नियंत्रण नहीं रह गया है।

जब कोई आदमी किसी काम को करता है तो उसको हमेशा इस बात का भान रहता है कि उसके अंदर दो प्राणी हैं—एक वह जो स्वयं काम करता है, और दूसरा वह जो उस काम के गुण-दोष का विवेचन किया करता है। गुण-दोष का यह विवेचन जितने अंश तक ठीक-ठीक और सही होगा उतने ही अंश तक वह कार्य उत्तम होगा और मंद-मंद गति से आगे बढ़ेगा। लेकिन इससे विपरीत अवस्था में परिणाम बिल्कुल उल्टा होगा। यदि गुण-दोष का विवेचन करनेवाले अंग की विवेक बुद्धि किसी चीज से कुंठित हो गई है तो कार्य का परिणाम अधिक होने पर भी वह गुण की दृष्टि से उतना अच्छा नहीं हो सकता।

आमतौर पर लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं, और मैं भी किसी जमाने में ऐसा कहा करता था कि अगर मैं तंबाकू न पीऊँ तो मैं कुछ भी नहीं लिख सकता। मेरी कलम रुक जाती है। मैं लिखना शुरू करता हूँ लेकिन मेरा हाथ आगे नहीं बढ़ता इस कथन का वास्तविक तात्पर्य क्या है? इस कथन का मतलब यह है कि या तो तुम्हारे पास लिखने लायक कोई बात ही नहीं है, या फिर जिस बात को तुम लिखना चाहते हो वह तुम्हारे मन में अभी परिपक्व नहीं हो पाई है बल्कि वह अभी सिर्फ अस्पष्ट रूप में तुमको दिखलाई पड़ने लगी है। जब तुम तंबाकू पिए हुए नहीं होते तो तुम्हारी दोष-विवेचक शक्ति तुमको यह बतला देती है। ऐसी अवस्था में अगर तंबाकू न पिओ तो या तो तुम अपना शुरू किया हुआ लेखन कार्य बंद कर दोगे या तुम तब तक के लिए धैर्य धारण कर लोगे जब तक कि तुम अपने विचार को अपने मस्तिष्क में स्पष्ट न कर लो। तुम्हारे दिमाग में अस्पष्टतापूर्वक जो विचार आया होगा उसकी गहराई में उतरने का प्रयत्न करोगे, ऐसा करते समय जो बाधाएँ आएँगी उन पर विचार करोगे और अपना संपूर्ण ध्यान उस विचार को स्पष्ट करने में लगा दोगे। लेकिन ज्योंही तुम तंबाकू पी लेते हो तुम्हारी गुण-दोष विवेचक शक्ति कुंठित हो जाती है और उसके साथ-साथ तुम्हारे लिखने के मार्ग में आनेवाली बाधाएँ भी दूर हो जाती हैं। तंबाकू पीकर प्रमत्त बनने से पहले जो बात तुमको निरर्थक मालूम होती थी, वह तुम्हें महत्त्वपूर्ण मालूम होने लगती है; पहले जो बात अस्पष्ट दिखलाई देती थी वह अब वैसी प्रतीत नहीं होती; पहले जो बाधाएँ नजर आती थीं वे सब गायब हो जाती हैं; और तुम लिखने का कार्य शुरू कर देते हो और शीघ्र गति से पन्ने की पन्ने लिख डालते हो।

4

जब हम थोड़ी मात्रा में शराब या तंबाकू पीते हैं तो उसका नशा भी हमें बहुत थोड़ी मात्रा में चढ़ता है। अब सवाल यह है कि इस हल्के नशे से हमारे शरीर में जो थोड़ा सा—अत्यंत अल्प—परिवर्तन हो जाता है, क्या वह किन्हीं महत्त्वपूर्ण परिणामों को उत्पन्न कर सकता है ? आमतौर पर यह कहा जाता है कि "अगर कोई आदमी इतना अधिक तम्बाकू या गाँजा पीता है या शराब का इतना अधिक नशा करता है कि वह धरती पर गिर पड़े और बेहोश हो जाए तो इसके परिणाम जरूर भयंकर हो सकते हैं। लेकिन जो आदमी थोड़ी-सी तंबाकू या शराब पीकर हल्का नशा किया करता है, उसके लिए निश्चय ही ऐसे गंभीर परिणाम कभी नहीं निकल सकते।" लोगों की आज-कल ऐसी धारणा बन गई है कि हल्का नशा कर लेने—थोड़ी-सी शराब और तंबाकू पी लेने—और अपनी विवेक-बुद्धि पर थोड़ा-सा पर्दा डाल देने से कोई महत्त्वपूर्ण असर नहीं पड़ता। लेकिन उनकी यह धारणा ठीक वैसी ही है जैसी मनुष्य की यह धारणा कि घड़ी को पत्थर पर जोरों से पटक देने से घड़ी को नुकसान हो सकता है, लेकिन यदि घड़ी के अंदर थोड़ी-सी बारीक धूल घुस जाने दी जाय तो घड़ी को किसी तरह का नुकसान नहीं पहुँच सकता।

लेकिन प्यारे पाठको ? आप इस बात को हमेशा स्मरण रखिए कि मनुष्य के संपूर्ण जीवन का संचालन हाथों, पैरों अथवा पीठ के द्वारा नहीं बल्कि अंतरात्मा के द्वारा होता है। क्योंकि अंतरात्मा में एक साथ उथल-पुथल होने पर ही कोई आदमी अपने हाथों अथवा पैरों के द्वारा किसी कार्य को करने लगता है। यह उथल-पुथल ही मनुष्य के समस्त भावी कार्यों की दिशा निर्धारित करती है। फिर भी इस प्रकार की उथल-पुथल हमेशा अत्यंत सूक्ष्म और करीब-करीब अगोचर होती है।

ब्रूलोफ[1] ने एक दिन अपने शिष्य द्वारा निर्मित चित्र में थोड़ा सुधार किया। शिष्य ने ज्योंही वह परिवर्तित देखा, त्योंही जोर से बोल उठा, "ओह, आपने तो इसे जरा-सा छुआ ही था। लेकिन अब तो यह बिल्कुल दूसरी चीज बन गई है।" ब्रूलोफ ने उत्तर दिया, "छोटी-छोटी रेखाओं से ही कला का आरंभ होता है।"

ब्रूलोफ का उपर्युक्त कथन न सिर्फ कला के संबंध में, बल्कि संपूर्ण मनुष्य जीवन के संबंध में सर्वथा सत्य है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि छोटी-छोटी बातों से ही सच्चे मनुष्य-जीवन का आरंभ होता है—अर्थात् जो बात हमको अत्यंत सूक्ष्म मालूम होती हैं और जो परिवर्तन हमें अतीव अल्प दिखाई पड़ते हैं,

---

1. के. पी. ब्रूलोफ रूस का एक सुप्रसिद्ध चित्रकार था। उसका जीवनकाल सन् 1799-1852 था।

उन्हीं से सच्चे मनुष्य जीवन का आरंभ होता है। जहाँ बड़े-बड़े बाह्य परिवर्तन होते हैं—लोग इधर-उधर दौड़ते-भागते हैं, झगड़ते हैं, दंगा-फसाद करते हैं और एक-दूसरे की हत्या करते हैं—वहाँ सच्चे मनुष्य-जीवन का अस्तित्व असंभव है। बल्कि सच्चा मनुष्य-जीवन वहीं संभव है जहाँ मनुष्यों के जीवन में छोटे, अत्यंत छोटे और सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन हुआ करते हैं।

रास्कोल्निकोफ[1] का जीवन उस समय सच्चा जीवन नहीं था, जब उसने बुढ़िया औरत अथवा उसकी बहन की हत्या की। जब उसने उस बुढ़िया की—और विशेषत: जब उस बुढ़िया की बहन की—हत्या की, तब यह उसका सच्चा जीवन न था। उसने एक मशीन की भाँति वही कार्य किया जिसे किए बिना वह रह नहीं सकता था—अर्थात् वह दीर्घ काल से पिस्तौल में भरे हुए कारतूस को छोड़कर ही रहा। एक बुड्ढी औरत की वह हत्या कर चुका था, दूसरी उसके सामने खड़ी थी और वह अपने हाथ में कुल्हाड़ा लिए हुए था।

रास्कोल्निकोफ उस समय सच्चा मनुष्य जीवन नहीं बिता रहा था, जबकि उस बुढ़िया औरत की बहन से उसका साक्षात्कार हुआ था। बल्कि वह तभी सच्चा और मनुष्योचित जीवन बिता रहा था जब उसने किसी बुड्ढी औरत की हत्या नहीं की थी, न किसी की हत्या करने के संकल्प से किसी अपरिचित व्यक्ति के घर में कदम नहीं रखा था, अपने हाथ में कुल्हाड़ा नहीं पकड़ा था और अपने ओवरकोट के भीतर की तरफ को लटकाने के लिए रस्सी का फंदा नहीं बाँधा था। निस्संदेह वह उस समय सच्चा मनुष्योचित जीवन बिता रहा था जब वह अपने कमरे में गद्दे पर लेटे-लेटे इस बात पर विचार कर रहा था कि उसको पीटर्सबर्ग में रहना चाहिए अथवा नहीं तथा उसको अपनी माँ से अपने खर्च के लिए द्रव्य लेना चाहिए अथवा नहीं, और साथ ही तरह-तरह की दूसरी समस्याओं पर जिनका उस बुड्ढी औरत से कतई कोई संबंध नहीं था—विचार करने में वह तल्लीन था। उस समय उसको उस बुड्ढी औरत का अणुमात्र ख्याल नहीं था, न उसके मन में यह विचार ही उत्पन्न हुआ था कि क्या यह न्याय उचित है कि एक मनुष्य की इच्छा-पूर्ति के लिए दुनिया से दूसरे अनावश्यक और हानिकर मनुष्य का नामोनिशाँ मिटा दिया जाए। लेकिन इसके कुछ ही क्षण बाद उसने इस प्रश्न का, उस मानसिक प्रदेश में जो मनुष्य के शारीरिक कार्यों से बिल्कुल स्वतंत्र होता है—निपटारा कर दिया कि वह उस बुढ़िया

---

1. डास्टोवस्की के 'क्राइम एंड पनिशमेंट' नामक उपन्यास का नायक। इस उपन्यास का हिन्दी अनुवाद 'पवित्र पापी' के नाम से गंगा पुस्तक माला, लखनऊ से प्रकाशित हो चुका है।

औरत को मार डालेगा अथवा नहीं। प्रश्न का निपटारा उस समय नहीं हुआ जबकि वह एक बुढ़िया औरत की हत्या कर चुका था और हाथ में कुल्हाड़ा लिए हुए दूसरी बुढ़िया औरत के सामने खड़ा था। बल्कि इस प्रश्न का निपटारा उसी समय हो चुका था जब वह गद्दे पर चुपचाप, बिना हाथ-पैर हिलाए-डुलाए बैठा-बैठा मन-ही-मन कुछ सोच-विचार कर रहा था। उस समय उसकी अंतरात्मा कार्य में संलग्न थी और उस अंतरात्मा में सूक्ष्म—हाँ, अत्यंत सूक्ष्म—परिवर्तन और उलट-फेर हो रहे थे। इस तरह के अवसरों पर मनुष्य को स्पष्ट एवं स्वच्छ विचार सबसे बड़ी आवश्यकता हुआ करती है ताकि वह अपने सामने उपस्थित समस्या पर ठीक-ठीक और यथार्थ निर्णय दे सके। और यदि ठीक इस प्रकार के अवसरों पर शराब का एक गिलास या एक सिगरेट अथवा एक बीड़ी पी ली जाए तो उस समस्या के हल होने में बाधा उपस्थित हो जाती है; मनुष्य का निर्णय कार्य स्थगित हो जाता है, अंतरात्मा और विवेक बुद्धि कुंठित हो जाती है और मनुष्य जल्दबाजी में आकर ऐसा निर्णय कर डालता है जो मनुष्योचित नहीं बल्कि मनुष्य की हीन अर्थात् पशु-प्रकृति के अनुकूल होता है; जैसा कि रास्कोल्निकोफ के उदाहरण में हुआ।

ऐसे अवसरों पर अंतरात्मा में होनेवाले उलट-फेर और परिवर्तन सूक्ष्म और अत्यंत सूक्ष्म होते हैं; लेकिन इन परिवर्तनों के जो परिणाम होते हैं वे अत्यंत विशाल और भीषण होते हैं। जब मनुष्य किसी बात का निश्चय करके तदनुसार कार्यारंभ कर देता है तो उसके परिणामस्वरूप संसार में अनेक भौतिक परिवर्तन हो सकते हैं। उदाहरणार्थ घर-बार, धन-दौलत और लोगों के शरीर नष्ट हो सकते हैं। लेकिन फिर भी मनुष्य की अंतरात्मा के गूढ़तम आदर्शों में जो बात छिपी हुई थी उससे बढ़कर महत्त्वपूर्ण घटना घटित नहीं हो सकती। भौतिक जगत में जो-कुछ होनेवाला होता है, अंतरात्मा पहले से उसकी मर्यादाएँ निश्चित कर देती है। लेकिन अंतरात्मा में होनेवाले इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म उलट-फेरों और परिवर्तनों से ही कल्पातीत महत्त्व रखने वाले अनगिनत परिणाम पैदा हो सकते हैं।

मेरे उपर्युक्त कथन से पाठक इस बात का अंदाजा हरगिज न लगाएँ कि यहाँ पर जो कुछ कह रहा हूँ उसका संकल्प-स्वातंत्र्य अथवा निश्चयवाद (Determinism) से किसी तरह का कोई संबंध है। जहाँ तक मेरे अभिप्राय का संबंध है वहाँ तक मैं कह सकता हूँ कि इस प्रश्न पर वाद-विवाद करना बिल्कुल व्यर्थ है। दूसरी समस्याओं के लिए भी संकल्प-स्वातंत्र्य अथवा निश्चयवाद संबंधी वाद-विवाद में पड़ने से कोई लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। मैं इस प्रश्न का निपटारा करने नहीं बैठा हूँ कि कोई आदमी अपने मनोवांछित संकल्प के अनुसार कार्य कर सकता है अथवा नहीं, क्योंकि मेरी सम्मति में इस प्रश्न को इस रूप में लोगों के सामने रखना ही गलत है। बल्कि

मैं तो सिर्फ यह कह रहा हूँ कि जब अंतरात्मा में होनेवाले इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म उलट-फेरों और परिवर्तनों का मनुष्यों के कार्यों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है, तो यह बात स्पष्ट है कि (चाहे हम इस बात को मानें या न मानें कि इच्छा-स्वातंत्र्य का अस्तित्व है अथवा नहीं) हमें अपनी अंतरात्मा की उस अवस्था के विषय में जिसमें कि सूक्ष्म उलट-फेर हुआ करते हैं उसी तरह विशेष रूप से जागरूक और सावधान रहना चाहिए जिस तरह किसी चीज को तराजू से तौलते समय हम पहले तराजू के बारे में जागरूक और सतर्क रहते हैं। जहाँ तक हमारा बस चले वहाँ तक हमारा यह कर्तव्य है कि हम स्वयं अपने-आपको और दूसरे लोगों को ऐसी अवस्था में रखने का प्रयत्न करें जिनमें अंतरात्मा की निर्दोष प्रकृति के लिए विचारों की जो स्पष्टता और सूक्ष्मता आवश्यक होती है वह खंडित न होने पाए। हमको इसके प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए। अर्थात् नशीली चीजों का इस्तेमाल करके अंतरात्मा के कार्य में बाधा डालने अथवा उसे अस्त-व्यस्त करने की कोशिश नहीं करना चाहिए।

क्योंकि मनुष्य के अंदर आध्यात्मिक और पाशविक दोनों तरह के प्राणी विद्यमान हैं। किसी घड़ी को हम दो तरह से चला सकते हैं—एक तो उसके काँटों को घुमाकर और दूसरे उसके मुख्यचक्र को चाबी लगाकर। इसी तरह मनुष्य भी दो तरह के प्रभावों में आकर काम कर सकता है—अर्थात् या तो उन बातों के प्रभाव में आकर जो उसके आध्यात्मिक अंश पर असर डालती हैं, या उन बातों के प्रभाव में आकर जो उनके शारीरिक अंश पर प्रभाव डालती हैं। लेकिन जिस तरह घड़ी के लिए यह बात उत्तम है कि उसको उसके अंदर के यंत्रों द्वारा परिचालित किया जाए, उसी तरह मनुष्य के अपने लिए या दूसरे के लिए यह बात सर्वथा उचित है कि वह अपने कार्यों का संचालन अपनी अंतरात्मा के आदेशानुसार करें। और जिस प्रकार घड़ी के उस पुर्जे की मनुष्य को विशेष रूप से सावधानी रखनी पड़ती है जिससे कि वह घड़ी के आंतरिक यंत्रों का भली-भाँति संचालन करता है, उसी तरह मनुष्य को अपनी अंतरात्मा को पवित्र और स्पष्ट और निर्मल रखने के लिए सबसे अधिक सावधान रहना चाहिए क्योंकि अंतरात्मा ही मनुष्य के समस्त अंगों को कार्य प्रवृत्त करती है। इस बारे में किसी तरह की शंका पैदा नहीं हो सकती। हर एक आदमी इस बात को जानता है। लेकिन फिर भी लोगों को अपनी अंतरात्मा को धोखा देने की आवश्यकता पड़ जाया करती है। लोग इस बात के लिए इतने उत्सुक नहीं होते कि उनकी अंतरात्मा ठीक प्रकार से कार्य करे, जितना इस बात के लिए कि जो कुछ कार्य वे किया करते हैं वह उनको सर्वदा उचित प्रतीत हो। इसलिए वे जान-बूझकर ऐसी नशीली चीजों का इस्तेमाल करते हैं जो उनकी अंतरात्मा के ठीक प्रकार से कार्य करने में बाधा पहुँचानेवाली होती है।

5

लोग इसलिए कभी-कभी शराब या तंबाकू नहीं पीते कि सुस्ती दूर हो, फुर्ती आ जाए। यह बात भी नहीं कि नशा करने में आनंद आता है। असल में वे अंतरात्मा की आवाज को मंद करने के लिए नशा करते हैं। और यदि वास्तविकता यही हो, तो इसके परिणाम कितने भयंकर हो सकते हैं। जरा सोचिए तो उस इमारत की क्या दशा होगी यदि उसको बनानेवाले लोग दीवार को सीधा बनाने के लिए सीधी और सख्त नींव बनावें, बल्कि नरम नींव भरें जो दीवार के बाँके तिरछेपन के अनुसार आगे-पीछे हो जाए; अथवा सही कोण बनाने के लिए समचौरस जमीन के टुकड़े काटने के बजाय ऐसे टुकड़े काट डालें जो बाँके—तिरछे कैसे भी कोण के अनुकूल घटाए-बढ़ाए जा सकें।

किंतु नशा करने की आदत की बदौलत जीवन में ठीक यही हो रहा है। जीवन अंतरात्मा के अनुसार नहीं होता तो अंतरात्मा को जीवन के अनुसार ढाल लिया जाता है। व्यक्तियों के जीवन में यह हो रहा है और सारी मानव जाति के जीवन में भी यही हो रहा है, क्योंकि आखिर मानव जाति को जीवन भी व्यक्तियों के जीवन ही से तो बना है।

अपनी अंतरात्मा को नशीली वस्तुओं का शिकार बनाने के संपूर्ण महत्त्व को समझने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन की विविध आध्यात्मिक अवस्थाओं को सावधानी के साथ याद करना चाहिए। हर एक व्यक्ति को ज्ञात ही होगा कि उसके जीवन के प्रत्येक काल में कुछ खास नैतिक प्रश्न उपस्थित हुए थे, जिनको उसे हल करना चाहिए था और जिनके हल होने पर भी उसके जीवन का समस्त हित निर्भर करता था। इन प्रश्नों को हल करने के लिए चित्त की भारी एकाग्रता की आवश्यकता थी, चित्त को इस प्रकार एकाग्र करना एक प्रकार का श्रम होता है। हर प्रकार के श्रम में खासकर प्रारंभ में ऐसा समय आता है जब काम मुश्किल और कष्टदायक प्रतीत होता है और जब मानव दुर्बलता उस काम को छोड़ देने की प्रेरणा करती है। शारीरिक कार्य प्रारंभ में कष्टदायक प्रतीत होता है, मानसिक कार्य और भी अधिक कष्टदायक प्रतीत होता है। जैसा कि लेसिंग ने लिखा है, जहाँ विचार कठिन होने लगता है वहाँ स्वभावत: लोग सोचना बंद कर देते हैं, किंतु मैं यह कहता हूँ उसी जगह सोचने का काम लाभदायक होने लगता है। मनुष्य अनुभव करता है कि उसके सामने जो प्रश्न है उनको हल करने के लिए श्रम की—बहुधा कष्टदायक काम की—आवश्यकता होगी और वह ऐसी मेहनत से बचना चाहता है। यदि उसके पास अपनी बौद्धिक शक्तियों को प्रमत्त बनाने के साधन न हों तो अपने सामने उपस्थित प्रश्नों को वह भुला नहीं सकता और उनको हल करने की आवश्यकता बलात् उसके सामने

आ खड़ी होगी। किंतु मनुष्य को ऐसे साधन का ज्ञान होता है, जिसके द्वारा वह इन प्रश्नों को अपने सामने से हटा दे सकता है और वह उस साधन का उपयोग करता है। ज्योंही उसके सामने हल होने के लिए प्रश्न उपस्थित होते हैं और उसे सताने लगते हैं, वह इस साधन का उपयोग करता है और कठिन प्रश्नों के कारण पैदा होनेवाली अशांति से बच जाता है। उन प्रश्नों को हल करवाने के लिए अंतरात्मा की पुकार रुक जाती है और जब तक ज्ञानोदय का नया काल नहीं आता वे प्रश्न ज्यों-के-त्यों बिना हल हुए पड़े रहते हैं। किंतु जब ज्ञानोदय का काल आता है तो वही क्रिया पुनः दुहराई जाती है और मनुष्य महीनों, सालों यहाँ तक कि सारी उम्र इन नैतिक प्रश्नों के सामने खड़ा रहता है और उनको हल करने की दिशा में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता। फिर भी इस प्रश्नों के हल होने पर ही जीवन की सारी गति निर्भर करती है।

एक आदमी है जो बहुमूल्य मोती प्राप्त करने के लिए किसी तलैया के गंदे पानी का पेंदा देखना चाहता है किंतु वह पानी में घुसना पसंद नहीं करता और हर बार जब गंदलापन बैठने लगता है और पानी निर्मल होने लगता है तो वह उसको हिला देता है। मनुष्य के जीवन में भी यही होता है। बहुत से मनुष्य जीवन भर नशा करते रहते हैं और जीवन के जिस स्पष्ट और असंगत दृष्टिकोण को एक बार अपना लेते हैं उसी के साथ चिपटे रहते हैं और जब कभी प्रकाश का काल आता है तो हर बार उसी दीवार से लटकते हैं जिससे वह दस या बीस वर्ष पहले टकरा चुके थे, जिसको वे तोड़ नहीं पाते क्योंकि वे विचार की उस तीक्ष्णता को कुंठित बना लेते हैं जिसके द्वारा उस दीवार को तोड़ा जा सकता है।

प्रत्येक मनुष्य को उन वर्षों की अपनी अवस्था पर विचार करना चाहिए जिनमें वह शराब या तंबाकू पीता था। उसे दूसरे लोगों के अनुभव से भी इस बारे में सोचना चाहिए। उसे ज्ञात होगा कि जो लोग नशा करते हैं और जो लोग नशा नहीं करते उनके बीच एक निश्चित अंतर है। मनुष्य जितना ही अधिक नशा करता है, उतना ही नैतिक निगाह से वह जड़ होता है।

6

जैसा कहा जाता है अफीम और गाँजे के नशे का व्यक्तियों पर भयंकर असर होता है। हमको मालूम है कि खुलकर पीनेवाले शराबियों के लिए शराब के क्या परिणाम होते हैं। किंतु बहुसंख्यक आदमी और खासकर हमारे पढ़े-लिखे कहलानेवाले लोग शराब आदि मादक द्रव्यों और तंबाकू का थोड़ी-थोड़ी मात्रा में जो सेवन करते हैं, और जिसमें कोई हर्ज नहीं समझा जाता उसका हमारे सारे समाज के लिए कहीं अधिक भयंकर परिणाम होता है।

यदि हम इस बात को मान लें, और हमें मानना पड़ेगा कि राजनीतिक, सरकारी, वैज्ञानिक, साहित्यिक और कला संबंधी कार्य जिनसे समाज का पथ-प्रदर्शन होता है, अधिकतर ऐसे लोगों द्वारा किए जाते हैं, जिनके दिमाग की हालत सामान्य नहीं होती, अर्थात् वे शराब पिए हुए होते हैं तो स्वभावत: इसके परिणाम भयंकर होंगे।

आमतौर पर यह ख्याल किया जाता है कि संपन्न वर्गों के अधिकांश लोगों की भाँति जो आदमी भोजन के समय हर बार मादक द्रव्य का सेवन करता है, वह दूसरे दिन काम के समय बिल्कुल सामान्य और होश की हालत में आ जाता है। किंतु यह ख्याल बिल्कुल गलत है। जिस आदमी ने कल शराब का एक गिलास पिया होता है, दूसरे दिन आमतौर पर वह अलसाई हुई हालत में होता है, उसके शरीर के अवयव ढीले पड़ जाते हैं, क्योंकि उत्तेजना के बाद ऐसा होता भी है। इस प्रकार उसका दिमाग भी थक जाता है और तंबाकू पीने से इस हालत में वृद्धि ही होती है। जो आदमी थोड़ी मात्रा में नियमित शराब या तंबाकू पीता है, उसके दिमाग को ठीक हालत में लाने के लिए उसको कम-से-कम एक सप्ताह या इससे भी अधिक समय तक शराब और तंबाकू से दूर रहना होगा, किंतु ऐसा शायद ही कभी होता है।

किंतु जो लोग शराब और तंबाकू नहीं पीते, वे नैतिक दृष्टि से बहुधा उन लोगों से निम्न सतह पर क्यों होते हैं जो शराब और तंबाकू पीते हैं। और क्या कारण है कि जो शराब और तंबाकू पीते हैं वे बहुधा मानसिक और नैतिक दोनों प्रकार के उच्चातिउच्च गुणों का परिचय देते हैं।

इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो हम यह नहीं जानते कि जो शराब और तंबाकू पीते हैं, वे यदि इन पदार्थों का सेवन न करते होते तो कितने ऊँचे उठे हुए होते। दूसरे नैतिक-गुण संपन्न मादक द्रव्यों के हानिकर प्रभाव के बावजूद यदि बड़े-बड़े काम कर डालते हैं तो इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि यदि मादक द्रव्यों का सेवन न करते होते तो और भी बड़े-बड़े काम करने में समर्थ हुए होते। जैसा कि एक मित्र ने मुझे बताया कि बहुत संभव है कि कांट यदि इतनी अधिक तंबाकू न पीता होता तो उसके अन्य ग्रंथ इतने अजीब और बुरे तरीके से न लिखे गए होते। आखिर बात यह है कि जितना ही मनुष्य का मानसिक और नैतिक धरातल नीचा होगा उतना ही वह अपनी जीवनचर्या और अंतरात्मा के बीच कम संघर्ष अनुभव करेगा और इसलिए उसको नशीली वस्तुओं की भी कम आवश्यकता होगी। इसके विपरीत यही कारण है कि जो लोग भावुक स्वभाव के होते हैं, उन्हें अपने जीवन और अंतरात्मा के द्वंद्व का फौरन अनुभव होता है और वे उद्विग्न हो जाते हैं और बहुधा मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं और उनके द्वारा विनष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार हमारे समाज में जो काम होते हैं, चाहे उनको करनेवाले हमारे शासक और शिक्षक हों, चाहे शासित और शिष्य, उनमें से अधिकतर काम उस समय होते हैं, जब उनको करनेवालों का मस्तिष्क ठीक ठिकाने नहीं होता।

इसको आप विनोद या अत्युक्ति न समझिए, हमारे जीवन में जो गड़बड़ और पंगुपन दिखाई देता है, उसका मुख्य कारण यह है कि अधिकतर लोग निरंतर नशे की हालत में रहते हैं। यदि लोग शराब से बेहोश न होते, तो क्या संभवत: वे मारकाट और खून-खराबी के उन कामों को करते जो आजकल वे कर रहे हैं ?

बिना किसी आवश्यकता के एक कंपनी बनाई जाती है, पूँजी इकट्ठी की जाती है, मजदूर जुटाए जाते हैं, अंदाज लगाए जाते हैं और योजनायें तैयार की जांती हैं। एक ऊँची बुर्ज बनाने के लिए हजारों टन लोहा और लाखों दिन मजदूरों का श्रम खर्च किया जाता है। लाखों आदमी इस बुर्ज पर चढ़ते हैं, थोड़ी देर वहाँ ठहरते हैं और फिर वापस नीचे उतर आते हैं, लोगों के दिलों में इस इमारत को देखकर इसके अलावा और कोई ख्याल पैदा नहीं होता कि दूसरे स्थानों में इससे भी बड़ी इमारतें बनाई जाएँ। क्या ठीक मस्तिष्कवाले ऐसा कर सकते हैं ? दूसरा उदाहरण लीजिए। वर्षों से यूरोप के लोग जनसंहारक साधनों की खोज में जुटे हुए हैं और ज्योंही जवान होते हैं, उन्हें अधिक-से-अधिक संख्या में जनसंहार की शिक्षा दी जाती है। हर एक आदमी जानता है कि बर्बर लोगों का हमला नहीं होनेवाला है, किंतु विभिन्न सभ्य और ईसाई ये तैयारियाँ आपस ही में एक-दूसरे के विरुद्ध करते रहते हैं। सब जानते हैं कि यह कष्टदायक, असुविधाजनक, हानिकारक, अनैतिक, अपवित्र और अविवेकपूर्ण कार्य है, किंतु फिर भी सब लोग पारस्परिक संहार में संलग्न हैं। कुछ यह निश्चय करने के लिए कि कौन किसके साथ मिलकर किसको मारे, राजनैतिक गठबंधनों की योजना करते हैं। कुछ उन लोगों का पथ-प्रदर्शन करते हैं जिन्हें संहार करने की शिक्षा दी जाती है। और शेष अपनी इच्छा, अपने अंत:करण और अविवेक के विरुद्ध इन संहारक तैयारियों में हिस्सा बँटाते हैं। क्या ठीक मस्तिष्कवाले लोग ऐसा कर सकते हैं ? केवल शराबी लोग, जिनके दिमाग की हालत कभी ठीक नहीं रहती, ऐसे काम कर सकते हैं और जीवन और अंतरात्मा के द्वंद्व की इस भयंकर स्थिति में रह सकते हैं। न केवल उदाहरण में ही, बल्कि अन्य दिशाओं में भी हमारी तरह के आदमी इसी भयंकर स्थिति में पड़े हुए हैं।

मेरा ख्याल है कि आज से पहले अपनी अंतरात्मा की पुकार और लोगों के कार्यों में इतना विरोध कभी नहीं रहा।

मानवता को मानो आज काठ मार गया है। ऐसा मालूम होता है मानो कोई बाह्य कारण उसको अपने आदर्शों के अनुसार स्वाभाविक स्थिति में पहुँचने से रोक रहा है

और वह कारण यदि उसे एकमात्र कारण न कहा जाए तो मुख्य कारण तो कहना ही पड़ेगा, वह है लोगों की प्रमत्त शारीरिक अवस्था, जो शराब और तंबाकू के कारण हमारे अधिकांश लोगों की हो रही है।

इस भयंकर बुराई से जिस दिन मुक्ति मिलेगी, उस दिन मानवता के लिए नए युग का प्रारंभ होगा और वह युग जल्दी ही आ रहा प्रतीत होता है। बुराई को पहचान लिया गया है। मादक द्रव्यों के इस्तेमाल संबंधी हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन हो चुका है। लोग इनकी भयंकर हानियों को समझ चुके हैं और उनकी ओर निर्देश करने लगे हैं। और दृष्टिकोण का यह प्राय: अगोचर परिवर्तन मनुष्यों को अनिवार्यत: मादक द्रव्यों के पाश से मुक्त कर देगा, और अंतरात्मा की आवाज सुनने के लिए उनके कान खुल जाएँगे और वे अपनी अनुभूति के अनुकूल अपनी दिनचर्या बिताने लगेंगे।

मालूम होता है कि ऐसा होना शुरू भी हो गया है किंतु जैसा कि हमेशा होता है, तमाम निम्न वर्गों पर असर होने के बाद अब केवल उच्च वर्गों में इस क्रिया का प्रारंभ हो रहा है।

उद्योग और आलस्य

1

"In the sweat of thy face shall thou eat bread, till thou return unto ground; for out of it was thou taken." —Gen. III, 19.

पंच महाभूतों से तुम्हारे शरीर की सृष्टि हुई है, इसलिए जब तक तुम्हारा शरीर इन पंच महाभूतों में पुन: विलीन न हो जाए, तब तक तुम निरंतर परिश्रम करके—पसीना बहाकर—अपना उदर पोषण करो।

—जिनेसिस, भाग 3, अध्याय 19

टी. मिहालोविच बोंडारीफ ने एक पुस्तक लिखी है। इसका शीर्षक है 'उद्योग और आलस्य'; और इस पर बाइबिल का उपर्युक्त उद्धरण दिया गया है। इसकी हस्तलिखित लिपि का मैंने अवलोकन किया है। भाषा के सौंदर्य, स्पष्टता और ओज की दृष्टि से यह पुस्तक मुझको अत्यंत चमत्कारी मालूम हुई। इसकी प्रत्येक पंक्ति से लेखक के विश्वास की सत्यता स्पष्ट रूप से टपकती है। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि इस पुस्तक में जो मूल विचार प्रतिपादित किया गया है, वह बड़ा महत्त्वपूर्ण, गहरा और सत्य है। श्रीयुत टी. एम. बोंडारीफ का जन्म सन् 1820 में एक गुलाम खानदान

में हुआ था। सन् 1858 में वह 25 वर्ष के लिए फौज में नौकरी करने को भेज दिए गए। लेकिन वहाँ जाकर वे 'सबारेरियन' संप्रदाय (जो बाइबिल के पुराने संस्करण को ही प्रामाणिक मानता था और दूसरी अनेक बातों में यहूदी धर्म का अनुसरण करता था) के अनुयायी बन गए। परिणामस्वरूप 1867 में वे साइबेरिया के ऊदीना नामक स्थान को निर्वासित कर दिए गए। यहाँ पर उन्होंने एक किसान के रूप में भारी उद्योग और परिश्रम करके अपने लिए एक अच्छा सुखदायक परिवार बसा लिया था। लेकिन यहाँ पर भी उन्होंने अपने 'रोटी के लिए मजदूरी' के सिद्धांत का प्रचार करने का प्रयत्न किया, जिसकी वजह से वे पुनः दरिद्र बन गए। उनकी उपर्युक्त पुस्तक अधिकारियों की कोप-दृष्टि की वजह से रूस में प्रकाशित नहीं हो सकी, लेकिन फ्रेंच और दूसरी भाषाओं में उसके अनुवाद प्रकाशित किए जा चुके हैं। अपनी इस पुस्तक का दूसरा शीर्षक बोंडारीफ ने 'कृषक की विजय' भी रखा है।

इस पुस्तक का आधारभूत विचार निम्नलिखित है—मनुष्य-जीवन-संबंधी सब बातों में इस जानकारी का विशेष महत्त्व नहीं है कि कौन-सी वस्तु अच्छी है और कौन-सी बुरी। बल्कि जानने की बात तो यह है कि संसार में जितनी भी उत्तम और आवश्यक बातें हैं उनमें सबसे पहले किसको महत्त्व दिया जाए और क्रमानुसार आगे बढ़ते हुए सबसे अंत में किसको रखा जाए।

अगर सांसारिक विषयों में यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण है, तो श्रद्धा संबंधी और आध्यात्मिक विषयों में जिनके द्वारा मनुष्य अपने कर्तव्यों का निश्चय करता है, इसका महत्त्व और भी अधिक बढ़ा-चढ़ा है।

आरंभिक गिरजे का टेटिन नामक एक उपदेशक कहता है कि मनुष्यों के कष्टों का कारण उनका ईश्वर को न पहचानना उतना नहीं है, जितना उनका एक झूठे ईश्वर में विश्वास रखना, और इस प्रकार जो वास्तव में ईश्वर नहीं है उसको ईश्वर की भाँति पूजना है। ठीक यही बात मनुष्य की अपने कर्तव्य-संबंधी धारणाओं पर भी लागू होती है। मनुष्यों पर आपत्तियाँ पड़ने और उनके अंदर बुराइयाँ पैदा होने की वजह यह नहीं है कि वे अपने कर्तव्यों को नहीं पहचानते। बल्कि उन पर आपत्तियाँ आने और उनके अंदर बुराइयाँ पैदा होने की खास वजह यह है कि उन्होंने झूठे कर्तव्यों को अंगीकार कर रखा है और उन बातों को उन्होंने कर्तव्य बना रखा है जिनका वस्तुतः उनमें समावेश नहीं होता और जो वास्तव में उनका सबसे पहला कर्तव्य है, उसको वे अपना कर्तव्य नहीं मानते।

बोंडारीफ अपनी पुस्तक में इस बात की घोषणा करता है कि मनुष्यों के जीवन में बुराइयाँ और आपत्तियाँ इसलिए आती हैं कि उन्होंने बहुत से हानिकर और निरर्थक नियमों को धार्मिक कर्तव्यों का रूप दे रखा है और अपने एवं दूसरे लोगों की

दृष्टि से ओझल कर रखा है। उस प्रमुख, परमावश्यक और स्पष्ट कर्तव्य को जिसका उल्लेख बाइबिल में सबसे पहले किया गया है—अर्थात् 'मनुष्य को चाहिए कि वह अपने शरीर से पसीना बहाकर अपना उदर पोषण करे।'

जो लोग इस बात में विश्वास रखते हैं कि बाइबिल में लिखे हुए शब्द ईश्वरीय शब्द हैं और ईश्वर के शब्द पवित्र एवम् अचूक होते हैं, उनके लिए तो बाइबिल में स्वयं ईश्वर ने जो आज्ञा दे रखी है और जिसका कहीं खंडन नहीं हुआ है उसकी न्यायोचितता स्वयं सिद्ध है। लेकिन जो लोग बाइबिल पर विश्वास नहीं रखते उनके सामने इस ईश्वरीय आदेश का महत्त्व और औचित्य दूसरी तरह से सिद्ध किया जा सकता है। वह इस प्रकार कि मनुष्य जाति की आधुनिक अवस्थाओं का अनुसंधान किया जाए, जैसा कि श्री बोंडारीफ ने अपनी पुस्तक में किया है। सिर्फ जरूरत इस बात की है कि उस ईश्वरीय आदेश को अलौकिक नहीं बल्कि मानव-बुद्धिमत्ता का सीधा-सादा चिह्न समझा जाए। लेकिन दुर्भाग्य से इस प्रकार के अनुसंधान-कार्य में हमारे सामने हमेशा एक बड़ी भारी बाधा उपस्थित हो जाया करती है। वह यह है कि हमारे धर्मगुरुओं ने धर्मग्रंथों के शब्दों को तोड़-मरोड़कर उनका इतना मूर्खतापूर्ण और दूषित अर्थ कर डाला है कि हममें से बहुत से लोग ज्योंही इस बात को सुनते हैं कि अमुक सिद्धांत का प्रतिपादन तो धर्मग्रंथों के आदेशों में भी विद्यमान है, त्योंही हम इस बात को उस सिद्धांत पर अविश्वास करने को पर्याप्त कारण समझ लेते हैं।

''मैं पवित्र धार्मिक ग्रंथों की परवाह क्यों करूँ? मैं तो जानता हूँ कि उन सबके अंदर कूड़ा-करकट भरा है। और उनमें से तुम अपनी-अपनी इच्छानुसार चाहे जिस चीज को साबित कर सकते हो।'' ऐसी बातें अक्सर उन लोगों के मुँह से सुनाई देती हैं जो धर्मग्रंथों में विश्वास नहीं रखते और धर्म को एक अनुपयोगी वस्तु समझते हैं।

लेकिन उनकी यह धारणा युक्ति-युक्त नहीं है। अगर लोग धर्मग्रंथों का गलत अर्थ लगाए तो इसमें उन ग्रंथों का क्या दोष? और अगर कोई व्यक्ति सत्य बात कहता है तो क्या वह इस बात पर दोष का भागी हो सकता है कि जो बात उसने कही है वह तो धर्मग्रंथों में भी लिखी हुई है?

इसके अलावा एक बात और है, और उसको हमें कभी भूलना नहीं चाहिए। वह यह कि अगर थोड़ी देर के लिए हम मान लें कि जिन्हें लोग धर्मग्रंथ कहते हैं वे मनुष्यों के बनाए हुए हैं, ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं तो भी हमको इस बात का स्पष्टीकरण तो करना ही पड़ेगा कि क्या वजह है कि दूसरे सब निबंधों को छोड़कर लोगों ने मनुष्यों द्वारा रचित इन्हीं निबंधों को स्वयं ईश्वर के कहे हुए वाक्य मानना शुरू कर दिया? इसका कोई-न-कोई कारण जरूर होना चाहिए।

और इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है।

इन धर्मग्रंथों को अंध-श्रद्धालु लोग ईश्वर द्वारा निर्मित इसलिए कहते रहे हैं कि वे उन सबसे उत्तम और श्रेष्ठ हैं जिनका लोगों को ज्ञान है; और यही वजह है कि कुछ लोगों के द्वारा सर्वथा निंदनीय ठहराए जाने पर भी ये धर्मग्रंथ अब तक कायम रहे हैं और आज भी ईश्वरीय माने जाते हैं। इन धर्मग्रंथों को ईश्वरीय ज्ञान से युक्त माने जाने की वजह यह है कि इनके अंदर मनुष्य-जाति का सर्वोच्च ज्ञान भरा पड़ा है। और बाइबिल के नाम से जो धर्मग्रंथ विख्यात है, उसके अनेक भागों के संबंध में वस्तुतः यही बात कही जा सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक के आरंभ में जो धर्म-वाक्य उद्धृत किया गया है और जिसको बोंडारीफ ने अपनी पुस्तक में विस्तार के साथ समझाया है, वह भी इस प्रकार के धर्मग्रंथों का एक विस्मृत, उपेक्षित और गलत तरीके से समझा हुआ कथन है। इस कथन और स्वर्ग की कहानी का आमतौर पर शाब्दिक अर्थ समझ लिया जाता है, मानो इस कहानी में वर्णित सारी घटनाएँ वास्तव में किसी अवसर विशेष पर घटित हुई हों। परंतु इस संपूर्ण आख्यायिका का वास्तविक तात्पर्य केवल इतना ही है कि वह मानव स्वभाव की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को हमारे सामने आलंकारिक रूप में उपस्थित करती है।

मनुष्य मृत्यु से सदा भयभीत रहता है। लेकिन उसकी मृत्यु उतनी ही निश्चित है जितना प्रतिदिन सूर्य का उदय होना। अच्छाई और बुराई का ज्ञान न होने पर मनुष्य सुखी दिखलाई पड़ता है। लेकिन फिर भी उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए वह निरंतर प्रयत्न किया करता है, मनुष्य को आलस्य पसंद है, और बिना किसी तरह का शारीरिक कष्ट उठाए वह अपनी अभिलाषाओं को पूरा करना चाहता है। लेकिन उसका अथवा उसकी संपूर्ण जाति का जीवन केवल परिश्रम और कष्ट सहिष्णुता से ही कायम रह सकता है।

जिस वाक्य को बोंडारीफ ने उद्धृत किया है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस वाक्य का महत्त्व इस बात में नहीं है कि उसके बारे में जन-श्रुति है कि ईश्वर ने यह वाक्य आदम को कहा था, बल्कि इसका महत्त्व इस बात में है कि यह वाक्य हमारे सामने एक सत्य को प्रकट करता है—मनुष्य जीवन के एक अटल नियम की घोषणा करता है। गुरुत्वाकर्षण का नियम इसलिए सच्चा नहीं है कि न्यूटन ने उसका प्रतिपादन किया था, बल्कि सच्चाई इस बात में है कि मैं न्यूटन को जानता हूँ और उसकी इस बात के लिए मैं उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ कि उसने मुझको एक ऐसे शाश्वत नियम का ज्ञान कराया जिसके सहारे से मैं एक विशेष प्रकार की संपूर्ण बातों के रहस्य को समझ सकता हूँ।

यही बात इस नियम के संबंध में भी चरितार्थ होती है कि "मनुष्य को चाहिए

कि वह पसीना बहाकर अपना उदर पोषण करे।'' यह एक ऐसा नियम है जो मेरे सामने एक विशेष प्रकार की संपूर्ण बातों को अपने असली रूप में रख देता है। और एक बार इसका परिचय पा लिया तो अब मैं इसको कभी भूल नहीं सकता और मैं उस व्यक्ति के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिसने मुझको ऐसा स्वर्ण-नियम बताया।

सिर्फ ऊपर-ऊपर से देखने पर तो यह नियम अत्यंत सरल और परिचित-सा दिखाई पड़ता है और इसमें कहे गए सत्य का प्रमाण प्राप्त करने के लिए हमको केवल अपने चारों ओर एक नजर भर डालने की जरूरत रहती है। लेकिन सच बात तो यह है कि इस नियम को अंगीकार करना और इसका पालन करना तो दूर रहा, लोग इसके विपरीत नियम को मानते तथा उस पर आचरण तक करते हैं। लोगों का विश्वास कुछ ऐसा बन गया है कि राजा से लगातार रंक तक सभी इस नियम का पालन करने के बजाय उससे बचने का प्रयत्न करते हैं। बोंडारीफ की संपूर्ण पुस्तक का उद्देश्य इस नियम के स्थायित्व और निर्विकल्पत्व को प्रमाणित करना तथा लोगों को यह बात बतलाना है कि इस नियम की उपेक्षा करने से उन्हें किन-किन अनिवार्य आपदाओं का सामना करना पड़ता है। बोंडारीफ ने इस नियम को दूसरे तमाम नियमों से श्रेष्ठ और सबसे पहला नियम माना है।

बोंडारीफ इस बात को बतलाता है कि हमारे सारे पापों अर्थात् हमारी भूलों और बुरे कामों की जड़ यह है कि हम इस नियम की उपेक्षा करते हैं। मनुष्य के लिए जितने कर्तव्य निश्चित हैं उन सबमें बोंडारीफ प्रत्येक मनुष्य के लिए इस कर्तव्य को सबसे प्रधान, सर्वप्रथम और निर्विकल्प समझता है कि वह अपने हाथों से अपनी रोटी कमाए। यहाँ पर रोटी के लिए मजदूरी से उसका तात्पर्य उन तमाम भारी और कर्कश कामों से है जो भूख और प्यास जनित मृत्यु से बचने के लिए मनुष्य को करने पड़ते हैं, और रोटी शब्द से उसका तात्पर्य अनाज, पानी, पेय पदार्थों, कपड़ों, मकानों और ईंधन से है।

इस संबंध में बोंडारीफ का मौलिक विचार यह है कि 'जीवित रहने के लिए मनुष्य को परिश्रम करना चाहिए। इस नियम को हम लोग अब तक जीवन का सिर्फ एक अवश्यंभावी नियम मानते रहे हैं, लेकिन भविष्य में हमको उसे मनुष्य जीवन का एक लाभदायक नियम मानने लगना चाहिए और इसका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य बना देना चाहिए।

यह नियम समाज का एक धार्मिक नियम बन जाना चाहिए। जिस प्रकार इतवार को छुट्टी रखी जाती है, जिस प्रकार गिरजा के ईसाई देव-प्रसाद ग्रहण किया करते हैं, जिस प्रकार मुसलमान दिन में पाँच बार नमाज पढ़ा करते हैं और जिस प्रकार हिंदू सायं-प्रातः संध्या करते हैं तथा एकादशी और अमावस्या को उपवास किया करते हैं उसी प्रकार यह नियम भी मनुष्यों का एक दैनिक धार्मिक कृत्य बना दिया जाना

चाहिए। बोंडारीफ एक स्थान पर कहता है कि यदि लोग रोटी के लिए मजदूरी के सिद्धांत को अपना धार्मिक कर्तव्य मानने लगें तो अपने व्यक्तिगत अथवा विशेष धंधों में बिना किसी प्रकार की बाधा पहुँचाए वे इस नियम का भली-भाँति पालन कर सकते हैं। जिस प्रकार गिरजा-मतावलंबी लोगों को उनके विशेष रोजगार निर्धारित दिनों पर छुट्टियाँ मनाने से नहीं रोकते उसी प्रकार यह नियम भी उनके इन रोजगारों में बाधा नहीं पहुँचा सकता। प्रतिवर्ष लोग लगभग 80 दिनों की[1] छुट्टी मनाते रहते हैं, लेकिन बोंडारीफ के लगाए हुए हिसाब के अनुसार रोटी के लिए मजदूरी करने के नियम का पालन करने के लिए चालीस दिन ही पर्याप्त होंगे।

आरंभ में यह बात हमको विचित्र अवश्य मालूम होगी कि सब की समझ में आने लायक और इतने सरल साधन के द्वारा, जिसमें किसी प्रकार के कौशल एवम् पांडित्य की आवश्यकता नहीं, हम किस प्रकार मनुष्य-जाति को उसकी असंख्य बुराइयों से बचा सकते हैं। लेकिन इससे भी अधिक विचित्र बात तो यह है कि हम लोग कितने अनाड़ी हैं कि अपने पास उतने स्पष्ट, सरल और दीर्घ काल से परिचित साधन के होते हुए भी हम उसकी उपेक्षा कर रहे हैं और अपनी बुराइयों की दवा नाना प्रकार की जटिलताओं, पांडित्य और कौशलपूर्ण बातों में खोजते हैं। यदि पाठक इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे तो हमारे कथन की सत्यता उन पर भलीभाँति प्रकट हो जाएगी।

पानी के हौज के पेंदे में सुराख हो जाने पर अगर कोई आदमी सुराख को बंद किए बिना ही हौज में से पानी को निकलने न देने के भाँति-भाँति के चतुरतापूर्ण उपाय करने लगे तो क्या उससे पानी का निकलना बंद हो जाएगा? समाज में प्रचलित बुराइयों को दूर करने के लिए हम आज-कल जिन असंख्य उपायों को काम में ला सकते हैं वे सब इसी प्रकार के उपाय हैं। हम रोग की जड़ को तो छूते तक नहीं और उसके पत्तों और डालियों को काटने में हमने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। क्या इससे रोग का नाश हो सकता है?

समाज के अंदर कुछ बुराइयाँ तो इस प्रकार की हैं जिन्हें लोग प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे के साथ करते हैं। उदाहरणार्थ किसी की हत्या कर डालना, किसी को फाँसी पर लटका देना, कैद में डाल देना, लड़ाई में मार डालना इत्यादि ऐसे कार्य हैं

---

1. रूस में संतों के दिन बहुत संख्या में है। इन दिनों में वहाँ पर काम की छुट्टी रहती है लेकिन वहाँ सप्ताह में शनिवार को अन्य दिन से आधे या पूरे दिन की छुट्टियाँ नहीं रहती। इसलिए जोड़ लगने पर वहाँ के इंग्लैंड के छुट्टी के दिनों का समय करीब-करीब बराबर जाता है।

जिनमें "मनुष्य हिंसा का प्रयोग करके पाप का भागी बनता है। किंतु अगर इन कार्यों को हम एक ओर रख दें तो यह सवाल पैदा होता है कि मनुष्य जीवन की दूसरी बुराइयों का वास्तविक कारण क्या है ?" सिवाय उन बुराइयों के जो प्रत्यक्ष हिंसा के द्वारा पैदा होती हैं, मनुष्य जाति की तमाम बुराइयों की जड़ है, लोगों की भूखमरी, मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक सब प्रकार के पदार्थों का अभाव अपने-अपने सामर्थ्य से अधिक परिश्रम करना, अथवा इसके विपरीत असंयमित और आलसी जीवन बिताना और इस प्रकार के जीवन के फलस्वरूप पैदा हुई अनैतिकता और चरित्र-हीनता। ऐसी अवस्था में किसी मनुष्य के लिए इससे अधिक पवित्र दूसरा कौन-सा कर्तव्य हो सकता है कि वह इस असमानता का विनाश करने में मददगार बने ? वह एक ओर तो जन-साधारण की गरीबी को मिटाने और दूसरी ओर संपत्ति के प्रलोभनों का नाश करने में सहायक बने। और वह कौन-सा तरीका है जिससे मनुष्य इन बुराइयों का नाश करने में मददगार बन सकता है ? वह तरीका इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि एक ओर मनुष्य जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाले कार्यों में हिस्सा ले और दूसरी ओर प्रलोभनों और चरित्र-हीनता को उत्पन्न करनेवाले भोग-विलासमय, प्रमादपूर्ण असंयमित जीवन से अपने-आपको मुक्त कर ले—अर्थात् जैसा कि बोंडारीफ का कथन है, प्रत्येक व्यक्ति अपने उदर-पोषण के लिए स्वयं अपने हाथों से परिश्रम करे।

मनुष्य जाति में प्रचलित बुराइयों का दुखड़ा कहाँ तक रोया जाए! हम लोग बहुत गहराई तक दलदल में फँस चुके हैं और भाँति-भाँति के धार्मिक, सामाजिक और कौटुंबिक कानूनों और नियमों के जाल में हमने अपने-आपको बहुत बुरी तरह जकड़ लिया है। साथ ही हमने विविध प्रकार की इतनी धर्माज्ञाओं और उपदेशों को स्वीकार कर रखा है कि हमारे अंदर से सद्-असद् विवेक-बुद्धि का सर्वथा लोप हो गया है।

हमारी प्रचलित समाज व्यवस्था वस्तुतः अत्यंत विचित्र है! हम में से एक आदमी मंदिर में पूजा करता है, दूसरा आदमी सैन्य-संग्रह करता है, अथवा सेना के लिए जनता से कर वसूल करता है, तीसरा आदमी न्यायाधीश का काम करता है, चौथा आदमी पुस्तकों का अध्ययन करता है, पाँचवाँ आदमी लोगों की चिकित्सा करता है और छठा आदमी बालकों को शिक्षा देने का कार्य करता है। इन सब लोगों ने उपर्युक्त कार्यों के करने का बहाना बनाकर रोटी के लिए मजदूरी करने के कर्तव्य से अपने-आपको स्वतंत्र कर लिया है और उस कर्तव्य को दूसरे लोगों पर लाद दिया है और इस बात को बिल्कुल भूल गए हैं कि असंख्य मनुष्य शक्ति-क्षीणता, अतिपरिश्रम एवम् भूख के मारे आए दिन मौत के शिकार बनते जा रहे हैं। साथ ही

वे इस बात को भी भूल जाते हैं कि मंदिरों की पूजा करनेवाले, सेना द्वारा देश की रक्षा करनेवाले, अपराधों का निर्णय करनेवाले, रोगियों की चिकित्सा करने वाले और बालकों को शिक्षा देनेवाले—इन सब प्रकार के लोगों का समाज में अस्तित्व बनाए रखने के लिए सबसे पहले इस बात की आवश्यकता है कि उपर्युक्त असंख्य मनुष्यों को भूखों मरने से बचाया जाए। हम इस बात का जरा भी ख्याल नहीं करते कि मनुष्यों के असंख्य प्रकार के कर्तव्यों में से कुछ का नंबर उनके महत्त्व और उपयोगिता की दृष्टि से सबसे पहले आता है, कुछ का सबसे बाद में; और यह कि जिस प्रकार मनुष्य को खेत जोतने से पहले खेत को नींदने का कार्य नहीं करना चाहिए, उसी प्रकार उसको चाहिए कि वह अपने प्रारंभिक कर्तव्य को पूरा किए बगैर अंतिम कर्तव्य को पूरा करने का प्रयत्न कदापि न करे।

बोंडारीफ की संपूर्ण शिक्षा का सार केवल यही है। बोंडारीफ प्रतिदिन के हमारे व्यावहारिक जीवन के उस असंदिग्ध और प्रारंभिक कर्तव्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहता है। बोंडारीफ का कथन है कि इस कर्तव्य की पूर्ति करने से न तो दूसरे किसी कार्य को हानि पहुँच सकती है और न इससे किसी व्यक्ति के मार्ग में कठिनाइयाँ ही पैदा हो सकती हैं। बल्कि यह लोगों को दरिद्र और दुःखी होने से बचाती है और उसको संपत्ति के प्रलोभनों में फँसने नहीं देती। इस कर्तव्य की पूर्ति का सबसे बड़ा, सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे अधिक कल्याणप्रद परिणाम यह होगा कि वह भयंकर विषमता नष्ट हो जाएगी, जिसके अनुसार संपूर्ण मनुष्य जाति आज धनवान और गरीब, किसान और जमींदार, शासक और जनता ऐसे दो भागों में बँटी हुई है, जो एक-दूसरे से घृणा करते हैं और अपनी इस घृणा को एक-दूसरे की चाटुकारिता में छिपा रहे हैं। बोंडारीफ कहता है कि रोटी के लिए मजदूरी करने का सिद्धांत सब लोगों को समान श्रेणी में पहुँचा देता है और भोग-विलास के पर काट डालता है।

कोई भी मनुष्य उत्तमोत्तम वस्त्र पहने हुए, अपने हाथों को स्वच्छ रखते हुए और प्रतिदिन बढ़िया भोजन करते हुए न तो खेतों में हल चलाने का कार्य कर सकता है और न कुआँ ही खोद सकता है। ऐसे-ऐसे कार्य करने के लिए तो नजाकत की इन चीजों का सर्वथा त्याग करना पड़ेगा। कोई भी पवित्र धंधा, जो सब लोगों के लिए सामान्य हो, मनुष्यों को एक सूत्र में बाँध देगा। बोंडारीफ का कथन है कि रोटी के लिए मजदूरी करने का सिद्धांत एक ओर तो उन लोगों को विवेकशक्ति प्रदान करेगा, जो मनुष्य के लिए अत्यंत स्वाभाविक जीवन-चर्या का परित्याग करके अपनी विवेक-शक्ति खो बैठे हैं और दूसरी ओर यह उन लोगों को सुख और संतोष प्रदान करेगा, जो असंदिग्ध रूप से उपयोगी, स्वयं ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट नियमों के अनुरूप

कार्य को करने में संलग्न हैं।

बोंडारीफ कहता है कि रोटी के लिए मजदूरी करने का सिद्धांत मनुष्य जाति में प्रचलित बुराइयों का एकमात्र दवा है। अगर मनुष्य इन प्रारंभिक नियमों की ईश्वर के एक अपरिवर्तनीय नियम के रूप में स्वीकार कर ले—अगर प्रत्येक मनुष्य इस बात को मान ले कि अपने हाथ से मजदूरी करके अपना पेट भरना उसका एक अनिवार्य कर्तव्य है—तो दुनिया के तमाम आदमी एक ही परमात्मा में विश्वास करने लग जाएँ और एक-दूसरे के साथ प्रेम-सूत्र में बँध जाएँ, तथा जिन कष्टों के भार के नीचे आज हम दबे हुए हैं, वे सब-के-सब समाप्त हो जाएँ।

लेकिन हम ऐसा करते कहाँ हैं? हम तो आजकल ऐसी जिंदगी बिताने के आदी हो गए हैं, जिसके उपरोक्त विचार सर्वथा विपरीत हैं। हमने इस बात को स्वयं-सिद्ध सत्य मान रखा है कि संपत्ति अथवा धन-दौलत ईश्वर का एक आशीर्वाद और ऊँची सामाजिक स्थिति अथवा पद-प्रतिष्ठा का द्योतक है, जिसके द्वारा हम रोटी के श्रम करने से बच सकते हैं। हम बोंडारीफ के मंतव्य का विश्लेषण किए बिना ही यह मान लेना चाहते हैं कि उसकी योजना संकीर्ण, इकतरफा, सारहीन तथा मूर्खतापूर्ण है। लेकिन हमको चाहिए कि हम उस मंतव्य का सावधानी के साथ विश्लेषण करें, और फिर इस बात का निर्णय करें कि वह सही है अथवा गलत।

हम लोग सब प्रकार के धार्मिक और राजनैतिक सिद्धांतों की आलोचना एवम् जाँच-पड़ताल किया करते हैं। आज हम बोंडारीफ के सिद्धांत की भी जांच-पड़ताल कर डालें। सबसे पहले हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि अगर बोंडारीफ के मंतव्य के अनुसार धार्मिक शिक्षा द्वारा रोटी के लिए श्रम करने के सिद्धांत पर प्रकाश डाला जाए और सब लोग परिश्रम के इस पवित्र और प्राथमिक नियम को मानने लगें, तो इसका परिणाम क्या होगा?

उस अवस्था में सब-के-सब मनुष्य हाथ से काम करने लग जाएँगे और अपनी-अपनी मेहनत से कमाई हुई चीजों का उपयोग करने लगेंगे। तब अनाज और मनुष्य की प्रारंभिक आवश्यकताओं की दूसरी चीजें खरीदने और बेचने के पदार्थ नहीं रह जाएँगे। इसका क्या परिणाम होगा?

परिणाम यह होगा कि भविष्य में लोग भूखे, प्यासे, नंगे और दरिद्र नहीं रहने पाएँगे। अर्थात् अभाव के कारण मृत्यु के ग्रास न बनेंगे। अगर किसी दैवी प्रकोप अथवा अन्य दुर्भाग्य-पूर्ण परिस्थितियों के कारण उस समय कोई आदमी अपने और अपने परिवार के लिए पर्याप्त अन्न उत्पन्न नहीं कर सकेगा, तो उसका कोई पड़ोसी जिसने अच्छी परिस्थितियों के कारण विपुल मात्रा में अन्न पैदा कर लिया होगा, उस

आदमी के लिए आवश्यक अन्न की पूर्ति कर देगा। वह खुशी से ऐसा करेगा, कारण जब अन्न बिकेगा नहीं, तो फिर उसका दूसरा उपयोग भी क्या होगा? उस समय मनुष्यों को इस बात का प्रलोभन भी नहीं होगा कि वे अभाव के मारे चालाकी अथवा जोर-जबर्दस्ती से अपने लिए रोटी प्राप्त करें। और जब उनके आगे ऐसा प्रलोभन न होगा, तो वे चालाकी और हिंसा का आश्रय भी न लेंगे। जो अभाव आज उन्हें अनैतिक उपायों के लिए विवश करता है उस समय वह दूर हो चुकेगा।

उस अवस्था में भी अगर कोई आदमी चालाकी अथवा हिंसा का आश्रय लेगा, तो आजकल की भाँति उसकी वजह यह हरगिज नहीं होगी कि उसको इस प्रकार के दुष्कर्म करने की आवश्यकता है; बल्कि उसकी वजह सिर्फ यह होगी कि वह ऐसे काम करना पसंद करता है।

न ही उस समय दुर्बल मनुष्यों को—उन मनुष्यों को जो किसी कारणवश अपनी रोटी खुद कमाने में असमर्थ होंगे, अथवा जिन्होंने अपनी कमाई के साधन को किसी प्रकार खो दिया होगा—रोटी के लिए अपने शरीरों अथवा कभी-कभी आत्माओं को बेच देने की आवश्यकता होगी।

उस समय आजकल की तरह यह आम कोशिश भी न होगी कि खुद तो अपनी रोटी के लिए परिश्रम न किया जाए और दूसरों से परिश्रम करवाया जाए, अर्थात् कमजोरों को उनकी शक्ति से अधिक काम लेकर कुचलने की कोशिश की जाए और बलवानों को परिश्रम से बिल्कुल ही मुक्त कर दिया जाए।

आजकल मनुष्यों का दिमाग इस बात में खर्च नहीं होता कि श्रमजीवियों के बोझ को हल्का किया जाए, वह तो इस बात में खर्च हो रहा है कि किस प्रकार आलसियों के आलस्य को हल्का और आकर्षक बनाया जाए। उस समय मनुष्यों की यह वृत्ति न होगी। जब सब लोग रोटी के लिए श्रम करेंगे और इसको प्रथम मानव-नियम समझेंगे, तो हमारी गाड़ी आसानी से चल निकलेगी। मूर्खों ने गाड़ी को उलट दिया है और उधर-से-इधर खींच रहे हैं। इस गाड़ी को हम पुनः पहियों पर खड़ी कर देंगे। परिणाम यह होगा कि गाड़ी टूटने से बच जाएगी और आसानी से चलने लगेगी।

हम रोटी के लिए मजदूरी करने के सिद्धांत को नहीं मानते और उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यह है हमारे आजकल के जीवन की विशेषता। इस गलत जीवन को सुधारने की कोशिशें ठीक वैसी ही हैं जैसी कि पहियों को आकाश की ओर करके गाड़ी को खींचने की कोशिश हो सकती है। जब तक हम गाड़ी को उलटकर रास्ते पर खड़ी नहीं कर देते, तब तक हमारे सारे सुधार निष्फल सिद्ध होंगे।

संक्षेप में बोंडारीफ का यही विचार है और मैं इससे पूरे तौर पर सहमत हूँ। यह सारा मामला मेरे सामने पुनः इस रूप में उपस्थित होता है—किसी जमाने में लोग एक-

दूसरे को खा जाते थे। जब मनुष्यों के अंदर पारस्परिक एकता की भावना का उदय और विकास हुआ तो इस प्रकार का पैशाचिक कार्य असंभव हो गया और लोगों ने एक-दूसरे को खाना छोड़ दिया। इसके बाद ऐसा जमाना आया, जब लोगों ने हिंसा और जोर-जबर्दस्ती के द्वारा अपने साथी मनुष्यों के पसीने की कमाई पर नाजायज कब्जा करके उन्हें अपना गुलाम बना डाला। लेकिन मनुष्यों की चेतना-शक्ति का और अधिक विकास हुआ और यह कार्य भी अब असंभव हो गया। यद्यपि अब भी छुपे हुए तरीकों से बल प्रयोग होता है, तथापि उसका वह स्थूल रूप नष्ट हो चुका है—अर्थात् अब लोग दिन-दहाड़े एक-दूसरे की कमाई नहीं हड़पते। आजकल इस हिंसा और बल-प्रयोग ने जो स्वरूप धारण कर रखा है, वह यह है कि कुछ लोग दूसरे लोगों की आवश्यकताओं और अभावों का लाभ उठाकर उनका शोषण करते हैं। बोंडारीफ की सम्मति में वह जमाना भी बहुत जल्द आनेवाला है, जब लोगों के अंदर मनुष्य-जाति की एकता की भावना इतनी अधिक विकसित हो जाएगी कि मनुष्यों के लिए दूसरे लोगों की आवश्यकताओं—भूख, प्यास और सर्दी-गर्मी—का लाभ उठाकर उसका शोषण करना असंभव हो जाएगा। और तब रोटी के लिए मजदूरी करना लोग अपना एक अनिवार्य कर्तव्य मानने लगेंगे और जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के पदार्थों को खरीदना-बेचना बंद कर देंगे, और आवश्यकता पड़ने पर एक-दूसरे के लिए भोजन-वस्त्र सुलभ करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझेंगे।

इस मामले पर दूसरे दृष्टिकोण से विचार करते हुए मैं बोंडारीफ द्वारा प्रस्तुत समस्या को निम्नलिखित रूप में समझता हूँ—हमने बहुधा लोगों को यह कहते हुए सुना है कि केवल नकारात्मक नियम और धार्मिक आदेश सामाजिक सुधार के लिए काफी नहीं हैं। "हमको तो स्वीकारात्मक नियमों की—ऐसे नियमों की जो हमें बतलाएँ कि अमुक-अमुक कार्य हमको करने चाहिए—जरूरत है।" ईसा मसीह के निम्नलिखित पाँच आदेश हैं—1. किसी को तुच्छ अथवा भ्रांत-चित्त मत समझो और न किसी के प्रति क्रोध करो; 2. स्त्री-संभोग को आनंद का विषय मत समझो; और चाहे तुम स्त्री हो या पुरुष, जिस किसी के भी साथ तुम्हारा एक बार वैवाहिक संबंध बँध चुका है, उसका साथ मृत्यु-पर्यंत मत छोड़ो; 3. किसी के आगे सौगंध न खाओ, न अपनी स्वतंत्रता ही किसी को बेचो; 4. दूसरों के आक्रमणों और जोर-जबर्दस्ती को सहन करो, हिंसा के द्वारा उनका कभी प्रतिकार मत करो; और 5. किसी भी मनुष्य को अपना शत्रु मत समझो; बल्कि अपने शत्रुओं से भी अपने मित्रों की भाँति ही प्रेम करो। लोग अक्सर इस बात की शिकायत किया करते हैं कि ईसा के ये पाँचों आदेश केवल यह बतलाते हैं कि मनुष्य को अमुक-अमुक काम नहीं करने चाहिए। लेकिन ऐसा कोई भी आदेश अथवा धार्मिक नियम नहीं है जो

हमको बतलाए कि अमुक-अमुक कार्य करने चाहिए।

और यह बात सचमुच विचित्र मालूम होती है कि ईसा मसीह के उपदेशों में इस प्रकार के निश्चित आदेश नहीं हैं कि मनुष्य को अमुक-अमुक कार्य करने चाहिए। लेकिन यह बात सिर्फ उन्हीं लोगों को विचित्र मालूम हो सकती है, जिनकी ईसा के उपदेशों में श्रद्धा नहीं है। अन्यथा उन लोगों को मालूम हो जाता है कि ईसा की शिक्षा इन्हीं पाँच आदेशों तक सीमित नहीं है, बल्कि उसकी सारी शिक्षा स्वयं सत्य की शिक्षा है।

ईसा सत्य का पुजारी था। उसने सत्य की जो शिक्षा दी, उसको हम आदेशों और धार्मिक नियमों में नहीं ढूँढ़ सकते, बल्कि उसको हम सिर्फ एक ही चीज में पा सकते हैं। वह चीज है उसके द्वारा हमारे सामने रखा गया मनुष्य जीवन का नया आदर्श। मनुष्य जीवन के इस नवीन आदर्श का सार यह है कि व्यक्तिगत सुख के द्वारा जीवन और उसके शुभ फलों को प्राप्त नहीं किया जा सकता, जैसा कि साधारणत: लोगों की धारणा है; उन्हें तो परमात्मा और मनुष्यों की सेवा करने से ही प्राप्त किया जा सकता है। यह ऐसा आदेश नहीं है, जिसका किसी प्रतिफल की आशा से पालन किया जाए और न यह किसी रहस्यपूर्ण और अबोधनीय पदार्थ की रहस्यपूर्ण अभिव्यक्ति ही है। बल्कि यह मनुष्य-जीवन के पहले से छिपे हुए एक नियम का केवल उद्घाटन मात्र है। इसके द्वारा हमको यह लाभ होता है कि जब हम इस सत्य को समझ लेंगे, तभी जीवन हमारे लिए वरदान सिद्ध हो सकेगा। इसलिए ईसा की संपूर्ण स्वीकारात्मक शिक्षा इस एक बात में व्यक्त कर दी गई है— ईश्वर से प्रेम करो और अपने पड़ोसी से भी उसी तरह प्रेम करो जिस तरह तुम अपने-आप से एवं अपने कुटुंबियों से प्रेम करते हो। इस उपदेश पर कुछ लिखना तथा इसका विस्तार करना असंभव है। यह उपदेश संपूर्ण है,क्योंकि इसके अंदर सब कुछ समाया हुआ है। यहूदी-धर्म और बौद्ध-धर्म के आदेशों या धार्मिक नियमों की भाँति ईसा मसीह के आदेश और धार्मिक नियम भी मनुष्यों को सिर्फ उन परिस्थितियों का संकेत मात्र करते हैं, जिनमें दुनिया के मायाजाल मनुष्यों को जीवन के सच्चे प्रयोजन से भटका देते हैं। और यही वजह है कि धार्मिक आदेश और धार्मिक नियम संसार में अनेक हो सकते हैं, लेकिन मनुष्य-जीवन संबंधी स्वीकारात्मक शिक्षा— इस बात की शिक्षा कि मनुष्य को क्या करना चाहिए—सिर्फ एक ही हो सकती है।

प्रत्येक मनुष्य का जीवन कहीं-न-कहीं जा रहा है। चाहे उसकी इच्छा हो या न हो, वह हिलता-डुलता है, कर्म करता है—जीवित रहता है। ईसा ने मनुष्यों को जीवन का राजमार्ग बतला दिया और साथ ही उस सच्चे मार्ग से भटकनेवाले रास्तों की ओर भी संकेत कर दिया। इस प्रकार के संकेत अनेक हो सकते हैं। यही धार्मिक

आदेश कहलाते हैं। ईसा ने इस प्रकार के पाँच धार्मिक आदेश दिए हैं, और सब आदेश ऐसे हैं कि आज भी इनमें से एक में भी कोई कमीबेशी नहीं की जा सकती। लेकिन जीवन के राजमार्ग की दिशा सिर्फ एक ही बतलाई गई है, क्योंकि एक निश्चित दिशा को बतलानेवाली सीधी लाइन एक ही हो सकती है।

इसलिए यह विचार कि ईसा की शिक्षा में केवल नकारात्मक आदेश ही हैं और स्वीकारात्मक एक भी नहीं है, सिर्फ उन्हीं लोगों को सच्चा प्रतीत होता है, जो या तो सत्य की शिक्षा अर्थात् ईसा मसीह द्वारा इंगित जीवन के सच्चे मार्ग की दिशा नहीं जानते, या उस शिक्षा में विश्वास नहीं रखते। लेकिन जो लोग ईसा द्वारा बतलाए गए जीवन-मार्ग की सत्यता में विश्वास रखते हैं, वे उसके उपदेशों में स्वीकारात्मक आदेशों को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न नहीं करेंगे। इन लोगों को तो जीवन के सच्चे मार्ग की शिक्षा से उद्‌भव होनेवाले समस्त स्वीकारात्मक कार्यों का, चाहे वे कार्य कितने ही भिन्न-भिन्न प्रकार के क्यों न हों, हमेशा स्पष्ट और निस्संशयास्पद रूप से पता होता है।

इस जीवन-मार्ग में श्रद्धा रखनेवाले लोग, स्वयं ईसा मसीह की उपमा के अनुसार, निर्मल जल के महान स्रोत की भाँति होते हैं। उनके सारे कार्य इस जल के प्रवाह के समान होते हैं। यह जल बाधाओं और आपत्तियों की परवाह किए बिना सब तरफ बहा करता है। ईसा की शिक्षा में श्रद्धा रखनेवाले आदमी के सामने यह सवाल कभी पैदा ही नहीं होता कि उसको किन-किन स्वीकारात्मक आदेशों का पालन करना चाहिए; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की भूमि में से फूटकर बाहर निकलनेवाले जल-स्रोत के सामने यह सवाल पैदा नहीं होता कि वह किधर बहे और किधर न बहे। वह तो बह निकलता है और भूमि, घास, वृक्षों, पक्षियों, पशुओं और मनुष्यों की प्यास बुझाता जाता है।

और जो आदमी ईसा मसीह की शिक्षा में श्रद्धा रखता है वह भी ठीक ऐसा ही करता है। ईसा मसीह की शिक्षा को माननेवाला आदमी यह कभी नहीं पूछेगा कि वह क्या करे। जो प्रेम उसके जीवन की प्रेरक-शक्ति बना हुआ है, वह उसको निश्चित और अनिवार्य रूप से बतला देगा कि वह कहाँ काम करे, कौन-सा काम पहले करे और कौन-सा बाद में।

थोड़ी देर के लिए हम यहाँ पर ईसा मसीह की शिक्षा के आदेशों को एक ओर रख देते हैं, जो इन बातों से पूर्ण रूप से भरे हुए हैं कि प्रेम का सर्वप्रथम और अत्यंत आवश्यक कार्य यह है कि हम भूखों को भोजन दें; प्यासों को जल पिलाएँ; वस्त्रहीन लोगों के शरीरों को कपड़े से ढँकें; और दीन-हीन, असहाय, अनाथ व्यक्तियों तथा कैदियों की सहायता करें। हम यहाँ पर केवल अपनी विवेक-शक्ति से काम लेना चाहते हैं। हमारी बुद्धि, हमारी आत्मा और हमारी अंतःस्फूर्ति सब-

के–सब हमको इस बात के लिए बाध्य करते हैं कि जीवित मनुष्यों के प्रति प्रेमपूर्ण सेवा का कोई दूसरा कार्य हाथ में लेने से पूर्व सबसे पहले हम अपने मानव बंधुओं की कष्टों और मृत्यु से रक्षा करके उनकी जिंदगी को कायम रखें और उन्हें उस मृत्यु से बचाएँ जो प्रकृति के साथ उनके दुस्साध्य संघर्ष में पग–पग पर उनके सामने आ खड़ी होती है। दूसरे शब्दों में हम लोगों को मनुष्य–जीवन के लिए परमावश्यक परिश्रम के कामों में—जमीन में किए जानेवाले प्राथमिक, कठोर और भारी श्रम के कार्यों में—हिस्सा बँटाने के लिए आदेश दिया गया है।

जिस प्रकार कोई जल–स्रोत यह प्रश्न नहीं पूछ सकता कि मैं अपना पानी किस तरफ बहाऊँ?—आया घासों और वृक्षों के पत्तों पर छींटें डालते हुए ऊपर की तरफ पानी बहाऊँ या घास और वृक्षों की जड़ों में पानी पहुँचाते हुए नीचे की तरफ अपने पानी को बहाऊँ? उसी तरह से सत्य की शिक्षा में श्रद्धा रखनेवाला आदमी भी यह प्रश्न नहीं पूछ सकता कि मुझको सबसे पहले कौन–सा कार्य करना चाहिए?—आया मैं लोगों को विद्या पढ़ाऊँ, उनकी रक्षा करूँ, उनका मन बहलाऊँ और उनके सामने जीवन के सुख–साधनों को प्रस्तुत करूँ; या जीवन–धारण करने के लिए आवश्यक सामग्री के अभाव में उन्हें नष्ट होने से बचाऊँ? और जिस प्रकार किसी–किसी स्रोत का जल भूमि को तृप्त करने के बाद ही जमीन की सतह पर बहने लगता है और तालाबों को भरता एवं मनुष्यों और पशुओं की प्यास बुझाता है; ठीक उसी प्रकार सत्य की शिक्षा में श्रद्धा रखनेवाला पुरुष मनुष्य–जाति की प्राथमिक और परमावश्यक आवश्यकताओं (माँगों) की पूर्ति करने के बाद उनसे कम आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के कार्य में हाथ लगा सकता है। जब तक वह भूखे लोगों की भूख नहीं बुझा लेता और जीवन सामग्री की पूर्ति के संघर्ष में उनको नष्ट होने से नहीं बचाता, तब तक वह दूसरा कोई कार्य अपने हाथ में नहीं ले सकता। जो मनुष्य सत्य और प्रेम की शिक्षा का अनुकरण वचन से नहीं, प्रत्युत मन–वचन, कर्म सभी से कर रहा है, वह इस बारे में कभी गलती नहीं कर सकता कि उसको सबसे पहले कौन–सा कार्य करना चाहिए। जिस मनुष्य ने दूसरे लोगों की सेवा को ही अपने जीवन का प्रयोजन समझ रखा है क्या वह कभी ऐसी भयंकर भूल करेगा कि बेला, सारंगी और हारमोनियम बजाकर बढ़िया आभूषण तैयार करके, अथवा गोला, बारूद तथा तोपें बजाकर भूखे और नंगे लोगों की सेवा करना प्रारंभ करे।

प्रेम इतना मूर्ख नहीं हो सकता।

जिस प्रकार किसी आदमी के प्रति हमारे मन में प्रेम हो और यदि हम उसको भूखा मरता हुआ देखें तो हमें हमारा प्रेम उसको उपन्यास सुनाने का आदेश नहीं देगा और यदि वह आदमी नंगा है, तो हमारा प्रेम इस बात को भी बर्दाश्त न करेगा कि

हम उसको कपड़े पहनाने के बजाय उसके कानों में बहुमूल्य बालियाँ पहना दें, ठीक इसी प्रकार मनुष्य-जाति के प्रति हमारा प्रेम हमको इस बात की इजाजत नहीं देता कि हम उसके सुख से रहनेवाले अंग का मनोरंजन करते रहें और उसके भूखे और नंगे को जीवन-सामग्री के अभाव में मर जाने दें।

सच्चा प्रेम,—वह प्रेम जो केवल शाब्दिक ही न हो, बल्कि कार्य में भी परिणत किया जाए—कभी अविवेकपूर्ण नहीं हो सकता। वह तो हमको सच्ची अनुभूति और सच्ची विवेक-शक्ति प्रदान करता है।

और, इसलिए, जो मनुष्य इस प्रकार के विशुद्ध प्रेम से ओत-प्रोत होता है, वह अपने कर्तव्य के बारे में कभी गलती नहीं करता। वह तो सबसे पहले उसी कार्य को करता है, जिसको मनुष्यों के प्रति उसका प्रेम सबसे आवश्यक बतलाता है। इस प्रकार वह उसी कार्य को करता है, जिससे भूखे, नंगे, ठंड से ठिठुरते हुए और परिश्रम के भार से दबे हुए मनुष्यों के प्राणों की रक्षा होती है। लेकिन यह कार्य प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष करके ही किया जा सकता है।

जब मनुष्यों का अधिकांश समुदाय खतरे में हो, भूखा और नंगा हो और जीवन-सामग्री के अभाव की पूर्ति के लिए घोर संघर्ष कर रहा हो, तब वे ही लोग इस दुखी समुदाय को मदद न पहुँचाते हुए दूर खड़े तमाशा देख सकते हैं, जो अपने-आपको तथा दूसरों को धोखा देना चाहते हैं। ऐसे ही लोग दूसरे लोगों का बोझ बढ़ाते हुए भी अपने-आपको और अपनी आँखों के सामने नष्ट होनेवाले दूसरे मनुष्यों को यह विश्वास दिला सकते हैं कि वे उनकी रक्षा करने के साधन ढूँढ़ रहे हैं, अथवा ढूँढ़ने में तल्लीन हैं।

कोई भी शुद्ध हृदय व्यक्ति, जिसने दूसरों की सेवा करना ही अपने जीवन का उद्देश्य समझ रखा है, अपने मुँह से ऐसी बात नहीं कहेगा। अथवा यदि वह इस बात को कहता है, तो उसकी आत्मा उसके इस भ्रम का कभी समर्थन नहीं करेगी, बल्कि उसको अपने कथन का प्रतिपादन श्रम-विभाजन के कुटिल सिद्धांत में से ढूँढ़ना होगा। कनफ्यूशियन से लगाकर मुहम्मद साहब तक सच्ची माननीय बुद्धिमत्ता के जितने भी अवतार हुए हैं, उन सबके अंदर उसको यही एक सत्य बराबर दृष्टिगोचर होगा (और ईसाई धर्मग्रंथों में यह सत्य और भी अधिक स्पष्टतापूर्वक दिखलाई पड़ेगा) कि मनुष्य दूसरों की सेवा श्रम-विभाग के सिद्धांत के अनुसार नहीं, बल्कि सबसे सरल स्वाभाविक और एकमात्र आवश्यक तरीके से करे, अर्थात् वह बीमारों, गरीबों, भूखों, नंगों और कैदियों की सेवा करे। और बीमारों, गरीबों, भूखों, नंगों एवम् कैदियों को अपने खुद के तात्कालीन प्रत्यक्ष परिश्रम द्वारा ही सहायता पहुँचाई जा सकती है—क्योंकि बीमार, भूखे और नंगे लोगों के लिए अधिक समय तक

प्रतीक्षा करना कठिन होता है; वे तो भूख और ठंड के मारे मर जाते हैं।

जिस आदमी ने सत्य की शिक्षा को अंगीकार कर लिया है और जिसने अपने जीवन का लक्ष्य दूसरों की सेवा करना निश्चित किया है; उस आदमी का जीवन उसको बाइबिल के आरंभ में व्यक्त किए गए इस प्राथमिक नियम की ओर ले जाएगा कि "मनुष्य को चाहिए कि वह अपने पसीने की कमाई से अपना उदर पोषण करे।" बोंडारीफ इस नियम को सबसे पहला नियम कहता है, इसको सर्वसाधारण के सामने स्वीकारात्मक आदेश के रूप में रखता है।

और जो लोग ईसामसीह द्वारा व्यक्त किए गए मनुष्य-जीवन के तात्पर्य को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके लिए तो यह सचमुच स्वीकारात्मक नियम है। ईसा के पहले के लोगों के लिए यह ऐसा ही नियम था, और जो ईसा की शिक्षा को नहीं मानते, उनके लिए यह आज भी ऐसा ही बना हुआ है। इस आदेश का यह तकाजा है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति को धर्मग्रंथों में व्यक्त और हमारी बुद्धि द्वारा अनुमानित परमात्मा के नियमानुसार—अपना उदर-पोषण अपने निज के परिश्रम से ही करना चाहिए। यह स्वीकारात्मक नियम था, और जब तक सत्य की शिक्षा द्वारा मनुष्य-जीवन का तात्पर्य मनुष्य को ज्ञात होता रहेगा, तब तक यह नियम स्वीकारात्मक ही रहेगा।

परंतु ईसा मसीह ने मनुष्य-जीवन का जो उच्च आदर्श हमारे सामने रखा है, उसके अनुसार रोटी के लिए मजदूरी करने का सिद्धांत पहले के समान अक्षुण्ण रहते हुए भी ईसा मसीह की मनुष्य-सेवा संबंधी एक मात्र स्वीकारात्मक शिक्षा के भली-भाँति अनुकूल बैठता। इसलिए इस नियम को अब हमें स्वीकारात्मक नहीं, प्रत्युत नकारात्मक ही समझना चाहिए। ईसाई दृष्टिकोण से यह नियम हमारा ध्यान एक प्राचीन मायाजाल की ओर आकर्षित करता है; और मनुष्यों को बतलाता है कि जीवन के सच्चे मार्ग से इधर-उधर न भटकने और उस पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ रहने के लिए उन्हें किन-किन बातों से बचते रहना चाहिए। जो लोग सत्य की इस शिक्षा को नहीं मानते, तथा जो लोग पुरानी बाइबिल के अनुयायी हैं, उनके लिए इस नियम का अर्थ निम्नलिखित है—"अपनी रोटी अपने निज के हाथों से परिश्र्म्र करके उपार्जन करो।" लेकिन ईसाई धर्म के अनुयायी के लिए इस नियम का तात्पर्य नकारात्मक है। उसको यह नियम कहता है कि "जब तक तुम दूसरों के परिश्रम से उपार्जित पदार्थों का उपभोग करते हो और अपने हाथों से अपनी आजीविका पैदा नहीं करते, तब तक तुम यह न समझो कि तुम दूसरों की सेवा कर सकते हो।"

यह नियम प्रत्येक ईसाई का ध्यान उस अत्यंत प्राचीन और भयंकर प्रलोभन की ओर आकर्षित करता है, जिससे मनुष्य-जाति पीड़ित है। बोंडारीफ की शिक्षा का

उद्देश्य इसी प्रलोभन (जिसका परिणाम अत्यंत भयंकर है और जो इतना प्राचीन है कि उसके बारे में यह कहना भी हमारे लिए कठिन है कि यह मनुष्य का स्वाभाविक संस्कार नहीं, बल्कि एक भ्रम-मात्र है) का विरोध करना और इस प्रलोभन एवम् उसके परिणामों को जनता के सामने असली रूप में रख देना है। क्या पुरानी बाइबिल पर विश्वास रखनेवाले, क्या नई बाइबिल को माननेवाले और क्या बाइबिल को न मानने और अपनी विवेक-शक्ति पर भरोसा रखनेवाले—इन सब लोगों के समान रूप से बोंडारीफ की शिक्षा के अनुसार आचरण करना चाहिए।

मैं इस सिद्धांत की सच्चाई को प्रमाणित करने और इसके खिलाफ पेश की जाने वाली उन तमाम पेंचीदा और तरह-तरह की दलीलों को झूठा साबित करने के लिए, जो हम सबकी जबानों पर हर समय तैयार रहती हैं, बहुत-कुछ लिख सकता था और मैंने बहुत कुछ लिखा भी होता। पर सच बात तो यह है कि हम लोग इस बात को जानते हैं कि सब दोष हमारा है, और इसलिए हम लोग अपनी गलती को औचित्य सिद्ध करने को सर्वदा तत्पर रहते हैं। इसलिए मैं इस संबंध में कितना ही विस्तारपूर्वक और कितनी ही उत्कृष्ट भाषा में अपने विचार प्रकट क्यों न करूँ और मेरे विचार कितने ही तर्क-सम्मत क्यों न हों, फिर भी मैं अपने पाठकों का समाधान तब तक नहीं कर सकूँगा, जब तक उनकी बुद्धि मेरी बुद्धि के विरुद्ध अड़ी रहेगी और हृदय वज्र की भाँति निष्ठुर और बर्फ की तरह ठंडा बना रहेगा।

और इसलिए मैं अपने पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि थोड़ी देर के लिए वे अपनी बुद्धि की उड़ानें भरना बंद कर दें। उन्हें न तो मेरे साथ वाद-विवाद करने की जरूरत है और न किसी बात को साबित करने की ही। मेरा अनुरोध उनसे यह है कि केवल अपने हृदय को और उसी से अपने सवालों और दलीलों का जवाब माँगें। आप चाहे कोई भी क्यों न हों, कितने ही कुशाग्र बुद्धि क्यों न हों, अपने आस-पास वालों के प्रति कितने ही दयावान क्यों न हों, आप कितने ही ऊँचे पद प्रतिष्ठावाले क्यों न हों, फिर भी मैं आपसे पूछता हूँ भोजन करते समय और राजनैतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, आयुर्वेदिक अथवा शिक्षासंबंधी समस्याओं की मीमांसा करते समय यदि आप अपने दरवाजे पर किसी नंगे, भूखे, ठंड से ठिठुरते हुए, बीमार और कष्ट-पीड़ित मनुष्य को देखें और उसका करुण क्रंदन सुनें, तो क्या आप चुपचाप बैठे रह सकते हैं—क्या आपके दिल में जरा भी वेदना, जरा भी सहानुभूति का भाव जागृत नहीं होगा? नहीं, ऐसा हरगिज नहीं हो सकता। तो फिर ऐसे कष्ट-पीड़ित लोग तो हर वक्त हमारे आस-पास मँडराते हैं। अगर हमारे दरवाजे पर न सही, तो हमारे घर से दस कदम अथवा दस मील के फासले पर अवश्य ऐसे व्यक्ति मिल जाएँगे। वहाँ पर लोग मौजूद हैं और आप इस बात को जानते हैं।

और आपको ऐसी शांति, ऐसा आनंद कहाँ मिलेगा, जो उपर्युक्त असलियत के ज्ञान से विषाक्त नहीं हो चुका है? आप उनको अपने दरवाजे पर न देखने पाएँ, इसलिए आप सीखचे लगाकर या अपनी निष्ठुरता से उन्हें अपने से दूर रखते हैं, या खुद ऐसी जगह चले जाते हैं, जहाँ पर वे दिखलाई न पड़ें। फिर भी वे सर्वत्र विद्यमान हैं।

और अगर आपको कोई ऐसा स्थान मिल जाए जहाँ आप उनको न देख सकें, तो भी आप सत्य और परमात्मा से बचकर कहीं नहीं जा सकते। तब फिर यह प्रश्न उठता है कि ऐसी अवस्था में करना क्या चाहिए।

आपको क्या करना चाहिए, इस बात को आप जानते हैं और सत्य की शिक्षा से भी आपको इस बात का पता लग जाएगा।

ऊपर से उतरकर नीचे आ जाओ—तुमको यह जो गढ़ा दिखाई पड़ता है, वह दरअसल ऊपर की सतह है—और जो लोग भूखों के लिए भोजन पैदा करते और नंगों के लिए वस्त्र तैयार करते हैं उनके साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर खड़े हो जाओ इनमें जरा भी झिझक अथवा भय न लाओ, ऐसा करने से तुम्हारा जरा भी नुकसान नहीं होगा, बल्कि सब तरह से तुम्हारा लाभ ही होगा। सर्व-साधारण की श्रेणी में अपना नाम लिखा लो और अपने नाजुक, कमजोर एवं अनभ्यस्त हाथों से भूखों को भोजन और नंगों को कपड़ा देनेवाले प्राथमिक कार्य में लग जाओ, रोटी के लिए श्रम करो, प्रकृति के साथ संघर्ष करो, तब अपने जीवन में पहली बार तुमको इस बात का अनुभव होगा कि तुम दृढ़ भित्ति पर खड़े हो। साथ ही तुमको यह भी अनुभव होगा कि तुम्हारे अंदर सच्ची शांति है, तुम स्वतंत्र हो, स्वावलंबी हो, तुमने दृढ़तापूर्वक पैर जमा रखे हैं और तुम अपनी यात्रा के अंतिम सिरे तक पहुँच चुके हो। इसके अतिरिक्त तुम उस परिपूर्ण, निर्मल और निर्विकल्प आनंद का भी उपभोग करोगे, जो और कहीं नहीं पाया जाता और जिसकी रक्षा न तो अपने घरों में दरवाजे बना देने से होती है और न खिड़कियों तथा बैठकों में पर्दे डाल देने से ही।

तब तुम्हें ऐसे-ऐसे नूतन आनंद प्राप्त होंगे, जिन्हें तुमने पहले कभी अनुभव नहीं किया होगा। तब तुम अपने जीवन में प्रथम बार उन मजबूत और सीधे-सादे लोगों—अपने मानव बंधुओं—से परिचय प्राप्त करोगे, जो अब तक दूर रहकर तुम्हारा भरण-पोषण करते रहे हैं, और उस समय तुम्हारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहेगा, जब तुम उनके अंदर ऐसे-ऐसे सद्गुणों को देखोगे, जिनको तुमने पहले कभी नहीं देखा था—तुम्हारे साथ वे इतनी विनय, इतनी शिष्टता, इतनी दयालुता प्रकट करेंगे कि तुम्हें सचमुच ताज्जुब होगा, तुम अपने-आपको उसके अयोग्य समझोगे।

उन्हीं पर जीवन बसर करने और जीवनभर उनसे घृणा करने के बाद अंत में अपने-आपको पहचान लेने और अपने अनभ्यस्त हाथों से उनकी मदद करने की कोशिश करने के बदले वे तुम्हारे प्रति अत्यंत दयार्द्रता, कृतज्ञता और आदर प्रकट करेंगे। जहाँ तुमको तिरस्कार और डाँट-फटकार की आशा थी, वहाँ तुम्हें उसके सर्वथा विपरीत अनुभव होगा।

तब तुम देखोगे कि जिस चीज को तुम एक द्वीप समझते थे और जिसके बारे में तुम्हारा यह ख्याल था कि समुद्र के तूफान में डूबने से बचकर तुमने उस पर शरण पाई है, वह एक दलदल मात्र है, जिसमें तुम अधिकाधिक गहरे फँसते जा रहे थे। इसके विपरीत दूसरी ओर तुम देखोगे कि जिस चीज को समुद्र समझकर तुम डरते थे, वह एक सूखा भूभाग है और उस पर तुम दृढ़ता और आनंदपूर्वक निश्चिंत होकर घूम-फिर सकते हो। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई परिणाम निकल भी नहीं सकता, क्योंकि तब तुम असत्य और भ्रम-जाल (जिसमें तुम अपनी निज की इच्छा से नहीं, बल्कि दूसरों के कहने में आकर फँस गए थे) को तोड़कर सत्य का आश्रय ले चुके होगे, और ईश्वर के उद्देश्य का तिरस्कार करने के स्थान पर उसका पूर्णतया पालन करने में जुट पड़े होंगे।

सामाजिक कुरीतियाँ

अनुवादक

माधवप्रसाद मिश्र

जमीन और मजूर

मानव-समाज या पशुओं का झुंड

"मुझे सारा मनुष्य-समाज जानवरों के उस झुंड के समान दिखाई दिया, जिसमें, बैल, गाय और बछड़े सभी हैं और जो मजबूत तारों से घिरे हुए बाड़े के भीतर बंद हैं। बाड़े के बाहर हरी-हरी घास का सुंदर चरागाह है, और बहुत-सी खाने-पीने की चीजें लगी हुई हैं; बाड़े के भीतर उन जानवरों के खाने भर को काफी घास नहीं है, और इस कारण जो कुछ भी घास वहाँ हैं, उसको पाने के लिए वे जानवर अपने नुकीले तेज सींगों से एक-दूसरे को बड़ी बेरहमी से मार रहे हैं और एक-दूसरे को अपने पैरों तले कुचल रहे हैं। मैंने देखा कि उन जानवरों का मालिक, जो अच्छे स्वभाव और समझवाला आदमी था, उनके पास आया। उनकी हालत देखकर वह बड़ा हैरान हुआ और सोचने लगा कि उनकी हालत को सुधारने के लिए कौन-से उपाय काम में लाए जा सकते हैं। उसने सुंदर, खूब हवादार और नालीदार गोशालाएँ बनवा दीं, जिससे रात में रहने के लिए जानवरों को सुभीता हो जाए। उसने उनके सींगों के सिरे मढ़वा दिए; जिसमें वे अपनी जान बचाने की कोशिश में एक-दूसरे को अधिक निर्दयता के साथ मार न सकें। उसने उस बाड़े का एक हिस्सा बूढ़े बैलों और गायों के लिए अलग कर दिया, इसलिए कि अपनी जिंदगी के आखिरी दिनों में उन्हें पेट का गड्ढा भरने के लिए ज्यादा मेहनत न करनी पड़े और वे जीते रहने भर को काफी घास वे पा सकें। इधर बछड़े दूसरे जानवरों से सताए जा रहे थे। कुछ भूख के मारे तड़प-तड़पकर मर रहे थे और इसलिए इस योग्य नहीं थे कि बढ़कर आगे चलें और किसी काम में आ सकें। इसलिए उसने यह इंतजाम किया कि उन्हें रोज़ सबेरे पीने को थोड़ा-सा दूध मिल जाया करे। हाँ, किसी को भी काफी दूध नहीं मिलता था, तो भी उन सभी को इतना-इतना दूध जरूर मिल सकता था कि वे जीवित रह सकें। वास्तव में उन पशुओं के स्वामी ने उनकी दशा सुधारने के लिए जो कुछ भी वह कर सका, किया; परंतु जब मैंने उससे पूछा कि आप एक सीधी-सी बात क्यों नहीं करते ? इस जंगले को हटाकर इन पशुओं को इसके बाहर क्यों नहीं निकाल

देते, जिससे वे मनमानी घास खा सकें और अपनी इच्छानुसार इधर-उधर घूम सकें, तो उसने उत्तर दिया—"यदि मैं ऐसा करूँ तो उनका दूध मैं कदापि नहीं दुह सकता।"

श्रम-विभाजन

मनुष्य चाहे जहाँ और चाहे किसी अवस्था में भी रहे, उसका घर तथा उसके महल की ऊँची अट्टालिकाएँ आप-से-आप नहीं बन जातीं; उसके चूल्हे में ईंधन आप-से-आप नहीं पहुँच जाता; पानी भी आप-से-आप नहीं आ जाता; और उसके खाने के लिए बना हुआ भोजन आसमान से नहीं टपकता। उसका भोजन, उसके वस्त्र तथा उसके जूते आदि ये सारी चीजें पहले के लोगों ने ही तैयार नहीं किए हैं, बल्कि इस समय भी वे आदमी तैयार कर रहे हैं, जो रात-दिन अधिक परिश्रम करने पर भी अपने-आपको तथा अपने छोटे-छोटे बच्चों को यातनाओं एवं भूखों मरने से बचाने के लिए काफी भोजन और वस्त्र तथा रहने का स्थान नहीं पाते, जो रोज सैकड़ों और हजारों की संख्या में मरते और मिटते चले जा रहे हैं।

सब मनुष्य दरिद्रता के चंगुल में फँसे हुए हैं। उन्हें अपनी जीविका-उपार्जन के लिए इतना कठिन परिश्रम करना पड़ता है और इतनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है कि उनकी आँखों के सामने उनके माता-पिता, भाई-बहन तथा बच्चे भूखे और दरिद्रता से उत्पन्न होनेवाले रोगों के मारे मरते चले जाते हैं। उनकी दशा एक टूटे हुए, अथवा समुद्र में पड़े हुए जहाज़ पर के आदमियों के समान है, जिनके पास खाने-पीने का बहुत थोड़ा सामान बच रहा है। ईश्वर अथवा प्रकृति ने ही सभी मनुष्यों को ऐसा बना दिया है कि वे अपनी जीविका का आप उपार्जन करें और जीवन की आवश्यकताओं के साथ निरंतर संग्राम करते रहें। अतः हमारे इस काम में किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप करना अथवा दूसरों से ऐसा परिश्रम लेना, जिसका सार्वजनिक हित के लिए कोई उपयोग नहीं है, उनके तथा हमारे लिए एकसमान घातक है। तो फिर क्या कारण है कि अधिकांश पढ़े-लिखे खुद तो कुछ भी परिश्रम नहीं करते, और उलटे शांति के साथ दूसरों से परिश्रम लेते चले जाते हैं? यदि उन बेचारों से यह फिजूल परिश्रम न लिया जाए तो वे अपनी आजीविका के लिए कोई उपयोगी काम तो करें। फिर पढ़े-लिखे लोग ऐसे जीवन को स्वाभाविक और उचित क्यों समझते हैं?

एक ऐसे जूते बनानेवाले मोची को देखकर हमें बड़ा आश्चर्य होगा, जो समझता है कि लोग उसे भोजन देने के लिए बाध्य हैं। क्यों? इसलिए कि वह जूते बना रहा

है, जिनके लिए उससे किसी ने भी फरमाइश नहीं की थी। पर हम उन सरकारी मुलाजिमों, धर्माधिकारियों या शिल्प एवं विज्ञान-संबंधी कार्य करनेवाले आदमियों के संबंध में क्या कहेंगे, जो कोई ऐसी बात नहीं करते जो सर्व-साधारण के लाभ की हो? नहीं—बल्कि जिनके काम की किसी को भी आवश्यकता नहीं है, फिर भी जो बड़े साहस के साथ समाज के श्रम-विभाजन के नाम पर अच्छा भोजन और अच्छे वस्त्र चाहते हैं?

हाँ, हम मानते हैं कि श्रम-विभाजन वास्तव में हमेशा से चला आ रहा है। परंतु वह विभाजन ठीक तभी समझा जाएगा, जब मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि और शुद्ध अंतःकरण से इस बात का निर्णय करे कि यह श्रम-विभाजन किस प्रकार किया जाना चाहिए। यदि सभी मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि से काम लें, तो इस प्रश्न का निबटारा बड़ी सरलता और निश्चय के साथ हो सकता है। यह श्रम-विभाजन सच्चा तभी माना जा सकता है, जब किसी मनुष्य के कार्य को दूसरे लोग अपने लिए इतना आवश्यक समझें कि वे उससे वह काम करने के लिए कहें और इस संबंध में उनके लिए जो कुछ भी वह करे; उसके बदले में वे अपनी इच्छा से उसे भोजन, वस्त्र आदि देने का भार अपने ऊपर ले लें। परंतु खयाल कीजिए, एक आदमी अपनी बाल्यावस्था से लेकर तीस वर्ष की उम्र तक दूसरों की ही कमाई पर गुलछर्रे उड़ाता रहा, और यह वादे करता रहा कि मैं किसी समय कोई बहुत ही उपयोगी काम कर दिखाऊँगा, जिसके लिए उससे किसी ने कभी कहा भी नहीं है—खैर, वह अपना विद्याध्ययन भी समाप्त कर चुकता है, पर इसके बाद भी वह अपनी बाकी जिंदगी उसी प्रकार बिता रहा है—हाँ, और बराबर वादे करता चला जाता है कि मैं शीघ्र ही कोई अच्छा काम करूँगा। भला बताइए, यह भी कोई श्रम-विभाजन है? यह तो वस्तुतः बलवानों द्वारा निर्बलों के परिश्रम का अनुचित उपयोग करना है, जिसे दैववादियों ने 'भाग्य', दार्शनिकों ने 'जीवन की अनिवार्य अवस्था' तथा आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने 'श्रम-विभाजन' की उपाधि दे रखी है। श्रम-विभाजन मानव-समाज में सदैव से रहा है, और मैं साहस के साथ कह सकता हूँ, सदैव रहेगा भी। परंतु हमारे सामने प्रश्न यह नहीं है कि यह हमेशा से रहा है और भविष्य में भी हमेशा रहेगा, बल्कि वास्तविक प्रश्न यह है कि इस श्रम-विभाजन को उचित रूप किस प्रकार दिया जा सकता है।"

श्रम-विभाजन तो है। "देखिए न, कुछ लोग मानसिक श्रम कर रहे हैं, कुछ आध्यात्मिक परिश्रम में लगे हुए हैं और कुछ मनुष्य शारीरिक परिश्रम करने में व्यस्त हैं।" मनुष्य किस विश्वास के साथ कहते हैं! उन्हें यह विचार सुखद मालूम होता है इसलिए उन्हें इस व्यवस्था में आपसी सेवाओं का उचित परिवर्तन दिखाई देता है,

जो वास्तव में प्राचीन समय से होता आया भीषण अत्याचार है।

"तू अथवा तुम"—क्योंकि प्रायः बहु-संख्यक लोग ही एक की सेवा किया करते हैं—"तुम मुझे भोजन दो, वस्त्र दो और मेरे लिए वह सब मोटा काम करो, जो करने के लिए मैं तुमसे कहूँ और जिसके करने का तुम्हें अपने बचपन से अभ्यास रहा है, और इसके बदले मैं तुम्हारे लिए दिमागी काम करूँगा, जिसके करने का पहले से मुझे अभ्यास रहा है। तुम मुझे शारीरिक भोजन दो और मैं इसके बदले तुम्हें आध्यात्मिक भोजन दूँगा।"

यह कथन बिल्कुल ही उचित जान पड़ता है और वास्तव में यह उचित ही होता, यदि सेवाओं का यह परिवर्तन स्वतंत्र रूप से किया गया परिवर्तन होता; यदि वे लोग, जो शरीर के भोजन से हमारी तृप्ति करते हैं, आध्यात्मिक भोजन पाने के लिए शारीरिक भोजन देने को बाध्य न होते। आध्यात्मिक भोजन तैयार करनेवाला मनुष्य कहता है, "इसलिए कि मैं तुम्हें यह मानसिक भोजन देने में समर्थ हो सकूँ, तुम्हें चाहिए कि मुझे भोजन दो, वस्त्र दो और मेरे घर की सफाई करो।"

परंतु शारीरिक भोजन तैयार करनेवाले मनुष्य को, अपनी ओर से बिना कोई माँग पेश किए, यह सब कुछ करना पड़ेगा। उसे शारीरिक भोजन देना ही पड़ेगा, चाहे उसे आध्यात्मिक भोजन मिले या न मिले। यदि यह परिवर्तन, स्वतंत्र-ऐच्छिक रूप से किया गया होता तो दोनों ओर की शर्तें समान होतीं। हम यह मानते हैं कि मनुष्य के लिए मानसिक भोजन की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि शारीरिक भोजन की। एक विद्वान आदमी अथवा शिल्पकार कहता है, 'इसके पहले कि हम भोजन देकर लोगों की सेवा करना आरंभ करें, हम चाहते हैं कि वे शारीरिक भोजन से हमें तृप्त करें।'

परंतु शारीरिक भोजन देनेवाले भी यह क्यों न कहें, "इसके पहले कि शारीरिक भोजन देकर हम तुम्हारी तृप्ति कर सकें, हमें आध्यात्मिक भोजन की आवश्यकता है; और जब तक हमको वह न मिल जाएगा, हम परिश्रम नहीं कर सकेंगे।"

आप कहते हैं—"जो आध्यात्मिक भोजन (Spiritual Food) लोगों को देना है, उसके तैयार करने के लिए मुझे एक किसान, एक लोहार, एक जूता बनानेवाला चमार, एक बढ़ई, राज तथा दूसरे लोगों की जरूरत है।"

और मजूर भी यह कह सकता है—"तुम्हारे लिए शारीरिक भोजन तैयार करने के लिए परिश्रम करने के पहले मुझे ऐसी शिक्षा चाहिए, जो मेरी आत्मा को बलवान बना दे। परिश्रम करने की शक्ति प्राप्त हो, इसलिए मुझे धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता है; यह जानने की आवश्यकता है कि समाज में मनुष्य का क्या स्थान

है; श्रम के साथ बुद्धि का प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है। मुझे उस आनंद और सुख की भी जरूरत है, जो ललित कला से प्राप्त होता है। मेरे पास इस बात पर विचार करने का समय नहीं कि जीवन का अर्थ क्या है। कृपया मुझे ये सब बातें बतलाइए।''

''मेरे पास इस बात पर विचार करने का समय नहीं है कि सार्वजनिक जीवन के नियम क्या हैं, जिनसे न्याय की रक्षा की जा सके; मुझे यह बतलाइए। मेरे पास यंत्र-विद्या, प्रकृति-दर्शन, रसायन-शास्त्र आदि का अध्ययन करने के लिए भी समय नहीं है। मुझे ऐसी पुस्तकें दीजिए, जिनसे मुझे यह मालूम हो सके कि मुझे अपने औजारों में, काम करने के ढंग में, अपने रहने के घरों में तथा उनमें गर्मी और रोशनी पहुँचाने आदि कामों में किस प्रकार सुधार करना चाहिए। मेरे पास इस बात के लिए भी समय नहीं है कि मैं काव्यशास्त्र, चित्र-विद्या तथा संगीत-विद्या का भी अध्ययन कर सकूँ। मुझे आह्लाद और आनंद की वह सामग्री दीजिए, जिसकी जीवन के लिए परमावश्यकता है।''

आप कहते हैं कि ''हमारे लिए वह उपयोगी तथा आवश्यक कार्य करना असंभव होगा, अगर हम उन बातों से वंचित रखे जाएँगे जो श्रमजीवी लोग हमारे लिए करते हैं'' परंतु मैं कहता हूँ कि एक मजूर भी यह कह सकता है कि यदि मुझे धार्मिक पथ-प्रदर्शन न मिला, जो मेरी बुद्धि तथा अंत:करण के लिए आवश्यक है; यदि मुझे एक न्याय-परायण सरकार न मिली, जो मेरे परिश्रम की रक्षा कर सके; यदि मुझे वह शिक्षा नहीं मिलती, जिससे मैं अपने काम को आसान बना सकूँ; तथा यदि मैं ललितकला के उपयोग से भी वंचित रखा गया, तो मैं खेत जोतना, तथा शहर की सफाई करना आदि उपयोगी तथा आवश्यक कार्य भी—जो आपके कार्य से कम उपयोगी और आवश्यक नहीं है—न कर सकूँगा। आपने अभी तक मानसिक भोजन के रूप में जो कुछ भी मेरी भेंट किया है, वह मेरे लिए सर्वथा व्यर्थ है; बल्कि मैं यह भी नहीं समझ सका कि इससे किसी को लाभ पहुँच सकता है अथवा नहीं और जब तक मुझे यह खुराक न मिल जाएगी, जिसका मिलना मेरे लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि दूसरों के लिए, तब तक मैं तुम्हारे लिए शारीरिक भोजन नहीं तैयार कर सकता।''

क्या हो, अगर मजूर लोग ऐसा कहने लग जाएँ? और अगर वे कहें, तो यह हँसी (मज़ाक) नहीं बल्कि सीधी-सादी न्याय की बात होगी। यदि एक श्रमजीवी ऐसा कहे, तो बौद्धिक परिश्रम करनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा उसकी यह बात कहीं अधिक न्यायोचित और ठीक होगी, क्योंकि बुद्धि-संबंधी काम करनेवाले मनुष्य के परिश्रम की अपेक्षा श्रमजीवी मनुष्य का परिश्रम अधिक आवश्यक और उपयोगी है।

फिर एक बुद्धिवाले मनुष्य के मार्ग में औरों को वह मानसिक भोजन देने में कोई रुकावट नहीं, जिसके देने का उसने वादा किया है, किंतु श्रमजीवी मनुष्य तो शारीरिक भोजन इसलिए नहीं दे सकता कि खुद उसके पास भोजन की कमी रहती है।

तो फिर, हम मानसिक परिश्रम करनेवाले मनुष्य क्या उत्तर देंगे; यदि हमारे सामने ऐसी सीधी-सादी और न्यायोचित माँगें पेश कर दी जाएँ। हम इन लोगों को कैसे संतुष्ट करेंगे? हम यह भी नहीं जानते कि श्रमजीवियों को किन बातों की आवश्यकता है। हम तो उनके रहन-सहन के तरीकों, उनके भाव और उनकी भाषा को भी भूल गए हैं। हम तो ऐसे अंधे हो गए हैं कि हमने अपने उस कर्तव्य को भी भुला दिया, जो हमने अपने ऊपर ले लिया है। हमें पता नहीं कि यह परिश्रम हम किसलिए करते हैं, और जिन लोगों की सेवा का भार हमने अपने ऊपर लिया है, उनको हमने अपनी वैज्ञानिक एवं कला-संबंधी प्रवृत्तियों का एक लक्ष्य-मात्र बना लिया है। हम अपने आनंद और मन-बहलाव के लिए उनका अध्ययन और उनकी गरीबी का वर्णन करते हैं। हम इस बात को बिल्कुल भूल गए हैं कि हमारा कर्तव्य यह नहीं कि हम उनका अध्ययन करें और उनकी दशा पर लंबे-चौड़े लेख लिखें, बल्कि यह है कि हम उनकी सेवा करें।

अब समय है कि हम सचेत हों, और अपनी दशा पर और भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें। हमारी दशा ठीक उन धर्माधिकारियों के समान है, जो ईश्वर के साम्राज्य की कुंजी तो अपने हाथ में लिए हुए हैं, पर जो न तो खुद अंदर घुसते हैं, और न दूसरों को घुसने देते हैं।

हम अपने भाइयों की जिंदगी को खा रहे हैं और तिस पर भी अपने-आपको सच्चे, धर्मनिष्ठ, दयालु, शिक्षित और पूर्ण पुण्यवान मनुष्य समझते हैं।

मजूरों के प्रति

"Ye shall know the truth and the truth shall make you free."

John, VIII-32.

"तुम सत्य को पहचानो-वही तुम्हें मुक्त करेगा।"

जॉन-अ० 8-32।

मेरे जीवन के अब अधिक दिन शेष नहीं हैं, और मरने के पहले, श्रमजीवियों, मैं तुम्हें वे सारी बातें, जो मैंने तुम्हारी इस दलितावस्था के संबंध में सोची हैं, और सभी

उपाय जिनसे तुम अपने-आपको इससे मुक्त कर सकते हो, बतला देना चाहता हूँ।

संभवत: मैंने इस संबंध में जो कुछ भी सोचा है (और मैंने इस विषय में बहुत कुछ सोचा है) और अब भी जो सोच रहा हूँ, वह तुम्हारे लिए हितकर सिद्ध हो।

जैसा कि स्वाभाविक है, मैं ये बातें रूस के श्रमजीवियों को ही संबोधन करके कहता हूँ। उनके बीच में रहता हूँ, और उनको मैं दूसरे देशों के श्रमजीवियों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से जानता हूँ। पर मुझे आशा है, मेरे कुछ विचार दूसरे देशों के श्रमजीवियों के लिए भी व्यर्थ सिद्ध न होंगे।

श्रमजीवियों, तुम अपनी सारी जिंदगी दु:ख-दारिद्र्य एवं कठिन परिश्रम में, जिसकी तुम्हारे लिए बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, बिताने के लिए मजबूर किए जाते हो, और दूसरे लोग जो कि जरा भी काम नहीं करते, तुम्हारी पैदा की हुई चीजों से फायदा उठाते हैं, और तुम उनके दास होकर रहते हो, पर यह बात अब प्राय: सभी सहृदय और समझदार मनुष्यों पर विदित हो गई है कि वास्तव में ऐसा नहीं होना चाहिए।

पर इस दशा को दूर करने का उपाय क्या है?

पहला उपाय तो यह है, जो पुराने जमाने से बिल्कुल सीधा और स्वाभाविक मालूम होता आया है कि जो लोग तुम्हारे परिश्रम से अनुचित लाभ उठाते हैं, उनसे वह जबरदस्ती छीन लिया जाए। यही बात प्राचीन समय में रोम के गुलामों ने और मध्यकालीन युग में जर्मनी तथा फ्रांस के किसानों ने की थी। स्टेंकारेज़िन तथा बोगैको के समय में रूस के निवासियों ने भी इसी उपाय का अवलंबन किया था। इस समय भी कभी-कभी रूसी श्रमजीवी यही किया करते हैं।

दु:खित श्रमजीवी-समाज को दूसरे उपायों की अपेक्षा, यह उपाय सरल जरूर दिखाई देता है। पर तो भी इससे कभी उनके उद्देश्य की सिद्धि नहीं होगी। नहीं, बल्कि इससे तो उल्टा उनकी दशा सुधरने की अपेक्षा और भी बिगड़ती चली जाती है। पुराने जमाने में, जब सरकारें आज की तरह शक्तिशालिनी नहीं थीं, ऐसी क्रांतियों से विजय की आशा की जा सकती थी। परंतु इस समय तो, जबकि उनके हाथ में बड़े-बड़े खजाने, रेल, तार, पुलिस, फौज और सिपाही हैं, ऐसी क्रांतियों का परिणाम, प्राय: यही हुआ करता है कि उपद्रव करनेवालों को नाना प्रकार के दंड और यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं और वे फाँसी तक पर चढ़ा दिए जाते हैं। नतीजा यह निकलता है कि श्रमजीवियों पर दूसरों की सत्ता और भी मजबूती के साथ जम जाती है।

श्रमजीवियों, हिंसा का मुकाबला हिंसा से करके, तुम वही कर रहे हो, जो मजबूत रस्सों में बँधा हुआ मनुष्य भागने के अभिप्राय से उन्हीं रस्सों को पकड़कर खींचा करता है, जिनसे कि उसका सारा शरीर जकड़ा हुआ है। इससे तो उसके

बंधन की गाँठें और भी अधिक कस जाएँगी!

बल-प्रयोग द्वारा छीनी हुई वस्तु को फिर से लेने के लिए बल का प्रयोग करना भी उसी के समान है।

2

यह बात अब प्राय: सभी पर विदित हो गई है कि इन उपद्रवों से हमारे उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होगी। इससे सुधरने की अपेक्षा श्रमजीवियों की अवस्था और भी बिगड़ जाती है। इसलिए श्रमजीवी-समाज के हित-चिंतकों ने अथवा उनके हित-चिंतक होने का दावा करनेवालों ने अभी हाल में श्रमजीवियों को स्वतंत्र करने के लिए एक नए उपाय का आविष्कार किया है। इस उपाय का मुख्य आधार यह शिक्षा है—''जिस जमीन के वे किसी समय मालिक थे, उसे छोड़कर वे कारखानों में मजदूरी पर काम करने लगें। (और इस शिक्षा के अनुसार यह ऐसा ही अनिवार्य है, जैसा कि किसी नियत समय के ऊपर सूर्योदय का होना) फिर संघों और सभाओं की स्थापना करके और पार्लियामेंट में अपने प्रतिनिधि भेजकर क्रमश: अपनी दशा सुधारते रहें और अंत में समस्त कल-कारखानों और मिलों के, बल्कि पैदावार के संपूर्ण साधनों के, जिनमें जमीन भी शामिल है, मालिक बन बैठें; इससे बिल्कुल स्वतंत्र और सुखी हो जाएँगे।'' यद्यपि जिस शिक्षा के आधार पर इस उपाय का आविष्कार हुआ है, वह अंधकारमय, क्षणिक विजय दिलानेवाली अस्थाई तजबीजों तथा परस्पर विरोधी बातों से भरी हुई और बिल्कुल मूर्खतापूर्ण है, तो भी इधर कुछ दिनों से इसका बड़ा प्रचार हो रहा है।

इस शिक्षा को केवल उन देशों ने ही नहीं अपनाया है, जिनमें अधिकांश जन-समुदाय ने पीढ़ियों से खेती छोड़ दी है, किंतु उन देशों ने भी उसे मान लिया है, जिनमें मजूर-वर्ग ने जमीन छोड़ देने के संबंध में अभी विचार भी नहीं किया है।

इस शिक्षा का पहला उद्देश्य यह है कि गाँवों में रहनेवाले श्रमजीवी अपने खेती-संबंधी नाना प्रकार के कामों को छोड़कर, जिनके करने का उन्हें अभ्यास हो गया है और जो स्वास्थ्य तथा सुख देनेवाले हैं, एक ही प्रकार के और हैरान कर देनेवाले अस्वास्थ्यकर, कुत्सित तथा हानिकर कामों में लग जाएँ। इस शिक्षा का उद्देश्य यह है कि एक ग्रामीण अपनी उस प्यारी स्वतंत्रता को छोड़कर, जिसमें कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने ही परिश्रम से कर लेता है, कारखानों में काम करनेवाले श्रमजीवियों का परतंत्र जीवन बिताने लगे, और हर बात में अपने मालिक के अधीन हो जाए। जरा गौर करने पर मालूम होगा कि ऐसी शिक्षा को उन देशों में किसी प्रकार की कोई सफलता नहीं मिलनी चाहिए, न मिल सकती, जहाँ के अधिकांश श्रमजीवी अब भी अपना पेट खेती से पालते हैं।

लेकिन इस शिक्षा का, जो कि साम्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है, रूस जैसे देशों में भी, जहाँ पर 98 प्रतिशत श्रमजीवी-समाज की जीविका का साधन खेती है, उन दो प्रतिशत मनुष्यों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ स्वीकार कर लिया है, जिन्होंने खेती को छोड़ दिया है।

इसका कारण क्या है? यह कि मजूर आदमी खेती को छोड़कर, उन प्रलोभनों के चंगुल में फँस जाता है, जो शहर और कारखानों के जीवन के साथ लगे हुए हैं और उसके इन प्रलोभनों का समर्थन साम्यवादियों की शिक्षा से हो जाता है, जो आवश्यकताओं की वृद्धि को मनुष्य की उन्नति का एक चिह्न समझती है।

ऐसे मजूर लोग साम्यवाद की इस शिक्षा की अधूरी बातों को लेकर बड़े जोश के साथ उसका अपने संगी-साथियों में प्रचार करते हैं और इस प्रचार तथा इन नवीन आवश्यकताओं के कारण, जिनको कि उन्होंने बिना प्रयोजन पैदा कर लिया है, अपने-आपको उन्नतिशील सुधारक समझने लगते हैं और गाँव की सीधी-सादी जिंदगी बसर करनेवाले किसानों से अपने-आपको कहीं ज्यादा हैसियत और दर्जेवाला गिनने लग जाते हैं। सौभाग्य से रूस में ऐसे श्रमजीवियों की संख्या अभी बहुत थोड़ी है। रूस के अधिकांश श्रमजीवियों ने तो साम्यवादियों की इस शिक्षा का कभी नाम तक नहीं सुना है[1] और यदि इस संबंध में कोई बात वे सुनें तो भी इस शिक्षा को अपने लिए एक बिल्कुल नई और अनावश्यक बात समझते हैं, जिसका उनकी सच्ची जरूरतों से कोई संबंध ही नहीं है।

यूनियन कायम रखना, जुलूस निकालना, पार्लियामेंट में अपने प्रतिनिधि भेजना आदि साम्यवादियों की इन सारी बातों से, जिनकी सहायता से कारखानों में काम करनेवाले श्रमजीवी अपने इन दास-जीवन से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, स्वतंत्र जीवन व्यतीत करनेवाले ग्रामीण श्रमजीवियों को कोई भी दिलचस्पी नहीं।

गाँव के मजूरों को इस बात की जरूरत नहीं कि उनकी मजदूरी बढ़ाई जाए या उनके काम करने के घंटे कम कर दिए जाएँ अथवा सहकारी संस्थाएँ खोली जाएँ, बल्कि उनके लिए सबसे जरूरी है एक चीज—जमीन! जमीन सभी जगह उनके पास इतनी कम है कि उससे वे अपने कुटुंब का पेट भी नहीं भर सकते। परंतु इसके संबंध में, जिसकी गाँवों के लोगों को सबसे ज्यादा जरूरत है, साम्यवादियों की ओर से कुछ भी नहीं कहा गया है।

विद्वान साम्यवादी कहते हैं—"झगड़े की खास चीजें हैं खानें, कल-कारखाने

---

1. ये बातें रूसी क्रांति के पहले की हैं; समय-चक्र ने इन्हें असत्य सिद्ध कर दिया है।
—संपादक

और इसके बाद जमीन।'' वे कहते हैं कि मजूरों को चाहिए कि जमीनें लेने के लिए पहले वे मिलों और कारखानों पर अधिकार प्राप्त करें और इस तरह पूँजीपतियों पर विजय पा लेने के बाद जब ये सब चीजें उनके हाथों में आ जाएँगी, तब वे जमीन पर भी अपना अधिकार कर सकेंगे। आश्चर्य यह है कि लोगों को तो जमीन की जरूरत है, परंतु उनसे कहा यह जाता है कि उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें पहले उसे छोड़ देना होगा, इसके बाद एक बहुत ही पेचीदा ढंग से, जिसका आविष्कार साम्यवाद का दम भरनेवाले महापुरुषों ने ही किया है, मिलों और कारखानों के सहित, जिनकी बेचारे मजूरों को बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, उसे वे फिर प्राप्त कर लेंगे। यह तो वही ढंग हुआ जैसा कि कुछ सूदखोर महाजन किया करते हैं। आप एक महाजन से एक हजार रुपए माँगते हैं—सिर्फ एक हजार रुपए की जरूरत है, लेकिन महाजन आपसे कहता है, ''मैं आपको सिर्फ एक ही हजार रुपए नहीं दूँगा, आप पाँच हजार रुपए लीजिए, जिनमें से चार हजार के साबुन के टुकड़े, रेशमी कपड़ा और बहुत-सी चीजें होंगी।'' यद्यपि आपको तो इनकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, फिर भी वह तो आपको एक हजार रुपए इसी शर्त पर दे सकता है। यह साम्यवादियों की दलील भी ठीक ऐसी ही है।

साम्यवादी लोगों ने बिल्कुल ही गलततौर पर यह तय कर रखा है कि जमीन परिश्रम करने का वैसा ही साधन है, जैसा कि मिल अथवा कारखाने, और श्रमजीवियों को, जो केवल जमीन न होने के कारण ही कष्ट उठा रहे हैं, यह सलाह देते हैं कि वे अपनी जमीनों को छोड़ दें, और उन कारखानों पर कब्जा करने लग जाएँ, जिनमें तोप, बंदूक, इत्र-तेल, साबुन, शीशे-फीते और हर प्रकार की विलासिता की सामग्री तैयार की जाती है। कारखानों पर अधिकार कर चुकने के बाद जब मजूर शीशा अथवा फीता आदि वस्तुएँ शीघ्रता और उत्तमता के साथ बनाना सीख चुके होंगे और जमीन के जोतने-खोदने और उस पर काम करने के बिल्कुल अयोग्य हो गए होंगे—तब उन्हें जमीन पर भी कब्जा करने को कहा जाता है।

3

खेती करना और उससे अपना पेट भरना सुखमय और स्वतंत्र मनुष्य-जीवन की एक मुख्य शर्त रही है और भविष्य में भी हमेशा रहेगी। यह बात सभी लोग सर्वत्र जानते हैं और इसलिए सभी मनुष्य किसी ऐसे जीवन के लिए हमेशा प्रयत्न करते हैं और आगे भी करते ही रहेंगे, जैसे कि पानी में जाने के लिए मछली किया करती है।

परंतु साम्यवादियों का कहना है कि मनुष्यों का जीवन सुखमय बनाने के लिए उन्हें इस बात की आवश्यकता नहीं है कि वे जंगलों और पशुओं के बीच में रहें,

जहाँ पर लोग लगभग अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति खेतों में काम करके ही कर सकते हैं। उनके खयाल से तो लोग ऐसे स्थानों में रहना चाहते हैं, जो उद्योग-धंधों और कारीगरी के केंद्र-स्थान हैं, जहाँ का वायु बहुत ही दूषित है और लोगों की जरूरतें दिन-पर-दिन बढ़ती ही रहती हैं, और जिनकी पूर्ति कारखानों में रात-दिन, शक्ति से अधिक, काम करके ही की जा सकती है। कारखानों के इस जीवन में फँसे हुए बेचारे मजूर भी इस बात पर विश्वास कर लेते हैं और यह समझकर कि वे कोई बहुत बड़ा और जरूरी काम कर रहे हैं, अपनी सारी शक्ति पूँजीपतियों के साथ इस बात की लड़ाई लड़ने में लगा देते हैं कि उनके काम करने के घंटे घटा दिए जाएँ और मजदूरी बढ़ा दी जाए, जबकि वास्तव में जमीन से अलग कर दिए गए मजदूरों के लिए सबसे अधिक जरूरत इस बात की है कि वे किसी प्रकार ऐसे उपाय की खोज करें, जिससे फिर जमीन प्राप्त करके खेती कर सकें और प्रकृति के बीच आनंदमय नैसर्गिक जीवन व्यतीत कर सकें। उन्हें अपनी सारी शक्ति इसी बात में लगा देनी चाहिए। साम्यवादी कहते हैं—"अगर यह बात सच भी हो कि प्रकृति की गोद में रहना कल-कारखानों के जीवन की अपेक्षा अधिक अच्छा है, तो भी कारखानों में काम करनेवाले श्रमजीवियों की संख्या इस समय इतनी बढ़ गई है और कृषक-जीवन से अलग हुए उनको इतना समय हो गया है कि अब कृषक-जीवन में वापस आना उनके लिए बिल्कुल संभव ही नहीं है। यह असंभव इसलिए है कि इस प्रकार शहराती जीवन से देहाती जीवन को लौट आने से व्यर्थ ही उन चीजों की पैदाइश कम हो जाएगी, जो इन कारखानों में तैयार की जाती हैं और जो राष्ट्रीय संपत्ति का एक अंग है और यदि मान लिया जाए कि ऐसा न भी हो तो भी अब जमीन इतनी काफी कहाँ है, जिससे कारखानों में काम करनेवाले सभी आदमियों का आराम के साथ भरण-पोषण हो सके?"

पर यह बात गलत है कि कारखानों में काम करनेवाले आदमियों के फिर से गाँवों में लौटने और खेती में लग जाने से राष्ट्र की संपत्ति घट जाएगी। क्योंकि खेती करनेवाले अपना थोड़ा-सा समय घर पर या कारखानों में जाकर भी तो दूसरे उद्योग-धंधे में लगा सकते हैं। उन्हें कौन रोकता है? हाँ, बल्कि इस फेर-बदल से यदि बड़े-बड़े कारखानों में तेजी से तैयार होनेवाली अनुपयुक्त और हानिकर चीजों की पैदावार कम हो जाए और साधारणतया आवश्यक वस्तुओं का भी आवश्यकता से अधिक तैयार करना बंद हो जाए, तथा अन्न, साग-भाजी, फल और घरेलू पशुओं की संख्या बढ़ जाए, तो इससे किसी भी प्रकार से राष्ट्र की संपत्ति कम नहीं हो सकती, बल्कि उलटी उसमें वृद्धि ही हो जाएगी।

यह दलील भी ठीक नहीं है कि जमीन इतनी काफी न हो सकेगी कि

कारखानों में काम करनेवाले सभी आदमियों का आराम के साथ भरण-पोषण हो सके। क्योंकि अधिकांश देशों में वह जमीन जो बड़े-बड़े जमींदारों की संपत्ति है, कुल श्रमजीवियों के भरण-पोषण के लिए काफी होगी, अगर जमीन की जुताई-बुआई पूर्णतः आधुनिक ढंग से की जाए, अथवा केवल उसी तरह भी की जाए, जैसे सहस्रों वर्ष पूर्व चीन में की जाती थी।

इस विषय से प्रेम रखनेवाले सज्जन क्रोपॉटकिन के 'दि कांक्वेस्ट ऑव् ब्रेड'[1] और 'फील्ड्स फैक्टरीज एंड वर्कशाप' (खेत, कारखाने और कार्यालय) नामक पुस्तकों को पढ़ें तब उनको पता चला जाएगा कि अच्छी जुताई-खुदाई से जमीन की पैदावार किस हद तक बढ़ जाती है, और उतना ही जमीन से कितने अधिक आदमियों को भोजन मिल सकता है। धीरे-धीरे छोटे किसान भी वैज्ञानिक ढंग से खेती करना आरंभ कर देंगे, अगर वे अपना सारा मुनाफा धनी जमींदारों के हवाले कर देने के लिए मजबूर न किए जाएँ, जैसा कि अभी किया जाता है। साधारणतया जमींदार लोगों को जो कि इन गरीब किसानों को अपनी जमीनें किराए पर देते हैं उपज बढ़ाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती, क्योंकि उन्हें तो, बिना किसी कष्ट उठाए ही काफी रकम मालगुजारी में मिलती रहती है।

एक दलील और है। "जमीन इतनी कहाँ है, जो सब मजूरों को मुफ्त दी जा सके। इसलिए अब इस बात पर परेशान न होइए।" कैसी अजीब बात है? पहले तो किसानों से जमीनें छीनी जाती हैं और अब कहा जाता कि जमीनें काफी नहीं हैं, परेशान मत होइए। एक मकान बिल्कुल खाली पड़ा हुआ है, और कुछ आदमी शीतकाल में भयंकर झंझावात के समय उस मकान के बाहर खड़े हुए, आश्रय के लिए, प्रार्थना कर रहे हैं। मकान का मालिक कहता है—"मकान के भीतर इन आदमियों को आने देना उचित नहीं है, क्योंकि उसमें उन सबके लिए जगह न मिल सकेगी।" उपर्युक्त जमीनवाली दलील भी ठीक ऐसी ही है; ठीक तो यह है कि जो लोग आश्रय के लिए प्रार्थना कर रहे हैं, उनको आने दिया जाए, फिर इसके बाद देखा जाएगा कि उसमें उन सबके लिए स्थान मिल सकता है, या केवल थोड़े-से आदमियों के लिए ही। अगर उन सबके लिए स्थान न मिल सके, तो जो लोग उसमें आ सकते हैं उन्हीं को क्यों न स्थान दिया जाए?

ठीक यही बात जमीन के संबंध में भी है। जो जमीनें श्रमजीवियों से ले ली गई हैं, उन्हीं लोगों के हवाले कर देना सर्वश्रेष्ठ मार्ग है; फिर यह देखा जाएगा कि यह

---

1. इस पुस्तक का अनुवाद हमारे यहाँ से निकल चुका है। नाम 'रोटी का सवाल' और दाम 3/ है।

जमीन सबके लिए काफी होगी या नहीं।

यह बिल्कुल गलत है कि दुनिया के सभी मजूरों के लिए जमीन काफी होगी। अगर कारखानों में काम करनेवालों का निर्वाह बाजार से खरीदे हुए अन्न के ऊपर हो सकता है, तो कोई कारण नहीं कि दूसरों का पैदा किया हुआ अन्न मोल लेने के बदले वे स्वयं इस जमीन को क्यों न जोतें और बोएँ, फिर वह जमीन हिंदुस्तान, अर्जेंटाइना, आस्ट्रेलिया, साइबेरिया, अथवा कहीं पर भी क्यों न हो।

इसलिए वे तमाम दलीलें बेबुनियाद हैं जिनमें कहा जाता है कि कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों को खेती नहीं करनी चाहिए या उनके लिए इतनी जमीन नहीं मिल सकती या वे खेती कर ही नहीं सकते। इसके विपरीत यह बात साफ है। ऐसे फेर-बदल से जनता की हानि के बदले उपकार ही अधिक होगा और निश्चय ही इससे भारतवर्ष तथा रूस आदि देशों से अकालों का समूल नाश हो जाएगा, जो बहुत समय से वहाँ अड्डा जमाए हुए हैं। ये अकाल इस बात को बताते हैं कि आजकल जमीन का जो बँटवारा किया गया है, वह बिल्कुल अनुचित और गलत ढंग पर किया गया है।

हाँ, यह सच है कि जिन देशों में कल-कारखानों के व्यवसाय ने बहुत उन्नति कर ली है, जैसा कि इंग्लैंड, बेल्जियम तथा संयुक्त राज्य (अमेरिका), के कुछ स्थानों में है, वहाँ के श्रमजीवियों का जीवन बिल्कुल भिन्न हो गया है। उनका अब देहातों में वापस लौट आना और खेती करने लग जाना बहुत कठिन जान पड़ता है। परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका देहातों में लौट आना ठीक नहीं और इससे किसी प्रकार का लाभ होने की संभावना नहीं। इस पर अमल करने के लिए सबसे पहले जरूरत इस बात की है कि मजूर लोग यह समझ लें कि उनके हित के खयाल से गाँव में लौट जाना उनके लिए बहुत जरूरी है और उन्हें चाहिए कि वे अपने कारखानों के इस दास्य-जीवन को ऐसा न समझ लें, जो हमेशा टिकनेवाला हो अथवा जिसमें कोई फेर-बदल न हो सकता हो। वे निश्चयपूर्वक जान लें कि उनका यह जीवन प्रकृति के विरुद्ध है। और उसको बदल देने में उनका भला है। और यह समझकर कि इस पर अमल करने के उपाय ढूँढ़ने में लग जाएँ।

इस प्रकार उन मजूरों को, जिन्होंने बहुत काल से अपने बाप-दादों की जमीनें और घर-बार छोड़ दिए हैं और जो कारखानों में काम करके अपना पेट पाल रहे हैं, इस बात की जरूरत नहीं कि वे अपने मजूर-संघ बना लें और हड़तालें करें और बच्चों की तरह सड़कों पर जुलूस निकालें। उनके लिए तो सिर्फ एक बात की जरूरत है, और वह यह कि वे ऐसे उपायों की खोज करें, जो उन्हें कारखानों की इस गुलामी से मुक्त कर दें और जमीन के ऊपर उन्हें अधिकार दिला सकें। उनके मार्ग में सबसे बड़ी

रुकावट है जमींदारों द्वारा जमीन पर अनुचित अधिकार कर लेना। जमींदार कभी जमीन पर खुद काम नहीं करते, पर जमीन पर अधिकार जमाए बैठे हैं। यही एक बात है जिसके लिए मजूरों को अपने शासकों से प्रार्थना करनी चाहिए और अपनी माँग पेश करनी चाहिए। उसमें जरा भी डरने की बात नहीं है। जमीन उनकी है; अतः उसे माँगना अपने निश्चित और न्यायोचित अधिकार को वापस माँगना होगा। जमीन के ऊपर रहना और उस पर मेहनत करके अपना पेट भरना प्रत्येक प्राणी का स्वाभाविक अधिकार है। इसके लिए किसी से आज्ञा माँगने की कोई जरूरत नहीं।

4

जमीन पर से खानगी मालिकी का अत कर देना अब बहुत जरूरी हो गया है, क्योंकि जमींदारों के अन्याय, स्वेच्छाचारिता और अत्याचार की अब हद हो गई है। पर प्रश्न केवल यही है कि इसका अंत हो किस प्रकार? रूस तथा अन्य देशों में गुलामी की प्रथा का अंत सरकार की आज्ञा से किया गया था और ऐसा जान पड़ता है कि भूमि को किसी एक व्यक्ति अथवा समाज की संपत्ति मानने की प्रथा का भी अंत इसी प्रकार सरकार की ओर से जारी की गई आज्ञाओं से हो सकता है। परंतु सरकारें प्रायः ऐसी आज्ञाएँ बहुत कम दिया करती हैं।

सभी सरकारें ऐसे ही आदमियों की बनी हुई हैं, जो दूसरों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाना चाहते हैं; और दूसरी बातों की अपेक्षा जमींदारी प्रथा में ऐसे जीवन की संभावना बहुत-कुछ है। केवल शासक और जमींदार-समाज के ही लोग इस प्रथा का अंत करने का विरोध न करेंगे, बल्कि वे लोग भी जो सरकारी कर्मचारी अथवा जमींदार न होते हुए भी धनिक-समाज तथा ऐसे सरकारी कर्मचारियों, शिल्पकारों, वैज्ञानिकों और व्यापारियों के पास नौकर हैं। वे यह समझकर इसका अंत करने में विरोध करेंगे कि उनके ऐशो-आराम का सारा दारोमदार इस जमींदार के ऊपर है। वे सदैव उसका समर्थन करते हैं अथवा और सभी ऐसी बातों की आलोचना करते हैं, जो इससे कम महत्त्व की हैं, पर जमींदारी के प्रश्न को कभी छूते तक नहीं हैं।

अधिकांश सफेदपोश लोग, अगर जान-बूझकर नहीं तो, अज्ञान से ही, यह समझते हैं कि उनकी अच्छी स्थिति का कारण जमींदारी ही है।

यही कारण है कि राष्ट्रीय महासभाएँ (पार्लियामेंट) लोगों को यह दिखलाने भर के लिए कि वे जनता की शुभ-चिंतक हैं, और वे जो कुछ भी करती हैं उसकी भलाई के खयाल से ही करती हैं, अनेक ऐसे प्रस्तावों पर वाद-विवाद करती हैं और उन पर अमल करना भी आरंभ कर देती हैं, जिनसे वे बतलाती हैं, लोगों की दशा सुधरेगी। पर एक बात को वे सब बिल्कुल छोड़ देती हैं, जिसकी लोगों को सबसे

अधिक आवश्यकता है और जिससे लोगों की दशा का वास्तविक सुधार हो सकता है और वे एक उन्नत राष्ट्र बन सकते हैं। यह बात क्या है? यही जमीन पर से खानगी मालिकी का अंत कर देना।[1] इस आंदोलन को वे छूती तक नहीं हैं।

इसलिए जमीन पर से वैयक्तिक अधिकार उठा देने के प्रश्न को हल करने के लिए सबसे पहले आवश्यकता इस बात की है कि इस विषय में लोगों ने जो खामोशी अख्तियार कर रखी है, उसका अंत कर दिया जाए। यह खामोशी उन देशों में अख्तियार की जाती है, जहाँ पर बहुत कुछ शक्ति पार्लियामेंटों के हाथ में है। फिर रूस में तो सारी शक्ति बादशाह जार के हाथ में है, अत: यहाँ जमींदारी का अंत करने के लिए सरकारी आज्ञा और भी कम संभव है। रूस में भी नाममात्र के लिए ही जार के हाथ में शक्ति है; वास्तव में यह शक्ति संयोग से केवल उन सैकड़ों-हजारों लोगों के हाथों में है, जा जार के संबंधी और साथी हैं और जो उससे जबरदस्ती अपनी सारी मनचाही बातें करा लेते हैं। इन सभी आदमियों के पास हजारों बीघा जमीन है। इसलिए वे जार को, यदि वह ऐसा करना चाहे तो भी जमींदारों के पंजे से जमीन को निकालने न देंगे। जिस समय जार ने किसानों को स्वतंत्र किया था, उस समय उन्हें अपने-अपने गुलामों को आजाद कर देने के लिए अपने निकटस्थ लोगों पर जोर देने में बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा था। पर यह फिर भी इसलिए हो सका कि असल चीज जमीन तो जमींदारों के हाथ में ही बनी रही। लेकिन अगर वे जमीन पर से अपना अधिकार उठा लें, तो जार के संबंधियों तथा मित्रों,[2] को यह निश्चय है कि जिस प्रकार का जीवन वे बहुत समय से बिताने के आदी हो रहे हैं; उसकी जो कुछ भी आशा रह गई है, वह भी हाथ से जाती रहेगी।

इसलिए इस बात की आशा करना व्यर्थ है कि संसार की सरकारें विशेषकर हमारी सरकार, जमीन को जमींदारों के पंजे से निकालकर प्रजा के हाथ में दे देंगी।

बल-प्रयोग से भी जमींदारों से जमीन को छीन लेना असंभव है, क्योंकि शक्ति हमेशा उन लोगों के हाथ में रही है और रहेगी, जिन्होंने जमीन को पहले से ही अपने अधिकार में कर लिया है।

साम्यवादियों की रीति के अनुसार जब तक जमीन वापस नहीं मिल जाती, तब तक ठहरे रहना—अर्थात् भविष्य में अधिक की आशा से अपनी दशा और भी खराब बना देने के लिए तैयार हो जाना निरी मूर्खता है। क्योंकि प्रत्येक विचारवान् पुरुष इस

---

1. *सच्चे साम्यवादी तो सदा इस पर जोर देते रहे। यह टॉल्सटॉय का भ्रम है। पिछले उदाहरणों से उनकी यह बात गलत हो गई।*
2. *अब ये बातें पुरानी पड़ गई हैं और काल के गर्त में विलीन हो गई हैं। —संपादक।*

बात को जानता है कि यह तरीका श्रमजीवियों को आजाद करने के बदले उन्हें पूँजीपतियों का और भी गुलाम बना देता है और उन्हें ऐसा कर देता है कि भविष्य में वे उन मैनेजरों की गुलामी करें, जो नई-नई संस्थाएँ खोलकर उनके संचालक बनेंगे।

किसी भी प्रतिनिधि-सरकार से अथवा, जैसा कि रूस से किसानों ने दो राजाओं के राज्य-काल में किया है, जार से इस बात की आशा करना और भी अधिक मूर्खता होगी कि वे जमीन को जमींदारों की व्यक्तिगत संपत्ति बनाने की इस प्रथा का अंत कर देंगे। क्योंकि जार के संबंधियों तथा स्वयं जार के पास भी बहुत बड़े-बड़े इलाके हैं, और यद्यपि प्रकट में उनका यह कहना है कि वे किसान के हितचिंतक हैं तथापि जमीन एक ऐसी चीज है जिसकी उनको परमावश्यकता है; अत: वे उसे कभी न छोड़ेंगे। क्योंकि यह बात वे भली प्रकार जानते हैं कि यदि वे जमीन के मालिक न रहे तो उन्हें अपनी इस ऐशो-आराम की जिंदगी से, जो कि वे दूसरों की गाढ़ी कमाई का उपभोग करके बिता रहे हैं, हाथ धोना पड़ेगा।

तो फिर मजूर लोग जिस अत्याचार का शिकार बन रहे हैं, उससे आपको मुक्त होने के लिए उन्हें किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए?

5

पहले तो ऐसा जान पड़ता है कि इसका कोई उपाय ही नहीं है; मजूर लोग गुलामी की जंजीरों में इस तरह जकड़े हुए हैं कि उनका स्वतंत्र होना अब संभव ही नहीं। परंतु यह भ्रम है। मजूरों को अपनी मुक्ति का उपाय खोजने के लिए पहले अपने अत्याचारों का कारण खोजना चाहिए, और जब वे ऐसा करेंगे तब वह देखेंगे कि खून-खच्चर करने व साम्यवादियों के बतलाए मार्ग पर चलने तथा सरकार से सहायता प्राप्त करने की व्यर्थ आशाएँ रखने के अतिरिक्त अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के ऐसे साधन उनको प्राप्त हैं, जिनमें कोई भी कभी बाधक नहीं हो सकता। और ये साधन सदैव से उनके हाथ में रहे हैं, और आगे भी रहेंगे।

वास्तव में मजूरों की इस दु:खपूर्ण और शोचनीय अवस्था का केवल एक ही कारण है—यही कि जिस जमीन की मजदूरों को जरूरत है, वह जमींदारों के अधिकार में है। परंतु जमींदार भला इस जमीन को अपने अधिकार में किस प्रकार रख सकते हैं?

पहले तो इस तरह कि, जिस समय मजूरों की ओर से इस ज़मीन को अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न किया जाएगा, उस समय उनके सब कार्य का विरोध करने के लिए फौजें भेजी जाएँगी। वे जमीन पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करनेवालों को मारकर भगा देंगी और जरूरत पड़ने पर उन्हें यमलोक तक पहुँचा देने में भी कोई कसर बाकी न रखेंगी। इस तरह वे फिर जमींदारों को जमीन सौंप देंगी? परंतु जरा

सोचो तो, इन सेनाओं में सैनिक कहाँ से आते हैं ? सेनाओं के सैनिक, श्रमजीवियो, तुम्हीं तो हो। श्रमजीवियो, तुम्हीं तो सैनिक बनकर और सेना के अधिकारियों की आज्ञा का पालन करते हुए जमींदारों के उस चीज का मालिक बनने में सहायक होते हो, जो वास्तव में उनकी नहीं, सर्व साधारण की, और इसलिए तुम्हारी भी संपत्ति है। पर तुम सिर्फ यही नहीं करते। तुम उनकी (जमींदारों की) इस जमीन पर काम करके और उसे लगान पर लेकर उनकी और भी सहायता करते हो। श्रमजीवियो! तुम्हें चाहिए कि तुम ये सब बातें छोड़ दो। फिर तुम देखोगे कि जमींदारों का जमीन को अपने अधिकार में रखना व्यर्थ ही नहीं वरन् असंभव हो जाएगा और वह जमीन सार्वजनिक संपत्ति हो जाएगी। परंतु संभव है, ऐसी दशा में जमींदार मजूरों के स्थान में यंत्रों से काम लेने लगे और खेती करने के स्थान में पशु-पालन, उनकी संतान बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने तथा जंगलों की रक्षा और वृद्धि आदि का काम आरंभ कर दें। पर वे कुछ भी करें, तुम निश्चयपूर्वक जानो कि, श्रमजीवियो, तुम्हारे बिना उनके लिए अपना काम चलाना असंभव हो जाएगा और तब एक-एक करके उन सबको मजबूर होकर अपनी-अपनी जमीन छोड़ देनी पड़ेगी।

इस प्रकार, श्रमजीवियो! इस गुलामी और दारिद्र्य से मुक्त होने का एकमात्र साधन यही है कि तुम पहले यह समझ लो कि जमीन पर किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष का अधिकार कर लेना एक भारी अपराध है। जब तुम यह समझ लो, तो दूसरा काम यह है कि तुम कभी फौजों में नौकरी न करो; क्योंकि फौजों के बल पर ही तो ये लोग किसानों और मजूरों से जमीनें छीनते हैं। एक बात और है। जमींदारों की जमीनों पर काम करना, एवं उसे लगान पर लेना भी उसकी जमीन का उन्हें मालिक बने रहने देने में सहायता करना है। इसीलिए उनकी जमीनों पर काम भी न करो, न उन्हें किराए पर ही लो।

6

लोग कहेंगे "परंतु यह उपाय तो तभी कारगर होगा, जब दुनियाभर के सभी मजूर यह निश्चय कर लें कि फौज में न तो नौकरी की जाए और न जमींदारों की जमीन पर काम किया जाए और न उस जमीन को लगान पर लिया जाए। सारे संसार के श्रमजीवी एकदम काम करना बंद कर दें। परंतु ऐसी बात न तो है ही और न हो सकती है। अगर थोड़े से श्रमजीवी इन सब बातों पर राजी भी हो जाएँ तो बाकी श्रमजीवी, जो प्राय: दूसरे देशों के श्रमजीवी होंगे, इसकी आवश्यकता को न समझेंगे। और इसलिए परिस्थिति में कोई विशेष फर्क न होगा—जमीनें तो ज्यों-की-त्यों जमींदारों के अधिकार में बनी रहेंगी। फल यह होगा कि इन हड़ताल करनेवाले मजूरों से दूसरों का भला

होना तो दूर, उलटी वे अपनी ही हानि कर लेंगे।''

यह एतराज बिल्कुल सही होता, अगर मैं उन्हें हड़ताल कर देने (काम करने से इनकार कर देने) को कहता होता, लेकिन मैं हड़ताल की बात नहीं करता। मैं तो यह कहता हूँ कि श्रमजीवियों को चाहिए कि वे सेनाओं में भरती होना बंद कर दें, जो हमारे भाइयों पर आक्रमण करके उन्हें अपने स्वत्वों से वंचित कर देती हैं। मैं तो यह कहता हूँ कि वे जमींदारों की जमीन पर काम करने या उसे लगान पर लेने से इनकार कर दें। क्यों ? इसलिए नहीं कि इससे श्रमजीवियों को केवल हानि है और उससे उनकी पराधीनता बढ़ जाती है, बल्कि इसलिए कि इन कामों में किसी प्रकार का कोई भाग लेना स्वयं ही एक बहुत बड़ा पाप है। प्रत्येक मनुष्य को इस पाप से उसी प्रकार बचना चाहिए, जिस प्रकार हत्या करने, चोरी करने, डाका डालने इत्यादि कामों के करने से अथवा उनमें किसी भी प्रकार का हिस्सा लेने से बचना उसका परम धर्म है। यदि श्रमजीवी लोग इस बात पर जरा भी विचार करेंगे कि कुछ भी परिश्रम न करनेवाले इन भद्र पुरुषों के जमीन पर अधिकार बनाए रखने में सहायता करना कहाँ तक उचित है, तो वे निःसंदेह देखेंगे कि जमीन पर किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष का एकाधिकार होना बिल्कुल न्याय-विरुद्ध बात है और इसलिए उस प्रथा को बनाए रखना एक महापाप है। इस पाप के कारण सहस्रों मनुष्य, वृद्ध पुरुष एवं छोटे-छोटे बच्चों को दुःख और दारिद्र्य में जीवन बिताना पड़ता है। इसी पाप के कारण उन्हें भर-पेट भोजन नहीं मिलता। यही नहीं बल्कि आवश्यकता तथा अपनी शक्ति से बाहर परिश्रम करना पड़ता है। इस घृणित जमींदारी प्रथा के कारण हजारों स्त्री-पुरुषों को फाकेकशी और अति परिश्रम के कारण अकाल ही काल के गाल में पहुँचना पड़ता है।

यदि जमींदारों द्वारा जमीन को अपने एकाधिकार में बनाए रखने का यही परिणाम हो—और यह बात अब प्रायः सभी पर विदित हो गई है कि इसका परिणाम ऐसा ही होता है—तो यह बात भी स्पष्ट है कि जमींदारों के जमीन पर अधिकार रखने और इस अधिकार का समर्थन करने के काम में किसी प्रकार भी कोई हिस्सा लेना एक बहुत बड़ा पाप है, जिससे प्रत्येक मनुष्य को दूर रहना चाहिए। करोड़ों मनुष्य सूदखोरी, आवारागर्दी, निर्बलों को सताने, उन पर आक्रमण करने, चोरी करने, हत्या करने तथा ऐसे ही दूसरे कामों को स्वभावतः पाप-कर्म समझते हैं और ऐसे कामों से सदैव दूर रहते हैं। ठीक ऐसा ही रुख श्रमजीवियों को जमींदारी के संबंध में रखना चाहिए। वे स्वयं इसके संपत्ति के अनौचित्य को देखते हैं और उसे बहुत ही कुत्सित एवं निर्दयतापूर्ण काम समझते हैं। तो फिर क्या कारण है, जो वे उसमें केवल हिस्सा ही नहीं लेते बल्कि उसका समर्थन भी करते हैं ?

7

इस प्रकार मैं जिस बात की सलाह देता हूँ, वह हड़ताल नहीं है। मैं तो जमींदारी की रक्षा और समर्थन को एक अपराध और महापाप बता रहा हूँ और स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि हम सब ऐसे पाप से अथवा ऐसा करने से अपना हाथ खींच लें—उसमें सहायक होने से बाज आएँ। यह सच है कि इस प्रकार किसी काम को बुरा या पाप समझकर उसे छोड़ने के लिए सब लोग जल्दी तैयार नहीं होते, जैसा कि हड़तालों में हुआ करता है और इस कारण इस तरीके से उस सफलता की आशा नहीं की जा सकती है जिसको प्राप्त करने का संकल्प किया जाता है, और जिसको प्राप्त कराने में हड़ताल का तरीका कारगर होता है, बशर्ते कि हड़ताल सफल हो जाए। परंतु इस सिद्धांत के आधार पर जितनी स्थायी और दृढ़ एकता स्थापित हो जाती है, वह हड़ताल से कदापि नहीं हो सकती। हड़ताल के समय होनेवाली कृत्रिम एकता हड़ताल का उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर फौरन नष्ट हो जाती है। पर जो एकता किसी कार्यक्रम को स्वीकार कर लेने पर अथवा एक ही प्रकार का विश्वास रखने के कारण होती है, वह दिन-पर-दिन और भी अधिक सुदृढ़ होती है और अधिकाधिक लोगों को अपनी ओर खींचती जाती है और जब श्रमजीवी हड़ताल की भावना से नहीं, बल्कि जमींदारी को पापमूलक समझ, उसमें किसी प्रकार कोई हिस्सा लेने से अपना हाथ खींच लेंगे, तो उनमें भी वही चिरस्थायी एकता होगी। बहुत संभव है, जमीन की खानगी मालिकी की रक्षा के समर्थन में किसी प्रकार का हिस्सा लेना अनुचित है, इस बात को समझते हुए भी उनमें से बहुत थोड़े आदमी जमींदारों की जमीन पर काम करना बंद करें और उसे लगान पर भी न लें। परंतु तो भी, चूँकि वे ऐसा किसी स्थानीय और अस्थायी इकरारनामे के कारण नहीं, बल्कि यह समझकर करेंगे कि कौन-सी बात उचित है और कौन-सी अनुचित है और किसी उचित बात को तो हमेशा सभी मनुष्य मानने को तैयार रहते हैं और भूमि पर वैयक्तिक अधिकार बनाए रखना तो सरासर एक अनुचित बात है ही; अत: ज्यों-ज्यों यह बात लोगों पर प्रकट होती जाएगी त्यों-त्यों ऐसे लोगों की संख्या-आप-से-आप बढ़ती जाएगी।

पहले से ही ठीक-ठीक यह बतला देना असंभव है कि श्रमजीवियों के यह समझ जाने पर कि, जमींदारी के तत्त्व की रक्षा करने में किसी प्रकार कोई हिस्सा लेना बहुत बड़ा पाप है, समाज में क्या-क्या परिवर्तन हो जाएँगे। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे परिवर्तनों का होना अनिवार्य है। इस ज्ञान का महत्त्व जितना भी अधिक हो उतना ही अधिक उसका प्रचार भी होगा। संभव है, ऐसे परिवर्तनों का परिणाम यह हो कि कुछ श्रमजीवी जमींदारों के लिए काम करना या उनकी जमीन को किराए (लगान) पर लेना बंद कर दें और इस प्रकार जब जमींदारों को जमीन पर

अपना अधिकार बनाए रखने में कोई लाभ न दिखलाई पड़ेगा, तो वे या तो श्रमजीवियों के साथ ऐसा समझौता कर लेंगे, जो उन श्रमजीवियों के लिए हितकर होगा या जमीन को बिल्कुल ही छोड़ देंगे। यह भी संभव है कि जो श्रमजीवी सेना में भरती हो गए हैं, वे यह समझ जाने पर कि जमीन पर वैयक्तिक अधिकार होना बुरा है, अपने ग्रामीण श्रमजीवी भाइयों पर आक्रमण करने और उन्हें पद-दलित करने से इनकार कर दें, जिसका परिणाम शायद यह हो कि सरकार जमींदारों की जमीन की रक्षा करने में असमर्थ हो जाए और इस तरह जमीन जमींदारों के हाथ से निकलकर जनता के हाथों में चली जाए और उसके ऊपर किसी व्यक्ति अथवा वर्ग-विशेष का अधिकार न रह जाए।

अंत में, यह भी संभव है कि जिस समय सरकार को यह विश्वास हो जाएगा कि जमीन पर ये वैयक्तिक अधिकार का उठ जाना अनिवार्य और स्पष्ट हो गया है, उस समय वह श्रमजीवियों की इस विजय को सरकारी आज्ञा का रूप देकर कानून द्वारा भूमि पर से वैयक्तिक अधिकार की बात उठा दे।

यह बता देना बहुत मुश्किल है कि श्रमजीवियों को इस बात का ज्ञान हो जाने पर कि जमीन पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार होना एवं उसमें सहायक होना भी अनुचित बात है, जमीन पर अधिकार रखने के संबंध में क्या-क्या परिवर्तन होना जरूरी और संभव है। संभव है बहुत-से परिवर्तन हों। पर एक बात बिल्कुल निश्चय है—वह यह कि कोई मनुष्य इस संबंध में दिल से और ईश्वर पर विश्वास करके कुछ कार्य करेगा, तो निश्चय ही उसके प्रयत्न व्यर्थ न होंगे।

जिस समय लोगों के सामने कोई ऐसा काम करने की बात आ जाती है, जिसका बहु-संख्यक जन-समाज ने समर्थन नहीं किया है, तो वे प्राय: यह कहने लगते हैं, "इन तमाम लोगों के मुकाबले मैं अकेला क्या कर सकता हूँ?" ऐसे लोग यह समझते हैं कि किसी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसे सभी अथवा कम-से-कम ज्यादातर लोग करने लग जाएँ, पर यह धारणा भ्रमपूर्ण है। सच तो यह है कि बहुत-से आदमियों की जरूरत तो एक बुरे काम के लिए भले ही हो, एक अच्छे काम के लिए तो एक ही आदमी काफी है; क्योंकि जो मनुष्य अच्छा काम करता है, ईश्वर हमेशा उसके साथ रहता है। और जिस मनुष्य के साथ ईश्वर है, उसके साथ, अभी अथवा देर से, किसी-न-किसी समय सभी मनुष्य अवश्य हो जाएँगे।

श्रमजीवियों की दशा में सुधार तो तभी होगा, जब वे ईश्वर की आज्ञानुसार अथवा अपने अंत:करण की प्रेरणा के अनुसार काम करेंगे, अर्थात् पहले की अपेक्षा अधिक सच्चाई और सदाचार के साथ काम करने से ही उनकी दशा सुधरेगी।

8

अगर सर्व-साधारण ने साम्यवाद की शिक्षा को ठीक-ठीक समझा है तो कहना होगा कि वह शिक्षा उलटी है, जो मजूरी करने के तमाम औजारों को सबकी संपत्ति बनाने से पहले ही मजूरों को उन कारखानों के मालिक बनने की आशा दिलाती है, जिनमें कि वे काम करते हैं। वह इस स्वर्ण सिद्धांत के विरुद्ध तो है ही कि 'मनुष्य को दूसरों के साथ ठीक वैसा ही सलूक करना चाहिए जैसा कि वह दूसरों से चाहता है', पर नीति के भी बिल्कुल विरुद्ध है।

ठीक इसी प्रकार श्रमजीवियों का सैनिक बनकर अपने भाइयों को दबाकर अथवा जमीन पर मजदूरों की तरह काम करके या उसे लगान पर लेकर इस भू-संपत्ति पर वैयक्तिक अधिकार रखने की बात का समर्थन करना इस नियम के प्रतिकूल है। भू-संपत्ति का यह समर्थन इस नियम के अनुकूल इसलिए नहीं है कि, यदि इससे कुछ समय के लिए उन लोगों की दशा सुधर भी जाती है, जो इसका आश्रय लेते हैं, तो भी इसमें संदेह नहीं, कि इससे दूसरे श्रमजीवियों की दशा और भी अधिक बिगड़ जाती है।

इसलिए श्रमजीवियों ने अपनी स्वतंत्रता के लिए जितने साधनों का प्रयोग किया है—खुलेतौर से आक्रमण करना, साम्यवाद के सिद्धांतानुसार कार्य करना तथा अपने स्वार्थ के लिए अलग-अलग व्यक्तियों का जमींदारी प्रथा के अनौचित्य का समर्थन करना आदि—वे सभी साधन असफल हुए हैं, क्योंकि वे सभी नैतिक जीवन के इस मूल सिद्धांत से दूर रहे हैं कि "तुम्हें दूसरों के साथ वही सलूक करना चाहिए जो तुम चाहते हो दूसरे तुम्हारे साथ करें।"

अपने-आपको इस दासता के बंधन से मुक्त करने के लिए श्रमजीवियों को कोई प्रत्यक्ष कार्य करने की जरूरत नहीं है, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल इसलिए इन पाप-कर्मों से दूर रहना है कि यह दूर रहना न्यायोचित एवं नीति के अनुकूल अर्थात् ईश्वरीय आज्ञा के अनुकूल है।

किसी वस्तु की कमी केवल उसी समाज के अंदर रहती है जो पशुओं की भाँति एक-दूसरे से लड़-भिड़कर ही अपना जीवन व्यतीत करता है। परंतु सच्चे धर्मानुयायी समाज में किसी बात की कमी नहीं रह सकती। जिस समय लोग अपनी-अपनी चीजों को आपस में बाँट-चूँटकर खाना और रहना आरंभ कर देंगे, उस समय उनके पास हमेशा उन चीजों की इफरात रहेगी जिनकी उन्हें आवश्यकता है, यहाँ तक कि बहुत-सी उनके खर्चे से बचे भी रहेंगे। एक समय कुछ लोग ईसा मसीह के उपदेशामृत का पान कर रहे थे। उपदेश बड़ा लंबा था। इसलिए उनमें से कुछेक को बड़ी जोरों से भूख लगी। मसीह को यह मालूम हुआ कि उनमें से कुछ लोगों के

पास खाने-पीने का सामान है। तब उन्होंने सबको मंडलाकर बैठ जाने का आदेश किया और जिन लोगों के पास खाने का सामान था, उन्हें यह आज्ञा दी कि वे अपने निकटस्थ लोगों को एक ओर से इस प्रकार खाना बढ़ाना आरंभ कर दें कि वे अपनी-अपनी भूख बुझा लेने के बाद बचा हुआ भोजन दूसरे के आगे बढ़ा दें। और जब इस प्रकार खाना एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँच गया तो सभी लोगों की क्षुधा निवारण हो गई और बहुत-सा सामान बाकी बच रहा।

इसी प्रकार उन लोगों में भी, जो इस प्रकार काम करेंगे, किसी बात की कमी न रहेगी और ऐसे लोगों को जमींदारों के लिए काम करने अथवा लगान पर उनकी जमीन लेने की कोई आवश्यकता न रहेगी। इसलिए लोगों को चाहिए कि वे खुद दरिद्र होने पर भी कोई ऐसा काम न करें जो कि उनके दूसरे भाइयों के लिए हानिकारक हो।

यदि इस समय श्रमजीवी लोग जमींदारों के यहाँ उनका काम करते हैं और उनकी जमीन किराए (लगान) पर लेते हैं तो इन सबका कारण केवल यही है कि अभी उन सब लोगों को इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है कि अमुक कर्म पाप-कर्म है। और न सभी लोग यह समझते ही हैं कि इससे वे अपना तथा अपने भाइयों का बहुत बड़ा अनिष्ट करते हैं। लोग जितना ही अधिक भौतिक संपत्ति में भाग लेने के महत्त्व को समझेंगे और जितनी ही अच्छी तरह वे इसे समझ जाएँगे, उतनी ही शीघ्रता और सुगमता एवं दृढ़ता के साथ परिश्रम करनेवालों के ऊपर से परिश्रम न करनेवालों का दबाव उठ जाएगा।

9

श्रमजीवियों की दशा सुधारने का एकमात्र उपाय यह है कि जमीन को जमींदारों के अनुचित अधिकार से मुक्त कर दिया जाए और यह ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल हैं। जमींदारों की जमीन पर काम न करने और उसे किराए (लगान) पर न लेने से भी जमीन की मुक्ति हो सकती है। इसी तरह श्रमजीवी सेना में सम्मिलित होने से भी इनकार कर सकते हैं जबकि वह श्रमजीवियों के विरुद्ध काम में लाई जा रही हो। परंतु तुम श्रमजीवियों के लिए इतना ही जान लेना काफी न होगा कि तुम्हारे हित के लिए जमीन का जमींदारों के पंजे से निकल जाना आवश्यक है। केवल जमींदारों की जमीन पर काम करना और उसे किराए (लगान) पर लेना बंद कर देने से भी काम न चलेगा। तुम्हें तो यह भी जान लेना जरूरी है कि जिस समय जमीन जमींदारों के पंजों से निकल जाएगी, उस समय तुम उसका प्रबंध किस प्रकार करोगे? आपस में श्रमजीवियों में उसे कैसे बाँटोगे?

हममें से बहुतों का यह विचार है कि जो लोग कोई काम नहीं करते, उनके हाथ से पहले जमीन निकाल लेने भर की देर है कि इसके बाद सारी बातें ठीक हो जाएँगी। पर बात ऐसी नहीं है। यह कहना तो बहुत ही आसान है कि जमीन आलसी और काम न करनेवालों के हाथ से निकालकर काम करनेवालों के हाथ में दे दी जाए। परंतु यह सारी कार्रवाई किस प्रकार की जाए कि न्याय का उल्लंघन न हो और धनिकों को फिर से इस बात का अवसर भी न मिले कि वे बड़े-बड़े इलाके खरीदकर उनके मालिक बन जाएँ और इस प्रकार काम करनेवालों (श्रमोपजीवियों) को फिर अपना दास बना लें। तुममें से बहुत लोग अभी समझते हैं कि प्रत्येक श्रमजीवी अथवा समाज को अपनी इच्छानुसार जहाँ कहीं वे चाहें, एक स्थान से दूसरे स्थान पर बस जाने और जमीन जोतने-बोने का अधिकार होना चाहिए, जैसा कि पुराने जमाने में होता था और अब भी कहीं-कहीं होता है। पर यह वहीं संभव है जहाँ पर आबादी कम हो, और जमीन इफरात और एक ही किस्म की हो। पर जहाँ पर आबादी इतनी ज्यादा है कि उसका उस जमीन से भरण-पोषण भी ठीकतौर से नहीं हो सकता और जहाँ की जमीन कई किस्म की है, वहाँ यह जरूरी है कि लोगों में उसे दूसरी तरह बाँटने के उपायों की खोज की जाए। यदि इसका बँटवारा जनसंख्या के अनुसार किया जाएगा तो जमीन उन लोगों के भी हिस्से में चली जाएगी, जो यह भी नहीं जानते कि वह किस प्रकार जोती-बोई जाती है और फिर ये काम न करनेवाले लोग उसे या तो दूसरों को किराए पर उठा देंगे या धनवानों के हाथ उसे बेच देंगे। नतीजा क्या होगा ? फिर ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ जाएगी जिनके पास हजारों बीघा जमीन है, पर जो उस पर कुछ भी काम नहीं करते। यह भी प्रश्न उठ सकता है कि काम न करनेवाले लोगों को जमीन बेचने और उसे किराए पर उठा देने से क्यों न रोक दिया जाए ? परंतु ऐसी दशा में वह जमीन बेकार पड़ी रह जाएगी, जो ऐसे लोगों की संपत्ति है जो या तो काम करना नहीं चाहते या काम कर ही नहीं सकते। इसके अतिरिक्त, यदि जमीन का बँटवारा जनसंख्या के हिसाब से किया जाए तो प्रश्न यह उठता है कि एक ही किस्म की जमीन सबके हिस्से में कैसे डाली जाए ? कुछ जमीन तो खूब उपजाऊ और कुछ कंकरीली, पथरीली, ऊसर, रेतीली और दल-दलदार है। कस्बों में ऐसी उपजाऊ जमीन है जिसमें फी एकड़ खूब आमदनी होती है; पर कुछ दूसरे स्थानों में ऐसी जमीन मिलेगी जिससे कोई भी आमदनी नहीं होती। तो फिर जमीन का बँटवारा किस प्रकार किया जाए कि वह काम न करनेवालों के हिस्से में न पड़े और किसी का हिस्सा भी न मारा जाए और किसी प्रकार का विरोध, लड़ाई-झगड़ा और फसाद भी पैदा न हो ? बहुत दिनों से लोग इन बातों पर विचार कर रहे हैं और इन समस्याओं को हल करने का प्रयत्न कर रहे हैं, और इस संबंध में बहुत-सी ऐसी युक्तियाँ ढूँढ़ निकाली गई हैं, जिनसे श्रमजीवियों में जमीन का

समुचित बँटवारा किया जा सके।

समाज-संगठन संबंधी कुछ योजनाएँ हैं जिन्हें साम्यवादी समझा जाता है। इन योजनाओं में जमीन सार्वजनिक संपत्ति मानी जाती है, और सभी लोग सम्मिलित रूप से उसे जोतते-बोते हैं। पर इनके अतिरिक्त मुझे नीचे लिखी कुछ योजनाओं का पता है—

सबसे पहली योजना जो मैं बताऊँगा विलियम ओगिलवी नामक स्काटलैंड निवासी एक सज्जन की बनाई गई है। ओगिलवी अठारहवीं शताब्दी के पुरुष बतलाए जाते हैं। महाशय ओगिलवी का कथन है कि चूँकि प्रत्येक मनुष्य जमीन पर पैदा होता है, इसलिए उस जमीन पर रहने और उसकी पैदावार से अपना भरण-पोषण करने का उसे पूर्ण अधिकार है। इसलिए थोड़े-से मनुष्य इस जमीन को अपनी व्यक्तिगत संपत्ति बनाकर उसके इस अधिकार में किसी प्रक:र की कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकते। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को उतनी जमीन अपने कब्जे में रखने का पूर्ण अधिकर होना चाहिए जो उसके हिस्से की है। अगर कोई अपने हिस्से से अधिक जमीन अपने अधिकार में ले लेता है और उन हिस्सों से फायदा उठाता है, जिनके संबंध में वे लोग जो वास्तव में उसके मालिक हैं, अपना कोई दावा पेश नहीं कर रहे हैं, तो ऐसे व्यक्ति को चाहिए कि वह इसके लिए सरकार को विशेष कर दिया करे।

इसके कुछ वर्ष बाद ब्रिटेन-निवासी एक दूसरे सज्जन ने जमीन-संबंधी इस समस्या को इस प्रकार हल किया, ''सारी जमीन जिलों की जनसंख्या में सामूहिक रीति से बाँट दी जाए। और जिस प्रकार जिले की जनता चाहेगी उसका उपयोग कर सकती है।'' इस प्रकार अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा भूमि को अपनी वैयक्तिक संपत्ति बनाने की प्रथा का बिल्कुल अंत ही कर दिया गया था।

महाशय स्पेंस ने भी इसी संबंध में अपने विचार एक प्रसंग पर सन् 1788 में प्रकट किए थे। प्रसंग यों है।

''एक दिन मैं अकेला जंगल में अखरोट बीन रहा था कि एकाएक उस जंगल के अफसर (फारेस्टर) ने झाड़ी के बीच से मेरी ओर झाँककर मुझसे पूछा, 'तुम यहाँ क्या कर रहे हो?' मैंने उत्तर दिया, 'अखरोट बीन रहा हूँ।'

उसने कहा, 'क्या अखरोट बीन रहे हो? यह कहने का साहस तुम्हें कैसे हुआ?'

''मैंने कहा, 'बताओ, क्यों न हो? अगर कोई गिलहरी या बंदर ऐसा करता होता तो क्या आप उससे भी ऐसा ही प्रश्न करते? क्या आप मुझे इन जानवरों से भी कम समझते हैं, या मेरा अधिकार इनसे भी कम है?' मैंने भी जरा कड़ककर पूछा, 'आखिर तुम होते कौन हो जो मेरे काम में इस तरह बाधा पहुँचा रहे हो?'

''उसने कहा, 'यह सब तुम्हें उस समय पता लग जाएगा, जब मैं तुम्हें यहाँ

अनधिकार-प्रवेश करने के अपराध में गिरफ्तार कर लूँगा।'

"मैंने उत्तर दिया, 'बेशक, लेकिन जरा यह तो बताइए कि यहाँ, जहाँ पर कभी किसी मनुष्य ने न पेड़ लगाए और न जमीन जोती-बोई, मेरा अपना अनधिकार-प्रवेश कैसे कहा जा सकता है ? ये अखरोट तो प्रकृति देवी ने अपनी इच्छा से लोगों को भेंट किए हैं, और इनका उपयोग करने का अधिकार तो मनुष्य और पशु सभी रखते हैं। वे सर्व-साधारण की संपत्ति हैं।'

"उसने कहा, 'मैं तुमसे यह कहता हूँ कि यह जंगल सर्व-साधारण की संपत्ति नहीं है। इसके मालिक पोर्टलैंड के ड्यूक हैं।'

"मैंने कहा, 'बड़ी अच्छी बात है! ड्यूक साहब जुग-जुग जीएँ। पर प्रकृति उन्हें भी उतना ही जानती है जितनी कि मुझे। और प्रकृति देवी के भंडार में तो यह नियम है कि पहले आओ और पहले खाओ। इसलिए अगर साहब कुछ अखरोट लेना चाहें तो शीघ्रता करें।"

अंत में महाशय स्पेंस ने गरजकर कहा कि अगर मुझे ऐसे देश की रक्षा करने का हुक्म दिया जाए कि जिसमें मैं एक अखरोट भी नहीं तोड़ सकता, तो मैं यह कहकर अपने हथियार फेंक दूँगा कि "इसके लिए पोर्टलैंड के ड्यूक-जैसे व्यक्तियों को ही लड़ने दो, जो देश के मालिक होने का दावा करते हैं।"

इसी प्रकार 'विवेक-युग' (The Age of Reason) और 'मनुष्य के अधिकार' (The Rights of Man) नामक ग्रंथों के प्रसिद्ध लेखक टामस पेन ने भी इस समस्या को हल किया है। उनके हल की विशेषता यह थी कि भूमि को तो उन्होंने सार्वजनिक संपत्ति माना और भिन्न-भिन्न जमींदारों द्वारा भूमि पर स्थापित किए अधिकार को नष्ट करने के लिए उत्तराधिकार की प्रथा को मिटा देने का प्रस्ताव किया था। फलतः जो जमीन अभी तक किसी एक व्यक्ति को संपत्ति रही है उसके मालिक के मर जाने पर सार्वजनिक संपत्ति हो जाए।

टापस पेन के बाद, गत शताब्दी में पैट्रिक एडवर्ड डव ने इस विषय में बहुत कुछ विचार किया और लिखा है। मि० डव का सिद्धांत यह था कि जमीन का मूल्य दो प्रकार से बढ़ता है—स्वयं जमीन की उर्वरा शक्ति से और दूसरे उस पर किए गए परिश्रम से। जमीन का जो कुछ भी मूल्य उस पर किए गए परिश्रम के कारण बढ़ जाता है, वह किसी मनुष्य की व्यक्तिगत संपत्ति हो सकती है। पर अपनी उर्वरा शक्ति के कारण उसका जो कुछ भी मूल्य होता है, वह तो समस्त राष्ट्र की संपत्ति है। जैसा कि हो रहा है वह कभी किसी की व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होनी चाहिए।

जापान की लैंड-रिक्लेमिंग सोसायटी ने भी ऐसी ही एक योजना तैयार की है। योजना संक्षेप में यों है—प्रत्येक को अपने हिस्से की जमीन पर इस शर्त पर काबिज

रहने का अधिकार है कि वह उसके लिए एक निश्चित कर (टैक्स) दिया करे और इसलिए जिस व्यक्ति के पास अपने हिस्से से ज्यादा जमीन है, उससे वह अपने हिस्से की जमीन माँग सकता है। परंतु मेरी राय में तो सबसे अधिक न्याय और व्यवहार्य योजना हेनरी जार्ज की है जो 'सिंगल टैक्स सिस्टम' के नाम से प्रसिद्ध है।

हेनरी जार्ज की तैयार की गई योजना मुझे तो सबसे अधिक न्याययुक्त, लाभ-प्रद और सबसे अधिक व्यवहार्य दिखाई देती है। संक्षेप में उसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है। मान लीजिए कि किसी स्थान में सारी जमीन के मालिक दो जमींदार हैं। इनमें से एक बहुत धनवान और दूर देश में रहनेवाला है, और दूसरा इतना धनवान तो नहीं, पर अपनी जमीन आप जोतता-बोता है—और लगभग सौ किसान हैं जिनके पास थोड़ी-थोड़ी जमीन है। इसके अतिरिक्त, उसी स्थान में ऐसे बहुत-से मजदूर पेशा आदमी शिल्पकार, व्यापारी लोग (सौदागर) और सरकारी कर्मचारी रहते हैं; जिनके पास कोई जमीन नहीं है। मान लीजिए, इस स्थान के सब निवासी इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि कुल जमीन सार्वजनिक संपत्ति है। तब वे इस विश्वास के अनुसार उस जमीन का बँटवारा कैसे करें?

सभी ऐसे लोगों से, जिनके पास जमीन है, उस कुल जमीन को ले लेना और प्रत्येक मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार जमीन का उपभोग करने की इजाजत दे देना तो असंभव है। क्योंकि एक ही किस्म की जमीन के लिए बहुत-से उम्मीदवार खड़े हो जाएँगे और उनमें ऐसे झगड़े पैदा हो जाएँगे जिनका कभी अंत ही न होगा। सबके लिए सम्मिलित होकर जमीन का जोतना-बोना, निराना और फसल काटना और तैयार करना और बाद में उसका आपस में बाँट लेना भी व्यवहार्य न होगा, क्योंकि कुछ लोगों के पास तो हल, बैल और गाड़ियाँ हैं, दूसरों के पास नहीं हैं। इसके अलावा, कुछ लोगों को जमीन जोतने-बोने का न तो काफी अनुभव है और न खेती का आवश्यक ज्ञान। जनसंख्या के अनुसार एक प्रकार की जमीन को बराबर-बराबर हिस्सों में बाँटना भी बहुत कठिन होगा। यदि प्रत्येक किस्म की जमीन बहुत-से छोटे-छोटे हिस्सों में बाँट ली जाए, जिससे प्रत्येक मनुष्य को जोतने-बोने और जंगल आदि के लिए उत्तम, मध्यम, निकृष्ट सभी प्रकार की जमीन का अलग-अलग हिस्सा मिल जाए, तो आवश्यकता से अधिक बहुत-से छोटे-छोटे हिस्से बढ़ जाएँगे।

इसके अतिरिक्त, इस प्रकार जमीन का बाँटना और भी अधिक भयंकर इसलिए होगा कि जो लोग काम करना नहीं चाहते या जो बहुत ज्यादा गरीब हैं, वे रुपया लेकर अपनी जमीन धनी जनों के हवाले कर देंगे और फिर बड़े-बड़े जमींदारों की संख्या बढ़ जाएगी। इसलिए इस स्थान के निवासी यह तय करते हैं कि जमीन को उन्हीं लोगों के हाथ में छोड़ दिया जाए जिनके कब्जे में वह है, और यह तय कर

लिया जाए कि इस जमीन के बदले जमीन के मालिक सार्वजनिक कोष में एक निश्चित रकम दे दिया करें जो उनके कब्जे की जमीन से उस पर कब्जा करनेवाले की होती। पर यह रकम उस मेहनत से नहीं तय की जाए जो कि उस जमीन पर की गई है बल्कि उस जमीन की किस्म और स्थिति आँकी जाए और अंत में इस स्थान के निवासी इस रकम को आपस में बराबर बाँट लेने का निश्चय करते हैं।

लेकिन जिन लोगों के कब्जे में जमीन है, उनसे रुपए वसूल करना और प्रत्येक मनुष्य को बराबर बाँटना एक बहुत जटिल समस्या है। इसके अतिरिक्त सभी निवासियों को पाठशाला, प्रार्थना-मंदिर, आग बुझाने के इंजन, गोशालाएँ, सड़कों आदि की मरम्मत कराने इत्यादि सार्वजनिक कामों के लिए रुपया देना पड़ता है और वह रुपया सार्वजनिक आवश्यकताओं के लिए हमेशा काफी नहीं होता। इसलिए इस स्थान के निवासी जमींदारों के जमीन की आमदनी का रुपया इकट्ठा करने, उसे सब लोगों में बाँट देने और फिर टैक्स के लिए उसे वसूल करने के बदले, यह निश्चय करते हैं कि जमीन से होनेवाली सारी आमदनी तहसील वसूल कर ले और उसे सार्वजनिक आवश्यकताओं में खर्च करे।

इस निर्णय पर पहुँचने के पश्चात् वे निवासी जमींदारों से उनके कब्जे की जमीन के हिसाब से रुपया तलब करते हैं और जिन किसानों के पास थोड़ी-थोड़ी जमीन है उनसे भी रुपया तलब करते हैं। परंतु उन थोड़े से आदमियों से कोई भी रकम तलब नहीं की जाती जिनके पास कुछ भी जमीन नहीं है, किंतु जमीन से होनेवाली आमदनी से जो भी संस्थाएँ तैयार की गई हैं, उनका उपयोग बिना कुछ दिए मुफ्त में करने की उन्हें इजाजत दे दी जाती है।

इसका परिणाम यह होता है कि जो जमींदार अपनी जमीन पर नहीं रहता है और उससे बहुत कम पैदा करता है, उसे इस प्रकार टैक्स देते हुए जमीन पर अपना कब्जा बनाए रखने से कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता और इसलिए वह उसे छोड़ देता है। पर वह दूसरा जमींदार जो एक अच्छा किसान है, अपनी जमीन के सिर्फ एक हिस्से को ही छोड़ता है और अपने लिए इतनी जमीन बनाए रखता है जिससे वह उतने रुपए से ज्यादा पैदा कर सके जो उसमें जमीन का इस्तेमाल करने के लिए माँगा जाता है।

जिन किसानों के पास जमीन थोड़ी है, जिनके पास काम करनेवाले ज्यादा और जमीन कम है तथा जिनके पास जमीन बिल्कुल नहीं है पर जो अपनी जीविका का उपार्जन जमीन के ऊपर परिश्रम करके करना चाहते हैं, वे जमींदारों द्वारा छोड़ी गई इस जमीन को अपने कब्जे में ले लेते हैं। इस तरह उस स्थान के सभी निवासियों के लिए जमीन पर रहना और उससे अपनी जीविका उपार्जन करना संभव हो जाता है,

और कुछ जमीन उन लोगों के हाथ में चली जाती है या उनके कब्जे में बनी रहती है, जो उस पर काम करना चाहते हैं और जिनमें अधिकाधिक पैदा करने का सामर्थ्य है। साथ ही उस स्थान की सार्वजनिक संस्थाओं में भी उन्नति होती जाती है, क्योंकि इस योजना द्वारा सार्वजनिक कामों के लिए पहले की अपेक्षा अधिक रुपया मिलता है। और इन सबके अलावा जमीन के संबंध में यह सारा परिवर्तन बिना किसी लड़ाई-झगड़े या रक्तपान के ही हो जाएगा, क्योंकि जिन लोगों को खेती करने से कोई लाभ नहीं है वे अपनी इच्छा से ही जमीन को छोड़ देंगे। यही हेनरी जार्ज की योजना (स्कीम) है, जो भिन्न-भिन्न राज्यों, तथा सारे मानव-समाज के लिए भी, अनुकूल सिद्ध हुई है।

अब मैं संक्षेप में अपनी बातों को फिर दुहरा देना चाहता हूँ।

श्रमजीवियों, मैं तुम्हें पहली सलाह यह देता हूँ कि तुम पहले यह समझ लो कि तुम्हें आवश्यकता किस बात की है। व्यर्थ में उस वस्तु के प्राप्त करने का कष्ट न उठाओ जिसकी तुम्हें आवश्यकता नहीं है। तुम्हें आवश्यकता सिर्फ जमीन की है, जिस पर तुम रह सको और जिससे तुम अपना भरण-पोषण कर सको।

दूसरे, मैं तुम्हें सलाह देता हूँ कि इस बात पर तुम लोग अच्छी तरह विचार कर लो कि किन उपायों से तुम जमीन को, जिसकी तुम्हें आवश्यकता है, प्राप्त कर सकते हो। इसे तुम रक्तपात करके नहीं प्राप्त कर सकते—ईश्वर तुम्हें ऐसी बेवकूफी से बचाए। भय-प्रदर्शन, हड़ताल अथवा पार्लियामेंट में अपने प्रतिनिधि भेजकर भी यह काम नहीं हो सकेगा। इसका सरल उपाय है उन कार्यों में भाग लेने से इनकार कर देना जिन्हें तुम बुरा समझते हो; अर्थात् यह कि तुम्हें सरकारी सेना के सैनिक बनकर और रक्तपात करके अथवा जमींदारों की जमीन पर काम करके या उसको लगान पर लेकर जमीन को वैयक्तिक संपत्ति बनानेवाले अनौचित्य का समर्थन न करना चाहिए।

तीसरे, यह तो सोचो कि जिस समय जमीन जमींदारों के चंगुल से निकलकर स्वतंत्र सार्वजनिक संपत्ति बन जाएगी उस समय तुम उसका बँटवारा किस प्रकार करोगे? तुम्हें यह न समझना चाहिए कि जो जमीन जमींदार छोड़ देंगे वह तुम्हारी संपत्ति होगी। किंतु तुम्हें यह समझ लेना चाहिए कि जमीन का बँटवारा न्यायोचित और बिना किसी पक्षपात अथवा द्वेषभाव के सब लोगों में समान रूप से होना जरूरी है। और इसलिए यह आवश्यक है कि भू-संपत्ति पर व्यक्ति विशेष का अधिकार न माना जाए, चाहे वह जमीन एक ही गज क्यों न हो।

सूर्य की गरमी और वायु के समान जमीन को सब मनुष्यों की सम्मिलित संपत्ति मानकर ही, तुम बिना किसी को हानि पहुँचाए न्यायपूर्वक किसी भी नवीन या पुरानी योजना के अनुसार, जिसे तुम सब लोग मिलकर सोचो और पसंद करो, जमीन को

सब मनुष्यों को बाँट सकोगे।

चौथे, और यह खूब ध्यान से सुनने की बात है; मैं तुम्हें यह सलाह दूँगा कि जिस वस्तु की तुम्हें आवश्यकता है उसे प्राप्त करने के लिए तुम्हें शासकों के साथ कोई लड़ाई झगड़ा या रक्तपात करने अथवा साम्यवादियों के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने की आवश्यकता नहीं है। सबसे पहले तो तुम्हें स्वयं अपना जीवन उत्तम और सदाचारपूर्ण बनाने की जरूरत है। लोगों का जीवन इसीलिए खराब हो रहा है कि वे बुरा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। यह खयाल मनुष्य जाति को बेहद हानि पहुँचा रहा है कि उनकी दुरवस्था का कारण उनके भीतर नहीं बल्कि बाह्य संसार में है। यदि कोई मनुष्य अथवा मनुष्य-समाज यह समझता है कि जिन बुराइयों को यह अनुभव कर रहा है उनका मूल बाह्य जगत में है और फिर इसके अनुसार इन बाहरी बातों के सुधार और परिवर्तन में लग जाता है; तो उसकी बुराइयाँ और भी बढ़ती जाएँगी और उसकी दशा और भी बिगड़ती जाएगी। लेकिन अगर कोई मनुष्य अथवा मनुष्य-समाज वास्तव में इन कारणों का शीघ्र पता लगाना चाहता है और यह चाहता है कि वे आप-से-आप नष्ट हो जाएँ तो, उसके लिए केवल इतना ही पर्याप्त है कि वह सच्चे हृदय से अपने ऊपर विचार करना आरंभ कर दे, और जिन बुराइयों का वह मनुष्य अथवा समाज शिकार हो रहा है, उनके मूल कारणों को अपने ही अंदर खोजे।

"पहले तू ईश्वर के साम्राज्य और सत्य की खोज कर, बाकी बातें तुझे आप-से-आप प्राप्त हो जाएँगी।"[1] यह मानव जीवन का मूल नियम है। ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध सदाचार-विहीन जीवन व्यतीत करने से तुम्हारे हजार प्रयत्न करने पर भी तुम्हें सुख और शांति नहीं मिल सकेगी। इसके विपरीत सुख और शांति की कोई परवाह न करो, केवल ईश्वर की आज्ञा के अनुसार न्यायानुकूल और सदाचारमय जीवन व्यतीत करते रहो, आप-से-आप तुम्हें वह सब सुख प्राप्त हो जाएगा और सो भी इस तरह कि जिसका तुमने कभी खयाल भी नहीं किया हो। यह बात बिल्कुल स्वाभाविक है कि जिस दरवाजे के पीछे हमारी अभीष्ट वस्तु रखी हुई है उसके पार पहुँचने का हम प्रयत्न करें, विशेषकर उस समय, जबकि हमारे पीछे आदमियों की भीड़ खड़ी हुई हो और हमें धक्का देकर, मानो पीसकर आगे की ओर बढ़ने के लिए हमें मजबूर कर रही हो। तथापि इस तरह जितना ही अधिक हम उस दरवाजे के बाहर निकल भागने का प्रयत्न करते हैं, उतनी ही कम आशा हमारे उस पार पहुँचने की होती जाती है क्योंकि वह दरवाजा हमारी ही ओर को खुलता है।

इसलिए सुख और शांति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपनी बाह्य परिस्थिति

---

1. मत्त, 6—33

का सुधार करने की नहीं बल्कि स्वयं अपना, अपने अंतःकरण का सुधार करने की आवश्यकता है। उसे चाहिए कि वह बुरे कामों को करना छोड़ दे, और अच्छे कामों को करना आरंभ कर दे। सुख और शांति के मार्ग में लगे हुए द्वार हमेशा उस मनुष्य की ओर ही खुला करते हैं जो उनके पार पहुँचने के लिए उन्हें खोलने का प्रयत्न करता है।

यदि तुम समझते हो कि सच्चा सुख और शांति प्राप्त करने के लिए तुम्हें ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार प्राणि-मात्र के साथ भ्रातृ-भाव से रहना चाहिए, अर्थात् दूसरों के साथ वही करना चाहिए जो तुम चाहते हो दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें, तो जितना ही अधिक तुम इस सिद्धांत को समझोगे और समझकर उसे कार्य-रूप में लाने का प्रयत्न करोगे, उतना ही अधिक तुम्हें वह शांति भी प्राप्त होगी जिसके पाने के तुम इच्छुक हो और तुम्हारे इस दास्य-जीवन (गुलामी) का अंत हो जाएगा।

अंत में मैं तुम्हें यही कहूँगा, "सत्य को पहचानो, वही तुम्हें स्वतंत्र करेगा।"

एकमात्र उपाय

"All things; therefore, whatsoever ye would that men should do unto you, even so do ye also unto them—for this is the law and the Prophets."

Matt. vii. 12,

अर्थात् जो कुछ तुम चाहते हो कि दूसरे लोगों को तुम्हारे साथ करना चाहिए, वही तुम उनके साथ भी करो; क्योंकि कानून और धर्म दोनों की यही आज्ञा है।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

1

संसार में श्रमजीवियों—मजूरों की—संख्या एक अरब से भी ऊपर है। खाने-पीने की सारी सामग्री, संसार की वे सारी वस्तुएँ, वे सारी चीजें जिनके ऊपर लोगों की जीविका निर्भर है, और जिनसे लोग अमीर हैं—इन श्रमजीवियों के ही परिश्रम से उत्पन्न होती हैं। परंतु इन सबसे वह लाभ नहीं उठा सकता जो इन चीजों को बनाता है। लाभ उठाती है सरकार और धनिक समाज। श्रमजीवी बेचारे निरंतर दुःख दारिद्र्य, अज्ञानांधकार और दासता के बंधन में ही पड़े रहते हैं और जिन लोगों के लिए वे भोजन और वस्त्र तैयार करते हैं, मकान बनाते हैं तथा अन्य सेवा-कार्य करते हैं; वे ही उन्हें अनादर और तिरस्कार की दृष्टि से देखते रहते हैं।

जमीन मजूर के हाथ से निकाल ली जाती है और वह उन लोगों की संपत्ति बना

दी जाती है, जो उस पर कुछ भी काम नहीं करते, जिसके कारण जमीन से जीविका उपार्जन करने के लिए उस पर परिश्रम करनेवाले मनुष्य को उस जमीन के मालि के अधीन होकर वह सारा काम करना पड़ता है, जिसके लिए वह आज्ञा दे। यदि श्रमजीवी मनुष्य जमीन मे अपना संबंध त्यागकर, किसी की नौकरी करने लग जाता है, अथवा मिलों या कारखानों में काम करने लग जाता है; तो वह दूसरे धनीजनों का दास बन जाता है; यहाँ पर उसे वेतनदाता के लिए जीवन-भर दस-दस, बारह-बारह, चौदह-चौदह घंटे अथवा उससे भी अधिक समय तक काम करना पड़ता है। बीच में विश्राम का नाम नहीं। काम भी एक ही प्रकार का और थका देनेवाला होता है, जिसका वह कभी भी अभ्यस्त नहीं रहा है—अभ्यस्त क्या हो, जिसकी उसे कल्पना भी नहीं होती—बिल्कुल अपरिचित। फल यह होता है कि वह सुख, शांति और स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठता है। यदि वह इस योग्य है कि जमीन पर बस जाए अथवा काम पा जाए, जिससे बिना किसी कठिनाई के वह अपनी जीविका का उपार्जन कर सके, तो भी उसकी जान नहीं बचती; बल्कि उससे तरह-तरह के टैक्स माँगे जाते हैं। उसे स्वयं भी तीन, चार अथवा पाँच वर्ष तक सेना के खर्चों के लिए कर देने को बाध्य किया जाता है। अगर बिना कुछ रुपया खर्च किए ही मुफ्त में वह जमीन को काम में लाना चाहता है, हड़ताल आदि का प्रबंध करना चाहता है अथवा अपनी जगह पर दूसरे श्रमजीवियों को काम करने से रोकना चाहता है, या टैक्स देने से इनकार करता है, तो उसकी हड्डियों की मरम्मत करने के लिए फौजें भेजी जाती हैं, जो उसे घायल कर देती हैं, मार डालती हैं अथवा पहले की भाँति फिर काम करने और टैक्स देने के लिए उसे बाध्य करती हैं।

इस प्रकार समस्त संसार के श्रमजीवी, मनुष्यों का-सा नहीं बल्कि भार-वाहक पशुओं का-सा जीवन व्यतीत करते हैं। वे जीवन-भर ऐसा काम करने के लिए बाध्य किए जाते हैं, जिसकी उन्हें नहीं, उनके पीड़कों को आवश्यकता है। इसके बदले में उन्हें इतना ही भोजन-वस्त्र तथा अन्य आवश्यक चीज़ें मिलती हैं, जिससे वे बिना किसी रुकावट के निरंतर परिश्रम कर सकें। इसके विपरीत वे थोड़े से लोग जो श्रमजीवियों के ऊपर शासन करते हैं, उन लाखों-करोड़ों की गाढ़ी कमाई पर मौज उड़ाते हैं और आलस्य और विलासिता में जिंदगी बरबाद करते रहते हैं। यह कैसी अनीति है!

2

मास्को में निकोलस द्वितीय के राज्याभिषेक के समय लोगों को आमतौर पर अच्छी-अच्छी शराबें और पाव बाँटे गए। लोग उस स्थान की ओर बढ़े जहाँ पर ये चीजें बाँटी जा रही थीं। उस समय इतने जोर का रेल-पेल हुआ कि लोगों को अपने-

आपको सँभालना मुश्किल हो गया। जो लोग आगे थे, उन्हें पीछेवालों ने इतने जोर का धक्का दिया कि वे जमीन पर गिर पड़े। इन लोगों के भी पीछे जो लोग खड़े थे, उन्होंने इन्हें चटनी कर डाला। चूँकि उनमें से कोई भी यह नहीं देखता था कि आगे क्या हो रहा है, इसलिए वे सभी एक-दूसरे को धक्का दे-देकर गिराते और कुचलते रहे। जो ताकतवर थे, उन्होंने निर्बलों को गिराकर रौंद डाला। इसके बाद काफी हवा न मिलने और भीड़ की धक्कम-धुक्का से बलवानों का भी दम घुटने लगा और वे बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े। अब जो लोग इनके पीछे खड़े थे, उन्हें पीछे से लोगों ने ऐसा धक्का दिया कि उनके भी पैर उखड़ गए थे और इस झोंके को सह न सकने के कारण वे अपनी जगह पर खड़े न रह सके और इन लोगों पर जा गिरे और उन्हें भी पीस डाला। इस प्रकार हजारों आदमी जिनमें वृद्ध, युवा, पुरुष और स्त्री सभी थे—व्यर्थ में मौत के शिकार हुए।

जब यह सारा तमाशा खतम हो गया, तो लोगों में यह विवाद छिड़ा कि इस सबके लिए कौन दोषी है। कुछ लोगों ने कहा, इसमें पुलिस का दोष है। कुछ बोले—इसमें सारा दोष प्रबंध करनेवालों का है और कुछ लोगों ने कहा इसमें सारा अपराध जार का है जिन्होंने ऐसा भोज देने की मूर्खतापूर्ण युक्ति निकाली है। सभी ने अपने-आपको छोड़ बाकी लोगों पर दोषारोपण किया। पर यह बात बिल्कुल साफ है कि इसमें दोषी वही लोग कहे जाने चाहिए, जिन्होंने अपने पड़ोसियों से पहले रोटी का टुकड़ा और एक प्याला शराब पाने के लालच से, अपने साथियों का बिना कोई खयाल किए, आगे बढ़ने की कोशिश की, और उन्हें जमीन पर गिराकर अपने पैरों तले कुचल डाला।

क्या ठीक यही बात श्रमजीवियों के साथ भी तो नहीं हो रही है? उनकी यह बुरी दशा इसीलिए है, उन्हें सारे कष्ट इसीलिए भोगने पड़ रहे हैं और वे इसीलिए दूसरों के गुलाम बने हुए हैं कि अपने थोड़े-से अधम स्वार्थ के लिए वे अपने जीवन का सत्यानाश कर रहे हैं और अपने भाइयों की भी जिंदगी बर्बाद कर रहे हैं।

श्रमजीवी प्रायः जमींदार, सरकार, कारखानों के मालिकों तथा सेना, सभी की शिकायत किया करते हैं। पर ये इस बात को नहीं सोचते कि जमींदार जमीन से केवल इसीलिए फायदा उठा सकते हैं, सरकारें इसीलिए कर (टैक्स) वसूल कर सकती हैं, कारखानों के मालिक श्रमजीवियों से केवल इसीलिए अपने स्वार्थ का साधन करा सकते हैं और फौजें हड़तालियों का दमन करने में सिर्फ इसीलिए सफल होती हैं कि श्रमजीवी इन जमींदारों, सरकारों, कारखानों के मालिकों और फौजों को केवल सहायता ही नहीं पहुँचाते बल्कि स्वयं भी उन बातों को करते हैं कि जिनकी कि वे शिकायत किया करते हैं। क्योंकि अगर एक जमींदार बिना जोते-बोए हजारों

एकड़ जमीन से फायदा उठाने में समर्थ होता है, तो वह सिर्फ इसीलिए कि श्रमजीवी लोग उसके वश में होकर अपने थोड़े-से लाभ के लिए उसका काम करते हैं, उसकी चौकीदारी करते हैं, रखवाली करते हैं, और दल बनाकर उसके सारे काम की देख-भाल करते हैं। इसी तरह सरकार भी श्रमजीवियों से इसीलिए टैक्स वसूल कर सकती है कि वे स्वयं, वेतन के लालच से, जो खुद उन्हीं से वसूले हुए रुपयों में से दिया जाता है, गाँव और जिले के अधिकारी टैक्स-कलेक्टर, पुलिस-मैन और चुंगी आदि के अधिकारी बनकर काम करते हैं, अर्थात् सरकार को उन तमाम बातों के करने में सहायता दिया करते हैं जिनकी वे खुद शिकायत करते हैं। श्रमजीवी लोग एक शिकायत यह भी करते हैं कि कारखाने के मालिक उनकी मजदूरी घटा देते हैं और अधिक-से-अधिक समय तक काम करने के लिए उन्हें मजबूर करते हैं। पर यह भी सब इसीलिए होता है कि श्रमजीवी लोग स्वयं चढ़ा-ऊपरी करके अपनी मजदूरी घटा देते हैं और कोठारी, ओवरसियर, चौकीदार और फोरमैन का काम करने के लिए कारखाने के मालिकों के हाथ अपने-आपको बेच देते हैं, और अपने मालिक के स्वार्थ के लिए अपने ही मजदूर भाइयों की तलाशियाँ लेते हैं, उन पर जुर्माने करते हैं और उन्हें तरह-तरह से हैरान और परेशान करते हैं।

अंत में श्रमजीवियों को यह भी शिकायत है कि अगर वे जमीन को अपने अधिकार में लेना चाहें जिसे कि वे अपनी संपत्ति समझते हैं, या वे टैक्स देने से इनकार कर दें अथवा हड़ताल कर दें, तो उनके मुकाबले के लिए फौजें भेजी जाती हैं। परंतु इन फौजों के सिपाही वे ही श्रमजीवी लोग हैं जो अपने स्वार्थ के लिए अथवा दंड के भय से फौज में भर्ती हो गए हैं और उन्होंने अपनी आत्मा तथा ईश्वर के विरुद्ध इस बात की शपथ ले ली है कि वे उन सभी लोगों का वध करने में कोई संकोच न करेंगे जिनके लिए अधिकारी उन्हें आज्ञा देंगे।

इसलिए श्रमजीवियों की सारी मुसीबतें स्वयं उन्हीं की पैदा की हुई हैं।

आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि वे धनी-जनों तथा सरकार की सहायता करना बंद कर दें। उनके सारे दु:खों का अंत आप-से-आप हो जाएगा।

तो फिर क्या कारण है कि वे बराबर उन्हीं बातों को करते रहते हैं जो उनके नाश का कारण होती हैं?

3

"आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"

हजारों वर्ष पूर्व ऋषियों को इस ईश्वरीय आज्ञा का ज्ञान हुआ था। पारस्परिक व्यवहार की यह सर्वोत्तम नीति है। बाइबिल कहता है—"प्रत्येक को दूसरों के साथ

वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि वह चाहता है दूसरे लोग उसके साथ करें।" इसी बात को चीन के महान् धर्माचार्य कनफ्यूशियस ने कहा है, "दूसरों के साथ वह बात न करो जो तुम नहीं चाहते दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें।"

यह नियम बिल्कुल साधारण है और हरएक आदमी की समझ में आ सकता है। वास्तव में इसके पालन से मनुष्य का सबसे अधिक कल्याण हो सकता है। इसलिए इसका ज्ञान होते ही मनुष्य को चाहिए कि वह जितनी जल्दी मुमकिन हो, उसके अनुसार आचरण करना आरंभ कर दे तथा आगे आनेवाली संतान को इस नियम की ओर उसके अनुसार आचरण करने की शिक्षा देने में अपनी सारी शक्ति लगा दें।

ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत पहले लोगों को इस नियम के अनुसार आचरण करना चाहिए था, क्योंकि इसकी शिक्षा कनफ्यूशियस और महात्मा बुद्ध तथा यहूदी उपदेशक हिलेल और ईसा मसीह ने एक समय में दी थी।

विशेषकर ऐसा प्रतीत होता है कि ईसाई-संसार के लोगों को तो इस नियम के अनुसार अवश्य आचरण करना चाहिए, क्योंकि वे उस इंजील को अपना मुख्य धर्मग्रंथ मानते हैं जिसमें स्पष्ट रूप से इसी नियम को धर्म और कानून का सार बताया गया है अर्थात् इसी में वह सारी शिक्षा है जिसकी मनुष्य को आवश्यकता है।

पर हजारों वर्ष बीतने पर भी लोग इस नियम के अनुसार आचरण तो करते ही नहीं और न बच्चों को उसकी शिक्षा देते हैं; बल्कि कई लोग तो ऐसे हैं जो इसे जानते तक नहीं और यदि जानते भी हैं तो वे इसे या तो अनावश्यक समझते हैं या अव्यवहार्य मानते हैं।

पहले तो यह बात बिल्कुल विचित्र-सी जान पड़ती है; परंतु जिस समय मनुष्य इस बात पर विचार करता है कि इस नियम का ज्ञान होने के पूर्व लोग किस प्रकार रहा करते होंगे, और वे इस प्रकार से कितने समय तक रहे होंगे, साथ ही यह नियम आधुनिक मानव-जीवन के सिद्धांतों से कितने अंशों में भिन्न है, तो यह बात समझ में आ जाती है कि इस नियम का पालन क्यों नहीं किया जा सका।

इसका कारण यह था कि लोगों को इस बात का ज्ञान ही नहीं था कि सर्वसाधारण के कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के साथ वही करना चाहिए जो वह चाहता है कि दूसरे लोग उसके साथ करें (यद्यपि यह तो साफ बदले की नीति है) इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए दूसरे मनुष्यों के ऊपर इतनी अधिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता था, जितनी की उससे हो सकती थी।

इसके पश्चात् उस शक्ति से बेरोक लाभ उठाने के अभिप्राय से अपने से अधिक शक्तिशाली मनुष्यों की अधीनता में उसे रहना पड़ता और उसकी सहायता

करनी पड़ती थी। पुन: इस शक्तिशाली मनुष्यों को फिर अपने से अधिक शक्तिशाली मनुष्यों की अधीनता में रहना पड़ता और उनकी सहायता करनी पड़ती थी।

इस तरह ऐसे समाज में, जो पारस्परिक व्यवहार की इस सीधी नीति से (अर्थात् दूसरों के साथ वही करना जो मनुष्य चाहता है दूसरे लोग उसके साथ करें), बिल्कुल अनभिज्ञ है, हमेशा अल्पसंख्यक मनुष्य बाकी आदमियों के ऊपर शासन किया करते हैं।

जिस समय मनुष्यों को इस नियम का ज्ञान हुआ, उस समय वे अल्पसंख्यक सत्ताधारी नहीं चाहते थे कि वे स्वयं उस नियम को स्वीकार करे। वे तो उल्टा यह चाहते थे कि जिन लोगों पर वे अपना आधिपत्य जमाए हुए थे, वे भी उस बात को न समझें और न उसे अपनाएँ।

दूसरों पर आधिपत्य रखनेवाला वह थोड़े-से लोगों का गिरोह इस बात को भली प्रकार जानता था और अब भी जानता है, कि उसको जो यह शक्ति प्राप्त हुई थी और इस समय भी प्राप्त है उसका कारण क्या है? यह शक्ति उसे इसीलिए प्राप्त है कि जिन लोगों पर वह शासन करता है वे वापस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं और हमेशा एक-दूसरे को नीचा दिखाने तथा उसे अपनी अधीनता में बनाए रखने का प्रयत्न किया करते हैं, और इसलिए सत्ताधारी अपने शासित लोगों से इस नियम को छिपाए रखने के लिए अपनी शक्ति-भर यत्न करते रहे हैं और कर रहे हैं।

यह नियम इतना सरल और सर्व-साधारण के समझने योग्य है कि सत्ताधारी इस नियम को न तो छिपा सकते और न उसे अस्वीकार ही कर सकते हैं। पर लोगों को भुलावे में डालने के लिए वे ऐसे सैकड़ों-हजारों दूसरे नियम उनके सामने पेश कर देते हैं जिन्हें वे इस सुवर्ण-नीति से कहीं अधिक आवश्यक और उसकी अपेक्षा कहीं अधिक मान्य बतलाते हैं।

इनमें से थोड़े आदमी अर्थात् धर्माधिकारी लोग सैकड़ों ऐसे धार्मिक सिद्धांतों, पूजन-पाठ की विधियों, देवार्चना और प्रार्थना आदि के नियमों की शिक्षा देते हैं जिनका इस उच्च व्यवहार-नीति से जरा भी संबंध नहीं है और उन्हें वे सबसे अधिक आवश्यक ईश्वरीय नियम बतलाते हैं। वे यह भी डर बताते हैं कि इनके अनुसार आचरण करने में कहीं असावधानी होगी तो मनुष्य के इहलोक और परलोक दोनों सदैव के लिए बिगड़ जाएँगे।

कुछ लोग अर्थात् शासक-समाज के लोग धर्माधिकारियों द्वारा आविष्कृत इस शिक्षा को स्वीकार कर आगे बढ़ते हैं और इसके आधार पर ऐसे राजनीतिक नियमों की रचना करते हैं जो उपर्युक्त व्यवहार-नीति के सर्वथा विरोधी हैं। वे दंड का भय दिखलाकर सबको अपने नियमों का पालन करने की आज्ञा करते हैं।

पर कुछ लोग इनसे भी बढ़े-चढ़े हैं—विद्वान और धनी। वे न तो ईश्वर को मानते हैं और न किसी ऐसे ईश्वरीय आदेश को स्वीकार करते हैं जिसका पालन करना मनुष्य के लिए अनिवार्य हो। वे कहते हैं—विज्ञान और उसके नियमों के अतिरिक्त संसार में कुछ भी नहीं है, विद्वान लोग इनकी खोज करते हैं और अमीर लोग उन्हें सीखते हैं। वे कहते हैं कि सर्वसाधारण को लाभ पहुँचाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षालयों, व्याख्यानों, नाटकों, क्रीड़ा-स्थलों, चित्र-शालाओं और सभाओं के जरिए सबको उनकी शिक्षा दी जाए और सब लोग अपना ही जीवन उसी प्रकार आलस्यमय बनाएँ जैसा कि, विद्वानों और अमीरों का होता है। और तब, वे जोरों से प्रतिपादन करते हैं कि वे तमाम बुराइयाँ, जो श्रमजीवियों के दुख-दारिद्र्य और कष्ट का कारण हो रही हैं, आप-से-आप नष्ट हो जाएँगी।

इनमें से किसी भी श्रेणी के मनुष्य उस सुवर्ण-नियम को अस्वीकार नहीं करते, किंतु इसके साथ-साथ वे भाँति-भाँति के इतने धार्मिक, राजनीतिक तथा वैज्ञानिक नियम तैयार करके देख देते हैं कि उनके बीच में किसी का ध्यान उस ईश्वरीय नियम की ओर नहीं जाने पाता, जो बिल्कुल सरल एवं सुबोध है और जिसके पालन करने से अवश्य ही अधिकांश जन-समाज का दुःख, दारिद्र्य एवं कष्ट छूट सकता है।

यही कारण है, जिससे सरकार तथा धनिक-समाज द्वारा पीड़ित श्रमजीवी पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने तथा अपने भाइयों के जीवन का सत्यानाश किया करते हैं, अपनी दशा सुधारने के लिए ईश्वर-प्रार्थना, पूजा करना, चुपचाप शासकों की आज्ञाओं का पालन करना, सभाएँ करना, एसोसिएशन कायम करना, व्यापारिक संस्थाएँ खोलना, हड़ताल करना, क्रांति करना इत्यादि दुनियाभर के जटिल, कुटिलतापूर्ण अथवा कठिन साधनों का आश्रय लिया करते हैं। किंतु वे इस एकमात्र उपाय से काम नहीं लेते, उस ईश्वरीय आज्ञा का पालन नहीं करते, जो निश्चित रूप से उन्हें अपने दुःखमय जीवन से मुक्त कर सकता है।

4

धार्मिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक और सामाजिक झगड़ों की टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में भटकनेवाले कहेंगे—'परंतु क्या यह संभव है कि—'आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति' अथवा 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' (अर्थात्—'लोगों को दूसरे के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जो वे चाहते हैं दूसरे लोग उनके साथ करें') जैसे सूत्रों में संपूर्ण ईश्वरीय आज्ञा और मानव-धर्म का सार पूर्ण रूप से आ जाए?''

ऐसे लोग यह समझते हैं कि ईश्वरीय आज्ञा तथा मनुष्य के धर्म का प्रतिपादन सीधी और सरल भाषा में नहीं हो सकता, बल्कि विस्तारपूर्ण एवं जटिल सिद्धांतों के

रूप में उसको समझाया जाना जरूरी है।

यह बात बिल्कुल सत्य है कि यह सब बहुत छोटा और सरल है, परंतु इसका छोटापन और सरलता ही इस बात का प्रमाण है कि यह एक सच्चा, स्पष्ट, त्रिकाल टिकनेवाला और धर्म-सम्मत नियम है—ऐसा ईश्वरीय नियम है जो मनुष्य-जाति के हजारों वर्ष के अनुभव का निष्कर्ष है, यह किसी ऐसे एक मनुष्य अथवा मनुष्य-समाज का बनाया हुआ नियम नहीं, जो अपने-आपको धर्म (चर्च) के रक्षक, शासक या वैज्ञानिक कहते हैं। राज्य के कानूनों एवं विज्ञान की पोथियों में बहुत-सी अच्छी-अच्छी बातें हो सकती हैं। उनमें कई बातों की गहरी और क्लिष्ट चर्चा की गई है। यह सब बुद्धि-युक्त और महत्त्वपूर्ण भले ही हों पर इन बातों को केवल थोड़े-से लोग ही समझ सकते हैं। किंतु, यह नीति ऐसी है जिसे सब समझ सकते हैं और उस पर अमल भी कर सकते हैं। जाति, धर्म, विद्या, वय, देश किसी बात की कैद नहीं।

धार्मिक, राजकीय अथवा वैज्ञानिक दलीलें, जो किसी एक स्थान और एक समय में सही मान ली गई हैं, दूसरे स्थान और दूसरे समय में गलत हो सकती हैं। परंतु यह व्यवहार-नीति ऐसी है, जो त्रिकाल सत्य है। जिन लोगों ने भी उसे एक बार समझ लिया है उनके लिए वह हमेशा सही बनी रहेगी।

दूसरे नियमों में और इस नियम में एक मुख्य अंतर है। इन तमाम धार्मिक, राजनीतिक एवं वैज्ञानिक नियमों से लोगों को न सच्ची शांति मिलती है और न उनका कल्याण ही होता है। सच तो यह है कि इन नियमों के बदौलत ही लोगों में अधिकाधिक वैर-भाव एवं दुःख-दारिद्र्य की वृद्धि होती है।

इसके विपरीत हमारी व्यवहार-नीति से—आचार के इस सुवर्ण सूत्र से मनुष्य को सच्चा सुख, प्रेम और शांति प्राप्त हो सकती है। उसके लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। बस, आदमी सिर्फ एक बात को मान ले और उस पर अमल करे—कभी दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार न करे, जो हमारे साथ होने पर हमें नापसंद हो। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्!" यह नीति अत्यंत लाभप्रद एवं मनुष्य-जाति का उपकार करनेवाली है; हाँ, यदि लोग इस पर अमल करें। यह मानव-समाज के सभी पारस्परिक संबंधों को निर्धारित करती हैं। द्वेष तथा लड़ाई-झगड़े के स्थान पर प्रेम-भाव तथा सेवा-भाव की प्रतिष्ठा करती है। यदि मनुष्य अपने-आपको ऐसे धोखादेह नियमों से बचा ले जो इस नीति को अपने जाल में छिपाए हुए हैं, यदि मनुष्य उसकी आवश्यकता और मानव-जीवन के लिए उपयोगी नीति को समझ ले तो एक ऐसे नवीन अपूर्व विज्ञान का आविष्कार हो जाए जो सब मनुष्यों के लिए एक-सा उपकारी और संसार का सबसे अधिक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण

विज्ञान होगा। ऐसा विज्ञान जो उस नियम के आधार पर यह शिक्षा देता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों तथा व्यक्तियों और समाजों के बीच होनेवाले झगड़ों का अंत किस प्रकार किया जा सकता है। और अगर इस अपूर्व विज्ञान का आविष्कार हो जाए, वह जड़ पकड़ जाए, उसका अध्ययन किया जाए तथा आजकल के हानिकर धार्मिक मिथ्या विश्वासों तथा प्राय: अनुपयोगी अथवा नाशक विज्ञानों की शिक्षा के स्थान पर नवयुवकों और बालकों को उसकी शिक्षा भी दी जाए, तो मनुष्यों का सारा जीवन ही बदल जाए और इसी के साथ-साथ कष्टमय परिस्थिति का भी परिवर्तन हो जाए जिसमें अधिकांश जन-समाज इस समय जीवन बिता रहा है।

5

बाइबिल में यह बतलाया गया है कि इस व्यवहार-नीति का प्रादुर्भाव होने के पूर्व परमपिता परमेश्वर ने मनुष्य को 'अपना कानून' दिया।

इस कानून में यह आज्ञा की गई थी कि 'किसी का वध न कर'। यह आज्ञा भी अपने समय में उतनी महत्त्वपूर्ण और उपयोगी थी कि जैसी बाद में सूझी हुई व्यवहार-नीति। पर इस आज्ञा की भी वही दुर्दशा हुई, जो इस सदाचार-सूत्र की हुई। लोगों ने प्रकट में तो उसका कोई विरोध नहीं किया, किंतु इस सदाचार-सूत्र के समान यह भी दूसरे नियमों तथा राजाज्ञाओं के जाल में पकड़कर लुप्त हो गई, जो इस प्रेम-धर्म या अहिंसा के समान ही अथवा उसकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे। अगर धर्मग्रंथों में केवल यही एक आज्ञा होती कि 'किसी का वध न करो' तो लोगों को यह स्वीकार करना पड़ता कि इसका मानना अनिवार्य है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता और इसका स्थान कोई दूसरा कानून नहीं ले सकता। साथ ही अगर लोगों ने भी इसी कानून को ईश्वर की एकमात्र आज्ञा मान लिया होता और उस कड़ाई के साथ उसका पालन भी करते, जितनी कि वे धर्म के दूसरे आडंबरों की रक्षा के लिए काम में लाते हैं, तो भी मनुष्य का सारा जीवन एक भिन्न ही रूप धारण कर लेता, और युद्ध तथा गुलामी की जरा भी संभावना न रह जाती। अगर ऐसा होता तो न धनवान निर्धनों से जमीन छीन सकते न मुट्ठी-भर आदमी बहुत-से श्रमजीवियों की कमाई आजकल की तरह हड़प कर सकते, क्योंकि इन सबकी जड़ भय-प्रदर्शन की नीति है। हाँ, यदि यही एकमात्र ईश्वरीय नियम होता कि किसी का वध न करते तो संसार का स्वरूप आज जुदा ही होता। परंतु दुर्भाग्यवश और आज्ञाएँ भी धर्म-ग्रंथों में दी गईं जिन्हें कि एक आज्ञा के समान ही महत्त्व दिया गया और अंत में इनकी संख्या इतनी बढ़ गई कि यह ईश्वरीय आज्ञा उस जाल में बिल्कुल गुम हो गई। फल यह हुआ कि आज भी उसे उचित महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। यही बात तो

उस व्यवहार-नीति के संबंध में भी हुई।

इसलिए बुराई की जड़ यह नहीं कि लोग ईश्वरीय आज्ञा को नहीं जानते। बल्कि बुराई की असली जड़ तो वे लोग हैं, जो ईश्वरीय आज्ञा के पालन को अपने लिए हानिकर समझते हैं। ये कौन हैं—धर्माधिकारी और शासक-वर्ग के थोड़े लोग, विद्वान, वैज्ञानिक और धनिक लोग जो इस ईश्वरीय आज्ञा का विरोध नहीं कर सकते, उसे झूठ भी साबित नहीं कर सकते, उसको नष्ट भी नहीं कर सकते, पर जो मनुष्य-समाज को भुलावे में डालने के लिए दूसरी सैकड़ों शिक्षाओं का भी आविष्कार करते हैं और इन अपनी बताई शिक्षाओं को भी ईश्वरीय आज्ञा के समान महत्त्वपूर्ण बताते हैं। इसलिए अपनी इन तमाम मुसीबतों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य उन तमाम धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक अंध-विश्वासों को छोड़ दे जो जीवन के आवश्यक और अनिवार्य नियमों के रूप में उनके सामने पेश किए गए हैं, और स्वीकार कर लें उस अटल सत्य और ईश्वरीय कानून को जो केवल थोड़े-से मनुष्यों को नहीं, वरन् समस्त संसार भर के मनुष्यों को अधिक-से-अधिक सुख, समृद्धि एवं शांति दिला सकता है।

सरकारें और धनवान लोग उनके धन और जीवन का अपहरण करना बंद कर दें, इस अभिप्राय से श्रमजीवियों के लिए अपनी गंदगी दूर कर देना चाहिए। अपवित्रता गंदगी से पैदा होती है और दूसरे के शरीर के ऊपर पोषण उसी समय तक होता रहता है जब तक कि वे मैले रहते हैं। इसलिए श्रमजीवियों के लिए अपनी इस दु:खावस्था से मुक्त होने का केवल एक उपाय है—वह यह कि वे अपनी शुद्धि करें। और उन्हें अपने-आपको शुद्ध करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि वे धार्मिक, राजकीय तथा वैज्ञानिक मिथ्या-विश्वासों से मुक्ति प्राप्त कर लें और ईश्वर तथा उसके कानून में विश्वास करें।

यही उनकी मुक्ति (आजादी) का सीधा और सच्चा मार्ग है।

वर्तमान समय में प्राय: दो प्रकार के श्रमजीवी मिला करते हैं—शिक्षित और मामूली अशिक्षित आदमी। ये दोनों आधुनिक सभ्यता के विरोधी हैं और उसके प्रति रोष प्रकट करते हैं—शिक्षित श्रमजीवी न तो ईश्वर में विश्वास रखता है न उसके कानून में; यह मार्क्स, लैसले आदि (साम्यवाद के आद्य प्रणेता) पुरुषों को ही जानता है। यह बेबेल जारीस, आदि की पार्लियामेंटों में होनेवाले कार्यों का अनुगमन करता है, तथा जमीन के छीनने के काम करने के साधनों और उत्तराधिकार की प्रथा में जो अन्याय है उस पर लंबे-चौड़े और सनसनी फैला देनेवाले व्याख्यान झाड़ता है; और अशिक्षित श्रमजीवी, यद्यपि इन बातों से बिल्कुल अनभिज्ञ है और उसको ईश्वर के त्रिमूर्ति अवतार और पाप-मोचनशक्ति आदि में विश्वास है, तथापि जमींदारों और पूँजीपतियों का तो उतना

ही कट्टर विरोधी है और संपूर्ण वर्तमान संगठन को अनुचित मानता है। फिर भी आप इस श्रमजीवी को, चाहे वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, जरा इस बात का अवसर दीजिए कि वह दूसरों की अपेक्षा सस्ते दाम की चीजें तैयार करके अपनी दशा सुधार सके। यद्यपि इससे उनके सैकड़ों, हजारों और लाखों भाइयों का खून ही क्यों न हो जाए—अथवा कोई ऐसा मौका दीजिए जिससे वह बड़ी-बड़ी तनख्वाह के लालच में ऊँची-ऊँची जगहों पर पूँजीपतियों की नौकरी कर सके अथवा थोड़े-से मजदूरों को नौकर रखकर स्वयं कोई व्यापार करना आरंभ कर दे—तो आप देखेंगे कि हजार में प्राय: नौ सौ निन्यानवे आदमी विवेक-शून्य होकर उस काम को करने लग जाएँगे और जमीन-जायदाद की ऐसी रक्षा करेंगे जैसी शायद खानदानी जमींदार भी खुद न करते।

सेना में भर्ती होना अथवा सामाजिक कोष के लिए माँगे जानेवाले टैक्सों को वसूल कराने में सहायता देना भी तो नैतिक दृष्टि से अनुचित है। यही नहीं बल्कि वह तो उनके तथा उनके साथियों, दोनों के लिए एक-सा हानिप्रद है और इसी के कारण वे गुलाम बने हुए हैं। पर उस पर विचार करने का कोई कष्ट नहीं उठाता और सब लोग या तो खुशी-खुशी सैनिक खर्चों के लिए कर (टैक्स) देते चले जाते हैं या स्वयं सेना में भर्ती हो जाते हैं और ऐसे कामों को उचित समझते रहते हैं।

क्या यह संभव है कि ऐसे लोगों में से किसी भी ऐसे नवीन समाज का निर्माण किया जा सकता है जो वर्तमान सामाजिक संगठन से बिल्कुल जुदा हो?

श्रमजीवी लोग अपनी इस दुरवस्था का सारा दोष जमींदारों, पूँजीपतियों तथा सैनिकों की अर्थ-लोलुपता और उनके अत्याचारों पर ही मढ़ते हैं। परंतु प्राय: सभी श्रमजीवी, जिन्हें ईश्वर तथा उसके कानून में कोई विश्वास नहीं है, स्वयं भी छोटे-छोटे जमींदार, पूँजीपति और अत्याचारी (सैनिक) हैं। फर्क सिर्फ यही है कि ये इतने छोटे हैं कि इन्हें बड़े-बड़े पूँजीपति, जमींदार, सिपाहियों की-सी सफलता नहीं मिल सकती।

एक ग्रामीण बालक अपनी रोजी की तलाश में एक नगर में अपने एक मित्र के पास आता है जो एक अमीर सौदागर के यहाँ कोचवानी करता है, और उससे यह प्रार्थना करता है कि यह प्रचलित नौकरी की दर से कम पर भी उनके लिए कोई जगह तलाश कर दे। वह ग्रामीण बालक ऐसी नौकरी करने को तैयार हो जाता है, परंतु दूसरे दिन सबेरे आने पर नौकरों के कमरे में वह अकस्मात् यह सुनता है कि एक बुड्ढा आदमी अपनी नौकरी से अलग कर दिया गया है; अब वह लाचार है और यह भी नहीं जानता कि किस प्रकार अपनी जीविका चलाए। बालक को उस बुड्ढे की दशा देखकर बड़ा दु:ख होता है और वह दूसरे के साथ ऐसा काम न करने की इच्छा से, जो कि वह चाहता है दूसरा आदमी उसके साथ न करे, अपनी नौकरी

छोड़ देता है। अथवा एक किसान है, जिस पर एक बहुत बड़े कुटुंब के भरण-पोषण का भार है; वह एक अमीर और जबर्दस्ती दूसरों का धन अपहरण करनेवाले जमींदारों के यहाँ अच्छी तनख्वाह के ऊपर कारिंदगीरी का काम करना मंजूर कर लेता है। जब वह कारिंदा यह देखता है कि उसके कुटुंबियों को खूब अच्छी तरह खाने-पीने को मिल जाता है, तो वह अपनी इस नौकरी के ऊपर फूल उठता है। लेकिन ज्योंही वह अपने काम का चार्ज लेता है, त्योंही उसे किसानों के ऊपर उन जानवरों के लिए जुर्माना करना पड़ता है जो बड़े आदमियों के खेतों में भटककर चले जाते हैं; उसे उन औरतों को पकड़ना पड़ता है जो ईंधन के वास्ते उस जमींदार के जंगल में लकड़ी बीनती हैं, और उसे मजदूरों की मजदूरी घटाना और उन्हें अपनी सारी शक्ति लगाकर काम करने के लिए मजबूर करना पड़ता है कि उसकी अंतरात्मा उसे इन बातों के करने की आज्ञा नहीं देती। वह इन कामों के करने से इनकार कर देता है और अपने घरवालों के बुरा-भला कहने पर भी अपनी नौकरी छोड़कर ऐसी जगह काम करने लग जाता है जहाँ पहले की अपेक्षा उसे कम आमदनी होती है। अथवा एक सिपाही अपनी साथियों के सहित उन श्रमजीवियों के साथ लड़ाई करने को बुलाया जाता है जो बागी हो गए हैं और उससे उन पर गोली चलाने को कहा जाता है। वह ऐसा करने से इनकार कर देता है और इसलिए उसे उसके लिए कठिन दंड दिया जाता है। इन सब लोगों के ऐसा करने का कारण केवल यह है कि जो बुराई वे दूसरों के साथ करते हैं वह उन पर प्रकट हो गई है और उनका अंत:करण उन्हें साफ-साफ यह बतला देता है कि जो कुछ भी वे कर रहे हैं वह ईश्वरीय कानून के सर्वथा विरुद्ध है। अर्थात् यह कि मनुष्य को दूसरों के साथ ऐसी बात नहीं करना चाहिए जिसे वह नहीं चाहता कि दूसरे लोग उसके साथ करें। अगर कोई श्रमजीवी, मजदूरी को गिरा करके काम करना मंजूर करता है और यदि उसे दूसरे लोगों का ध्यान नहीं है तो इससे वह नुकसान कम नहीं हो जाता, जो वह अपने इस कार्य से अपने अन्य मजूर भाइयों को पहुँचाता है। हानि उस हालत में भी कम नहीं होती जब कोई श्रमजीवी मालिकों की ओर मिल जाता है और जो कुछ हानि वह अपने भाइयों को पहुँचा रहा है उसे न तो देखता है और न उसे उसका खयाल ही होता है। यही बात उस आदमी के संबंध में भी है जो सेना में भर्ती हो जाता है और आवश्यकता पड़ने पर अपने भाइयों तक को मार डालने के लिए तैयार हो जाता है। अगर सेना में भर्ती होते समय उसे यह नहीं दिखाई पड़ता कि जिस समय वह बंदूक और संगीनों को चलाना सीख जाएगा, उस समय किन लोगों को और कहाँ पर वह मारेगा, तो भी इस बात को तो वह अवश्य ही समझ सकता है कि गोली चलाना और संगीनों से लोगों पर वार करना उसका काम होगा।

और इसलिए यदि श्रमजीवी लोग अत्याचारों और दासता से अपना छुटकारा करना चाहें तो उन्हें चाहिए कि वे अपने अंदर वह धार्मिक भाव उत्पन्न करें जो तमाम बुरे कामों को करने से मना करता है, जो उनके भाइयों की स्थिति को और भी अधिक बिगाड़ देनेवाले होते हैं, यद्यपि प्रकट में इस बुराई का पता नहीं चलता। धार्मिक दृष्टि से उन्हें चाहिए कि, यदि वे और तरह से गुजर कर सकते हैं तो पहले तो पूँजीपतियों के लिए काम करना बंद कर दें; दूसरे जो मजदूरी की शरह इस समय जारी है उससे कम के ऊपर काम करना स्वीकार न करें; तीसरे पूँजीपतियों से मिलकर और उनके स्वार्थ के लिए काम करके अपनी दशा सुधारने का व्यर्थ प्रयत्न न करें; और चौथे और मुख्यत: पुलिस में नौकरी करके अथवा चुंगी-घर या फौज में काम करके अथवा अन्य किसी तरह सरकार की ओर से किए जानेवाले अत्याचारों में कोई भाग न लें।

इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से विचार करके अपने सारे कामों को करने से ही श्रमजीवी लोग अपने इस दु:खमय जीवन से छुटकारा पा सकते हैं।

यदि एक श्रमजीवी अपने स्वार्थ अथवा भय के कारण सुसंगठित हत्यारों (खूनियों) की श्रेणी में अपना नाम लिखाने को तैयार है, अर्थात् वह सैनिकों में अपना नाम लिखा लेता है और उसकी अंतरात्मा उसके इस कार्य की कुछ भी निंदा नहीं करती; यदि अपनी सुख-समृद्धि बढ़ाने के लिए वह जान-बूझकर अपने भाइयों के गले पर, जो उनकी अपेक्षा अधिक निर्बल और निर्धन हैं,छुरी फेरने और उनका धन अपहरण करने के लिए तैयार हो जाता है अथवा अपनी तनख्वाह के लालच से अत्याचारियों से मिल जाता है और उनके सब कामों नें उनकी सहायता करता है तो उसे किसी भी बात के संबंध में कोई शिकायत न करनी चाहिए।

चाहे जिस हैसियत में भी वह रहे, वह हर हालत में या तो दलित है या दलन करनेवाला। इसके सिवाय तो वह कुछ हो भी नहीं सकता। ईश्वर तथा उसके कानून में अगर उसे विश्वास न होगा तो मनुष्य सिवाय इसके कि अपने इस अल्प जीवन में अधिक-से-अधिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति कर ले, और किसी भी बात की मन में अभिलाषा नहीं रखता। इसका परिणाम दूसरे लोगों के लिए फिर चाहे कुछ भी क्यों न हो। और जिस समय हरएक आदमी यह चाहने लगता है कि उसे अधिक-से-अधिक सुख एवं समृद्धि की प्राप्ति हो, बिना इस बात का खयाल किए हुए कि इससे दूसरे लोगों को हानि होती है अथवा लाभ, उस समय ऐसे लोगों का, फिर समाज का संघटन किसी भी प्रकार का क्यों न हो, एक 'कोन'-सा बन जाता है जिसकी चोटी पर शासक-मंडल और नीचे की ओर उनके द्वारा शासित जनों का समुदाय है।

समाज-सुधारकों से अपील

"The most fatal error that ever happened in the world was the separation of Political and Ethical Science." - **Shelley.**

अर्थात् संसार में जो सबसे बड़ी भयंकर भूल हुई है, वह राजनीति का नीतिशास्त्र से अलग कर देना है। - **शैली**

अपने 'मजदूरों के प्रति' शीर्षक लेख में मैंने यह राय जाहिर की है कि, यदि श्रमजीवी लोग अपने-आपको इन कष्टों से उबारना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि वे स्वयं इस समय जिस प्रकार का जीवन बिता रहे हैं उसे, अर्थात् अपनी व्यक्तिगत भलाई के लिए अपने पड़ोसियों से झगड़ना छोड़ दें, और धर्मग्रंथ में बतलाए नियम के अनुसार बरतें अर्थात् दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा कि वे चाहते हैं कि दूसरे लोग उनके साथ करें।

पर जैसी कि मुझे आशा थी, भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार के लोगों ने एक स्वर से मेरे बताए मार्ग की निंदा की।

लोग कहते हैं "यह उपाय तो बिल्कुल अव्यावहारिक है। अत्याचार और बल-प्रयोग से पीड़ितों की मुक्ति के लिए उस समय तक प्रतीक्षा करते रहना, जब तक कि वे सब धर्मात्मा न बन जाएँ, वर्तमान बुराई को चुपचाप स्वीकार करना है—मनुष्य को अकर्मण्य (काहिल) बना देना है।" क्योंकि न तो सब लोग धर्मात्मा बनेंगे और न उनकी मुक्ति की कोई सूरत ही होगी।

मैं इस संबंध में कुछ शब्द कह देना उचित समझता हूँ। मैं बता देना चाहता हूँ कि मैं इस उपाय को उतना अव्यवहार्य क्यों नहीं समझता जितना कि यह प्रतीत होता है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि विज्ञान-वेत्ताओं ने सामाजिक व्यवस्था को सुधारने के लिए जिन उपायों को बतलाया है, उन सबकी अपेक्षा इसकी ओर अधिक ध्यान रखा जाए। मैं यह शब्द उन लोगों से कहना चाहता हूँ जो सच्चे हृदय से, केवल शब्दों से ही नहीं वरन् कार्य-रूप में भी, अपने पड़ोसियों की सेवा करने के इच्छुक हैं। इन्हीं लोगों को संबोधित करके मैं इस समय कुछ कहना चाहता हूँ।

1

सामाजिक जीवन के आदर्श, जिनके ऊपर मनुष्यों के सारे काम-काज होते हैं, बदलते रहते हैं, और उन्हीं के साथ-साथ मानव-जीवन का व्यवस्था-क्रम भी बदलता रहता है। एक समय वह था कि जब सामाजिक जीवन का आदर्श प्राणी मात्र की पूर्ण स्वतंत्रता थी। उस समय एक मनुष्य-समाज जहाँ तक कि उससे हो सकता था, दूसरे मनुष्य-समाज का भक्षण कर जाता था। इस भक्षण शब्द का यहाँ पर यथार्थ तथा आलंकारिक दोनों अर्थों में प्रयोग किया गया है। इसके बाद वह जमाना आया जब समाज का आदर्श हो गया व्यक्ति-विशेष का शक्ति-संचय करना। अब लोग कभी अपने शासकों की सत्ता के विरोधी हो जाते, तो कभी अपने-आप उत्साह के साथ उनकी सत्ता को कबूल कर लेते। इसके बाद, लोग जीवन के उस संगठन को अपना आदर्श मानने लगे जिसमें मनुष्य-जीवन को सुव्यवस्थित और उसे समुचित रीति से संगठित करने के लिए शक्ति का आश्रय लिया जाने लगा। एक समय इस आदर्श को कार्य-रूप में लाने का उद्योग विश्व-व्यापी एकतंत्र राज्य की स्थापना करना था। इसके पश्चात् राजसत्ता धर्म के अधीन हुई। बड़े-बड़े राजाओं को धर्माचार्यों के अधीन होना पड़ा। धर्म-सत्ता के बाद प्रतिनिधित्व के आदर्श का जन्म हुआ और तत्पश्चात् प्रजातंत्र का। प्रजातंत्र सब जगह एक-सा नहीं था, इसमें कहीं सर्व-साधारण को अपना मत प्रकट करने का अधिकार था भी और कहीं नहीं भी था। इस समय इस आदर्श को आर्थिक संगठन के द्वारा कार्य-रूप में परिणत करने के प्रयोग हो रहे हैं। परिश्रम करने के समस्त साधन (औजार) अब किसी की व्यक्तिगत संपत्ति न रह जाएँगे; बल्कि संपूर्ण राष्ट्र की संपत्ति हो जाएँगे।

ये आदर्श एक-दूसरे से चाहे कितने ही भिन्न क्यों न हों, जीवन में उन्हें कार्य-रूप देने के लिए हमेशा शक्ति अनिवार्य मानी गई है—अर्थात् ऐसी बलवान् सत्ता कि जिससे लोग तत्कालीन निश्चित कानून को मानने के लिए मजबूर किए जा सकें। इस समय भी वही बात है।

लोगों का खयाल है कि मनुष्य-जाति का सबसे बड़ा हित-साधन सत्ता द्वारा हो सकता है। कुछ मनुष्यों के हाथों में अधिकार दे दिए जाने चाहिए। (चीनियों के उपदेशानुसार ऐसे लोग सबसे अधिक धर्मात्मा होने चाहिए। यूरोप की शिक्षा के अनुसार वे प्रजा द्वारा निर्वाचित सदस्य होने चाहिए) वे लोग अधिकार पाने पर उस संघटन की स्थापना और सहायता करेंगे जो मनुष्यों की कमाई स्वतंत्रता और जीवन की समुचित रक्षा की जिम्मेदारी ले सके। सभी लोग अर्थात् वे, जो वर्तमान राज्य-व्यवस्था को मानव-जीवन की आवश्यक शर्त मानते हैं और वे क्रांतिकारी और साम्यवादी भी; जो इस वर्तमान राज्य-व्यवस्था को पलट देना आवश्यक समझते हैं,

इस शक्ति की महत्ता को स्वीकार करते हैं। और इस शक्ति या सत्ता के मानी क्या हैं? यही कि कुछ लोगों को यह अधिकार हो, और उनके लिए यह संभव भी हो कि वे दूसरे लोगों को बाध्य कर सकें कि वे निर्दिष्ट कानून को सामाजिक व्यवस्था की आवश्यक शर्त मानें।

यही प्रथा प्राचीन समय में चली आई है और अब भी है। परंतु जो लोग सत्ता की सहायता से कुछ नियमों को मानने के लिए बाध्य किए जाते थे, उन्होंने अर्थात् शासितों ने हमेशा इन नियमों को सर्वोत्कृष्ट नहीं माना और इसीलिए वे कभी-कभी सत्ताधारियों के विरुद्ध उठ खड़े होते, उन्हें गद्दी से नीचे उतार देते थे और पुरानी शासन-व्यवस्था के स्थान में नवीन शासन-व्यवस्था की स्थापना कर देते थे, जिसमें वे अपने को अधिक सुरक्षित समझते थे। तथापि मनुष्य के हाथों में सत्ता आते ही दिमाग पलट जाता था, इसलिए वे अपनी शक्ति का इतना अधिक उपयोग सर्व-साधारण के लिए नहीं करते थे जितना अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए। इसलिए नया शासन हमेशा पुराने शासन के ही समान बल्कि कभी-कभी उसकी अपेक्षा भी अधिक अन्यायपूर्ण रहा है।

प्रचलित शासन के विरुद्ध बगावत करनेवालों ने सदा विजय-प्राप्ति के बाद यही किया है। दूसरी ओर, जब विजयश्री तत्कालीन शासकों के ही हाथ में रहती थी तो शासक लोग भी विजय होने के कारण हमेशा अपने संरक्षण के साधनों को और भी बढ़ा लेते थे, और इस प्रकार अपने नागरिकों की स्वाधीनता के लिए और भी अधिक हानिकारक हो जाते थे।

ऐसा ही हमेशा भूत और वर्तमान काल में होता आया है। पर संपूर्ण 19वीं शताब्दी में हमारे यूरोपीय संसार में जिस प्रकार से यह सब हुआ है, उससे एक विशेष ही प्रकार की शिक्षा मिलती है। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्राय: क्रांतियों से विजय प्राप्त होती रही। परंतु जिन अधिकारियों ने पुराने शासकों का स्थान ग्रहण किया—उदाहरणार्थ नेपोलियन प्रथम चार्ल्स दशम, नेपोलियन तृतीय आदि—उन्होंने नागरिकों की स्वाधीनता को नहीं बढ़ाया और 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में, सन् 1848 ई. के बाद, क्रांति के सारे प्रयत्न सरकार की ओर से दबा दिए जाते थे, और पहले क्रांतियों तथा उन नई क्रांतियों के कारण, जिनके लिए उद्योग किया गया, सरकारों ने अपने-आपको अधिक सुरक्षित एवं समर्थ बना लिया और इस विगत शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों की बदौलत तो लोगों को प्रकृति तथा एक-दूसरे पर ऐसे अधिकार प्राप्त हो गए हैं कि जिनको लोग पहले जानते भी नहीं थे। इन आविष्कारों की सहायता से उन्होंने अपने अधिकारों को इस हद तक बढ़ा दिया है कि लोगों के लिए इसके विरुद्ध लड़ना असंभव हो गया है। सरकारों ने केवल असंख्य धन ही

अपने अधिकार में नहीं कर लिया है जो लोगों से एकत्र किया जाता है, उनके पास केवल सुसंगठित सैन्य-दल ही नहीं है, बल्कि उन्होंने अशिक्षित जनता को प्रभावित करने, अखबार तथा धार्मिक उन्नति एवं शिक्षा के समस्त साधनों को अपने हाथ में ले लिया है और इनका ऐसा संगठन किया गया है, और वे इतने शक्ति-संपन्न हो गए हैं कि सन् 1848 ई. के बाद से यूरोप में क्रांति करने का ऐसा कोई भी प्रयत्न नहीं हुआ है जिसमें सफलता प्राप्त हुई हो।[1]

2

ये वैज्ञानिक आविष्कार एक बिल्कुल नई और हमारे समय के लोगों के लिए अद्भुत चीज हैं। नीरो और चंगेज खाँ आदि महान् विजेता चाहे कितने ही शक्तिशाली क्यों न रहे हों, वे अपने राज्य के सीमा-प्रांतों में होनेवाले बलवों को दबा नहीं सके और अपनी प्रजा की शिक्षा, वैज्ञानिक तथा नैतिक और धार्मिक विषयों से संबंध रखनेवाली मानसिक प्रवृत्तियों का नेतृत्व और संचालन कभी अपने हाथों में नहीं ले सके। जबकि इस समय खुफिया पुलिस, गुप्तचरों का प्रबंध, प्रेसों का नियंत्रण, रेलवे, तार, टेलीफोन, फोटोग्राफी, जेल किला-बंदी, प्रचुर धन-धान्य एवं सेना आदि सभी साधन वर्तमान सरकारों के हाथों में रहते हैं।

इन सबका संगठन ऐसे ढंग से किया गया है कि अयोग्य-से-अयोग्य और मूर्ख से भी मूर्ख शासक (आत्म-रक्षा के भावों से प्रेरित होकर) भयंकर-से-भयंकर क्रांति की तैयारी रोक सकते हैं, और हमेशा बिना किसी विशेष उद्योग के खुली बगावत के उन निर्बल प्रयत्नों को दबा सकते हैं जो समय-समय पर बिखरे हुए क्रांतिकारियों की ओर से किए जाते हैं। इन लोगों के ऐसे प्रयत्नों से सरकारों की शक्ति और भी बढ़ जाती है। इस समय सरकारों के ऊपर विजय प्राप्त करने का केवल एक उपाय है। और वह उपाय यह है कि सैनिक लोग, जो प्रजा में के ही आदमी हैं, यह समझ लें कि सरकारें लोगों के साथ कितना अन्याय और निर्दयतापूर्ण व्यवहार करती हैं और प्रजा का कितना अधिक अनहित करती हैं, तथा उनकी सहायता करना बंद कर दें। परंतु इस संबंध में भी सरकारों ने यह जानकर कि उनकी सारी शक्ति सेना में ही है, उसके संचालन और शिक्षा का ऐसा प्रबंध कर लिया है कि किसी भी प्रकार का आंदोलन और प्रचार करने से फौजें सरकार के हाथ से नहीं निकल सकतीं। कोई भी मनुष्य, जो सेना में नौकर है और जिसे जादू का जैसा असर

1. रूस की वह महान बोल्शेविक राज्य-क्रांति तो टॉल्सटॉय की मृत्यु के सात वर्ष बाद हुई। – संपादक

रखनेवाली सैनिक शिक्षा, जो सैनिक अनुशासन (discipline) के नाम से प्रसिद्ध है, प्राप्त हुई है, सेना में रहते हुए, फिर उसका राजनीतिक विश्वास चाहे कुछ भी क्यों न हो, अपने सेना-नायक की आज्ञा नहीं टाल सकता। बीस-बीस वर्ष की अवस्था के किशोर सेना में भर्ती कर लिए जाते हैं और उन्हें मिथ्या धार्मिक शिक्षा दी जाती है, जड़वाद एवं मूर्खतापूर्ण देशभक्ति के भाव उनमें भरे जाते हैं। ऐसे सैनिक सेवा से इनकार नहीं कर सकते। जिस प्रकार वे लड़के, जो स्कूलों में भेजे जाते हैं, अपने गुरु की आज्ञा का पालन करने से इनकार नहीं कर सकते। सेना में भर्ती हो जाने पर ये नवयुवक, फिर उनका राजनीतिक विश्वास कुछ भी क्यों न हो, कई शताब्दियों के अभ्यास से प्राप्त इस कौशलपूर्ण सैनिक शिक्षा की बदौलत एक ही साल के भीतर अधिकारियों के मुँह से आज्ञा निकलते ही उसके ऊपर काम करनेवाले हथियार बन जाते हैं। अगर कहीं एक-आध उदाहरण ऐसे दिखलाई भी पड़ते हैं—लगभग 10,000 में मुश्किल से कहीं एक मनुष्य ऐसा मिलता है—जिसने सैनिक सेवा करना अस्वीकार कर दिया हो, तो यह काम प्राय: सरकार द्वारा अस्वीकृत किसी धार्मिक विश्वास से प्रेरित होकर तथाकथित 'सांप्रदायिक' विचार वाले पुरुष ही करते हैं। इसलिए वर्तमान समय में यूरोपीय जगत् में—यदि सरकारें अपनी शक्ति को बनाए रखना चाहें और वे ऐसा अवश्य चाहेंगी, क्योंकि इस शक्ति के नाश हो जाने पर शासकों का अध:पतन अनिवार्य हो जाएगा—किसी भी भारी क्रांति की योजना नहीं की जा सकती। फिर भी अगर इस तरह की कोई तैयारी की गई तो वह फौरन दबा दी जाएगी, और इसका परिणाम केवल यह होगा कि बहुत-से अविचारी व्यक्तियों का नाश हो जाएगा और सरकार की शक्ति पहले की अपेक्षा और भी अधिक बढ़ जाएगी। यह बात क्रांतिकारियों और साम्यवादियों की समझ में भले ही न आए, जो प्राचीन इतिहास का अनुसरण करते हुए, जोश के प्रवाह में बहकर लड़ाई-झगड़े कर बैठते हैं और कुछ लोगों के लिए यह एक निश्चित व्यापार-सा हो गया है; परंतु जो लोग स्वतंत्र रूप से ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार करते हैं, वे इसे अवश्य स्वीकार कर लेंगे।

यह एक नवीन चमत्कार है, और इसलिए जो लोग इस वर्तमान अवस्था में परिवर्तन करने के इच्छुक हैं, उन्हें चाहिए कि वे यूरोपीय जगत् की वर्तमान शक्तियों की इस नवीन स्थिति को ध्यान में रखते हुए अपना कार्यक्रम तैयार करें।

3

शासकों तथा शासितों के बीच यह झगड़ा बहुत काल से होता आया है। उसका परिणाम पहले तो यह हुआ कि एक शक्ति का स्थान दूसरी शक्ति ने लिया, इसके

बाद तीसरी का प्रादुर्भाव हुआ और इसी प्रकार एक-एक करके अनेक शक्तियों का जन्म हुआ। परंतु हमारे यूरोपीय जगत् में गत शताब्दी के मध्यकाल से वर्तमान सरकारों को वैज्ञानिक उन्नति की बदौलत अपनी रक्षा के ऐसे साधन प्राप्त हो गए हैं कि उनके साथ टक्कर लेना असंभव-सा हो गया है। इस शक्ति में क्रमशः जितनी ही अधिक वृद्धि होती गई उतनी ही अधिक उसमें शिथिलता भी आती गई है, अर्थात् वह आंतरिक पारस्परिक विरोध और भी अधिक स्पष्ट हो गया है जो उपकारी शक्ति और अत्याचारी शक्ति के बीच होता है। यह बात स्पष्ट हो गई कि जिस शक्ति को सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों के हाथ में होना चाहिए था, जिससे उसका प्रयोग उदारता के साथ किया जा सके, वह हमेशा सबसे निकृष्ट लोगों के हाथ में रही है। इसका कारण यह है कि सर्वोत्कृष्ट मनुष्यों ने शक्ति की इस वास्तविकता को समझ लिया कि सत्ता पाने पर लोगों का दिमाग ठिकाने नहीं रहता। वे अपने पड़ोसियों पर ही अत्याचार करने लगते हैं। अतः उन्होंने कभी इस शक्ति के पाने की इच्छा ही नहीं की और इसलिए वे उसे न प्राप्त कर सके और न प्राप्त हो जाने पर उसे बनाए रख सके।

यह विरोध इतना स्पष्ट है कि प्रायः सभी की दृष्टि इस पर पड़ गई होगी। तथापि इस शक्ति का बाह्य रूप बड़ा ही चटकीला, भड़कीला और नुमायशी होता है, लोगों में उसका बहुत भारी भय समाया रहता है और परंपरा से उनके अंदर ऐसी जड़ता चली आती है कि सैकड़ों और हजारों वर्ष के बाद अब कहीं लोगों ने भूल को समझा है। अभी कुछ ही दिनों से लोग यह समझने लग गए हैं कि सत्ता का रूप चाहे कितना ही गंभीर हो, उसका मतलब तो है धन, स्वाधीनता और जीवन के अपहरण की धमकी देना तथा उस धमकी को कार्य-रूप में परिणत करना। अतः वे लोग निकृष्ट होते हैं, जो राजाओं, सम्राटों, राज-मंत्रियों, जजों तथा ऐसे ही अन्य लोगों की भाँति इसी में अपना सारा जीवन लगा देते हैं और जिनके जीवन का लक्ष्य सिवाय इसके और कुछ भी नहीं होता कि वे अपनी इस स्थिति को बनाए रहें— इसलिए वे अपनी इस शक्ति से मनुष्य-जाति का कुछ भी भला नहीं कर सकते; बल्कि इसके विपरीत वे सदैव मानव-समाज की सामाजिक दुर्दशा का कारण रहे हैं और अब भी हैं। इसलिए जो शक्ति पहले किसी समय लोगों में उत्साह और भक्ति उत्पन्न करती थी; आज अधिकांश और सर्वोत्तम मनुष्यों में केवल उदासीनता के भाव ही नहीं वरन् कभी-कभी द्वेष और घृणा के भाव भी उत्पन्न करती है। ये लोग, जो दूसरों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान और समझदार हैं, अब समझते हैं कि जिस नुमायशी चटक-मटक से यह शक्ति परिवेष्टित है वह जल्लाद (फाँसी लगाने वाले) की लाल कमीज और मखमली पायजामे को छोड़ और कुछ भी नहीं है,

जिनकी वजह से वह दूसरे कैदियों से भिन्न रहता है, क्योंकि उसने क्रूर और निंद्य काम को अपने हाथ में ले लिया है।

लोगों में दिन-ब-दिन इस शक्ति के प्रति जो भाव बढ़ते जा रहे हैं, उन्हें शासक लोग भली-भाँति समझते हैं और इसलिए उनकी इस शक्ति का आधार अब अभिषिक्त राजत्व, सार्वजनिक निर्वाचन अथवा शासकों के जन्म-सिद्ध अधिकार के ऊपर नहीं किंतु पूर्णतया दमन के ऊपर है। फलतः इस पर से लोगों का विश्वास उठ जाने के कारण शासकों को अधिकाधिक दमन करके राष्ट्रीय जीवन को कुचलना पड़ता है। इसका यह फल होता है कि लोगों में और भी अधिक असंतोष फैलता जाता है।

4

यह अजेय सत्ता अब विशेष अधिकारों, निर्वाचन अथवा प्रतिनिधित्व की राष्ट्रीय नींव के ऊपर नहीं किंतु, नग्न बल-प्रयोग के ऊपर ही जी रही है। साथ ही लोगों ने इस शक्ति में विश्वास करना और उसका सम्मान करना बंद कर दिया है। अब वे यदि उसके आगे सिर झुकाते हैं तो मजबूर होकर।

विगत शताब्दी के ठीक मध्य-काल से यद्यपि सत्ता पर विजय प्राप्त करना तो कठिन हो गया, पर उसका प्रभाव बिल्कुल जाता रहा। उसी समय से लोगों में इस भाव की जागृति हुई कि स्वतंत्रता सत्ता से भिन्न वस्तु है,—वह कल्पित और बनावटी स्वतंत्रता नहीं जिसका उपदेश दमन के उपासकों की ओर से किया जाता है, और जिसके अंदर उन्हीं के कथनानुसार मनुष्य को दंड का भय दिखलाकर दूसरों की आज्ञा मानने के लिए बाध्य किया जाता है, किंतु वह सच्ची स्वतंत्रता, जिसका आशय यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य कर सके और अपना जीवन बिता सके, चाहे टैक्स दे अथवा न दे, सेना में भर्ती हो या न हो, अपनी पड़ोसी राष्ट्रों के साथ मित्रता रखे अथवा उनका शत्रु बने। यह स्वतंत्रता का उस शक्ति के साथ मेल नहीं बैठता है जिसके कारण थोड़े-से मनुष्य शेष मनुष्य-समाज पर शासन कर सकते हैं।

इस मत के अनुसार शक्ति कोई ईश्वरीय तथा महान् वस्तु नहीं है, जैसा कि पहले लोग समझा करते थे। वह सामाजिक जीवन की ऐसी अनिवार्य शर्त भी नहीं है। वह तो उस असंस्कृत, बेढंगे बल-प्रयोग का एक परिणाम मात्र है जो कुछ थोड़े से लोग दूसरों के ऊपर किया करते हैं। यह सत्ता बुरी चीज है, फिर चाहे वह लुई, नेपोलियन, सुलतान, पार्लियामेंट, कैबिनेट, मंदारिन, राजा, नवाब, मिकाड़ो अथवा और किसी के हाथ में हो। इसमें सदा कुछ लोगों का शेष जनता पर अधिकार रहेगा

और उस पर अत्याचार भी होंगे ही।

अत: इस सत्ता का ही सबसे पहले नाश करना चाहिए।

परंतु प्रश्न यह है कि सत्ता का अंत किस प्रकार किया जाए और उसका अंत हो जाने पर सारी बातों की व्यवस्था किस प्रकार की जाए कि इस सत्ता के अभाव में लोग कहीं फिर से एक-दूसरे पर पशुओं की तरह बल-प्रयोग न करने लग जाएँ?

सभी अराजक (राज्य की सत्ता न माननेवाले लोग इसी नाम से पुकारे जाते हैं) एक स्वर से इस प्रश्न का उत्तर यों देते हैं यदि इस सत्ता का वास्तव में नाश करना है तो उसका अंत बल-प्रयोग के द्वारा नहीं वरन् इस बात के ज्ञान-प्रचार द्वारा किया जाना चाहिए कि सत्ता दरअसल व्यर्थ और खराब चीज है। दूसरा प्रश्न यह है कि बिना सत्ता की सहायता के समाज का संगठन किस प्रकार किया जाना चाहिए। इसका उत्तर ये अराजकवादी भिन्न-भिन्न रीति से देते हैं।

श्री गॉडविन, जिनका जीवन-काल 18वीं शताब्दी के अंत और 19वीं शताब्दी के आरंभ में बतलाया जाता है, और श्री प्राउढन जिनका कार्य-काल इस अंतिम शताब्दी के मध्य में था, पहले प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं—"सत्ता का नाश करने के लिए लोगों में ज्ञान का होना पर्याप्त है। सार्वजनिक भलाई (गॉडविन के मतानुसार) और न्याय (प्राउढन के मतानुसार) को सत्ता दबा देती है। यदि लोगों में इस भाव का प्रचार हो जाए कि सार्वजनिक भलाई और न्याय की सत्ता केवल शक्ति की अनुपस्थिति में ही की जा सकती है तो सत्ता आप-से-आप नष्ट हो जाएगी।"

दूसरे प्रश्न का अर्थात् 'बिना सत्ता के नवीन समाज की व्यवस्था किस प्रकार की जाएगी और उसमें शांति की स्थापना किस प्रकार की जा सकेगी' गॉडविन और प्राउढन दोनों यह उत्तर देते हैं कि जिन लोगों के हृदयों में सर्व-साधारण की भलाई (गॉडविन के मतानुसार) और न्याय (प्राउढन के मतानुसार) के भाव विद्यमान हैं, वे अपने स्वभावानुसार सर्वथा न्याय-युक्त जीवन अवश्य ढूँढ़ लेंगे।

बैकोनिन और क्रोपाटकिन आदि यद्यपि इस बात को स्वीकार करते हैं कि सर्व-साधारण में इस बात का ज्ञान हो जाना परमावश्यक और अत्यंत लाभप्रद है कि सत्ता (पशु-बल) एक हानिकारक और मानव-उन्नति में बाधा डालनेवाली वस्तु है, तथापि उसको मिटाने के लिए जो उपाय हो सकते हैं उनमें से वे क्रांति को आवश्यक मानते हैं जिसकी तैयारी करने के लिए वे लोगों को सलाह भी देते हैं। दूसरे प्रश्न के उत्तर में वे यह कहते हैं कि ज्यों ही शासन-संगठन और वस्तुओं के वैयक्तिक अधिकार की बात नष्ट हो जाएगी, त्यों ही, जैसा कि स्वाभाविक है, लोग स्वयं ही विवेक-युक्त, स्वतंत्र और लाभप्रद जीवन-संबंधी शर्तों को स्वीकार कर लेंगे और उन्हें अपना लेंगे।

मार्क्स स्टर्नर (जर्मन) और श्री टकर (अमरीकी) सत्ता को कैसे नष्ट किया जाए, इस प्रश्न का लगभग वही उत्तर देते हैं जो दूसरे लोग दिया करते हैं। वे कहते हैं—सत्ता अपने-आप नष्ट हो जाए यदि लोग यह समझ लें कि प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत स्वार्थ ही मनुष्यों के कार्य का काफी और सच्चा पथ-प्रदर्शक है। वे यह भी कहते हैं कि सत्ता उस समय आप-से-आप नष्ट हो जाएगी, जब लोग समझ सकेंगे कि पशु-बल मानव-जीवन के इस प्रधान अंग का पूर्ण प्रदर्शन करने में केवल बाधक ही होता है, क्योंकि ऐसी दशा में न तो कोई उसको सिर झुकाएगा, और न जैसा कि श्री टकर का कहना है, उसमें किसी प्रकार का कोई हिस्सा ही लेगा। दूसरे प्रश्न के संबंध में उनका उत्तर यह है कि इस शक्ति की आवश्यकता और उसके मिथ्या विश्वास से मुक्त होने पर और केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ध्यान रखते हुए काम करनेवाले मनुष्य आप-से-आप अपने जीवन को ऐसा व्यवस्थित बना लेंगे जो बिल्कुल उचित और प्रत्येक मनुष्य के लिए लाभप्रद होगा।

एक बात में ये सभी पुरुष एक मत हैं और वह ठीक भी है कि शक्ति की दवा शक्ति नहीं है। क्योंकि शक्ति से एक शक्ति का नाश होने पर दूसरे शक्ति फिर भी बनी ही रहेगी। शक्ति का नाश तो मनुष्य के हृदय में इस सत्य-ज्ञान का प्रकाश डालने से हो सकता है कि शक्ति (पशु-बल) एक व्यर्थ और हानिकारक वस्तु है, और लोगों को न उसे मानना चाहिए और न उसमें किसी प्रकार का कोई हिस्सा लेना चाहिए। यह सत्य ऐसा है जो कभी अन्यथा नहीं हो सकता। शक्ति का नाश केवल लोगों में विवेकपूर्ण ज्ञान का संचार होने से ही हो सकता है। परंतु यह ज्ञान कैसा होना चाहिए? क्रांतिवादियों का विश्वास है कि इस ज्ञान का आधार सर्व-साधारण की भलाई, न्याय, उन्नति अथवा मनुष्यों के व्यक्तिगत स्वार्थ-संबंधी विचारों के ऊपर होना चाहिए। परंतु कहना न होगा कि ये सारी बातें ऐसी हैं जो एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं। सर्व-साधारण की भलाई, न्याय, उन्नति अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ की परिभाषा भी लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। अतएव हमें तो यह असंभव प्रतीत होता है कि जो लोग एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं, और जो भिन्न-भिन्न उद्देश्य से शक्ति (पशु-बल) का विरोध करते हैं, वे कभी उस शक्ति को मिटा सकेंगे जिसकी जड़ इतनी जमी हुई है और जिसकी इतनी योग्यता के साथ रक्षा की जा रही है। इसके अतिरिक्त यह अनुमान कर लेना और भी निराधार है कि सर्वसाधारण की भलाई, न्याय अथवा उन्नति-संबंधी नियमों के विचार-मात्र धारण करने से वे अत्याचार-मुक्त लोग, जो सर्व-साधारण की भलाई के खातिर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को छोड़ना नहीं चाहते, पारस्परिक स्वतंत्रता का उल्लंघन नहीं करेंगे और न्यायपूर्ण जीवन व्यतीत करने में लग जाएँगे। मॉर्क्स स्टर्नर और टकर का यह उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी

सिद्धांत (कि प्रत्येक मनुष्य के अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ही ध्यान रखने से सब लोगों में उचित संबंध स्थापित हो सकता है) केवल अस्थायी ही नहीं वरन् उन बातों के सर्वथा प्रतिकूल है जो वस्तुतः अब तक हुई हैं और अब भी हो रही हैं।

अतः यद्यपि क्रांतिवादी मानते हैं कि सत्तावाद के विनाश का अगर कोई उपाय हो सकता है तो वह आध्यात्मिक ही हो सकता है, तथापि वह उनके पास नहीं है, क्योंकि उनकी जीवन-कल्पना पार्थिव और धर्म-विरुद्ध है। उनकी सारी बातें अनुमान पर ही निर्भर हैं। और अपने आदर्श को प्राप्त करने का समुचित साधन न बता सकने के कारण पशु-बल और दमन के समर्थकों को क्रांतिवादियों द्वारा प्रतिपादित सच्चे सिद्धांतों को मानने से इनकार करने का अवसर मिल जाता है।

इस आध्यात्मिक अस्त्र को लोग बहुत पहले से जानते हैं। इसने सदैव सत्तावाद का नाश किया है और जिन लोगों ने इसका प्रयोग किया है उन्हें पूर्ण और शाश्वत स्वाधीनता प्रदान की है। उपाय बिल्कुल सीधा है—मनुष्य अपना जीवन धार्मिक बनाए। वह अपने इस सांसारिक जीवन को अपने संपूर्ण अनंत जीवन का एक आंशिक प्रदर्शन-मात्र समझे, और अपने इस जीवन का अनंत जीवन के साथ संबंध स्थापित करते हुए यह समझे कि इस अनंत जीवन के नियमों का पालन करने में ही उसका बड़ा-से-बड़ा कल्याण है। वह उन नियमों का आदर मनुष्य के बनाए, नियमों की अपेक्षा अधिक करे, और उन्हीं का पालन करें।

केवल ऐसे ही धार्मिक विश्वास से, जो समस्त मनुष्य-समाज के लिए एक-ही प्रकार के जीवन का विधान करता है और जो सत्तावाद के आधिपत्य को स्वीकार करने और उसमें भाग लेने का तीव्र विरोध करता है, सत्तावाद का सचमुच नाश हो सकता है।

केवल ऐसे ही जीवन को आदर्श मानने से मनुष्यों का कल्याण हो सकता है। इसी के द्वारा वे बिना बल-प्रयोग का आश्रय लिए विवेकपूर्ण और न्याय-युक्त जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

कैसा आश्चर्य है कि लोगों को इस बात का विश्वास होने पर ही कि वर्तमान समय की सत्ता अजेय है और शक्ति के द्वारा इस समय वह नष्ट नहीं की जा सकती, इनकी समझ में यह स्वतः प्रमाणित और बिल्कुल सत्य बात आई कि शक्ति और उससे उत्पन्न होनेवाली सारी बुराई मनुष्यों के कुत्सित जीवन की केवल परिणाम-मात्र है, और इसलिए इस शक्ति का तथा उससे उत्पन्न होनेवाली सारी बुराइयों का अंत करने के लिए लोग अपने जीवन को अच्छा और सदाचारमय बनाएँ।

खैर, सुबह का भूला-भटका शाम को तो घर पर आ गया। अब उन्हें एक बात समझ लेनी है। वह यह है कि लोगों के जीवन को अच्छा और सदाचारमय बनाने का एकमात्र उपाय, जो स्वाभाविक हो और जिसे अधिकांश जन-समाज भी आसानी

से समझ ले।

केवल ऐसी ही धार्मिक शिक्षा के प्रचार और प्रसार से लोग उस आदर्श को प्राप्त कर सकते हैं जिसका इस समय उनके अंत:करण में आविर्भाव हुआ है और जिसके लिए वे प्रयत्न कर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त सत्ता को मिटाने और शक्ति की सहायता के बिना मनुष्यों में सदाचारमय जीवन स्थापित करने के लिए दूसरा कोई उद्योग करना केवल अपने परिश्रम का व्यर्थ व्यय करना है। इससे हम अपने उस लक्ष्य के निकट नहीं पहुँच सकेंगे, जिसकी ओर पहुँचने के लिए लोग प्रयत्न कर रहे हैं, वरन् उससे और भी दूर हट जाएँगे।

5

सज्जनो, यही बात मैं आपसे कहना चाहता हूँ। आप सत्यशील हैं और आपका हृदय शुद्ध है, इसीलिए तो आप इस स्वार्थमय वैयक्तिक जीवन से असंतुष्ट होकर अपनी शक्ति को अपने भाइयों की सेवा में लगाना चाहते हैं। यदि आप सरकारी कामों में हिस्सा लेते हैं अथवा उनमें हिस्सा लेने के इच्छुक हैं और इस उपाय से लोगों की सेवा करना चाहते हैं तो इस बात पर जरा विचार कीजिए कि क्या प्रत्येक सरकार पशु-बल के सहारे टिकी हुई है अथवा नहीं? अपने-आपसे यह प्रश्न करने पर आपको मालूम होगा कि संसार में एक भी सरकार ऐसी नहीं है जो बल-प्रयोग, डाकाजनी और हत्या न करती हो, उनके लिए तैयार न रहती हो और इन्हीं बातों के ऊपर अपना अस्तित्व न बनाए हो।

अमरीका के एक लेखक—श्री थोरो—ने एक सुंदर लेख लिखा है उसका विषय है, "सरकार की आज्ञा न मानना मनुष्य का कर्तव्य क्यों है?" उसमें उन्होंने यह बताया है कि संयुक्त राज्य (अमरीका) की सरकार को एक डॉलर का टैक्स देने से उन्होंने कैसे इनकार कर दिया। अपनी इस इनकारी का कारण उन्होंने यह बतलाया कि मैं अपने एक डॉलर से ऐसी सरकार के कामों में कोई सहायता करना नहीं चाहता जो अफरीका के हबशियों को गुलाम बनाए रखने की इजाजत देती है। क्या ठीक ऐसा ही भाव संयुक्त राज्य अमरीका जैसे समुन्नत राज्य के नागरिक का अपनी सरकार की उन करतूतों के संबंध में नहीं हो सकता और न ही होना चाहिए जो क्यूबा और फिलीपाइंस में हो रही हैं? हबशियों के साथ होनेवाले व्यवहार और चीनियों के देश-निकाले के संबंध में क्या एक अमरीकी के चित्त में यही भाव उत्पन्न नहीं होने चाहिए? अथवा इंग्लैंड का नागरिक अफीम संबंधी नीति और बोअर लोगों के साथ होनेवाले अमानुषिक व्यवहार के संबंध में अपनी सरकार के प्रति ऐसा ही भाव नहीं धारण कर सकता और

उसे न करना चाहिए? अथवा क्या फ्रांस का नागरिक फ्रांस की सरकार के संबंध में भी ऐसा ही भाव नहीं धारण कर सकता जिसने सैनिकवाद का हौआ दिखाकर लोगों पर आतंक जमा रखा है?

इसलिए सरकारों के नग्न स्वरूप को एक बार पहचान लेने पर कोई भी सच्चा मनुष्य, जो अपने देशवासी भाइयों की सेवा करना चाहता है, उसमें किसी प्रकार का कोई हिस्सा नहीं ले सकता। बशर्ते कि वह यह न मानता हो कि साधन की पवित्रता का प्रमाण साध्य की सिद्धि ही है। परंतु ऐसे कार्य से किसी का उपकार नहीं हो सकता, न सेवकों का और न सेवितों का।

बात बिल्कुल सीधी है। सरकार की अधीनता स्वीकार करके और उसके कानून की सहायता द्वारा आप लोगों के लिए अधिक स्वतंत्रता और अधिकार लेना चाहते हैं न? परंतु लोगों की स्वतंत्रता और अधिकार सरकार तथा, सामान्यतया, शासक-समाज की सत्ता के विरोधी अनुपात में हैं। जितनी ही अधिक स्वतंत्रता और अधिकार लोगों को प्राप्त होंगे उतनी ही कम शक्ति और लाभ उनसे सरकार को होगा। और इस बात को सरकारें खूब अच्छी तरह जानती हैं। उनके हाथ में सत्ता होने के कारण वे लोगों को खूब आजादी के साथ मनमानी बातें बकने देती हैं और कुछ थोड़े-से मामूली सुधार भी दे देती हैं, जिससे उनकी उदारता का परिचय मिलता रहे। परंतु जिस समय कोई ऐसा आंदोलन उठाया जाता है जिससे शासकों के विशेषाधिकार ही नहीं वरन् उनका अस्तित्व (हस्ती) भी खतरे में पड़ जाता है, तो वे बल-प्रयोग द्वारा इन आंदालनों को दबाकर आंदोलन करनेवालों को फौरन गिरफ्तार कर लेती हैं। इसलिए सरकारी शासन की सहायता का, अथवा संसद (पार्लियामेंट) के द्वारा लोगों की सेवा करने के आपके सारे प्रयत्नों का परिणाम केवल यह होगा कि आप अपने इस कार्य से शासकों की शक्ति को और भी बढ़ा देंगे, और जितना ही अधिक आपमें इस काम की सच्ची लगन होगी, उतना ही अधिक आप जानते हुए अथवा अनजान में, इस शक्ति में भाग लेने के दोषी होंगे। यही बात उन लोगों के संबंध में है जो लोग वर्तमान शासन-व्यवस्था के द्वारा जनता की सेवा करना चाहते हैं।

यदि, इसके विपरीत आप उन सच्चे हृदयवाले लोगों में से हैं जो क्रांतिकारी साम्यवादी आंदोलनों के द्वारा राष्ट्र की सेवा करना चाहते हैं (मनुष्य को कभी संतोष न देनेवाले पार्थिव सुखों के पीछे दौड़ने के लिए जो आदर्श प्रेरणा करता है, उसकी तुच्छता के विषय में विशेष कहने की जरूरत नहीं, तो आपको उन साधनों पर भी विचार कर लेना चाहिए जो आपको अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्राप्त हैं। ये साधन सर्वप्रथम तो नीति-विरुद्ध हैं, इनमें, झूठ, दगाबाजी, जोर-जब्त और हत्या भरी पड़ी हैं, दूसरे इन साधनों से किसी भी प्रकार उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

अपने अस्तित्व की रक्षा करनेवाली सरकारों का बल और चौकन्नापन इस समय इतना ज्यादा है कि छल-कपट, धोखेबाजी अथवा सख्ती से उनका मिटना केवल असंभव ही नहीं है, वरन् ये चीजें उन्हें हिला तक नहीं सकतीं। जितने भी क्रांतिकारी आंदोलन किए जाते हैं, उन सबके कारण सरकारों को यह बतलाने का फिर से मौका मिल जाता है कि उनका पशु-बल एक अच्छी चीज है और इससे उनकी शक्ति और भी बढ़ जाती है।

लेकिन अगर हम असंभव बात को संभव मान लें—अर्थात् यह मान लें कि हमारे समय में भी क्रांतिकारी आंदोलनों को सफलता प्राप्त हो सकती हैं, तो सबसे पहले, हम इस बात की आशा कैसे कर लें कि परंपरागत प्रथा के विरुद्ध एक शक्ति पर विजय प्राप्त करनेवाली दूसरी शक्ति लोगों की स्वाधीनता को बढ़ा देगी और विजय-प्राप्ति द्वारा उसने जिस शक्ति का स्थान ग्रहण किया है, उसकी अपेक्षा अधिक उदार और दयालु होगी ? दूसरे यदि सामान्य बुद्धि और अनुभव के विरुद्ध, यह भी संभव हो कि एक शक्ति को मिटाकर दूसरी शक्ति लोगों को ऐसी स्वतंत्रता प्रदान कर सकेगी जो जीवन की उन अवस्थाओं को स्थापित करने के लिए आवश्यक है, जिन्हें वे अपने लिए अत्यधिक लाभप्रद समझते हैं, तब तो हमें यह भी मान लेना होगा कि स्वार्थमय वैयक्तिक जीवन व्यतीत करनेवाले लोग आपस में पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी अवस्था उत्पन्न कर सकेंगे।

हम मान लेते हैं कि डाहोमियों की एक महारानी उदार-से-उदार शासन की स्थापना करती है। वह परिश्रम के साधनों को राष्ट्रीय संपत्ति बनाने की बात को भी स्वीकार कर लेती है। फिर भी शासन का कार्य ठीक तरह से चलाने और परिश्रम के साधन किसी व्यक्ति-विशेष की निजी संपत्ति न बनाए जा सकें इत्यादि बातों की देखभाल करने के लिए किसी-न-किसी को अपने हाथों में सत्ता तो लेनी ही पड़ेगी। परंतु जिस समय तक ये लोग अपने-आपको डाहोमी समझते रहेंगे और उनके जीवनादर्श में कोई परिवर्तन न होगा, तब तक यह बात बिल्कुल स्पष्ट है—यद्यपि दूसरे ही रूप में क्यों न सही—थोड़े से डाहोमी दूसरों के ऊपर वैसा ही अत्याचार और बल-प्रयोग करते रहेंगे जैसा कि शासन-व्यवस्था के अभाव में और परिश्रम को साधनों के राष्ट्रीय संपत्ति बनाए बिना किया जा सकता है। साम्यवादी ढंग पर अपने-आपको संगठित करने से पहले डाहोमियों को चाहिए कि वे प्रजा-पीड़न और रक्तपात की तरफ से अपनी तबीयत को खींच लें। ठीक यही बात यूरोप के लोगों के लिए भी आवश्यक है।

हम चाहते हैं कि लोग एक-दूसरे को बिना कष्ट दिए और सताए परस्पर प्रेममय जीवन व्यतीत कर सकें। पर यह पशु-बल अथवा किसी संस्था द्वारा नहीं किया जा

सकता। उसके लिए तो ऐसी सुनीति-पूर्ण परिस्थिति की आवश्यकता है जिसके अनुसार लोग किसी के दबाव से नहीं, बल्कि अपने अंतःकरण से ही दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार करें जैसा कि वे चाहते हैं दूसरे लोग उनके साथ करें। यह असंभव नहीं, ऐसे लोग अब भी मौजूद हैं। वे धार्मिक संप्रदाय के लोगों में विद्यमान हैं। ऐसे लोग वास्तव में पशुबल द्वारा रक्षित कानून की सहायता नहीं लेते। बिना एक-दूसरे को कष्ट पहुँचाए अब भी वे अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अतः इस समय हमारे ईसाई समाज का कर्तव्य स्पष्ट है। उन्हें चाहिए कि वे ईसा के संदेश को कोने-कोने में पहुँचाएँ। ईसा का संदेश यह नहीं है कि वर्तमान अत्याचारी सरकारों की सत्ता को स्वीकार कर धर्मग्रंथों में लिखी क़वायद रोज सुबह-शाम या हर रविवार मंत्रोच्चार के साथ करते जाओ। ईसाई धर्म यह करने का आदेश नहीं करता, न इसके प्रचार की जरूरत है कि आओ, ईसा की शरण गहो, वह तुम्हें पापों से बचाएगा। प्रचार उन्हें इस बात का करना चाहिए कि लोग सरकारों के काम में कोई भाग न लें; उनकी सारी माँगों को अस्वीकार कर दें; क्योंकि ये सारी माँगें—एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक सच्चे ईसाई-धर्म के सर्वथा विरुद्ध हैं। और यदि बात ऐसी ही हो, तो यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि जो लोग अपने पड़ोसियों की सेवा करने के इच्छुक हैं, उन्हें अपनी शक्ति नवीन रूप से समाज-संगठन करने में नहीं वरन् अपने तथा दूसरे लोगों के आचरण में परिवर्तन करने और उसे शुद्ध एवं पवित्र बनाने में लगानी चाहिए।

जिन लोगों का कार्यक्रम दूसरा है, वे प्रायः यह समझते हैं कि मनुष्यों के आचरण-संबंधी विश्वास और रहन-सहन के ढंग आदि में साथ-ही-साथ उन्नति होती है। परंतु ऐसा खयाल करके वे एक कार्य को कारण और कारण को अथवा उससे संबंध रखनेवाली किसी बात को कार्य समझ बैठने की गलती करते हैं।

मनुष्यों के चरित्र और जीवन-सिद्धांतों में परिवर्तन होने से लोगों के रहन-सहन में अपने-आप परिवर्तन हो जाता है; रहन-सहन के ढंग में परिवर्तन होने से मनुष्यों के चरित्र और जीवन-सिद्धांतों में कोई परिवर्तन नहीं होता। मनुष्यों को सुधारने का यह गलत तरीका है। इससे तो उलटा मनुष्य का ध्यान मिथ्या और कल्पित स्रोत की ओर आकृष्ट हो जाता है। अतः लोगों के चरित्र और जीवन-सिद्धांतों में परिवर्तन करने की आशा से उनके रहन-सहन के ढंग में परिवर्तन करना व्यर्थ है। इससे अपने निश्चित ध्येय की तरफ पहुँचने के बजाय हम अनजान में दूसरी ही तरफ भटक जाएँगे।

यह बात बिल्कुल साफ है। फिर भी लोग गलती कर जाते हैं। इसलिए कि अपना सुधार करने की अपेक्षा पशुबल की सहायता से दूसरों को मजबूरन अपनी इच्छा के अनुकूल झुका लेना कुछ आसान है। और इसका प्रभाव भी वैसा ही भ्रमोत्पादक है।

परंतु प्यारे सुधारको, अगर तुम सच्चा सुधार चाहते हो तो इस गलती से बचना। नहीं तो तुम्हारा सारा त्याग, सारा बलिदान और तुम्हारा सारा कार्य मिट्टी हो जाएगा जिसके लिए तुम अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करते।

6

लोग कुछ सच्चे और कुछ बनावटी क्रोध में आकर कहते हैं—"लेकिन जब हम देखते हैं कि हमारे चारों ओर लोग दुःख से पीड़ित हैं और नाना प्रकार के कष्ट भोग रहे हैं, तो शांति के साथ ईसाई धर्म का उपदेश और प्रचार करने से हमारी आत्मा को संतोष नहीं होता। हम बहुत जल्दी उनकी सेवा करना चाहते हैं। इसके लिए हम अपने परिश्रम का, यहाँ तक कि अपने जीवन तक का, बलिदान करने को तैयार हैं।"

इन लोगों को मेरा उत्तर यह होगा कि तुम कैसे जानते हो कि तुम्हें ठीक उसी तरीके से लोगों की सेवा करने की आज्ञा मिली है जिसे तुम सबसे अधिक उपयोगी और व्यवहार्य समझते हो? जो कुछ तुम कहते हो, उससे तो सिर्फ इतना पता चलता है कि तुम यह बात पहले से ही तय कर चुके हो कि धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करते हुए तुम मनुष्य-समाज की सेवा नहीं कर सकते, तुमने तो मानो निश्चय कर रखा है कि सच्ची सेवा उस राजनीतिक कार्य द्वारा ही हो सकती है जो तुम्हें सबसे अधिक आकर्षित करता है।

सभी राजनीतिज्ञ इसी तरह सोचते हैं और उन सबकी बातें परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध होती हैं और इसलिए यह बात निश्चय है कि वे सभी सही नहीं हो सकते। क्या ही अच्छा होता यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुसार जिस प्रकार चाहता, लोगों की सेवा कर सकता? पर बात ऐसी नहीं है। लोगों की सेवा करने और उनकी दशा सुधारने का केवल एक ही उपाय है। यह उपाय है उस शिक्षा का उपदेश देना और उसके अनुसार कार्य करना जिससे मनुष्यों में अपने-आपको सुधारने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो। एक सच्चा धार्मिक पुरुष, जो हमेशा मनुष्यों के बीच में रहता है; उनसे द्वेष नहीं करता, अपनी आत्म-शुद्धि इसी में समझता है कि वह अपने तथा दूसरे लोगों के बीच उत्तम और अधिकाधिक प्रेममय संबंध स्थापित करे। मनुष्यों में प्रेम-पूर्ण संबंध स्थापित हो जाने से उनकी साधारण अवस्था का अवश्य सुधार होगा, यद्यपि इस उन्नति का रूप लोगों पर अप्रकट ही रहता है।

यह सच है कि सरकारी पार्लियामेंट अथवा क्रांतिकारी आंदोलनों द्वारा लोगों की सेवा करने में हम पहले से ही उस फल का अनुमान कर सकते हैं कि जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, और साथ ही इसके आनंदमय और विलासितापूर्ण जीवन की

समस्त सुविधाओं से लाभ उठा सकते हैं, और भारी ख्याति, लोगों की स्वीकृति और अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते हैं। यदि उन लोगों को, जो ऐसे कामों में हिस्सा लेते हैं, किसी समय कष्ट भी उठाना पड़ता है, तो लोग भावी विजय की आशा से उसे भुला देते हैं। सैनिक कार्य में कष्ट तथा मृत्यु की और भी अधिक संभावना है; फिर केवल ऐसे लोग उसे पसंद करते हैं जिनमें बहुत थोड़ी नैतिकता है और जो स्वार्थमय वैयक्तिक जीवन व्यतीत करनेवाले हैं।

दूसरी ओर सदाचार-युक्त धार्मिक आचरण ऐसी वस्तु है जिसका परिणाम हमें झटपट नहीं दिखाई देता। दूसरे यह आंदोलन चाहता है कि लोग बाहरी सफलता का परित्याग कर दें। इससे अच्छी प्रतिष्ठा और ख्याति प्राप्त होना तो दूर, परंतु वह लोगों को सामाजिक दृष्टि से नीची-से-नीची स्थिति को पहुँचा देता है—उन्हें अपमान और दंड का ही नहीं, बल्कि अत्यंत निर्दयतापूर्ण दु:खों और मौत तक का शिकार बनाता है।

इस प्रकार, इस समय जबकि आमतौर पर लोगों को सेना में जबरदस्ती भर्ती करके[1], उन्हें सैनिक बनाकर यह अपराधपूर्ण हत्या का काम करने को कहा जा रहा हो, धर्माचरण मनुष्य को इस बात का आदेश करता है कि वह उन तमाम सजाओं को बर्दाश्त करे जो सैनिक सेवा अस्वीकार करने पर सरकार उसे दे। इसलिए, धर्माचरण बहुत कठिन है, पर यही मनुष्य को सच्ची स्वतंत्रता का ज्ञान कराता है और मनुष्य को इस बात का विश्वास दिलाता है कि वह वही काम कर रहा है जो करना चाहिए।

अतएव, धर्माचरण ही वास्तव में एक लाभदायक चीज है। क्योंकि इससे केवल उस निःश्रेयस की सिद्धि ही नहीं होती वरन् साथ-ही-साथ और एक बिल्कुल स्वाभाविक और साधारण ढंग से उन सारी बातों की भी प्राप्ति हो जाती है जिनके लिए समाज-सुधारक ऐसी कृत्रिम रीति से प्रयत्न करते रहते हैं।

इस प्रकार मनुष्यों की सेवा करने का केवल एक ही उपाय है और वह यह कि मनुष्य शुद्ध और सदाचारमय जीवन व्यतीत करे। यह उपाय केवल खयाली उपाय नहीं है—जैसा कि वे लोग समझते हैं जिनको इससे कोई नकद लाभ नहीं पहुँचता। हाँ, इसके अतिरिक्त जितने भी दूसरे उपाय हैं वे सभी खयाली हैं, जिनके द्वारा साधारण अशिक्षित जनता के नेता उन्हें उस एकमात्र सच्चे उपाय की ओर से हटाकर एक बनावटी और झूठे मार्ग की ओर प्रलोभन देकर लगा देते हैं।

---

1. *अनिवार्य सामाजिक सेवा का कानून यूरोप के कई देशों में महायुद्ध के पहले-पहल तक था।*

7

कुछ जल्दबाज लोग पूछते हैं—यदि इसी मार्ग से मनुष्य का कल्याण होगा तो यह तो बताइए कि वह कल्याण होगा कब ?

क्या ही अच्छा होता अगर हमें अपने सुकर्मों का फल जल्दी मिल जाता परंतु बात यह है कि सुकर्म धीरे-धीरे फूलते-फलते हैं। आखिर बीज को उगने, उसके डाल-पत्तियाँ आने, उसे फूल लगने आदि में कुछ देर तो लगेगी ही। तब कहीं वृक्ष होगा।

मनुष्य जमीन में डालियाँ गाड़ सकता है, और कुछ देर तक वे जंगल-सी प्रतीत भी होगी; परंतु वे कहीं असली जंगल की बराबरी कर सकती है ? इसी प्रकार थोड़ी देर के लिए ऐसा प्रबंध किया जा सकता है, जैसा कि सरकारें किया करती हैं कि समाज के अंदर ऐसी व्यवस्था हो जाए जो सुव्यवस्था लगे परंतु ऐसी कृत्रिमता से सच्ची व्यवस्था की भी संभावना नष्ट हो जाती है। एक तो एक अच्छी चीज की बुरी नकल करके अच्छी चीज के प्रति वे लोगों में अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। दूसरे, यह नकली व्यवस्था केवल शक्ति (पशु-बल) की सहायता से स्थापित की जाती है, और शक्ति शासक और शासित दोनों को कुटिल बना देती है। इसलिए सच्ची सुव्यवस्था की बहुत कम आशा रह जाती है।

इसलिए एक आदर्श को प्राप्त करने में जल्दबाजी करने से बड़ी हानि होती है। उससे सफलता मिलना तो दूर, उलटे सफलता मिलती भी हो तो उसमें बाधा पड़ जाती है।

अतएव इस प्रश्न का उत्तर कि—बिना बल-प्रयोग के मानव-समाज का सुसंगठन शीघ्र हो सकेगा अथवा नहीं, इस बात पर निर्भर करता है कि साधारण जन-समाज के शासक, जो सच्चे हृदय से लोगों की भलाई चाहते हैं, इस बात को शीघ्र समझ लें कि वे अपने आदर्श से ठीक उल्टी दिशा में जा रहे हैं। पहले उन्हें पुराने ढकोसलों और मिथ्या विश्वासों को छोड़ना होगा। शुद्ध धर्माचरण को स्वीकार करना होगा और लोगों की शक्ति को सरकार की सेवा और क्रांति तथा साम्यवाद की उपासना की ओर लगाने से इनकार करना होगा। यदि वे लोग जो सचमुच शुद्ध हृदय के साथ अपने पड़ोसियों की सेवा करना चाहते हैं; केवल इतना समझ लें कि राज्य के समर्थकों और क्रांतिवादियों के बतलाए हुए समाज-संगठन के उपाय बिल्कुल व्यर्थ और निष्फल हैं—यदि वे केवल इतना समझ लें कि लोगों को उनकी इस दुःखावस्था से मुक्त करने का उपाय उनके हाथों में है, अर्थात् केवल यह कि लोग स्वयं स्वार्थमय और नास्तिकों का-सा जीवन व्यतीत करना छोड़ दें, परस्पर भातृ-भाव के साथ धार्मिक जीवन व्यतीत करने लग जाएँ, और यदि वे इस सबसे बड़े

और आदि नियम को अपने जीवन का एकमात्र सिद्धांत बना लें कि "मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि वह चाहता है दूसरे उसके साथ करें—तो हमारे रहन-सहन का यह सारा ढंग, जो बुद्धि-विरुद्ध एवं निर्दयतापूर्ण है, बड़ी शीघ्रता के साथ बदल जाएगा, और उसके स्थान में लोगों के नवीन विचारों और ज्ञान के अनुसार नवीन रहन-सहन के ढंग का जन्म होगा।"

जरा विचार तो कीजिए, इस समय राज्य-संस्था—जिसके जीवन की अवधि आवश्यकता से अधिक बढ़ गई है—तथा क्रांतियों से उसकी रक्षा में कितनी अधिक और उत्तम बुद्धि व्यय की जा रही है ? कितने उत्साही युवा क्रांतिकारी आंदोलनों में, राज्य के साथ में असंभव संग्राम करने में अपनी शक्ति का व्यय कर रहे हैं, और कितनी शक्ति साम्यवादी सिद्धांतों की व्यर्थ परीक्षा में व्यय की जा रही है। इन सब बातों से उस कल्याण की प्राप्ति में विलंब ही नहीं हो रहा है वरन् वह असंभव हो रही है जिसके लिए सारा मनुष्य-समाज उद्योग कर रहा है। क्या ही अच्छा हो, यदि वे सभी मनुष्य जो अपनी शक्ति को इस प्रकार व्यर्थ व्यय कर रहे हैं और कभी-कभी उससे अपने पड़ोसियों को हानि भी पहुँचा रहे हैं, अपनी इस शक्ति को उस काम में लगाएँ जिससे सामाजिक जीवन के अच्छे होने की संभावना है जिससे अपने अंत:करण की शुद्धि हो।

एक मनुष्य नए मजबूत सामान से कितनी बार नया मकान बनाने में समर्थ हो सकेगा; अगर वह सारी मेहनत, जो पुराने मकान की मरम्मत में खर्च की गई है और अब भी की जा रही है, दृढ़ता और होशियारी के साथ नए मकान के लिए मसाला तैयार करने और उस मकान के बनाने में खर्च की जाए। हाँ, यह बात स्पष्ट है कि नया मकान कुछ खास-खास आदमियों के लिए इतना आराम और सुभीते का न होगा जितना कि पुराना था, पर निस्संदेह वह पुराने की अपेक्षा अधिक मजबूत और टिकाऊ होगा, और उसमें उन सुधारों की भी पूर्ण संभावना होगी जो केवल कुछ खास-खास आदमियों के लिए ही नहीं बल्कि सभी आदमियों के लिए आवश्यक है।

इसलिए यहाँ पर मैंने जो कुछ भी कहा है, वह बिल्कुल शुद्ध, सर्व-साधारण की समझ में आने योग्य और अखंडनीय सत्य है। यही कि लोग स्वयं अच्छे बनेंगे, अपनी आत्मा को पवित्र रखेंगे तभी हमारा सामाजिक जीवन भी सुखमय और जीने योग्य हो सकेगा।

लोगों को अच्छे जीवन की ओर प्रवृत्त करने का केवल एक ही मार्ग है, अर्थात् यह कि समझदार मनुष्य स्वयं शुद्ध और सदाचारमय जीवन व्यतीत करें। इसलिए जो लोग मनुष्यों में शुद्ध और सदाचारमय जीवन का प्रचार करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे पहले खुद अंत:करण की शुद्धि करें—उस शर्त को पूरा करें जो बाइबिल में इन

शब्दों में प्रकट की गई है।

"अपने परम पिता के समान शुद्ध और पूर्ण बनो।"

स्वदेश-प्रेम और सरकार

1

मैं पहले कई बार अपना यह विचार प्रकट कर चुका हूँ कि स्वदेश-प्रेम का भाव इस समय बिल्कुल अस्वाभाविक, विवेक-शून्य और हानिकारक है, और उन तमाम बुराइयों का कारण हो रहा है जिससे मनुष्य-समाज दु:ख पा रहा है और त्राहि-त्राहि कर रहा है। इसलिए, इस भाव को फैलाने की आवश्यकता नहीं है, जैसा कि इस समय किया जा रहा है, बल्कि, इसके विपरीत, उन सभी उपायों से दबना और उनकी जड़ खोद फेंकना चाहिए जो विवेकवान् और बुद्धिमान मनुष्यों को प्राप्त हो सकते हैं। तथापि आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि एक इसी भाव से प्रेरित होकर सारे संसार में सेनाओं का संगठन किया जा रहा है, और बड़े-बड़े युद्ध लड़े जा रहे हैं, जिनसे लोगों का सत्यानाश हो रहा है। मेरी ये सारी दलीलें, जिनमें यह बतलाया गया है कि यह स्वदेश-प्रेम कितना भ्रमपूर्ण, इतिहास-विरुद्ध और हानिकारक है, या तो अनसुनी कर दी गई हैं या जान-बूझकर उनको गलत समझा गया है। कुछ लोग यह विचित्र अपरिवर्तनीय उत्तर देते हैं कि केवल कुत्सित स्वदेश-प्रेम ही बुरा है, परंतु वास्तविक और उत्तम स्वदेश-प्रेम बड़ा ही ऊँचा और सुनीतिपूर्ण भाव है, जिसकी निंदा करना मूर्खता ही नहीं वरन् दुष्टता है।

कोई यह बताने का कष्ट नहीं करता है कि वास्तविक और उच्च-कोटि का स्वदेश-प्रेम क्या है, यदि इस विषय में किसी ने कुछ कहा भी है तो इससे इस विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता, बल्कि किसी दूसरी चीज को ही स्वदेश-प्रेम की उपाधि दी जाती है जिसमें स्वदेश-प्रेम की कोई बात भी पाई नहीं जाती और जिसके कारण हम सब लोगों को इतने कठोर दु:ख भोगने पड़ते हैं।

साधारणत: यह कहा जाता है कि असली और उत्तम कोटि का स्वदेश-प्रेम अपने देशवासियों अथवा राज्य के लिए ऐसे वास्तविक लाभ की अभिलाषा करता है जिससे दूसरे देशवालों के हित में कोई बाधा न पड़े।

अभी हाल में एक अंग्रेज के साथ वर्तमान[1] के विषय में बातचीत करते हुए मैंने उससे कहा कि युद्ध का वास्तविक कारण लोभ नहीं, जैसा कि प्राय: कहा जाता है,

---

1. बोअर युद्ध

किंतु स्वदेश-प्रेम है। इसका नमूना अंग्रेजी जाति है। यह अंग्रेज महाशय मुझसे सहमत न हुए। वह कहने लगे "यदि ऐसा ही हो, तो भी अंग्रेजों में इस समय जिस स्वदेश-प्रेम के भाव भरे हुए हैं वह एक नीचे दर्जे का कुत्सित स्वदेश-प्रेम है। उच्च-कोटि का स्वदेश-प्रेम (जैसा कि उसके अंदर मौजूद था) तो वह कहा जा सकता है जब मनुष्य अच्छे-अच्छे लोक-हितकर काम करने लगे।"

"मैं चाहता हूँ सभी लोग ऐसा ही करें।" वह फिर बोले। उनका अभिप्राय सच्चे अर्थात् नैतिक, पार्थिव और ऐसे कल्याण से था जिसका लाभ सबको एक-सा मिल सके। और इसलिए ऐसे लाभ की किसी एक मनुष्य-समाज के लिए ही इच्छा करना देश-प्रेम नहीं किंतु देश-द्रोह है।

प्रत्येक मनुष्य-समाज के गुण-विशेष भी स्वदेश-प्रेम नहीं हैं; यद्यपि इन स्वदेश-प्रेम-समर्थकों की ओर से ये बातें भी स्वदेश-प्रेम में बतलाई जाती हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक मनुष्य-समाज में कुछ विशेषताएँ होना मानव-उन्नति की आवश्यक शर्त है, और इसलिए इन विशेषताओं की रक्षा करना सच्चा स्वदेश-प्रेम और एक उत्तम और लाभ-प्रद भावना है। परंतु एक बात स्पष्ट है। उसे भी ध्यान में रखना चाहिए। यदि एक समय में प्रत्येक मनुष्य की ये विशेषताएँ—ये रस्म-रिवाज, उद्देश्य और भाषाएँ मानव-जीवन के लिए आवश्यक शर्तें थीं, तो इस समय में ये विशेषताएँ उस जीवन के मार्ग में रोड़े अटकाती हैं जो एक आदर्श जीवन समझा जाता है। परस्पर भ्रातृ-भाव से मिल-जुलकर रहना यही आजकल आदर्श जीवन है। इसलिए किसी एक राष्ट्र की पृथक राष्ट्रीयता को कायम रखने के आग्रह का फल होता है अन्य राष्ट्रों का इसी दिशा में प्रवृत्त होना—रूस, जर्मनी, फ्रांस अथवा इंग्लैंड को अपनी राष्ट्रीयता का पोषण और रक्षा करते देख हंगरी, पोलैंड और आयरलैंड को ही नहीं वरन् बांस्क, प्रोवेंकल आदि अन्य देशों को भी अपनी राष्ट्रीय विशेषता की रक्षा करने की इच्छा जाग्रत होती है। दूसरे लोगों में प्रेम-भाव और ऐक्य स्थापन होना तो दूर रहा, वे एक-दूसरे से और भी दूर और अलग हो जाते हैं।

इसलिए काल्पनिक स्वदेश-प्रेम की मैं बात नहीं करता। मैं तो वास्तविक और सच्चे स्वदेश-प्रेम के विषय में कह रहा हूँ जिससे हम सब लोग परिचित हैं, जिसके प्रवाह में आज सैकड़ों मनुष्य बहे चले जा रहे हैं और जिससे मानव-समाज को इतनी अधिक क्षति पहुँच रही है। वह अपनी जाति के लिए आध्यात्मिक लाभ की अभिलाषा नहीं रखता (केवल अपनी जाति के लिए ही आध्यात्मिक लाभ की अभिलाषा करना असंभव है); वह तो और सब जातियों और देशों को छोड़ अपनी जाति को लाभ पहुँचाने की एक उत्कट और निश्चित भावना है। और इसीलिए यह स्वदेश-प्रेम अपनी जाति तथा राज्य के लिए अधिक-से-अधिक सुविधाएँ और शक्ति प्राप्त

करने की इच्छा रखता है; और इनकी प्राप्ति तो हमेशा दूसरे लोगों अथवा राज्यों की सुविधाओं और शक्ति को नुकसान पहुँचाकर ही की जा सकती है।

इस कारण यह स्वदेश-प्रेम (Patriotism) भाव की दृष्टि से एक कुत्सित और निम्न कोटि का तथा हानिकारक भाव है और सिद्धांत की दृष्टि से एक मूर्खतापूर्ण सिद्धांत है। क्योंकि यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक राज्य अपने-आपको संसार भर के सब मनुष्यों और राज्यों में सर्वश्रेष्ठ समझने लगे, तो कहना होगा कि वे सभी एक भारी और हानिकारक भ्रम में पड़े हुए हैं।

2

कुछ लोगों को आशा हो सकती है, इस स्वदेश प्रेम से होनेवाली हानि और विवेक-शून्यता लोगों पर अपने-आप अवश्य प्रगट हो जाएगी। परंतु आश्चर्य की बात तो यह है कि सुशिक्षित और विद्वान पुरुष स्वयं ही उसे नहीं देख पाते, बल्कि जब कोई उसकी बुराइयाँ उन पर प्रकट करता है तो बड़ी सरगर्मी और सख्ती के साथ उसका विरोध करते हैं। हालाँकि उनकी दलीलों में कोई सार नहीं होता है।

पर इस सबका सार क्या है ?

मुझे तो इस आश्चर्यचकित कर देनेवाली बात का केवल एक ही स्पष्टीकरण मिलता है।

आदि काल से लेकर अद्यावधि-पर्यंत मानव-जाति का जितना भी कुछ इतिहास है, वह नीची-से-नीची कोटि के विचार रखनेवालों से लेकर ऊँची-से-ऊँची कोटि का विचार रखनेवाले व्यक्तियों तथा जन-समूहों के ज्ञान के विकास का इतिहास समझा जा सकता है। बल्कि यह तो एक ज्ञान सोपान—ज्ञान का जीना —है, जिस पर, चढ़कर जातियाँ पशु-जीवन से लेकर उच्चातिउच्च मानव-जीवन की श्रेणी तक पहुँची हैं।

प्रत्येक पृथक जाति-समूह, राष्ट्र अथवा राज्य की भाँति प्रत्येक मनुष्य विचारों की इस सीढ़ी के ऊपर क्रमश: आगे बढ़ता जाता है और अब भी बढ़ता जा रहा है। कुछ लोग आगे बढ़ रहे हैं, कुछ अभी पीछे ही पड़े हुए हैं और कुछ—जिनकी संख्या बहुत बड़ी है—सबसे आगे बढ़े हुए और सबसे पीछे पड़े हुए लोगों के बीच में हैं। परंतु ये सभी लोग, फिर वे चाहे जीने की किसी भी सीढ़ी पर क्यों न हों, बिना किसी रोक-थाम के नीचे से ऊँचे विचारों की ओर ही बढ़ रहे हैं। और हमेशा किसी एक निश्चित समय के ऊपर, भिन्न-भिन्न व्यक्ति और भिन्न-भिन्न जाति-समूह दोनों—(सबसे उच्चतम शिखर पर पहुँचे हुए, मध्य श्रेणीवाले तथा पिछड़े हुए सभी) इन तीन प्रकार की श्रेणियों के अनुसार अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। जिनके साथ उनके तीन भिन्न-भिन्न संबंध स्थापित हो जाते हैं।

वे तीन विचार-श्रेणियाँ कौन-सी हैं ? हमेशा, व्यक्तियों और जाति समूहों के लिए भी कुछ विचार भूतकाल संबंधी होते हैं, जो बिल्कुल पुराने होते हैं और जिन्हें लोग भूले होते हैं। लोग पुनः उन विचारों पर वापस नहीं जा सकते।

कुछ विचार वर्तमान समय के हैं, जो शिक्षा के द्वारा उदाहरण के द्वारा और चारों ओर काम करनेवाले सर्व-साधारण लोगों के कार्यों से लोगों के दिमाग में भर दिए जाते हैं—और जो किसी निश्चित समय पर समाज में अपनी सत्ता चलाते हैं, उदाहरण के लिए संपत्ति, राज्य-संगठन, व्यापार, घरेलू पशुओं के उपयोग आदि के विषय में प्रचलित विचार।

कुछ विचार भविष्य के भी है, जिनमें से बहुतों का अनुभव पहले से ही हो रहा है और जो लोगों को अपने रहन-सहन के ढंग में परिवर्तन करने और पहले के ढंगों का विरोध करने के लिए बाध्य कर रहे हैं—श्रमजीवियों को स्वतंत्र करने, स्त्रियों को समानाधिकार देने और मांस-भक्षण न करने आदि के विचार इनमें प्रधान हैं। कुछ विचारों ने, यद्यपि वे पहले से ही स्वीकार कर लिए गए हैं, अभी रहन-सहन के पुराने तरीकों का विरोध करना आरंभ नहीं किया है। ऐसे विचार (जिन्हें हम आदर्श के नाम से पुकारते हैं) बल-प्रयोग को हटा देना; संपत्ति का सार्वजनिक होना, विश्व-धर्म तथा सर्व-साधारण में भ्रातृ-प्रेम स्थापित करना आदि अभी हमारे सामने आदर्श कोटि में हैं।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अथवा जाति विविध विचारों की तरंगों द्वारा आंदोलित होती रहती हैं—भूत, वर्तमान और भविष्य के विचार। वह एक संग्राम ही होता है। नए विचारों का पुराने विचारों से संघर्ष होता है। प्रायः भूत-काल का एक विचार, जो किसी समय उपयोगी एवं आवश्यक रहा है, आगे चलकर अनुपयोगी और अनावश्यक हो जाता है, और वह छोटे-से संग्राम के पश्चात् एक नए विचार के लिए अपना स्थान खाली कर देता है। जो अब तक आदर्श था, अब कार्यक्रम का रूप धारण कर लेता है।

परंतु कभी-कभी एक पुराने विचार को एक खास जन-समाज इसलिए नहीं छोड़ सकता कि उससे उसकी स्वार्थ-सिद्धि होती है, यद्यपि औरों के लिए तो वह हानिकर ही होता है। तब वे लोग बड़ी चिंताशीलता के साथ उसकी रक्षा करते हैं। सारी परिस्थिति बदल जाने पर भी वे उसको प्रभावशाली बनाए रखने की कोशिश करते हैं। यह बात धार्मिक संप्रदायों में अक्सर पाई जाती है। पुरोहित और उपाध्याय कई बार निस्सार पुरानी बातों को इसलिए रखते हैं कि उससे उन्हें अर्थ-प्राप्ति होती है।

यही बात, राजनीतिक क्षेत्र में, राजनीतिक विचारों के संबंध में है जिसके ऊपर प्रत्येक राज्य का भार है। जिन लोगों के लिए ऐसा करना लाभदायक है वे कृत्रिम उपायों के द्वारा इन विचारों की रक्षा करते हैं, यद्यपि अब उसमें शक्ति और

उपयोगिता दोनों का अभाव हो गया है। और चूँकि इन लोगों के पास दूसरों को प्रभावित करने के बड़े-बड़े शक्तिशाली साधन मौजूद हैं, वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति करने में सदैव समर्थ रहते हैं।

इस समय भी स्वदेश-प्रेम-विषयक प्राचीन और विपरीत दिशा में बहनेवाली आधुनिक विचार-धारा के बीच जो भेद है इसका रहस्य यही प्राचीनता की जीवनोत्कंठा है।

3

वह स्वदेश-प्रेम, जिसका आदर्श है केवल अपने स्व-जातीय जनों के साथ ही प्रेम-भाव रखना और जो निर्बल मनुष्यों की उनके शत्रुओं द्वारा की जानेवाली हत्या तथा अत्याचारों से रक्षा करने के निमित्त अपने सुख, शांति, संपत्ति एवं अपने जीवन का भी त्याग कर देने को अपना धर्म समझता है—वह स्वदेश-प्रेम उस समय में जरूर एक उच्चतम कोटि का विचार था जब प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थ के लिए दूसरे राष्ट्र के लोगों के वध को एवं उन पर अत्याचार करने को एक सुगम और न्याययुक्त कार्य समझता था।

परंतु इससे पूर्व, लगभग दो सहस्र वर्ष हुए, मानव-समाज ने उच्च कोटि के विद्वान और बुद्धिमान पुरुषों के द्वारा मनुष्यों में पारस्परिक भ्रातृ-भाव की स्थापना के उच्चतर विचार को, स्वीकार किया; और उस विचार ने लोगों के हृदयों में धीरे-धीरे प्रवेश करते-करते आज अनेक भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लिए हैं। धन्यवाद है उन रेल, तार, मोटर आदि आने-जाने के समुन्नत साधनों तथा कारीगरी, व्यापार, कला-कौशल और विज्ञान को कि जिनकी बदौलत लोग आज एक-दूसरे के साथ इस प्रकार बँध गए हैं कि किसी पड़ोसी जाति की ओर से किए जानेवाले कत्ल और अत्याचार अथवा उसके द्वारा विजित किए जाने का भय बिल्कुल नहीं रह गया है, और सब लोग (केवल लोग ही, सरकारें नहीं) आपस में शांति के साथ, परस्पर एक-दूसरे को लाभ पहुँचाते हुए, मित्र-भाव और व्यापारी का संबंध रखे रहते हैं। इसमें कुछ भी परिवर्तन करने की न कोई उन्हें आवश्यकता है और न वे ऐसा करना चाहते ही हैं। और इसीलिए लोग यह समझते होंगे कि स्वदेश-प्रेम के प्राचीन भाव में (जो अब व्यर्थ-सा हो गया है और उस भ्रातृ-भाव के बिल्कुल प्रतिकूल है जो हमें इन चीजों की बदौलत प्राप्त हुआ है) धीरे-धीरे कमी होती जाएगी और अंत में बिल्कुल नष्ट हो जाएगा। पर तो भी इसके बिल्कुल विपरीत बात हो रही है—इस हानिकारक और प्राचीन कूपमंडूक भाव का केवल अस्तित्व ही नहीं बना रहता वरन् वह अधिकाधिक तेजी के साथ धधकता जा रहा है।

लोग बिना किसी उचित कारण के तथा नीति—अनीति और अपने हित का भी खयाल छोड़कर इन सरकारों के साथ सहानुभूति रखते हैं। जब वे दूसरे राष्ट्रों के ऊपर आक्रमण करती हैं, दूसरे देशवालों के प्रदेश और संपत्ति छीन लेती हैं, और जो कुछ वे पहले चुरा चुकी हैं, उनकी पशु-बल के द्वारा रक्षा करती हैं। वे केवल सहानुभूति ही नहीं रखते, किंतु स्वयं भी ऐसे आक्रमणों, लूटों और ऐसी रक्षा के लिए उत्सुक रहते हैं, बल्कि ऐसे कामों में आनंद मनाते हैं, और उस पर गर्व करते हैं। इन अत्याचारों से पीड़ित छोटे-छोटे देश, जो बड़ी-बड़ी रियासतों के आधिपत्य में आ गए हैं—पोलैंड, आयरलैंड, बोहेमियाँ, फिनलैंड अथवा अरमीनिया—अपने विजेताओं के स्वदेश-प्रेम का, जो उनके साथ उस उत्पीड़न का कारण है, विरोध करते हुए भी अपने विजेताओं से उत्पीड़क स्वदेश-प्रेम की दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं और वे अपनी सारी शक्ति इसी भाव के अनुसार काम करने में व्यय कर देते हैं। और स्वयं अपने से बलवान् राष्ट्रों के स्वदेश-प्रेम से कष्ट पाते हुए भी इसी स्वदेश-प्रेम से प्रेरित होकर दूसरे लोगों के साथ वही अन्याय और अत्याचार करते हैं जो उनके उत्पीड़कों ने उनके साथ किया है और अब भी कर रहे हैं।

यह सब इसलिए होता है कि शासक-समाज के लोग (जिसमें केवल असली शासन करनेवाले लोग और उनके कर्मचारी ही सम्मिलित नहीं हैं, किंतु वे सभी लोग शामिल हैं, जो विशेषाधिकारों का उपभोग करते हैं—पूँजीपति, पत्र-संपादक, तथा बहुत से कला-कुशल और वैज्ञानिक आदि—) अपनी इस स्थिति को—श्रमजीवी समाज की स्थिति के मुकाबले में कहीं अधिक लाभदायक और सुविधाजनक है—बनाए रख सकते हैं। अनेक धन्यवाद है इस राजकीय संगठन को जिसकी भित्ति ऐसे स्वदेश-प्रेम के ऊपर है! उनके हाथ में लोगों को प्रभावित करनेवाले सभी शक्तिशाली साधन मौजूद रहते हैं, और वे हमेशा बड़े परिश्रम के साथ अपने तथा दूसरे लोगों के अंदर उस स्वदेश-प्रेम के भावों का समर्थन करते रहते हैं, विशेषकर जो भाव सरकार की शक्ति की पुष्टि करते हैं, उनके बदले में सरकार की ओर से बड़े-बड़े इनाम और बख्शीशें मिलती हैं।

जितने ही अधिक जिस कर्मचारी के अंदर स्वदेश-प्रेम के भाव होंगे उतना ही अधिक वह अपने जीवन में सफल होगा। उसी प्रकार फौज के सिपाही को भी युद्ध-काल में ही तरक्की मिलती है; और युद्धों की जड़ भी स्वदेश-प्रेम ही है।

स्वदेश-प्रेम और उसके परिणाम—युद्ध से समाचार-पत्रों को बहुत बड़ी आय होती है और दूसरे बहुत-से व्यवसायों को भी लाभ पहुँचता है। प्रत्येक लेखक, अध्यापक और प्रोफेसर जितना ही अधिक स्वदेश-प्रेम की शिक्षा देता है उतना ही अधिक वह सुरक्षित रहता है। प्रत्येक महाराजा और सम्राट को उतनी ही अधिक

प्रसिद्ध प्राप्त होती है जितनी अधिक वह इस स्वदेश-प्रेम का आश्रय लेता है।

शासकों के हाथ में सेना, रुपया-पैसा, स्कूल, गिरजा तथा प्रेस सभी कुछ होता है। स्कूलों में वे बच्चों के अंदर इस स्वदेश-प्रेम की आग उन इतिहास की पुस्तकों द्वारा उत्पन्न करते हैं जिनमें अपने देश के लोगों को संसार भर के मनुष्यों में उत्कृष्ट और सत्-पथगामी बतलाया गया है। युवकों के अंदर वे इसे प्रदर्शिनियों; बड़े-बड़े जलसों, स्मारकों तथा मिथ्या भाषण-पटु स्वदेश-प्रेम की डींग मारनेवाले समाचार-पत्रों और पुस्तकों के द्वारा भरते हैं। इसके अतिरिक्त स्वदेश-प्रेम की ज्वाला धधकाने की एक और बड़ी अच्छी युक्ति है। पहले दूसरे राष्ट्रों के साथ हर तरह का अन्याय और सख्ती करके उनमें अपने लोगों के प्रति द्वेष-भाव उत्पन्न किया जाता है और फिर इस वैर-भाव की सहायता से स्वयं अपने लोगों को विदेशवालों के विरुद्ध भड़काते हैं और उनमें शत्रुता के भाव भरते हैं।

स्वदेश-प्रेम का यह भयंकर भाव यूरोपीयन लोगों में बड़ी तीव्र गति के साथ फैल गया है, और हमारे इस समय में आखिरी हद को पहुँच गया है जिसके आगे उसके विस्तार के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है।

4

बहुत पुरानी बात नहीं, अभी एक ऐसी घटना घटी थी जिससे यह साफ जाहिर होता है कि ईसाई जगत् में इस स्वदेश-प्रेम का कैसा भयंकर नशा पैदा हो गया है।

जर्मनी के शासकों ने अपने देश के अशिक्षित जनों में स्वदेश-प्रेम को ऐसा भड़काया कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पचास वर्षों में एक विचित्र कानून की व्यवस्था की गई। उस कानून के अनुसार सभी लोगों को सैनिक बनना पड़ता था। बालक, युवा, वृद्ध, विद्वान और धर्माचार्य सभी को नर-हत्या करने की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। सेना के उच्च्व कर्मचारियों के हाथ में बिल्कुल कठपुतली बनकर रहना पड़ता था, और जिस किसी के लिए भी हुक्म दिया जाए उसे यमलोक पहुँचा देने के लिए हर समय तैयार रहना पड़ता था। उत्पीड़ित देश के निवासियों तथा अपने अधिकारों के लिए लड़नेवाले स्वयं अपने देश-भाई श्रमजीवियों को—यहाँ तक कि स्वयं अपने बाप और भाइयों तक को—मार डालने के लिए तैयार रहना पड़ता था। उस निर्लज्ज बादशाह विलियम द्वितीय ने खुलेतौर पर यह सब घोषित कर दिया था।[1]

---

1. गत यूरोपीय महायुद्ध को टॉल्सटॉय नहीं देख सके जो उनकी मृत्यु के चार ही वर्ष बाद अर्थात् 1914 में छिड़ा और लगातार 4/5 वर्ष तक धन-जन की भयंकर हानि करता रहा। - संपादक

इस बात को कि जिसने लोगों के हृदयों में एक विचित्र क्रांति उत्पन्न कर दी, जर्मनी के लोगों ने स्वदेश-प्रेम के आवेग में आकर बिना किसी चूँ-चाँ के स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने फ्रांसीसियों के ऊपर विजय प्राप्त कर ली। इस विजय ने जर्मनी के और इसके बाद फ्रांस, रूस तथा अन्य देशों के शासकों के हृदयों में इस स्वदेश-प्रेम के भाव को और भी उत्तेजित कर दिया; और इस कारण यूरोप के अन्य देशों ने भी बिना किसी रुकावट के सैनिक सेवा को सिर झुका दिया। अर्थात् ऐसी पराधीनता की स्थिति उत्पन्न कर दी, जिसमें प्राचीन समय की किसी भी दासता की अपेक्षा अधिक बेइज्जती और पराधीनता है। इस प्रकार जब सभी देश-प्रेम के भाव के दास बनने लगे तो सरकारों की निर्भयता, निर्दयता और मदांधता की सीमा न रह गई। अब वे लोग, मिथ्याभिमान और झक में आकर एशिया, अफ्रीका और अमेरिका आदि देशों में दूसरों की जमीन छीनने लगे। और घृणित काम में एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा करने लगे। फलत: इन सरकारों में अधिकाधिक अविश्वास और द्वेष-भाव की मात्रा बढ़ने लगी।

अब शासित देशों के लोगों का वध करना और उनको भाँति-भाँति की पीड़ा देना एक बिल्कुल उचित और स्वाभाविक कार्य समझा जाने लगा। प्रश्न केवल यह था कि सबसे पहले कौन दूसरे लोगों की जमीन छीनता है और उन पर रहनेवाले लोगों का नाश करता है। संसार की समस्त सरकारों ने विजित देशों के संबंध में तथा परस्पर एक-दूसरे के संबंध में न्याय के प्रारंभिक नियमों का केवल उल्लंघन ही नहीं कर दिया है, किंतु वे हर तरह के छल, कपट, ठगाई, घूसखोरी, धोखेबाजी, दूत-कार्य, डाकेजनी और नर-हत्या आदि की भी दोषी हैं और अब भी है; और लोग भी केवल इन सब कामों में उनका समर्थन ही नहीं करते रहे हैं वरन् जब वे देखते हैं कि यह उन्हीं की सरकार है कोई और नहीं, जो ऐसे अपराधपूर्ण कामों को करती है, तो वे बहुत प्रसन्न होते हैं और आनंद में मग्न हो जाते हैं।

भिन्न-भिन्न देशों तथा राज्यों की पारस्परिक शत्रुता ऐसी आश्चर्यजनक सीमा को पहुँच गई है कि यद्यपि एक राज्य का दूसरे राज्य पर आक्रमण करने के लिए कोई कारण नहीं है तथापि प्रत्येक मनुष्य इस बात को जानता है कि सभी सरकार इस समय अपने-अपने पंजे फैलाए और दाँत निकाले इस घात में बैठी है कि कब किस देश पर कुछ संकट आए, वह निर्बल हो और कब वे उसे चीर-फाड़कर अलग कर दें।

ईसाई समझा जानेवाला संसार का सारा-का-सारा जन समाज इस स्वदेश-प्रेम के फंदे में पड़कर ऐसा पशुवत् बन गया है कि केवल वही लोग हत्या के इच्छुक नहीं हैं और वे इन हत्यारों में आनंद नहीं मानते जो मारने अथवा मारे जाने के लिए बाध्य हैं, किंतु यूरोप और अमेरिका के सभी लोग भी निर्भय होकर अपने घरों में

शांतिमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं—आमद-रफ्त की सुविधाओं और प्रेम के बदौलत—प्रत्येक युद्ध के समय उसी आनंद का अनुभव करते हैं जैसा कि रोम के अखाड़े में बैठे हुए दर्शक करते हैं। उन्हीं की तरह वे मनुष्य हत्या को देखकर प्रसन्न होते हैं और 'कत्ल कर दो' की आवाज बुलंद करते हैं।

केवल युवक ही नहीं, किंतु बच्चे—शुद्ध अंत:करणवाले और बुद्धिमान बच्चे—भी अपने देश और जाति के अनुसार खुशी मनाते हैं, जिस समय वे सुनते हैं कि बम अथवा दूसरे विस्फोटक पदार्थों से मरे हुए और घायल मनुष्यों की संख्या सात सौ नहीं किंतु एक हजार अंग्रेज अथवा बोअर हैं।

और माता-पिता (मुझे ऐसे बहुत-से उदाहरण मालूम हैं) इस पाशविक कार्य में अपने बच्चों को प्रोत्साहन देते रहते हैं।

परंतु यहीं पर सब बातों का अंत नहीं हो जाता। जब कोई राष्ट्र अपनी सेना में वृद्धि करता है, (जब किसी राष्ट्र को किसी प्रकार के खतरे का कोई भय होता है तो वह अपने स्वदेश-प्रेम के भाव से प्रेरित होकर अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने में लग जाता है) तो पड़ोसी राष्ट्र भी अपनी-अपनी सेनाओं में वृद्धि करने के लिए बाध्य होते हैं। इसका भी कारण स्वदेश-प्रेम ही होता है। और इससे पहलेवाले राष्ट्र को अपने सैन्य-बल में और भी वृद्धि करने की उत्सुकता होती है।

यही बात दुर्ग-निर्माण और जहाजी बेड़ा तैयार करने आदि के संबंध में भी है। किसी एक राज्य ने दस गढ़ बनाए, दूसरे पड़ोसी ने यह देखकर ग्यारह बना दिए। इस पर पहले ने बारह बना दिए और इस प्रकार इनकी संख्या का कोई ठिकाना नहीं रह जाता।

"मैं तुम्हें चुटकी काट खाऊँगा।" मैं तुम्हारा सिर फोड़ दूंगा।" "मैं तुम्हें डंडों से पीटूँगा।" "मैं तुम्हें तलवार भोंककर मार डालूँगा।" "और मैं तुम्हें गोली मार दूँगा।"

केवल शैतान लड़के, मदकची आदमी अथवा पशु (जानवर) इस प्रकार आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। परंतु आश्चर्य तो यह है कि ठीक यही बातें सभ्यता की पताका फहरानेवाली सरकारों के बड़े-बड़े प्रतिनिधियों में कही जाती हैं—उन्हीं लोगों में जो अपनी प्रजा को नैतिक ज्ञान और शिक्षा देने का बीमा लेते हैं।

5

दशा दिन-पर-दिन बिगड़ती ही जाती है। तबाही की ओर बढ़ती हुई स्थिति में किसी प्रकार का सुधार करने और इस तबाही को रोकने का कुछ भी प्रयत्न नहीं हो रहा है।

संकट-मय अवस्था से निकल भागने के लिए सिर्फ मार्ग में भोले-भाले आदमियों का एक विश्वास था। पर वह भी हाल की घटनाओं से नष्ट हो गया है। मेरा तात्पर्य हेग कॉन्फ्रेंस और उसके बाद इंग्लैंड और ट्रांसवाल के बीच होनेवाले युद्ध से है।

यदि वे लोग, जो बहुत थोड़ा सोचते हैं अथवा जिनके विचारों में गंभीरता नहीं होती, इसी विचार से संतुष्ट हो जाया करते थे कि अंतरराष्ट्रीय पंचायती अदालतों की स्थापना से युद्ध बंद हो जाएँगे, और प्रतिदिन बढ़नेवाला शस्त्रीकरण रुक जाएगा तो हेग कॉन्फ्रेंस और उसके बाद होनेवाले समर ने साफतौर पर इस बात को प्रकट कर दिया कि इस कठिनाई का इस प्रकार से दूर किया जाना असंभव है। हेग-कांफ्रेंस के बाद यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई कि जब तक इन सरकारों तथा उनके सैन्य-बल का अस्तित्व बना रहेगा तब तक सामरिक सेनाओं के संगठन और युद्ध का बंद होना असंभव है। लोगों में उचित समझौता तब हो सकता है जबकि सब लोग एक-दूसरे पर विश्वास करने लगेंगे; तब सरकारें अपने-अपने हथियार खोलकर रख देंगी, जैसा कि कान्फ्रेंस करने के लिए मिलते समय पार्लियामेंट के सदस्य किया करते हैं।

जब तक सरकारें, एक-दूसरे पर अविश्वास करके, अपनी फौज तोड़ देने अथवा उनके घटाने के बदले अपने पड़ोसियों की देखा-देखी अपना सैन्य-बल बढ़ाती रहेंगी, गुप्तचरों के द्वारा सेनाओं की हरएक चाल को गौर से देखती रहेंगी, तथा मौका पाते ही प्रत्येक शक्ति अपने पड़ोसी के ऊपर आक्रमण कर बैठेगी, तब तक आपस में समझौता होना असंभव है। और ऐसी दशा में की जानेवाली, हरएक कॉन्फ्रेंस या तो निरी मूर्खता होगी या एक मन बहलाव, धोखेबाजी, बेहूदगी, अथवा ये चारों होगी।

किसी अन्य सरकार की अपेक्षा यह बात विशेष रूप से रूसी सरकार को ही फबती थी कि वह हेग कॉन्फ्रेंस करे? चूँकि उसके झूठे इजहारों और हुक्मनामों का जवाब देने की देश के अंदर किसी को भी आज्ञा न थी, इसलिए रूस की सरकार ऐसी बिगड़ गई है कि बिना लेशमात्र भी संकोच के उसने सैनिक संगठन करके अपने देश के निवासियों का सत्यानाश कर दिया, पोलैंड का गला घोंट डाला, तुर्किस्तान और चीन को लूट लिया, और जिस समय वह फिनलैंड का दम घोंटने में लगी हुई थी उस समय उसने सरकारों के निःशस्त्रीकरण की तजबीज पेश की। उसे इस बात का पूर्ण विश्वास था कि लोग उस पर विश्वास कर लेंगे।

ऐसी तजबीज सचमुच विचित्र, अनपेक्षित और असभ्य थी, विशेषकर उस समय जब दूसरी तरफ अपनी सेना में वृद्धि की जाने के लिए आज्ञाएँ निकल रही थीं। परंतु जो बातें खुलेतौर पर कही गई थीं वे केवल एक मजाक थीं और उनमें साफतौर पर कोई सत्य नहीं दिखलाई पड़ता था और दूसरे देशों की सरकारें भी पहले से जानती

थीं कि इसका परिणाम कुछ भी नहीं होगा। प्रतिनिधि एकत्र हुए और कई सप्ताह के दौरान जिनमें उन्हें अच्छा वेतन मिलता रहा, विचार हुआ यद्यपि वे चुपके-चुपके मन-ही-मन हँसते हुए ईमानदारी के साथ इसी बात का बहाना करते रहे कि संसार के समस्त राष्ट्रों में शांति-स्थापना का प्रबंध करने में व्यस्त हैं।

हेग कॉन्फ्रेंस का परिणाम यद्यपि ट्रांसवाल के युद्ध का भयंकर रक्तपात हुआ, जिसके रोकने का न किसी ने उस समय कोई प्रयत्न किया और न इस समय पर कर रहा है, तो भी इससे कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य हुआ यद्यपि इससे जिस लाभ की आशा की जाती थी कि वह नहीं हो सका। लाभ यह हुआ कि उसने यह बात साफतौर से प्रकट कर दी कि जिन बुराइयों के कारण लोग दु:ख भोग रहे हैं उनका सुधार सरकारों के किए नहीं हो सकता। सरकारें चाहें तो भी वे सैनिक-संगठन को न रोक सकती हैं और न इसके परिणाम से होनेवाली लड़ाइयों को।

अपना अस्तित्व बनाए रखने का कोई-न-कोई कारण बताने के लिए सरकारों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने देशवासियों की दूसरे लोगों के आक्रमण से रक्षा करें। परंतु एक भी देश ऐसा नहीं है जहाँ के लोग दूसरे देशवालों पर आक्रमण करना चाहते हों, या आक्रमण करते हों। और इसलिए सरकारें शांति-स्थापन की अभिलाषा रखने के बदले बड़ी होशियारी के साथ अपने विरुद्ध दूसरे राष्ट्रों को भड़का देती हैं। और इस प्रकार अपने विरुद्ध दूसरे राष्ट्रों को भड़काकर तथा स्वयं अपने देशवासियों में स्वदेश-प्रेम के भावों को उत्तेजित कर, बाद में प्रत्येक देश की सरकार अपने लोगों पर यह प्रकट करती है कि वह खतरे में है और इसलिए इससे उसकी रक्षा की जानी चाहिए।

हाथ में शक्ति होने के कारण सरकारें ये दोनों बातें कर सकती हैं, दूसरी कौमों को छोड़ भी सकती हैं और अपने देशवासियों में स्वदेश-प्रेम के भावों को भी उत्तेजित कर सकती हैं; और वे सजगता के साथ इन दोनों बातों को करती भी हैं। इसके विपरीत वे कुछ कर भी नहीं सकतीं, क्योंकि उनका अस्तित्व उन्हीं बातों के आधार पर है।

अगर पहले जमाने में सरकारों की इस बात के लिए आवश्यकता थी कि वे अपने देशवासियों को दूसरे देशवासियों के हमलों से बचाएँ, तो आज, इसके विपरीत, यही सरकारें संसार की शांति-भंग करने का कारण हो रही हैं और नाना प्रकार के शांति-भंग के कृत्रिम उपायों को ढूँढ़ निकालती हैं और उनमें आपस में वैर-भाव बढ़ाया करती हैं।

जब खेत में बीज बोने के लिए खेत को जोतना आवश्यक था, उस समय खेत में हल चलाना एक बुद्धिमत्ता का काम था; परंतु बीज बो चुकने के बाद भी खेत को

जोतते जाना निरी मूर्खता है और इससे लाभ के बदले उलटी हानि ही होती है। किंतु ये सरकारें अपने देशवासियों को यही बात करने के लिए मजबूर किया करती हैं—वे उस एकता को, जो लोगों के अंदर मौजूद है और जिसे यदि इन सरकारों का अस्तित्व न होता, तो कोई भी नहीं तोड़ सकता, भंग कर देने के लिए लोगों को मजबूर कर रही हैं।

6

लोगों का खयाल है कि वे इन सरकारों के बिना रह नहीं सकते। पर वास्तव में ये सरकारें क्या हैं?

किसी समय ऐसी अवस्था रही होगी जब ऐसी सरकारों की आवश्यकता थी और जब संगठित पड़ोसियों के अत्याचार सहने की अपेक्षा इन सरकारों को स्वीकार करना लोगों ने उतना बुरा न समझा हो। परंतु अब ऐसी सरकारें बिल्कुल अनावश्यक हो गई हैं, और उन तमाम खतरों से, जिनसे वे अपनी प्रजा को भयभीत करती रहती हैं, कहीं अधिक बुरी हैं।

केवल सैनिक सरकारें ही नहीं किंतु सभी सरकारें उपयोगी नहीं तो कम-से-कम ऐसी अवश्य हो सकती हैं जिनसे हानि न पहुँचे, यदि वे शुद्ध अंत:करणवाले लोगों और धर्मात्मा आदमियों की ही बनी हुई हो; जैसा कि चीनियों के बारे में खयाल किया जा सकता है। परंतु ये सरकारें, जैसा कि उनके कार्य से (जिसमें बल-प्रयोग अथवा हिंसा के काम शामिल हैं) विदित होता है, हमेशा ऐसे लोगों की बनी हुई होती हैं जो अंत:करण की शुद्धता और पवित्रता का नाम तक नहीं जानते—जो बिल्कुल निरंकुश, अविवेकशील और पतित मनुष्य हैं।

इसलिए सरकार, विशेषकर ऐसी सरकार जिसके हाथ में सैनिक शक्ति हो, एक महान्-से-महान् खतरनाक संगठन है।

विस्तृत अर्थ में पूँजीपति और प्रेस तथा समाचार-पत्रों के मालिक आदि सभी सरकार में शामिल हैं। यह एक ऐसा संगठन है जिसके कारण बहुसंख्यक जन-समाज को अल्पसंख्यक लोगों के अधिकार में रहना पड़ता है जो उनके ऊपर शासन करते हैं। ये अल्पसंख्यक लोग इनसे भी अल्पसंख्यक लोगों की अधीनता में पहुँच जाते हैं और फिर इन पर उससे भी अल्पसंख्यक लोगों का शासन होता है, यहाँ तक कि अंत में यह संख्या मुट्ठी-भर आदमियों अथवा एक व्यक्ति तक पहुँच जाती हैं, जो सैनिक-बल के आधार पर शेष समस्त जन-समाज के ऊपर शासन करता है। इस प्रकार यह सारा संगठन शिखराकार बन जाता है जिसके संपूर्ण भाग उन व्यक्तियों अथवा उस एक व्यक्ति की अधीनता में हैं जो सबसे ऊँचे सिरे (शिखर) के ऊपर

विराजमान हैं अथवा विराजमान है।

इस शिखराकार (Cone) की चोटी उस व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के हाथ में पहुँच जाती है जो शेष लोगों की अपेक्षा अधिक चालाक, निरंकुश और सिद्धांत-हीन होते हैं अथवा किसी ऐसे व्यक्ति के हाथ में पहुँच जाती है जो दैवयोग से ऐसे लोगों का उत्तराधिकारी (वारिस) हो जाता है जो निरंकुश और सिद्धांतविहीन मनुष्य थे।

इन सरकारों को केवल लोगों की जायदाद और जिंदगी के ऊपर ही नहीं, किंतु प्रत्येक मनुष्य की मानसिक (आध्यात्मिक ?) और नैतिक उन्नति—प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा और धार्मिक पथ-प्रदर्शन के ऊपर भी पूर्णाधिकार प्राप्त रहता है।

लोग शक्ति का ऐसा भयंकर यंत्र बनाकर खड़ा कर देते हैं और जो कोई मनुष्य उसे अपने अधिकार में ले सके उसे अपने अधिकार में लेने देते हैं (और अक्सर इसे वही पाते हैं जो नैतिक दृष्टि से बिल्कुल अयोग्य होते हैं)—इसके बाद लोग गुलामों की भाँति अपना सर्वस्व उसके चरणों पर रख देते हैं, और बाद में फिर इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि इसका परिणाम बुरा हो रहा है। उन्हें क्रांतिवादी अराजकों के बम का भय रहता है, पर इस खौफनाक संगठन का भय नहीं रहता जो बड़ी-से-बड़ी और भयंकर विपत्ति का पहाड़ उन पर ढाने की हमेशा चेष्टा करता रहता है।

लोगों ने इस बात में आराम और सुविधा देखी कि शत्रुओं को रोकने के लिए वे अपने-आपको एक-दूसरे के साथ बाँध लें, जैसा कि अपने ऊपर होनेवाले हमलों को रोकते समय सरकेसियन लोग (Circassians) किया करते हैं।[1] परंतु वह भय अब बिल्कुल जाता रहा है। तो भी लोग अपने-आपको आपस में एक-दूसरे से उसी तरह बाँधते ही चले जाते हैं—अर्थात् अब भी उसी प्रथा के गुलाम बने हुए हैं।

वे बड़ी होशियारी के साथ अपने-आपको बाँधते हैं जिससे एक ही मनुष्य उन्हें अपने काबू में कर ले। इसके बाद वे उस रस्से के सिरे को छोड़ देते हैं जिसमें वे बँधे होते हैं और जो उनके पीछे-पीछे जमीन पर घिसता रहता है। फिर तो कोई भी दुष्ट अथवा बेवकूफ आदमी उन्हें पकड़कर जिस तरह चाहे उन्हें कष्ट और हानि पहुँचा सकता है।

किसी संगठित और सैनिक सरकार को बनाने और उसकी अधीनता स्वीकार करके उसका पोषण करनेवाले लोग वास्तव में सिवा ठीक इसी बात के और क्या करते हैं ?

---

1. *यह एक जंगली जाति है। शत्रु जब हमला करते थे तब वे अपने बचाव के लिए एक-दूसरे की टाँगें बाँध लेते थे, जिससे कोई भागने न पाए, सभी एक साथ जिएँ या मरें। —संपादक*

7

सैन्य-संगठन तथा युद्ध की बुराइयाँ हमेशा बढ़ती ही जाती हैं। लोगों को इनसे मुक्त करने के लिए न बड़ी-बड़ी सभाओं की जरूरत हैं, न कॉन्फ्रेंसों की और न सुलहनामों अथवा पंचायती अदालतों की। सिर्फ बल-प्रयोग (हिंसा) के उन कारणों को नष्ट कर देने की आवश्यकता है जो सरकार के नाम से प्रसिद्ध हैं, और जिनमें मानव-समाज की बड़ी-से-बड़ी हानि हो रही है।

सरकारी बल-प्रयोग को नष्ट करने के लिए केवल एक ही बात की आवश्यकता है, अर्थात् यह कि लोग इस बात को समझ लें कि स्वदेश-प्रेम का भाव जो इस बल-प्रयोग के यंत्र का एकमात्र समर्थक और पोषक है, एक असभ्यतापूर्ण, हानिकारक, निंद्य, कुत्सित, बिल्कुल निम्न श्रेणी का और नीति-विरुद्ध भाव है। यह असभ्यतापूर्ण भाव इसलिए है कि यह केवल उन्हीं लोगों के स्वभाव के अनुकूल है जो नैतिक दृष्टि से निम्न-से-निम्न श्रेणी के मनुष्य हैं और दूसरी जातियों से भी ऐसे ही अत्याचारों की आशा करते हैं जिन्हें वे दूसरे लोगों के ऊपर किया करते हैं। यह हानिकारक इसलिए है कि वह दूसरे लोगों के साथ होनेवाले लाभप्रद और आनंदवर्धक शांतिमय संबंध में विघ्न डालता है। इसके अतिरिक्त वह उस राजनीतिक संगठन को जन्म देता है जिसमें निकृष्ट-से-निकृष्ट आदमियों के हाथ में सत्ता जाने की संभावना रहती है और वस्तुतः यह उनके हाथों में पहुँच भी जाती है। यह एक निंद्य भाव इसलिए है कि वह मनुष्य को केवल दासत्व में ही नहीं डाल देता, किंतु उसे एक लड़नेवाला मुर्गा, बैल या कातिल बना देता है, जो अपनी सारी शक्ति और अपना सारा जीवन ऐसे कामों में व्यय किया करता है जिनसे उसको नहीं, वरन् उसकी सरकार को ही लाभ पहुँचता है। और यह भाव अनीतिपूर्ण इसलिए है कि अपने-आपको ईश्वर की संतान समझने के बदले, जैसी कि धर्म की शिक्षा है, अथवा स्वयं अपनी विवेक-बुद्धि के बल पर अपने को एक स्वतंत्र मनुष्य मानने के बदले प्रत्येक मनुष्य स्वदेश-प्रेम के वशीभूत होकर अपने को अपनी मातृभूमि की संतान और अपनी सरकार का दास (गुलाम) मानने लगता है, और ऐसे कार्य करने लगता है जो उसकी बुद्धि और आत्मा दोनों के विरुद्ध है।

आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि लोग इस बात को समझ लें। फिर तो यह भयंकर पाश जो सरकार के नाम से प्रसिद्ध है, जिससे हम सब लोग आपस में बड़ी मजबूती के साथ जकड़े हुए हैं, आपसे-आप बिना किसी झगड़े के टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा; और इसी के साथ-साथ उन भयंकर और हानिकर बुराइयों का भी अंत हो जाएगा जो इससे उत्पन्न होती हैं।

और लोग इस बात को समझने भी लग गए हैं। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य

(United States) के एक नागरिक ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं—

"हम लोग किसान, कारीगर, सौदागर, तरह-तरह की चीजें बनानेवाले, और अध्यापक (शिक्षक) सभी कुछ हैं, और हमारी प्रार्थना केवल यह है कि हमको अपने-अपने काम करने की पूर्ण स्वतंत्रता रहे। हम अपने मकानों के मालिक हैं, अपने-अपने मित्रों से प्रेम करते हैं, अपने परिवार में लगे रहते हैं, और अपने बाहरी निकटस्थ पड़ोसियों के कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं करते। हमारे पास करने को काम है और हम काम करना चाहते हैं। आप हमारी चिंता न करें और हमें अपने ही ऊपर छोड़ दें।

"परंतु ये लोग—ये कुशल राजनीतिज्ञ हमें ऐसा कभी न करने देंगे। वे इस पर तुले हुए हैं कि वे हमारे ऊपर शासन करें और हमारी कमाई के ऊपर गुलछर्रे उड़ाएँ, और उसके लिए वे जिद भी करते हैं। वे हमसे तरह-तरह के टैक्स वसूल करते हैं, हमारी संपत्ति (जीविका) चट किए जाते हैं, हमें सेना में भरती करते हैं और हमारे बच्चों को अपनी लड़ाइयों में घसीट ले जाते हैं। हजारों-लाखों आदमी जिनकी जीविका सरकार के ऊपर निर्भर है, सरकार द्वारा हमारे ऊपर लगाए गए टैक्स पर ही ऐश उड़ाते हैं और इसलिए कि सरकारें हमसे टैक्स वसूल करने में सफल हो सकें, बड़ी-बड़ी सेनाएँ रखी जाती हैं। यह कहना कि सेना की आवश्यकता देश की रक्षा के लिए है, बिल्कुल फरेब और बहानेबाजी की बातें हैं। फ्रांस की सरकार लोगों को यह कहकर डराती है कि जर्मन लोग उन पर हमला करने को तैयार हैं, रूसवाले अंग्रेजों से डरते हैं, अंग्रेज लोग हरएक से डरते हैं, और अब अमेरिका में, हम लोगों से कहा जाता है कि तुम अपना जहाजी बेड़ा बढ़ाओ और अपनी सेना में भी वृद्धि करो, क्योंकि न जाने किस समय यूरोपवाले मिलकर तुम्हारे ऊपर चढ़ाई कर दें।"

"यह बिल्कुल कपटपूर्ण और मिथ्या बात है। फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड और अमेरिका के सीधे-सादे और सच्चे आदमी लड़ाई के बिल्कुल विरुद्ध हैं। हम सिर्फ यह चाहते हैं कि हमारी जान छोड़ दी जाए। ऐसे आदमी, जिनके स्त्री और बच्चे हैं, जो घर-मकानवाले हैं, जिनके हृदय में प्रेम है और जिनके माता-पिता वृद्ध हैं, यह कभी नहीं चाहते कि दूर देश में जाकर वे किसी से युद्ध करें। हम शांतिप्रिय मनुष्य हैं और लड़ाई से डरते हैं; हम उससे घृणा करते हैं।"

"हम तो बाइबिल के स्वर्ण-नियम (Golden Rule) का पालन करना अच्छा समझेंगे।

"युद्ध सशस्त्र मनुष्यों के अस्तित्व का अवश्यंभावी परिणाम है। जो देश एक बहुत बड़ी स्थायी सेना का पोषक है, उसे अभी अथवा देर में, किसी-न-किसी समय युद्ध का सामना अवश्य करना पड़ेगा। जिस मनुष्य को अपनी घूँसेबाजी की दक्षता पर बड़ा

गर्व है, वह किसी-न-किसी दिन उस मनुष्य के पास जाएगा जो अपने-आपको उससे अच्छा समझता है, और उस समय वे अवश्य लड़ेंगे। जर्मनी और फ्रांस के पास युद्ध के लिए इस अभिलाषा के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है कि इन दोनों में कौन अच्छा है। वे कई बार लड़ चुके हैं, और उनमें फिर युद्ध होगा। बात यह नहीं कि लोग लड़ना चाहते हैं, किंतु उच्च श्रेणी के लोग जन-साधारण में विद्यमान भय को भड़का-भड़काकर क्रोध के रूप में परिवर्तित कर देते हैं और उनके दिमाग में यह बात अच्छी तरह बैठा देते हैं कि उन्हें अपने घरों की रक्षा के लिए लड़ना ही चाहिए।"

"इस प्रकार जो लोग मसीह के आदेशानुसार कार्य करना चाहते हैं, जो उनकी शिक्षा का अनुकरण करना चाहते हैं, वे अपनी इच्छानुसार नहीं रह सकते। उनके ऊपर सरकारें टैक्स लगाती हैं, नाना प्रकार के अत्याचार करती हैं और उन्हें धोखा देती हैं।"

"मसीह ने इस बात की शिक्षा दी है कि अपने शत्रु के साथ भी विनीत और नम्र बने रहो और सदैव क्षमाशील रहो तथा किसी की हत्या न करो। बाइबिल लोगों को शपथ न खाने का उपदेश करती हैं; परंतु उच्च श्रेणी के लोग हमारे सामने बाइबिल की ही कसम खाते हैं, जिसमें उनका कोई विश्वास नहीं है।"

"प्रश्न यह है कि हम इन लोगों से अपना छुटकारा किस प्रकार करें, जो कुछ भी काम नहीं करते, किंतु जो बढ़िया-बढ़िया मखमली कपड़े पहनते हैं, जिनमें बड़े-बड़े कीमती बटन लगे रहते हैं, जो बहुत-से मूल्यवान आभूषण पहनते हैं और बड़े-बड़े कीमती साज व सामान रखते हैं; जो हमारे धन पर मौजें उड़ाते हैं, और जिनके लिए हम रात-दिन मर-मरकर अपने खून का पानी किया करते हैं?"

"क्या हम उनसे लड़ें?"

"नहीं, रक्तपात में हमारा कोई विश्वास नहीं; और इसके अलावा उनके पास बड़ी-बड़ी तोपें और बंदूक और बहुत-सा धन है, और रणक्षेत्र में हमारी अपेक्षा वे अधिक समय तक ठहर सकते हैं।"

"लेकिन उस फौज में कौन-से आदमी हैं जिन्हें वे हमारे ऊपर गोली चलाने का हुक्म देंगे?"

"वे तो हमारे पड़ोसी और भाई हैं, जिन्हें इस धोखे में डाल रखा है कि अपने शत्रुओं से अपने देश की रक्षा करके वे ईश्वर की सेवा कर रहे हैं; जबकि असलियत यह है कि इन ऊँचे वर्ग के लोगों को छोड़कर हमारे देश के अन्य कोई शत्रु नहीं हैं, जो इस बात का झूठा दावा करते हैं कि यदि हम उनकी आज्ञा मान लें और टैक्स देने को राजी हो जाएँ तो वे हमारे हितों की रक्षा करेंगे।"

"इस प्रकार वे हमारे धन को छीनकर हमारे सच्चे भाइयों और मित्रों को, हमें

जेर और जलील करने के लिए भेज देते हैं। आप अपनी स्त्री के पास एक तार नहीं भेज सकते, न अपने मित्र के पास कोई खास बंडल या किताब भेज सकते हैं, और न अपने बनिए के लिए कोई चेक (हुंडी) काट सकते हैं, जब तक कि आप सशस्त्र सैनिक रखने के लिए पहले टैक्स न दे दें, जो फौरन आपका ही गला काटने के काम में लाए जा सकते हैं। टैक्स न अदा करने पर तुम्हें वे फौरन कैद करके जेलखाने भेज देंगे।''

''इसका एकमात्र उपाय शिक्षा है। लोगों को यह शिक्षा दीजिए कि किसी का वध करना बुरा है।'' उन्हें बारंबार स्वर्ण नियम (Golden Rule) की शिक्षा दीजिए। धीरे-धीरे खामोशी के साथ इनकी गोलियों की बौछार के सामने सिर झुकाने से इनकार करके उच्च श्रेणी के लोगों का विरोध कीजिए। ऐसे लोगों की सहायता करना बंद कर दीजिए जो हमेशा युद्ध के लिए ही चिल्लाया करते हैं, और जो रुपया लेकर स्वदेश-प्रेम के गीत गाया करते हैं। उन्हें भी उसी तरह मजूरी करने दीजिए जिस तरह हम करते हैं। हमारा मसीह में विश्वास है पर उनका नहीं है। मसीह ने वही कहा जो उसने उचित समझा; पर वे वही कहते हैं; जिससे वे समझते हैं, अधिकारी वर्ग—उच्च श्रेणी के लोग—प्रसन्न होंगे।

''हम सेना में भर्ती न होंगे। हम उनके हुक्म पर लोगों पर गोली न चलाएँगे। हम कोमल-स्वभाव के लोगों तथा सज्जनों पर कभी संगीनों का वार न करेंगे। अपने घर-बार और बाल-बच्चों के लिए लड़ते हुए बेचारे गरीब किसानों और चरवाहों के ऊपर गोली न चलाएँगे। तुम्हारे झूठे भेड़िया, भेड़िया चिल्लाने से हम भयभीत न होंगे। हम आपको इसीलिए टैक्स देते हैं कि हमें देना पड़ता है और जब तक हमें देना पड़ेगा तभी तक हम उसे देते रहेंगे, आगे नहीं। हम जगह के लिए टैक्स न देंगे, और न आपको दान देने के लिए हम कोई चंदा देंगे, और मौका पड़ने पर समय-समय पर हम जी खोलकर अपने भाव प्रगट करेंगे।''

''हम लोगों को शिक्षित बनाएँगे।''

''और इस बीच हमारा प्रभाव धीरे-धीरे लोगों पर पड़ता ही रहेगा और उन लोगों के भी, जो सेना में भर्ती हो गए हैं, दिल आधे रह जाएँगे और वे लड़ने से इनकार कर देंगे। हम लोगों को यह बतलाएँगे कि झगड़े, रक्तपात और युद्ध के जीवन की अपेक्षा शांतिमय और परोपकार-पूर्ण धार्मिक जीवन कहीं अच्छा है।''

''संसार में शांति तभी हो सकती है जब लोग इन सेनाओं को हटाकर अलग कर देंगे और दूसरे लोगों के साथ वही व्यवहार करने लग जाएँगे जो वे चाहते हैं दूसरे लोग उनके साथ करें।''

इस प्रकार संयुक्त राज्य के नागरिक ने लिखा है; और हर तरफ से भिन्न-भिन्न

रूप में ऐसी आवाजें सुनाई पड़ रही हैं।

जर्मनी के एक सैनिक ने यों लिखा हैं—

"मैं प्रशियन गार्ड के साथ लड़ाइयों में (सन् 1866 ई., सन् 1870 ई.) गया; मुझे लड़ाई से हार्दिक घृणा है; क्योंकि इसने मुझे ऐसा तबाह कर दिया है जिसका वर्णन नहीं हो सकता। हम घायल सिपाहियों को आमतौर पर इतना कम माविजा मिल रहा है कि हमें इस बात पर लज्जा आती है कि हममें भी एक समय स्वदेश-प्रेम था। उदाहरणार्थ, मुझे अपने दाहिने हाथ के लिए 9 पैसे प्रतिदिन मिलता है जिसमें सेंट प्रियट की चढ़ाई के समय तारीख 17 अगस्त, सन् 1870 ई. को गोली लगी थी। कुछ शिकारी कुत्तों को उनकी रखवाली के लिए अधिक मिलता है। अपने घायल हाथ के लिए मुझे कई वर्ष तक कष्ट भोगना पड़ा। इससे सन् 1866 ई. में मैंने आस्ट्रिया के विरुद्ध होनेवाली लड़ाई में हिस्सा लिया और ट्राटिना तथा कानीग्रेज में लड़ाई के बहुत-से खतरों का मुझे सामना करना पड़ा। सन् 1870 में जिस समय मैं रक्षित (Reserve) सेना में था, मुझे फिर बुलाया गया, और जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ सेंट प्रियट की चढ़ाई में मैं जख्मी हो गया—मेरे दाहिने हाथ में दो बार गोली लगी। मुझे शराबखाने में एक अच्छी जगह से अलग हो जाना पड़ा, और फिर उसे पाने में समर्थ न हो सका। उस समय से आज तक मेरे पैर जमीन पर न लग सके। मेरा नशा फौरन उतर गया, और फिर इस घायल और निर्बल सिपाही के लिए सिवाय इसके और कुछ भी बाकी न रहा कि दानरूप में दिए गए मामूली वजीफे (वृत्ति) पर बसर करता रहे...।

"एक ऐसे संसार में, जिसमें लोग सिखाए हुए पशुओं की भाँति इधर-उधर दौड़ते हैं, और उनके सामने इसके सिवाय और कुछ भी विचार नहीं रहता कि धन के लोभ में एक-दूसरे को बर्बाद करते रहें—ऐसे संसार में लोग मुझे भले ही एक कमजोर आदमी समझें; परंतु इस सबका परिणाम यह हुआ कि मुझे अपने-आपमें उस ईश्वरीय शांति का अनुभव होने लगा है जिसका गिरि-प्रवचन में बड़ा सुंदर वर्णन किया गया है। मेरी यह निश्चित धारणा है कि लड़ाई बड़े पैमाने पर किया जानेवाला एक व्यापार है—ऐसा व्यापार जिसे बड़े-बड़े शक्तिशाली मनुष्य सर्व-साधारण के आराम और सुख की पूँजी से करते हैं।"

"और इससे हमको किन-किन कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है ? मैं कभी उन पुर-दर्द आहों को नहीं भूल सकता जो मनुष्य के अंत:स्थल तक प्रवेश कर जाती थीं।"

"जिन लोगों ने कभी एक-दूसरे को कोई क्षति नहीं पहुँचाई है, वे एक-दूसरे को पशुओं की भाँति कत्ल करने लग जाते हैं, और दासता में पड़ी हुई क्षुद्र आत्माएँ

ईश्वर को अपने इस कार्य में भागी बनाकर उसे कलंकित करने की चेष्टा करती हैं।"

"फौज में पड़ोसी का जबड़ा गोलियों के वार से टूट गया था। वह बेचारा मारे दर्द के पागल हो गया। वह इधर-उधर पागल की तरह मारा-मारा फिरता था, और ग्रीष्म ऋतु की झुलसा देनेवाली गर्मी में अपना जख्म (घाव) ठंडा करने को उसे पानी भी नहीं मिल सका। यह देख हमारे सेनानायक युवराज ने (जो बाद में महाराज फ्रेडरिक के नाम से प्रसिद्ध हुए) अपनी 'डायरी' (रोजनामचा) में लिख लिया—"युद्ध धर्म का उपहास है।"

लोग अब स्वदेश-प्रेम के इस मायाजाल को समझने लगे हैं जिसमें उन्हें फँसाए रखने के लिए सभी सरकारें इतना कष्ट उठाती रहती हैं।

8

अक्सर लोग पूछते हैं—"परंतु, सरकारों के स्थान में और कौन-सी संस्था होगी?"

इसके स्थान में और कुछ भी होगा। जो वस्तु बहुत समय से अनुपयोगी और इस कारण व्यर्थ और एक बुरी वस्तु सिद्ध हो गई है, उसे नष्ट ही कर देना चाहिए। जो संस्था अनावश्यक होने के कारण हानिकर हो गई हो उसका अंत अवश्य हो जाना चाहिए।

लोग प्राय: यह कहा करते हैं—"लेकिन अगर सरकार न होगी, तो लोग कानून को न मानेंगे और एक-दूसरे को मार डालेंगे।"

क्यों? ऐसी संस्था के नष्ट कर दिए जाने से लोग क्यों अत्याचार करने लगेंगे, जो बल-प्रयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई और जिसने हमेशा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोगों को बल-प्रयोग (हिंसा) करने की शिक्षा दी है, जिसकी उपयोगिता नष्ट हो गई, पशु-बल से काम लेनेवाली सरकारों के नष्ट होते ही लोग क्यों एक-दूसरे का वध करने लगेंगे? बल्कि वास्तव में होगा इसके विपरीत—बल-प्रयोग (हिंसा) का साधन नष्ट हो जाने से लोग एक-दूसरे पर अत्याचार करना और उनका वध करना छोड़ देंगे।

कुछ लोगों को दूसरे लोगों पर बल-प्रयोग करने और उनका वध करने के लिए विशेष रूप से शिक्षा और दीक्षा दी गई है—कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनके बारे में यह अनुमान किया जाता है कि उन्हें दूसरों पर बल-प्रयोग करने का अधिकार है, और जो उस संस्था को काम में लाते हैं, जिसकी उत्पत्ति इसी काम के लिए हुई है। बल-प्रयोग के ऐसे कार्य तथा लोगों का इसी प्रकार वध किया जाना बड़े ही अच्छे और प्रशंसनीय कार्य समझे जाते हैं।

परंतु अब आगे लोगों को ऐसी शिक्षा दी जाएगी, और किसी को भी दूसरों पर

बल-प्रयोग तथा अत्याचार करने का कोई अधिकार न होगा, बल-प्रयोग करनेवाली कोई संस्था न होगी, और जैसा कि हमारे इस समय के लोगों के लिए स्वाभाविक है, बल-प्रयोग और मनुष्य-हत्या हमेशा बुरे काम समझे जाएँगे, फिर उनको करनेवाला कोई भी हो।

लेकिन अगर सरकारों का अंत हो जाने के बाद हिंसा (बल-प्रयोग) के कार्य जारी रहे भी तो भी इसमें संदेह नहीं कि ऐसे कार्य उस समय इस समय की अपेक्षा कहीं कम होंगे। क्योंकि अभी तो एक ऐसी संस्था ही विद्यमान है जो विशेष रूप से लोगों के ऊपर अत्याचार और बल-प्रयोग करने के लिए बनाई गई है, और ऐसी स्थिति बनी हुई है, जिसमें हिंसा और हत्या के कार्य उत्तम और उपयोगी समझे जाते हैं।

सरकारों का अंत हो जाने से हमें एक अनावश्यक संस्था से छुटकारा मिल जाएगा जो बल-प्रयोग करने और अपने इस कार्य का समर्थन करने के लिए हमें परंपरा से प्राप्त हुई है।

"परंतु उस समय न कोई कानून रह जाएँगे और न कोई संपत्ति होगी, न न्यायालय होंगे और न पुलिस होगी। सर्व-साधारण की शिक्षा का भी समुचित प्रबंध न होगा—" यह बात उन लोगों की ओर से कही जाती है जो जान-बूझकर सरकार की ओर से किए जानेवाले बल-प्रयोग को अन्य बहुत-से सामाजिक कामों के साथ मिला देते हैं।

लोगों पर अत्याचार और बल-प्रयोग करनेवाले राजकीय संगठन (संस्था) के नाश करने के मानी यह नहीं है कि उनके साथ-साथ वे सभी बातें भी चली जाएँगी, जो अच्छी हैं। कानून, न्यायालय, संपत्ति, पुलिस, सांपत्तिक व्यवस्था, तथा सार्वजनिक शिक्षा से संबंध रखनेवाली वे सारी बातें रहेंगी जिसका आधार पशु-बल नहीं है। तब तो सरकार के पाशविक बल के स्थान पर जिनकी आवश्यकता केवल उस सरकार की सहायता करने के लिए ही होती थी, एक अधिक न्यायानुकूल और उचित सामाजिक संगठन का जन्म हो जाएगा जिसमें बल-प्रयोग की बिल्कुल आवश्यकता न रहेगी। न्यायालय, सार्वजनिक काम-काज, सार्वजनिक शिक्षा आदि सब उसी हद तक रहेंगे जब तक वास्तव में लोगों को उनकी आवश्यकता है; किंतु इन सबका रूप बदल जाएगा। वह रूप ऐसा होगा जिसमें वर्तमान समय की सरकारों की बुराइयाँ न होंगी। अंत केवल उन्हीं बातों का होगा जो बुरी और लोगों को अपने विचारों को स्वतंत्र रूप से प्रकट करने से रोकती हैं।

परंतु यदि हम यह बात भी मान लें कि सरकारों के न होने पर तमाम गड़बड़ी फैल जाएगी और गृह-कलह उत्पन्न हो जाएगी, तो लोगों की दशा उस समय हमारी वर्तमान अवस्था से कहीं अधिक अच्छी हो जाएगी। इस समय की स्थिति तो ऐसी

है कि इस बात का अनुमान करना भी कठिन है कि इससे खराब कोई स्थिति हो सकती है अथवा नहीं। लोग बिल्कुल तबाह हो गए हैं और उनकी तबाही दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है। सभी लोग लड़ाई लड़नेवाले गुलाम बना दिए गए हैं और प्रतिदिन वे इसी प्रतीक्षा में रहते हैं कि किस वक्त लड़ाई पर जाने और वहाँ पर मरने और मारने का हुक्म मिल जाए। सर्वनाश में और क्या बाकी रहा? क्या अब उनके भूखों मरने की कसर है? सो तो रूस, इटली और भारतवर्ष में प्रारंभ भी हो गई। अथवा क्या स्त्री और पुरुष सैनिक बन जाएँ? ट्रांसवाल में यह बात भी शुरू हो गई है।[1]

अतएव यदि सरकार के न होने का अर्थ वास्तव में अराजकता है—जो इसका अर्थ कदापि नहीं है—तो उस दशा में भी यह अराजकता की गड़बड़ी उस स्थिति से अधिक भयंकर नहीं होगी, जिसमें सरकारों ने लोगों को पहुँचा दिया है और अभी पहुँच रही है।

इसलिए स्वदेश-प्रेम से छुटकारा पा जाने और सरकारों की स्वेच्छाचारिता और अत्याचारों का नाश हो जाने से, जिसका आधार यह स्वदेश-प्रेम ही है, लोगों का उपकार ही होगा।

9

मनुष्यों, अब होश में आओ, और अपनी शारीरिक तथा आध्यात्मिक भलाई की खातिर, अपने भाइयों तथा बहनों की खातिर जरा ठहरो, विचारो और सोचो कि तुम क्या कर रहे हो! जरा सोचोगे तो समझ जाओगे कि तुम्हारे शत्रु बोअर, अंग्रेज, फ्रांसीसी, जर्मनी एवं फिनलैंड के निवासी अथवा रूस के लोग नहीं हैं किंतु तुम्हारे एकमात्र शत्रु तुम स्वयं हो जो अपने स्वदेश-प्रेम तथा स्वदेशानुराग के प्रवाह में प्रवाहित होकर उन सरकारों की रक्षा और सहायता करते हो जो तुम्हारे ऊपर भाँति-भाँति के अत्याचार करती हैं और तुम्हारे दु:खों का कारण होती है।

उन्होंने हर तरह के खतरे से तुम्हारी रक्षा करने का बीड़ा उठाया है, और उन्होंने इस रक्षा के काम को ऐसा बढ़ा दिया है कि तुम सब सैनिक बन गए हो, गुलाम बन गए हो, सब लोग तबाह हो गए हैं, अथवा दिन-पर-दिन अधिकाधिक तबाह होते जाते हैं इसका फल किसी दिन यह होगा कि तुम और तुम्हारे बच्चे सब-के-सब बेरहमी के साथ कत्ल कर दिए जाओगे।

लोग चाहे जितनी संख्या में कत्ल किए जाएँ और इस लड़ाई का परिणाम चाहे

---

1. *विगत महायुद्ध से संसार की जो हानि हुई उसे देखने के लिए टॉल्सटॉय जीवित नहीं रहे, नहीं तो उनके कोमल अंत:करण को कितनी चोट पहुँचती! —संपादक*

जो कुछ भी हो, स्थिति में कोई भी परिवर्तन न होगा। वह ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। उसी प्रकार, और बल्कि उससे भी मजबूती और ज्यादती के साथ सरकारें शस्त्र-संग्रह करेंगी, तुम्हें तबाह करेंगी और तुम्हें तथा तुम्हारे बच्चों को पथ-भ्रष्ट और सत्यनाश करेंगी, और इसके बंद करने अथवा रोकने में तुम्हारी कोई भी सहायता न करेगा, यदि तुम स्वयं अपनी सहायता न करोगे।

और केवल एक ही प्रकार की सहायता संभव हो सकती है—यह कि बल प्रयोग के उस क्रम को नष्ट कर दिया जाए जिससे किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के लिए शेष जन-समाज के ऊपर अधिकार प्राप्त करना तथा उस अधिकार को बनाए रखना संभव होता है; और जितना ही अधिक ये लोग इन अधिकारों को दृढ़ता के साथ प्राप्त कर पाते हैं; उतनी ही अधिक उनमें निर्दयता और अमानुषिक वृत्तियों की वृद्धि होती है, जैसा कि नेपोलियन, निकोलस प्रथम, विस्मार्क, चेंबरलेन, रोड्स तथा हमारे रूसी डिक्टेटरों के उदाहरणों से प्रकट होता है, जो 'जार' के नाम से शासन करते हैं।

इस एक-दूसरे के साथ में बाँधे जाने की प्रथा (गुलामी) के नष्ट करने का केवल एक ही उपाय है—वह यह कि इस स्वदेश-प्रेम के भूत को सर पर से उतार फेंका जाए।

इस बात को खूब समझ लो कि जिन बुराइयों के कारण तुम सब लोग कष्ट उठा रहे हो, उन्हें तुम ऐसी बातों के भुलावे में पड़कर स्वयं पैदा कर रहे हो जिनसे शासक, पूँजीपति, धर्माधिकारी, लेखक, शिल्पकार तथा सभी ऐसे लोग जिनको तुम्हारी मेहनत और कमाई के ऊपर मौज उड़ाने के लिए स्वदेश-प्रेम के इस माया-जाल की आवश्यकता है, तुम्हें छलना चाहते हैं! तुम चाहे किसी देश के निवासी हो, इस बात को स्मरण रखो कि कृषि, कला, व्यापार, कारीगरी अथवा विज्ञान-संबंधी तुम्हारे सभी मानवी स्वार्थ और आमोद-प्रमोद, किसी भी प्रकार, दूसरे मनुष्यों अथवा देशों के स्वार्थ के घातक न हों। यह भी याद रखो कि तुम—पारस्परिक सहयोग, सेवाओं के परिवर्तन, विश्व-बंधुत्व के नाते, तथा केवल वस्तुओं के ही नहीं वरन् विचारों एवं भावों के विनिमय के द्वारा दूसरे लोगों के साथ मिले हुए हो।

यह समझ लो कि इस प्रश्न से तुम पर कोई असर नहीं पड़ता कि वो हाईवी, पोर्टआर्थर अथवा क्यूबा के छीन लेने का प्रबंध किसी की ओर से किया जाता है—तुम्हारी सरकार की ओर से अथवा अन्य किसकी ओर से। यह भी समझ लो कि तुम्हारी सरकार यदि किसी के प्रदेश को छीनेगी तो तुम्हें उस डकैती और बल-प्रयोग (हिंसा) के कामों में हिस्सा लेने के लिए मजबूर किया जाएगा। अथवा प्रदेश छीनने पर उसकी रक्षा करने के लिए मजबूर किया जाएगा। यह समझ लो कि अल्सेस के जर्मनी अथवा

फ्रांस के कब्जे में आने से, अथवा आयरलैंड या पोलैंड के स्वतंत्र होने या गुलाम ही बने रहने से तुम्हारी जिंदगी में कोई बेहतरी न आएगी। उन पर चाहे किसी का अधिकार रहे, तुम जहाँ चाहो स्वतंत्रतापूर्वक रह सकते हो; चाहे तुम अल्सेस के रहनेवाले हो या आयरलैंड अथवा पोलैंड के। पर इतना समझे रहो कि स्वदेश-प्रेम की आग भड़काकर तुम अपनी हालत को और भी खराब कर दोगे; क्योंकि जिस गुलामी में तुम जकड़े हुए हो वह भिन्न-भिन्न देशों अथवा राष्ट्रों के स्वदेशानुराग का ही फल है, और जबकि एक राष्ट्र अपने स्वदेश-प्रेम का प्रदर्शन करता है, तो इसका प्रतिबिंब दूसरे के ऊपर पड़े बिना रह नहीं सकता, दूसरे राष्ट्र भी उनका अनुकरण करने लग जाते हैं। दुःखों से तुम्हारा छुटकारा तभी हो सकता है जब तुम स्वदेश-प्रेम का खयाल ही छोड़ दो और सरकारों की आज्ञा का पालन करना बंद कर दो, जिसका आधार भी स्वदेश-प्रेम ही है। दुःखों से छुटकारा तब होगा, जब तुम साहस के साथ विश्व-बंधुत्व के उच्च भाव के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाओगे, जो बहुत समय से हमारे जीवन का आदर्श बना हुआ है और चारों ओर से तुम्हें अपनी ओर आने के लिए संकेत कर रहा है।

यदि लोग इतना ही समझ लें कि वे किसी एक देश, मातृभूमि या सरकार की संतान वा प्रजा नहीं हैं, किंतु एकमात्र परमपिता परमेश्वर की संतान हैं, और इसीलिए एक-दूसरे के न गुलाम बनेंगे और न शत्रु ही होंगे तो वे सरकार नामधारी मूर्खतापूर्ण, अनावश्यक, जर्जरीभूत और घातक संस्थाएँ तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले समस्त दुःख और कष्ट, वे अत्याचार, वे जिल्लतें और वे अपराध आप-से-आप नष्ट हो जाएँगे।

साम्यवाद—राजकीय तथा धार्मिक

विलासिता का त्याग कर देना चाहिए। जब तक धन, बल और आविष्कारों का प्रयोग अनावश्यक बातों की ओर ही किया जाता रहेगा, तब तक कुछ भी नहीं हो सकता। और इस बात को जानने के लिए सर्व-साधारण को किन बातों की आवश्यकता है, प्रत्येक वस्तु की खूब अच्छी तरह परीक्षा कर लेनी चाहिए।

मुख्य बात यह है कि हमें उन क्रूर विषमताओं को उत्तेजना देने की अपेक्षा जो हमारे दुःखों का कारण हो रही हैं, उन तमाम वस्तुओं (बातों) को छोड़ देने के लिए तैयार हो जाना चाहिए जो हमारी सभ्यता का पुरस्कार समझी जाती हैं। यदि मैं वास्तव में अपने भाई से प्रेम करता हूँ, तो जिस समय वह बेघर-बार हो जाए उस समय उसे आश्रय देने के लिए मुझे अपनी बैठक का एक कमरा खाली कर देने में

कोई भी संकोच न होना चाहिए। परंतु जैसा कि देखने में आता है, हम यह कह दिया करते हैं कि हम अपने भाई को पनाह देना तो चाहते हैं, लेकिन सिर्फ इस शर्त पर कि जब हमारे मित्र लोग आएँ तो उनके स्वागत-सत्कार के लिए हमारे कमरे हर वक्त खाली रहें। हमें यह बात निश्चय कर लेनी चाहिए कि हम किसी एक की उपासना करें—ईश्वर की अथवा शैतान की। दोनों की उपासना करना असंभव है। यदि हमें ईश्वर की उपासना करनी है, तो हम विलासिता और इस सभ्यता का भी परित्याग करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए और इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर उनको फिर अपना लेंगे, लेकिन सर्व-साधारण के सम्मिलित और समान रूप से काम लाने के लिए ही।

सबसे अधिक लाभकारी सामाजिक व्यवस्था (आर्थिक हो अथवा अन्य किसी प्रकार की) वह है जिसमें प्रत्येक मनुष्य सब लोगों की भलाई का ध्यान रखता है और बिना किसी अपवाद के उसी भलाई में अपनी शक्ति लगा देता है। यदि हरएक आदमी की तबीयत का झुकाव इस ओर हो जाए, तो प्रत्येक मनुष्य को अधिक-से-अधिक लाभ की प्राप्ति हो सकती है।

सबसे अधिक हानिकर संगठन (आर्थिक अथवा अन्य किसी प्रकार का) वह है जिसमें मनुष्य केवल अपने ही लिए काम करता है, केवल अपने ही ऊपर निर्भर रहता है और अपने ही लिए चीजों की व्यवस्था करता है। यदि सब लोग ऐसा ही करने लग जाएँ और यदि कौटुंबिक संघ भी न हो कि जिनमें लोग दूसरे के लिए काम करते हैं, तो मैं नहीं समझता कि लोग जीवित रह सकेंगे।

तथापि, लोगों में दूसरों की भलाई की यह उत्कृष्ट अभिलाषा नहीं है। इसके प्रतिकूल, हरएक आदमी दूसरों को नुकसान पहुँचाकर भी अपनी भलाई के लिए प्रयत्न करता रहता है। परंतु यह व्यवस्था इतनी हानिकर है कि लोग इस संग्राम में बहुत शीघ्र निर्बल पड़ जाते हैं। और तब स्वभावतः एक मनुष्य दूसरों पर अपना अधिकार जमा लेता है और उन्हें इस बात के लिए विवश करता है कि वे उसकी सेवा करें। इसका परिणाम यह होता है कि अहितकर व्यक्तिगत परिश्रम के बदले, जिससे कोई फायदा नहीं होता, सब मनुष्य अधिक लाभप्रद काम करने लग जाते हैं।

परंतु लोगों के इस प्रकार के संघटनों में विषमता और अत्याचार ही दिखलाई पड़ते हैं। और इसलिए लोग समानता स्थापित करने (जैसे सहयोग-समितियों और साम्यवादी सभाओं आदि की स्थापना करना इत्यादि) और मनुष्यों की स्वतंत्रता (जैसे राजनीतिक अधिकार आदि) दिलाने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। समानता स्थापित करने का परिणाम हमेशा यह होता है। परिश्रम करनेवालों को हानि पहुँचती है। परिश्रम के फल का समान विभाजन करने के लिए अच्छा-से-अच्छा काम करनेवाला

श्रमजीवी खराब-से-खराब श्रमजीवी के बराबर कर दिया होता है। इस्तेमाल की चीजें इस प्रकार विभाजित की जाती हैं कि किसी भी मनुष्य को दूसरे से अधिक अथवा अच्छी चीजें न मिल सकें, जैसा कि जमीन के बँटवारे में किया जाता है; और यही कारण है कि जमीन बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटती जा रही है, जिससे सर्व-साधारण को हानि पहुँच रही है। राजनीतिक अधिकारों के द्वारा अत्याचारों से मुक्ति पाने के प्रयत्न से लोगों में और अधिक जोश और द्वेष-भाव फैलता है। इस प्रकार लोगों में समानता स्थापित करना और अत्याचारों से लोगों की मुक्ति करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं, यद्यपि उनमें अभी तक कोई भी सफलता प्राप्त नहीं हुई है। किंतु एक-तंत्रवाद (किसी एक मनुष्य का अधिक-से-अधिक मनुष्यों को अपनी अधीनता में बनाए रखने की प्रथा) दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है। जितना ही अधिक परिश्रम का केंद्रीकरण होता जाएगा उतना ही अधिक लाभ होगा, परंतु असमानता भी उतनी ही अधिक दृढ़ता और भयंकरता धारण करती जाती है।

तो फिर ऐसी दशा में क्या होना चाहिए? व्यक्तिगत परिश्रम से कोई लाभ नहीं; सामूहिक परिश्रम अधिक लाभप्रद है, परंतु असमानता और अत्याचार बड़ी ही भयंकर वस्तु है।

साम्यवादी लोग संसार की सारी संपत्ति (पूँजी) को समस्त राष्ट्र अर्थात् मानव-समाज की संपत्ति बनाकर इस असमानता और अत्याचार को मिटाना चाहते हैं, जिससे क्रेंद्रीभूत श्रमजीवी समाज स्वयं मानव-समाज बन जाएगा। परंतु पहले तो केवल मनुष्य-समाज ही नहीं किंतु संसार के सारे राष्ट्र भी अभी इसकी आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते और जब तक वे इसे स्वीकार न करेंगे तब तक इस प्रथा को सारा मनुष्य समाज स्वीकार नहीं कर सकता। दूसरे उन लोगों में, जिनमें प्रत्येक मनुष्य केवल अपने ही व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए प्रयत्न करता रहता है, ऐसे मनुष्यों का मिलना असंभव होगा जो अपनी शक्ति का अनुचित लाभ उठाए बिना निःस्वार्थ भाव से मनुष्य-समाज की संपत्ति का उचित प्रबंध कर सकें—ऐसे लोग, जो फिर से संसार में असमानता और अत्याचार के जन्मदाता न बन जाएँ।

इसलिए मानव-समाज के सामने एक विकट समस्या उपस्थित हो जाती है—यह कि या तो परिश्रम के केंद्रीकरण से आविर्भूत इस अप्रगति का वह परित्याग कर दे—समानता को भंग करने अथवा अत्याचारों को होने देने की अपेक्षा पीछे हट जाए—या साहस के साथ यह बात स्वीकार कर ले कि असमानता और अत्याचार अवश्य रहेंगे। जब लकड़ी काटी जाएगी तो इधर-उधर खपाचें जरूर फैलेंगी, ऐसे लोग तो हमेशा रहेंगे जो दूसरों का शिकार बने रहें, और आपस में लड़ते-झगड़ते रहना तो मानव-समाज का धर्म है। इस विचार को थोड़े-से लोग मानते भी हैं और

उसका समर्थन भी करते हैं। परंतु इसी के साथ-साथ, जिन लोगों की संपत्ति छीन ली गई हैं, जिनके ऊपर अत्याचार किए गए हैं और जो लोग इस प्रथा के विरोधी और उससे द्वेष रखनेवाले हैं, वे और भी अधिक इसका विरोध करते रहेंगे, चीखते और चिल्लाते रहेंगे और ईसा मसीह, सत्य एवं धर्म के नाम पर उस आदर्श के प्रति नफरत के नारे बुलंद करते रहेंगे, जिसको कि हमारे समाज ने हाकिमाना ढंग पर स्वीकार किया है।

परंतु यह बात एक बच्चे की भी समझ में आ सकती है कि यदि हरएक आदमी ऐसे काम करने लग जाए जो सर्व-साधारण के लिए हितकारी है, और इसलिए उसके भोजन-वस्त्रादि की भी उसी प्रकार व्यवस्था की जाए मानो वह इतने बड़े कुटुंब का एक व्यक्ति हो अर्थात् उसे भी अन्य लोगों की तरह भोजन और वस्त्रादि दिए जाएँ, तो इससे सब लोगों को अधिक-से-अधिक लाभ पहुँच सकता है। लेकिन चूँकि समाज के अंदर ऐसा रिवाज नहीं है, चूँकि मनुष्य की आत्मा में प्रविष्ट होकर उसको अपने वश में करना असंभव है, और चूँकि हरएक आदमी को इसके लिए राजी करना भी असंभव है अथवा इसमें बहुत समय लगेगा, इसलिए केवल एक मार्ग शेष रह जाता है। यह कि अधिकांश लोगों को थोड़े-से मनुष्यों की अधीनता में रखे जाने के परिणामस्वरूप परिश्रम के केंद्रीकरण में सहायता की जाए, और इसी के साथ-साथ जिन लोगों की संपत्ति हरण कर ली गई है उनसे उस असमानता को छिपाया जाए, जो उनमें और धन-धान्य-संपन्न मनुष्यों में है, उनके हमलों को बचाया जाए, और पीड़ितों की सहायता की जाए तथा उन्हें दान दिया जाए। यह बात हो रही है; परंतु पूँजीवाद दिन-पर-दिन बढ़ता ही जाता है, और असमानता एवं अत्याचारों की भयंकरता भी बढ़ती जाती है। इसी के साथ-साथ लोगों में जागृति भी बड़ी तेजी के साथ होती जा रही है और इस असमानता तथा अत्याचारों की निष्ठुरता अथवा क्रूरता की बात लोगों पर (पीड़ितों और पीड़कों दोनों पर) अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही है।

इस संबंध में आगे कोई और उन्नति अथवा सुधार करना असंभव है। इसलिए जो लोग सोचते कम हैं, जो किसी बात के तर्कयुक्त परिणाम को नहीं देखते, वे इसके लिए कल्पित उपाय बताया करते हैं। वे कहते हैं—लोगों में इस शिक्षा का प्रचार किया जाए कि अधिकाधिक लाभ के लिए लोगों को परस्पर मिल-जुलकर रहना आवश्यक है। पर यह बात तो बिल्कुल वाहियात है। यदि लोगों का उद्देश्य अधिक-से-अधिक लाभ की प्राप्ति करना है, तो इस राजकीय संगठन में मनुष्य अपने लिए इस लाभ और सुविधा की प्राप्ति अवश्य करेंगे। इसलिए ऐसे प्रयत्नों का परिणाम सिवाय बातों के और कुछ भी नहीं होता।

समाज का ऐसा संगठन, जिससे सर्व-साधारण को लाभ पहुँच सकता है, उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य लाभ अथवा पार्थिव कल्याण रहेगा; सर्व-साधारण के लिए लाभकारी संगठन तो तभी हो सकता है जब समस्त मनुष्य-समाज का लक्ष्य वह कल्याण हो जिसका इस सांसारिक सुख-समृद्धि से कोई संबंध नहीं है—जब प्रत्येक मनुष्य अपने हृदय से यह कहने लग जाएगा—"निर्धनों का ही जीवन सुखमय और धन्य है; वे लोग सच्चे सुखी और भाग्यवान हैं जो रोते हैं, जो सताए जाते हैं।" केवल उसी समय जब प्रत्येक मनुष्य पार्थिव (भौतिक) कल्याण का नहीं वरन् आध्यात्मिक कल्याण (सुख) का अन्वेषक होगा जो एकमात्र त्याग से ही प्राप्त हो सकता है और जिसे सत्य प्रमाणित करने का साधन भी त्याग है—केवल उसी समय सारे मनुष्य-समाज का अधिक से-अधिक कल्याण हो सकता है।

एक इसी साधारण उदाहरण को लीजिए। लोग साथ-साथ रहते हैं। यदि वे लोग बराबर सफाई बनाए रहें, अपने इर्द-गिर्द सफाई रखें और अपनी तमाम चीजों को साफ-सुथरा रखें, तो सार्वजनिक सफाई के लिए प्रत्येक मनुष्य को बहुत थोड़ा परिश्रम करना पड़ेगा। परंतु प्रत्येक मनुष्य अपनी चीजों और अपनी जगह की सफाई बनाए रखने का आदी बना रहता है; तो फिर जो मनुष्य सारी जगह साफ रखना चाहता है, उसे क्या करना चाहिए? उसे सब लोगों के लिए काम करना पड़ेगा, गर्द-गुबार से अपना शरीर मैला करना पड़ेगा। यदि वह ऐसा न करेगा, केवल अपने ही लिए काम करेगा, तो उसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति न हो सकेगी। इसमें संदेह नहीं कि दूसरों को हुक्म देना आसान है; परंतु कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो इस प्रकार लोगों को हुक्म दे सके। इसलिए केवल एक ही मार्ग शेष रह जाता है—प्रत्येक मनुष्य का दूसरों के लिए काम करना!

वास्तव में एक ऐसे संसार के अंदर, जहाँ सब लोग स्वार्थमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, दूसरों के लिए जीवित रहने लगना किंचित् असंभव है, मनुष्यों को तो पूरेतौर पर आत्म-विस्मरण कर देना होगा। यही बात है जिसका महात्मा मसीह की उपदेश-चंद्रिका से प्रकाशित हृदय अभिलाषी है।

क्या कारण है कि इस पृथ्वीतल के ऊपर स्थापित इश्वरीय साम्राज्य न तो वर्तमान राजकीय बल-प्रयोग के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, न क्रांति अथवा राजकीय साम्यवाद के द्वारा और न उन उपायों द्वारा ही उसकी प्राप्ति हो सकती है, जो ईशु-धर्मानुयायी साम्यवादियों की ओर से बतलाए गए हैं—अर्थात् प्रचार-कार्य तथा लोगों में क्रमशः इस भावना की वृद्धि कि सेवा-भाव से लाभ की प्राप्ति होगी?

जब तक मनुष्य का लक्ष्य अपने व्यक्तिगत जीवन की भलाई रहेगा तब तक कोई भी मनुष्य अपना मुनासिब हिस्सा मिल जाने पर भी अपनी भलाई के लिए किए जानेवाले प्रयत्नों से अपने-आपको रोक नहीं सकता—वह उस समय भी अपने-आपको नहीं रोक सकता जब लोगों की ओर से ऐसी माँगें पेश की गई हों जिनमें सर्व-साधारण की भलाई है। इसका कारण एक तो यह है कि इन माँगों में पूर्ण न्याय की बात का पाना असंभव है—लोग हमेशा अपनी माँगों को बढ़ाकर पेश किया करते हैं। दूसरे, यदि न्यायपूर्ण माँग का पैमाना मिलना संभव भी हो, तो भी मनुष्य उन बातों की माँग पेश नहीं कर सकता जो केवल न्यायपूर्ण है। क्योंकि यह कभी उन्हें पा न सकेगा वरन् हमेशा उनसे कम ही पाएगा। चूँकि उसके इर्द-गिर्द रहनेवाले मनुष्यों की माँगों का नियंत्रण न्याय से नहीं वरन् व्यक्तिगत लाभ (जाती फायदा) से होता है, इसलिए यह बात स्पष्ट है कि वस्तुत: प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताओं की प्राप्ति अपनी न्यायोचित माँग पेश करने की अपेक्षा प्रतिस्पर्धा एवं अपने व्यक्तिगत उद्योग से ही हो सकती है (जैसा कि आजकल हो रहा है)।

जब तक लोग अपनी व्यक्तिगत भलाई के लिए प्रयत्न करते रहेंगे तब तक न्याय की प्राप्ति के लिए ऐसे लोगों की आवश्यकता है जो सांसारिक वस्तुओं के उचित परिमाण निश्चित कर सकने में समर्थ हों, जो न्यायानुसार प्रत्येक मनुष्य के हिस्से में पड़नी चाहिए। ऐसे लोगों की भी आवश्यकता है जिनके हाथ में शक्ति हो, और वे उन आदमियों को रोक सकें जो अपने मुनासिब हिस्से से ज्यादा का उपयोग कर रहे हैं। ऐसे आदमी हैं और हमेशा से रहे हैं जिन्होंने इन दोनों बातों का बीड़ा उठा लिया है। वे हमारे शासक लोग हैं। परंतु इस समय तक एकतंत्र अथवा प्रजातंत्र राज्यों में ऐसे लोग नहीं पाए जाते जिन्होंने सांसारिक वस्तुओं की मर्यादा निश्चित करने में तथा लोगों में उनका उचित वितरण करने में अपने अधिकार का अनुचित प्रयोग करके एवं अपने तथा अपने सहायकों के हित के लिए इस मर्यादा का उल्लंघन करके उस काम का सत्यानाश न कर दिया हो जो उनके सुपुर्द किया गया था और जिसके करने का उन्होंने बीड़ा उठाया था। इसलिए इस उपाय को तो सब लोगों ने असंतोषजनक स्वीकार कर लिया है। अब कुछ लोगों का कहना है कि इन सरकारों का अंत करके उनके स्थानों पर दूसरे प्रकार की सरकारें स्थापित करना आवश्यक है। इन नई सरकारों का मुख्य काम है हमारे आर्थिक मामलों का निरीक्षण करना। वे इस बात को स्वीकार करें कि संसार की सारी संपत्ति (पूँजी) और ज़मीन जनता की सम्मिलित संपत्ति है। वे लोगों के परिश्रम की व्यवस्था करें और उनके परिश्रम के अनुसार—(अथवा, जैसे कि कुछ लोगों का कहना है, उनकी आवश्यकतानुसार) लोगों में सांसारिक सुख-समृद्धि की वस्तुओं का वितरण करें।

इसी प्रकार के संगठन के लिए अब तक जितने प्रयत्न किए गए हैं, वे सब निष्फल रहे। परंतु इस प्रकार के प्रयोगों के बिना भी यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि जो लोग अपनी व्यक्तिगत भलाई के लिए ही प्रयत्न करते हैं, उनसे ऐसे संगठन के उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि वे लोग—उनमें से अधिकतर, लोग—जो अर्थ-संबंधी मामलों की देख-रेख करेंगे, ऐसे ही आदमी होंगे, जो अपनी व्यक्तिगत भलाई के लिए ही व्यग्र रहते हैं और उसी के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। उन्हें काम भी ऐसे आदमियों से रहेगा, जो उनके समान होंगे, इसलिए नवीन आर्थिक व्यवस्था का संगठन करने और उसे कायम रखने में वे अवश्यमेव उसी प्रकार अपने स्वार्थ की सिद्धि करेंगे जिस प्रकार उनसे पहलेवाले प्रबंधक और शासक लोग करते थे, और इस प्रकार जो काम उनको सुपुर्द किया गया था, उसके मतलब को भी खत्म कर देंगे।

कुछ लोग कहेंगे—"इसके लिए ऐसे आदमियों को ढूँढ़ो जो बुद्धिमान और शुद्ध अंतःकरण के हों" परंतु सिवाय बुद्धिमान एवं शुद्ध अंतःकरणवाले मनुष्यों के अन्य कोई भी मनुष्य बुद्धिमान और शुद्ध अंतःकरणवाले मनुष्य को ढूँढ़ सकता और यदि सभी मनुष्य बुद्धिमान और पवित्र होते तो किसी संगठन की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, इसलिए क्रांतिकारी साम्यवादियों की ओर से जो कुछ भी कहा जाता है वह अव्यवहार्य और असंभव है। यह बात सब लोगों की और स्वयं उनकी समझ में आ जाती है। यही कारण है कि यह बात समयानुकूल नहीं रह गई है और उसमें अब तक न कोई सफलता प्राप्त हुई है और न उसके प्राप्त होने की कोई आशा रह गई है।

अब हम, तीसरे, ईसाई साम्यवादियों के उपदेश को लेते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि लोगों के अंतःकरण पर प्रभाव डालनेवाली बातों का प्रचार किया जाए। लेकिन जैसा कि बिल्कुल स्पष्ट है, इस उद्देश्य के अनुसार कार्य करने से तभी सफलता मिल सकती है; जब सब साफतौर से हिल-मिलकर परिश्रम करने के लाभ को समझ लेंगे, और जिस समय यह जागृति सब लोगों में समान रूप से फैल जाएगी। लेकिन चूँकि यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि इनमें से कोई भी बात नहीं हो सकती, इसलिए वह आर्थिक संगठन सफल नहीं हो सकता, जिसका निर्माण प्रतिस्पर्धा एवं जीवन-संघर्ष के ऊपर नहीं वरन् सार्वजनिक हित की दृष्टि से किया गया हो।

इसलिए जब तक मनुष्य का लक्ष्य स्वार्थ (अपनी व्यक्तिगत भलाई) रहेगा, तब तक वर्तमान संगठन से अच्छा कोई भी संगठन नहीं हो सकता।

ईसाई साम्यवाद का उपदेश करनेवाले यह गलती करते हैं कि वे अपने धर्म-ग्रंथ से सार्वजनिक भलाई-संबंधी वे ही नतीजा निकालते हैं जो वास्तव में इंजील का लक्ष्य नहीं है, बल्कि इसके प्राप्त करने के साधनों के सही होने की सिर्फ एक

तस्दीक ही है। इंजील (बाइबिल) में यह बतलाया गया है कि जीवन का मार्ग क्या है और होता यह है कि इसी मार्ग के ऊपर चलने से मनुष्य को अनायास ऐहिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति भी हो जाती है। प्राप्ति जरूर हो जाती है, परंतु बाइबिल का लक्ष्य केवल यह नहीं है। यदि इंजील की शिक्षा का उद्देश्य केवल ऐहिक सुख-समृद्धि ही होता तो इसकी प्राप्ति न हो सकती।

उसका लक्ष्य इससे कहीं बड़ा और ऊँचे दर्जे का है। इस शिक्षा का लक्ष्य पार्थिव सुख-समृद्धि नहीं किंतु आत्मा, अर्थात् शरीरस्थ ईश्वरीय तत्त्व का मोक्ष है। इस मोक्ष की प्राप्ति स्वार्थमय वैयक्तिक जीवन का, और इसलिए सांसारिक सुख-समृद्धि का भी त्याग करके और अपने पड़ोसियों की सुख-समृद्धि तथा भलाई के लिए प्रयत्न करके, उनके साथ प्रेम करने से ही हो सकती है। और केवल इसी प्रकार के उद्योग से मनुष्यों को सबसे बड़े और उत्तम सुख—पृथ्वी-तल पर ईश्वर के साम्राज्य—की प्राप्ति हो सकती है।

अपनी व्यक्तिगत सुख-समृद्धि के लिए प्रयत्न करते रहने से न तो व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति हो सकती है और न सार्वजनिक सुख की। आत्मा-विस्मरण कर देने (अपने-आपको भुला देने) और अपनी समस्त स्वार्थमयी प्रवृत्तियों का त्याग कर देने से ही व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक दोनों प्रकार की सुख-समृद्धि प्राप्त हो सकती है।

सिद्धांत-रूप में, मानव-समाज का संगठन तीन प्रकार से हो सकता है। प्रथम तो यह कि संसार के सर्वोत्कृष्ट मनुष्य जनता के लिए ऐसे कानून की व्यवस्था करें जिससे समाज का अधिकाधिक कल्याण होने की संभावना हो और अधिकारी लोग इस कानून का पालन करने के लिए सब लोगों को मजबूर करें। इसकी परीक्षा हो चुकी है; परंतु इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकारियों ने, उन लोगों ने जिनके हाथ में इस कानून के पालन करने का काम दिया गया था, अपने अधिकारियों का दुरुपयोग किया और इस कानून को तोड़ा। केवल उन्होंने ही नहीं वरन् उनके सहायकों और सहकारियों तक ने, जो अच्छी तादाद में हैं, उसका मनमाना दुरुपयोग किया। इसके बाद एक दूसरी योजना सामने आई—जिसका भाव यह है कि अधिकारियों की कोई आवश्यकता नहीं है। बल्कि यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी व्यक्तिगत भलाई को ही लक्ष्य मानकर कार्य करे तो न्यायानुसार कार्य हो सकता है। परंतु इसे भी सफलता नहीं मिली। इसके दो कारण हैं, एक तो यह कि सत्ता का अंत नहीं हुआ, और दूसरे यह कि लोगों का खयाल है कि इसका अंत किया भी नहीं जा सकता, क्योंकि अत्याचार बराबर होते ही रहेंगे। इसका कारण यह है कि सरकार डाकुओं को पकड़ने में अपने अधिकार का प्रयोग करने से इनकार कर देगी और डाकू लोग भी अपने काम से बाज न आएँगे। जब तक अधिकारी बने रहेंगे तब तक सुख-

समृद्धि के लिए संग्राम करनेवाले मनुष्यों की दशा में असमानता बनी ही रहेगी। केवल इसलिए नहीं कि कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक बलवान् हैं, किंतु इसलिए भी कि लोग इस संग्राम में अधिकारी वर्ग से सहायता लेते रहेंगे। दूसरे, अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए किए जानेवाले इस निरंतर संग्राम में किसी मनुष्य का थोड़ा-सा भी लाभ उसे कई गुना लाभ पहुँचा देता है और इसलिए असमानता का उत्पन्न हो जाना और उसका बढ़ जाना अनिवार्य हो जाता है। एक तीसरा विचार भी शेष रह जाता है; यह कि लोग यह समझ जाएँ कि दूसरों की भलाई के लिए जीवित रहना अत्यंत लाभदायक है, और वे सब इसी के अनुसार कार्य करने में लग जाएँ। ईसाई-मजहब भी इसी बात की शिक्षा देता है। प्रथम तो इस विचार को कार्य-रूप में परिणत करने में किसी प्रकार की कोई बाहरी रुकावट नहीं पड़ सकती। चाहे सरकार के पास पूँजी आदि और संपूर्ण वर्तमान संगठन हो अथवा न हो, लोगों के विचार में क्रांति हो जाने से इस उद्देश्य की सिद्धि अवश्य हो जाएगी। दूसरे इस कार्य को आंरभ करने के लिए किसी मनुष्य को किसी समय-विशेष की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रत्येक ऐसा मनुष्य, जिसके जीवन-संबंधी विचारों में यह परिवर्तन हो गया है और जिसने अपना सारा जीवन दूसरों की भलाई के लिए ही अर्पण कर दिया है, आंरभ से ही इन लोक-हित के कामों में सहायता करने लग जाता है। और तीसरे जिस समय से हमको मनुष्य-जीवन के संबंध में कुछ भी मालूम हुआ है उसी समय से यह बात होती चली आती है।

साम्यवादियों का कहना है—"इस संस्कृति और सभ्यता की वस्तुओं का उपभोग करनेवाले हम लोगों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम इनके उपभोग से वंचित कर दिए जाएँ और अपने जीवन को एक जन-साधारण के जीवन-जैसा बना लें। परंतु जो लोग इस समय पार्थिव सुख के साधनों से वंचित कर दिए गए हैं, उन्हें उठाकर हमारे बराबर कर दिया जाए और इस संस्कृति एवं सभ्यता से प्राप्त होनेवाले सुखोपभोग की सामग्री में उन्हें हिस्सेदार बना दिया जाए। इस काम को पूरा करने का साधन विज्ञान है। विज्ञान हमें इस बात की शिक्षा देता है कि हम प्रकृति को अपने वश में कैसे कर सकते हैं; इससे प्रकृति की उत्पादन-शक्ति अनिश्चित सीमा तक बढ़ाई जा सकती है; विद्युत-शक्ति के द्वारा वह जल-प्रपात, नदियों और प्रबल वायु के झोंकों आदि को काम में ला सकता है। सूर्य अपना काम करेगा ही। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए हरएक वस्तु की इफरात रहेगी। इस समय केवल थोड़े-से मनुष्य, जिनके हाथ में शक्ति है, सभ्यता की इन बरकतों से फायदा उठाते हैं; जबकि बाकी आदमी उनसे सर्वथा वंचित रहते हैं। इस भलाई का क्षेत्र और भी विस्तृत

बनाइए, और तब वह सब लोगों के लिए पर्याप्त हो जाएगी।" परंतु असल बात तो यह है कि जिन लोगों के हाथ में शक्ति है, वे बहुत समय से केवल उन्हीं वस्तुओं का उपभोग करते नहीं चले आते हैं जिनकी उन्हें आवश्यकता है, वरन् उन वस्तुओं का भी कि जिनकी उन्हें कोई जरूरत नहीं है। वे जो कुछ भी पाते हैं चट कर जाते हैं। इस कारण सुखोपभोग के पदार्थों की मात्रा कितनी ही क्यों न बढ़ जाए, लोगों के लिए कितनी ही सुविधाएँ क्यों न कर दी जाएँ, जो लोग सबके ऊपर हैं—अधिकारी वर्ग—वे उन सारी वस्तुओं को अपने अधिकार में कर लेंगे।

कोई भी मनुष्य आवश्यक वस्तुओं का एक निश्चित मात्रा से अधिक उपयोग नहीं कर सकता, पर विलासिता की वस्तुओं की कोई सीमा नहीं है। हजारों-लाखों मन रोटी घोड़ों और कुत्तों को खिला दी जा सकती है; करोड़ों एकड़ जमीन में पार्क और टेनिस-लॉन इत्यादि बनाए जा सकते हैं, जैसा कि इस समय हो रहा है। इसलिए उत्पादन-शक्ति तथा धन की वृद्धि से निम्न श्रेणी के लोगों की सुख-समृद्धि में अणु-मात्र भी वृद्धि उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कि उच्च श्रेणी के लोगों के हाथ में शक्ति है, और बचे हुए धन को विलासिता की वस्तुओं में व्यय करने की उनमें इच्छा है, इसके विपरीत, उत्पादन-शक्ति की वृद्धि से, तो प्राकृतिक शक्तियों के ऊपर अधिकार पा जाने के कारण उच्च श्रेणी के लोगों को, जिनके हाथ में अधिकार या शक्ति है, और भी अधिक शक्ति की प्राप्ति होती है—जिसके द्वारा वे निम्न श्रेणी के इन श्रमजीवियों के ऊपर अपना अधिकार बनाए रख सकें।

और जब इन निम्न-श्रेणी के श्रमजीवियों की ओर से अमीरों के साथ हिस्सा बँटाने का प्रयत्न किया जाता है—जिस समय क्रांतिकारी आंदोलन और हड़ताल किए जाते हैं—उस समय लड़ाई-झगड़ा उठ खड़ा होता है जिसमें धन का व्यय व्यर्थ होता है। लड़नेवाले लोग कहते हैं—"यदि मुझे नहीं मिलता है तो और किसी को क्यों मिले?"

प्रकृति के ऊपर विजय प्राप्त करने और सांसारिक संपत्ति को इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न करने का प्रयत्न, जिससे संसार में इसकी कहीं पर भी कमी न रह जाए और सब जगह काफी इफरात हो जाए, ताकि प्रत्येक मनुष्य को अपना-अपना हिस्सा मिल सके, ऐसा ही मूर्खतापूर्ण है जैसा कि एक खुले मकान में गर्म करने के लिए चूल्हा जलाना है। आप आग को चाहे जितना ही बढ़ाएँ, ठंडी हवा आकर फिर फौरन उसकी जगह ले लेगी; और इस प्रकार उस मकान में सब जगह बराबर गर्मी नहीं पहुँच सकेगी। जब तक ठंडी हवा आती और गर्म हवा बाहर जाती रहेगी तब तक ऐसा ही रहेगा।

अब तक जिन तीन उपायों का आविष्कार हुआ है, उनके संबंध में यह कहना कठिन है कि इनमें से सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण कौन-सा है—क्योंकि वे सभी एक-से मूर्खतापूर्ण हैं।

इनमें से पहला उपाय, जिसके आविष्कर्ता क्रांतिवादी लोग हैं, यह है कि उच्च श्रेणीवाले मनुष्य-समाज को मिटा दिया जाए जो सारे-का-सारा धन चट कर जाता है। यह उपाय वैसा ही है, जैसा किसी आदमी का इस खयाल से कि जब चिमनी न होगी तो गर्मी बाहर न निकलेगी, किसी चिमनी को तोड़ने लग जाना जिससे गर्मी बाहर निकल रही हो। लेकिन अगर गर्मी का रुख और रफ्तार वही है तो जो सूराख उस चिमनी की जगह पर रह गया है उससे भी गर्मी उसी तरह निकलती रहेगी जिस तरह कि चिमनी से निकलती थी। उसी प्रकार जब तक शासनाधिकार बना रहेगा तब तक धन भी उन्हीं लोगों के पास जाता रहेगा जिनके हाथ में शासनाधिकार रहेगा।

दूसरा उपाय, जिसको इस समय विल्हेम कैसर काम में लाने जा रहे हैं, यह है कि वर्तमान व्यवस्था में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन न किया जाए बल्कि उच्च-श्रेणीवालों से, जिनके हाथ में धन और शक्ति है, इस धन का एक थोड़ा-सा अंश ले लिया जाए और उसे दरिद्रता के इस अथाह गहरे गड्ढे में फेंक दिया जाए। (वह भूखों मरनेवाले इन दु:खी-गरीबों में बाँट दिया जाए) यह ऐसा ही है जैसा कि उस चिमनी के सिरे पर, जिसमें से होकर गर्मी निकल रही है, पंखे लगाकर नीचे की ओर वापस लाने के इरादे से निकलती हुई गर्मी को पंखों की मदद से नीचे उतारने की कोशिश करना है। यह एक ऐसा काम है, जो साफतौर पर कठिन और बेकार है, क्योंकि जिस समय गर्मी नीचे की ओर से ऊपर को चढ़ती है, उस समय चाहे जितना भी कोई उसे नीचे उतारने की कोशिश करे (और कोई मनुष्य ज्यादा नीचे गर्म हवा को उतार भी नहीं सकता) वह फिर फौरन ऊपर की ओर बढ़ जाएगी और सारी मेहनत बेकार हो जाएगी।

तीसरी और अंतिम उपाय वह है, जिसकी शिक्षा इस समय विशेष रूप से अमरीका में दी जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिस्पर्धापूर्ण और वैयक्तिक जीवन के स्थान में साम्यवाद के सिद्धांत का प्रचार किया जाए, ऐसे सिद्धांत का जिसमें एसोसिएशनों और को-आपरेशनों (सहयोग-समितियों) के कायम करने की बात बतलाई गई है। 'डॉन' और 'नेशनलिस्ट' नामक समाचार-पत्रों में इसको यों समझाया है कि वाचा और कर्मणा सहयोग की शिक्षा दी जाए, क्योंकि प्रतिस्पर्धा, व्यक्तिवाद और लड़ाई-झगड़े से अधिकाधिक शक्ति और इसके परिणामस्वरूप धन का क्षय हो रहा है। इसके बदले यदि इस सहयोग के सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपना सारा काम लोक-हितार्थ (सर्व-साधारण के लिए) करे और अंत में

सार्वजनिक संपत्ति में से अपना हिस्सा ले तो उससे प्रत्येक को कहीं अधिक लाभ पहुँच सकता है। यह सब बड़ा ही उत्तम है, परंतु इसमें सबसे बड़ी बुराई यह है कि प्रथम तो कोई भी मनुष्य यह नहीं जानता है कि जब सब चीजें बराबर बाँट दी जाएँगी, उस समय प्रत्येक मनुष्य का हिस्सा क्या होगा। इसके अलावा, हरएक आदमी का हिस्सा, चाहे कुछ भी हो जो लोग इस समय विलासितापूर्ण और अमीराना जिंदगी बसर करते हैं, उनके लिए वह अपर्याप्त (नाकाफी) ही मालूम होगा। "सब लोग सुखी एवं संपन्न होंगे, और तुम भी वैसे ही सुखी और संपन्न होंगे, जैसे कि दूसरे लोग।" "परंतु मैं बाकी आदमियों की तरह रहना नहीं चाहता, मैं उनसे अच्छी हालत में रहना चाहता हूँ। मैं हमेशा से दूसरों से अच्छी हालत में रहता आया हूँ और मैं ऐसे जीवन का आदी हो गया हूँ।"—"और मैं, मैं तो मुद्दतों से सब लोगों से खराब हालत में रहता आया हूँ, और अब मैं उसी तरह रहना चाहता हूँ जिस तरह दूसरे लोग रहते हैं।" यह उपाय सबसे निकृष्ट उपाय है, क्योंकि इसमें यह समझने की भूल की गई है कि जबकि सभी अच्छे जीवन की कोशिश कर रहे हैं कुछ लोगों से संयम की आशा की जा रही है।

एकमात्र उपाय तो यह है कि लोगों पर उनके सच्चे हित की बात प्रकट कर दी जाए, और उन्हें यह दिखला दिया जाए कि धन एक बहुत बड़ी बरकत नहीं किंतु लोगों को उनसे उनकी सच्ची भलाई की बात छिपाकर, अपने हित से विमुख रखनेवाली वस्तु है।

इसका केवल एक ही उपाय है और वह यह कि सांसारिक इच्छाओंरूपी छिद्र को बंद कर दिया जाए। केवल इसी से उष्णता का समान वितरण हो सकेगा। पैदावार को बढ़ाने का प्रयत्न करने और इस प्रकार सार्वजनिक संपत्ति की वृद्धि करने से सर्व-साधारण का कल्याण नहीं हो सकता। आग में कहीं घी डालने से आग बुझती है?

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।"

अराजकता

अराजक लोगों का यह कथन पूर्णतया ठीक है कि वर्तमान व्यवस्था को नहीं मानना चाहिए, क्योंकि इस समय जैसी दुर्व्यवस्था और गड़बड़ी फैली हुई है, अधिकारी-वर्ग के न रहने पर उससे अधिक दुर्व्यवस्था और गड़बड़ी न होगी। उनका सिर्फ यह खयाल गलत है कि अराजकता की स्थापना केवल हिंसामय क्रांति के द्वारा हो

सकती है। अराजकता की स्थापना अवश्य होगी। किंतु उसकी स्थापना केवल उसी समय हो सकेगी, जब इस राजकीय शक्ति द्वारा अपनी रक्षा न चाहने वाले आदमियों की संख्या बढ़ेगी, जब ऐसे लोगों की संख्या बढ़ेगी जिन्हें इस शक्ति को काम में लाते लज्जा मालूम होगी।

"यह पूँजीपतियों का सारा संगठन श्रमजीवियों के हाथ में चला जाएगा, और उस समय श्रमजीवियों के ऊपर कोई भी अत्याचार न होंगे और कमाई का अनुचित (विषम) विभाजन भी न होगा।"

"लेकिन सवाल यह है कि उस समय काम की व्यवस्था कौन करेगा? उनका शासन किसके हाथ में होगा?"

"यह सब आप-से-आप होता रहेगा। श्रमजीवी लोग स्वयं हरएक बात का प्रबंध कर लेंगे।"

"लेकिन यह पूँजीपतियों का संगठन केवल इसलिए किया गया था कि प्रत्येक काम की व्यवस्था करने के लिए ऐसे व्यवस्थापकों की आवश्यकता है जिनके हाथ में कुछ शक्ति हो। पर जहाँ शक्ति होगी वहीं उसका दुरुपयोग भी होगा—वही बात जिसके मिटाने की तुम इस समय कोशिश कर रहे हो।"

इस प्रश्न का कि, बिना सरकार के बिना अदालतों के और बिना सेना के काम कैसे चलेगा, कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता; क्योंकि यह प्रश्न ही गलत है। समस्या यह नहीं है कि आजकल के आदर्श की अथवा किसी नवीन आदर्श की सरकार की स्थापना किस प्रकार की जा सकती है। न मैं और न हममें से कोई अन्य व्यक्ति इस प्रश्न का फैसला करने के लिए नियुक्त किया गया है।

पर तो भी हमारे लिए इस प्रश्न का उत्तर देना अनिवार्य है कि मेरे सामने हमेशा खड़ी रहनेवाली इस समस्या का मुकाबला मैं किस प्रकार करूँगा? क्या मुझे अपना अंत:करण उन कामों के हवाले कर देना चाहिए जो हमारे चारों ओर संसार में हो रहे हैं? क्या मुझे इस बात की घोषणा कर देनी चाहिए कि मैं उस सरकार के कामों से सहमत हूँ, जो गलती करनेवाले आदमियों को फाँसी पर लटका देती है, जो लोगों को कत्ल करने के लिए फौजें रखती और भेजती है, जो दुनिया की कौमों को अफीमखोरी तथा शराबखोरी में डालकर उनका सत्यानाश करती है? अथवा मुझे अपने सारे काम अपनी अंतरात्मा के आदेशों के अनुसार करने चाहिए? अर्थात् क्या मुझे उस सरकार के साथ किसी प्रकार का सहयोग करने से इनकार कर देना चाहिए जिसके सारे काम मेरी अंतरात्मा के विरुद्ध होते हैं?

इस प्रकार मनुष्यों के दिमाग में क्रांति होने पर उसका परिणाम क्या होगा? तब मौजूदा सरकारों के स्थान में कैसी सरकार की स्थापना होगी—यह मैं कुछ नहीं

जानता। इसलिए नहीं कि मैं उसे जानना ही नहीं चाहता, बल्कि इसलिए कि मैं उसे जान ही नहीं सकता। हाँ, मैं इतना जरूर जानता हूँ कि, यदि मैं विवेक और प्रेम अथवा विवेकशील प्रेम के उच्चादर्श पर, जो कि मुझमें जन्म से ही विद्यमान है, चलूँगा और अपने कामों को करता रहूँगा, तो इसका परिणाम बुरा न होगा। एक शहद की मक्खी अपनी अंत:प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करने और मर-मिटने के लिए अपने छत्ते से बाहर निकलकर शहद की अन्य मक्खियों के साथ समूह रूप से उड़ने को चली जाती है और उसका कोई बुरा परिणाम नहीं होता। ठीक इसी प्रकार मनुष्य को भी अपनी अंतरात्मा के आदेश के अनुसार चलना चाहिए। परंतु मैं यह फिर कहूँगा कि न मैं इसका फैसला करना चाहता हूँ और न कर ही सकता हूँ।

यह महात्मा का ईसा मसीह के उपदेशों की महत्ता और शक्ति है—यह नहीं कि ईसा ईश्वर अथवा एक महापुरुष थे। किंतु उनकी यह शिक्षा अखंडनीय है। उनके उपदेश का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने इस विषय को शाश्वत (निरंतर बने रहनेवाले) संदेह और अनुमान के साम्राज्य के निकालकर निश्चितता के धरातल तक पहुँचा दिया है। "तू एक मनुष्य है, एक बुद्धिमान और दयालु प्राणी है, और तू इस बात को जानता है कि ये गुण सर्वोत्कृष्ट हैं। इसके अतिरिक्त तू यह भी जानता है कि आज अथवा कल किसी-न-किसी दिन तू मरेगा, तुझे इस संसार को छोड़ना होगा। यदि कहीं पर ईश्वर है, तो तुझे उसके सामने जाना होगा, और वह तुझसे तेरे कामों का लेखा (हिसाब) माँगेगा। वह पूछेगा कि तूने उसकी आज्ञा (कानून) के अनुसार अपना कम-से-कम उन विशिष्ट गुणों के अनुसार कार्य किया है या नहीं जो उसने तुझमें उत्पन्न किए हैं। यदि कहीं ईश्वर नहीं है, तो तू बुद्धि और प्रेम को मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट गुण समझ और अब तू अन्य सारी वृत्तियों को उन्हीं के हवाले कर दे, उन्हें अपने पशु-स्वभाव की दासी न बनने दे—उन्हें जीवन-संबंधी वस्तुओं की चिंता की, दु:खादि के भय की और सांसारिक विपत्तियों की चेरी न बनने दे।"

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, प्रश्न यह नहीं कि कौन-सा समाज अधिक सुरक्षित होगा, अधिक अच्छी दशा में होगा—वह जिसकी रक्षा शस्त्र-बल की सहायता से, बड़ी-बड़ी तोपों-बंदूकों की सहायता से अथवा लोगों को फाँसी का भय दिखलाकर की जाती है, अथवा वह जिसकी रक्षा के लिए ऐसे कोई भी साधन नहीं हैं। परंतु मनुष्य के सामने केवल एक ही प्रश्न है और उस प्रश्न की उपेक्षा करना उसके लिए असंभव है, अर्थात् यह कि "क्या तू, जो एक बुद्धिमान और श्रेष्ठ प्राणी है, जो थोड़े-से समय के लिए इस संसार में आया है और जिसका किसी भी समय नाश हो सकता है, भूल (गलती) करनेवाले आदमियों अथवा किसी भिन्न जाति, कुटुंब अथवा संप्रदाय के मनुष्यों की हत्या में भाग लेना पसंद करेगा? क्या तू

समस्त असभ्य समझी जानेवाली जातियों को पृथ्वी-तल से मिटा देने में भाग लेना पसंद करेगा, क्या तू अपने लाभ के लिए अन्य जातियों को शराबखोरी और अफीमखोरी के दुर्व्यसनों में फँसाकर परम-पिता की संतान के कृत्रिम विनाश का कारण बनना पसंद करेगा? क्या तू इन सब कामों में हिस्सा लेना अथवा उन लोगों के साथ अपनी सहमति प्रकट करेगा जो इन कामों की इजाजत देते हैं अथवा तू इन सबसे अलग रहेगा?''

जिन लोगों के सामने यह प्रश्न उपस्थित है, उनके लिए इसका केवल एक ही उत्तर हो सकता है। इसका परिणाम क्या होगा, इस बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता, क्योंकि यह मेरे जानने की बात नहीं है। परंतु किया क्या जाना चाहिए यह बात मैं अवश्य जानता हूँ।

यदि तुम पूछो—''इसका अंत क्या होगा?'' तो इसका उत्तर मैं यह देता हूँ कि इसका अंत अच्छा अवश्य होगा; क्योंकि बुद्धि और प्रेम के बतलाए मार्ग पर चलने से मैं सबसे बड़े कानून के अनुसार कार्य कर रहा हूँ, जो मुझे ईश्वर से प्राप्त हुआ।

उन अधिकांश भद्र पुरुषों की स्थिति बड़ी ही भयंकर और निराशापूर्ण प्रतीत होती है, जिसके हृदय में सच्चे विश्व-बंधुत्व के भाव तो जागृत हो चुके हैं, पर जो इस समय पर-धनापहरण करनेवाले कलुषित आत्मा लोगों के कपट-जाल और मक्र-फरेब का शिकार हो चुके हैं, जो उन्हें अपना जीवन सत्यानाश करने के लिए विवश कर रहे हैं।

केवल दो मार्ग ही हमें दिखलाई पड़ते हैं और वे भी दोनों रुद्ध हैं। एक तो हिंसा या बल-प्रयोग, भय-प्रदर्शन, डाइनामाइट, बम और तलवार के जोर से नष्ट करना, जैसा कि हमारे 'निहलिष्टों' (रूस के नास्तिक) और अराजकों ने उद्योग किया है, अर्थात् सरकारों की ओर से भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के विरुद्ध किए जानेवाले षड्यंत्र का बाहर से नाश करना। दूसरा यह कि सरकार के साथ सुलहनामा कर लिया जाए, उसे कुछ सुविधाएँ प्रदान कर दी जाएँ, उसमें हिस्सा लिया जाए—अर्थात् उसके साथ सहयोग किया जाए, जिससे धीरे-धीरे उस पाश का ग्रंथि-विच्छेद किया जा सके जो लोगों को जकड़े हुए हैं, और वे स्वतंत्र किए जा सकें। पर ये दोनों मार्ग बंद हैं।

जैसा कि अनुभव से ज्ञात हुआ है, बम और तलवार के प्रयोग का परिणाम केवल उलटा होता है, उससे लाभ के बदले हानि होती है, सफलता का मार्ग रुंध जाता है और उस अधिक-से-अधिक कीमती शक्ति अर्थात् लोकमत का, जो हमारे हाथ में एकमात्र अस्त्र है, नाश हो जाता है।

दूसरा, सहयोग का, मार्ग इसलिए बंद है कि सरकारों ने यह बात पहले से ही समझ ली है कि किस हद तक ऐसे लोगों का हस्तक्षेप अथवा सहयोग स्वीकार करें, जो उनका सुधार करना चाहते हैं। वे केवल उसी हद तक सहयोग अथवा हस्तक्षेप बर्दाश्त कर सकती हैं जिससे उनके किसी काम में बाधा नहीं रहती है—पर जो बातें उनके लिए हानिकर हैं, उनमें वे सदैव सतर्क रहती हैं—इस कारण कि इसका संबंध स्वयं उनके अस्तित्व से है। वे अपने से भिन्न विचार अथवा मत रखनेवाले आदमियों को—ऐसे आदमियों को जो उनका सुधार चाहते हैं—केवल इसीलिए अपने यहाँ नहीं ले लेतीं कि वे इन आदमियों की माँगें पूरी करना चाहती हैं, बल्कि इसलिए भी कि इनमें इनका भी स्वार्थ है। ये लोग सरकारों के लिए बड़े ही खतरनाक साबित हों यदि वे बाहर रहें और उनके खिलाफ लोगों में बगावत फैलाएँ। उस चीज का सरकारों के विरुद्ध उपयोग करते रहें जो इन सरकारों के हाथ में एकमात्र साधन है—लोकमत। अतएव सरकारों को इन लोगों के लिए कुछ सुविधाएँ करके प्रलोभन देकर उन्हें निरस्त्र करना पड़ता है, जिससे वे उनको कोई हानि न पहुँचा सकें। फिर वे उनसे अपने स्वार्थ की सिद्धि करती हैं—अर्थात् उनसे प्रजापीड़न आदि में सहायता लेती हैं।

ये दोनों ही मार्ग बड़ी मजबूती के साथ बंद और दुर्गम कर दिए हैं, अब और कौन-सा मार्ग शेष रह जाता है ?

बल-प्रयोग से काम लेना असंभव है। इसका परिणाम उलटा ही होगा। सरकारी नौकरियों और पदों का स्वीकार करना भी असंभव है—इससे मनुष्य सरकार के हाथ की कठपुतली बन जाता है। इसीलिए केवल एक मार्ग ही अवशेष रह जाता है—विचारों से, वाणी से, कार्य से और अपनी सारी शक्ति लगाकर सरकार के साथ युद्ध करना—न उनकी अधीनता स्वीकार करना और न उसकी नौकरियों और पदों को स्वीकार कर उसकी शक्ति को बढ़ाना।

अकेले इसी एक बात की आवश्यकता है, और यही निश्चित सफलता का एकमात्र मार्ग है।

यही ईश्वर की आज्ञा है और महात्मा ईसा मसीह के उपदेश का यहाँ सार है।

इस समय हम उस स्थिति को पहुँच गए हैं जब एक शुद्ध-हृदय और बुद्धिमान मनुष्य किसी राज्य (सरकार) के कामों में किसी प्रकार का कोई हिस्सा नहीं ले सकता, अर्थात् (रूस का तो कहना ही क्या है) इंग्लैंड में भी जमींदारी की प्रथा से, बड़े-बड़े वस्तु-निर्माण करनेवाले कारखानों के मालिकों, पूँजीपतियों द्वारा किए जानेवाले कामों से, भारतवर्ष में प्रचलित प्रथाओं, अर्थात् कोड़ेबाजी, और अफीम के व्यापार आदि से, अफ्रीका की सारी-की-सारी कौमों को पृथ्वी-तल से मिटा देने के

लिए किए जानेवाले राक्षसी प्रयत्नों से, लड़ाइयों और लड़ाइयों के लिए की जानेवाली तैयारियों से सहमत नहीं हो सकता है।

जिस बात के आधार पर मनुष्य यह कहता है कि "मैं नहीं जानता कि सरकार क्या चीज है, और यह क्यों कायम है, और मैं इस बात को जानना भी नहीं चाहता; परंतु मैं यह बात जरूर जानता हूँ कि मैं अपने अंत:करण के विरुद्ध अपना जीवन नहीं बना सकता—"वह एक बहुत ही दृढ़ विचार है। इस समय के लोगों को चाहिए कि यदि वे अपने जीवन में कुछ भी उन्नति करना चाहते हैं तो वे इसके ऊपर दृढ़ रहें। मैं इस बात को जानता हूँ कि मेरा अंत:करण मुझे किस बात की आज्ञा देता है; रही तुम्हारी बात; सो हे राजपुरुषो, तुम राज्य की ऐसी व्यवस्था कर लो जैसी कि तुम चाहते हो, ताकि वह इस समय के मनुष्य के अंत:करण की माँग के बिल्कुल अनुकूल हो।"

परंतु लोग इस दुर्गम स्थान का परित्याग कर रहे हैं, सुधार के विचार से तथा सरकार के कामों में उन्नति करने के खयाल से वे उससे सहयोग करते हैं और इस प्रकार वे अपने अजेय और दुर्भेद्य स्थान से अलग हो जाते हैं।

सुधार के तीन तरीके

श्रमजीवियों की दशा सुधारने और लोगों में भ्रातृ-भाव स्थापित करने के तीन उपाय हैं :

1. लोगों से अपने लिए जबर्दस्ती काम न कराना; प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार उनसे काम करने को न कहना; ऐसी चीजों की आवश्यकता को कभी उत्पन्न न करना जिनके बनाने में विशेष परिश्रम की आवश्यकता है—ऐसी सभी वस्तुएँ विलासता की सामग्री हैं।
2. अपने लिए, तथा यदि संभव हो सके तो, दूसरों के लिए भी ऐसा करना, जो थका देनेवाला और रुचिकर हो।
3. जो वास्तव में एक उपाय नहीं किंतु दूसरे उपाय का परिणाम और उसका प्रयोग है, प्रकृति के नियमों का अध्ययन करना और परिश्रम घटानेवाले उपायों—कलों, वाष्प-शक्ति, विद्युत-शक्ति आदि का आविष्कार करना। सिर्फ आवश्यक वस्तुओं का ही (जिनमें कोई बात अनावश्यक और व्यर्थ नहीं है) आविष्कार केवल उसी समय मनुष्य कर सकेगा जब वह इन वस्तुओं के आविष्कार द्वारा स्वयं अपने परिश्रम को, अथवा कम-से-कम उस परिश्रम को घटाना चाहता है जिसका उसने स्वयं अनुभव किया है।

परंतु इस समय लोग केवल इस तीसरे उपाय को काम में लाने में व्यस्त हैं, और वह भी गलत तरीके पर, क्योंकि वे दूसरे उपाय से (जो ऊपर बतलाया गया है) बिल्कुल दूर रहते हैं। और फिर यही नहीं कि वे पहले और दूसरे उपाय को काम में लाने के लिए तैयार नहीं हैं, बल्कि वे उनकी बात भी सुनना नहीं चाहते। केवल एक ही क्रांति स्थायी हो सकती है, नैतिक क्रांति—अंतरात्मा का परिवर्तन।

वह क्रांति किस प्रकार हो? इस बात को कोई भी नहीं जानता कि मानव-समाज के अंदर इसका आविर्भाव कैसे होगा। परंतु प्रत्येक मनुष्य अपने अंदर इसका अनुभव स्पष्टरूप से करता है। फिर भी इस संसार में प्रत्येक मनुष्य मानव-जाति में परिवर्तन करने का ही विचार किया करता है। कोई यह नहीं सोचता कि अपने अंदर कैसे परिवर्तन किया जाए।

लोगों ने गुलामी की प्रथा तथा गुलामों के रखने के अधिकार को तो मिटा दिया, परंतु लोगों ने अपना अमीराना रहन-सहन बिना जरूरत दिन में चार-चार बार कपड़ों का बदलना, बड़े-बड़े आलीशान महलों में रहना, खान में दस तश्तरियों का लगना और घोड़ागाड़ियों तथा मोटरों-फिटनों आदि की सवारी इत्यादि को अब भी जारी रखा है। इन सारी चीजों का होना बिना गुलामों के रहे असंभव है। यह बात सब पर भलीभाँति प्रकट है। पर तो भी यह किसी को दिखाई नहीं पड़ता।

धर्म

धर्म का तत्त्व

लोग इस समय नाना प्रकार के दुःख इसलिए भोग रहे हैं कि अधिकांश जन-समाज धर्महीन जीवन व्यतीत कर रहा है। यहाँ धर्म शब्द से तात्पर्य उस धर्म से नहीं है जिसकी इतिश्री कुछ धार्मिक सिद्धांतों को मान बैठने, और कुछेक मनोरंजक धार्मिक विधि-नियमों का पालन कर लेने में ही हो जाती है, जिनसे अपने-आपको धैर्य और संतोष मिल जाता है और कुछ आत्मोत्साह भी बढ़ जाता है। यहाँ तात्पर्य ऐसे धर्म से है जो मनुष्य का संबंध ईश्वर के साथ स्थापित और दृढ़ करता है, और इसलिए मनुष्य के सारे कर्मों का एक उच्चादर्श के ऊपर सुचारु रूप से संचालन करता है, और जिसके बिना मनुष्य-जाति बिल्कुल पशुवत वरन् उससे भी हीन बनी रहती है। यह बुराई, जो मनुष्य-जाति को अधः-पतन के गहन गड्ढे की ओर खींचे लिए जा रही

है, जहाँ पर उसका नाश अनिवार्य है, इस समय अपनी विशेष शक्तियों के साथ प्रकट हुई है। क्योंकि जीवन में बुद्धि का पथ-प्रदर्शन न रहने तथा लोगों की शक्ति के मुख्यत: विज्ञान-संबंधी खोज और उन्नति में लग जाने के कारण मनुष्यों ने प्रकृति के ऊपर अतुल शक्ति प्राप्त कर ली है। परंतु इस शक्ति का उचित प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है, इस बात का कोई मार्गदर्शक न होने के कारण उन्होंने स्वभावत: उसका उपयोग अपनी पाशविक शक्तियों तथा इंद्रियों की तृप्ति करने में ही किया है।

धर्मविहीन होने के कारण ये मनुष्य प्रकृति के ऊपरी अतुल शक्ति प्राप्त होते हुए भी उन बालकों के समान हैं जिन्हें गोला-बारूद अथवा विस्फोटक पदार्थ खेलने के लिए दे दिए गए हों। इस शक्ति पर, जो कि इस समय के लोगों को प्राप्त है, तथा उस ढंग पर, जिस ढंग से वे उसका इस्तेमाल करते हैं, विचार करने पर यह मालूम होता है कि यदि उनके नैतिक विकास को दृष्टि में रखा जाए तो मनुष्यों को रेल, भाप, विद्युत शक्ति, टेलीफोन, फोटोग्राफी, बिना तार का तार आदि का ही नहीं वरन् लोहा और फौलाद बनाने की साधारण कला के भी इस्तेमाल का अधिकार नहीं है। उन्नति की इन सारी वस्तुओं तथा कलाओं का प्रयोग वे केवल अपनी काम-पिपासा बुझाने, आमोद और ऐय्यासी की जिंदगी बसर करने तथा एक-दूसरे का नाश करने में करते हैं।

तो फिर ऐसी दशा में होना क्या चाहिए? क्या जीवन में इन समस्त सुधारों का, उस सारी शक्ति का, जो मानव-जाति को प्राप्त हुई है, एकदम परित्याग कर दिया जाए? क्या उन सारी बातों को भुला दिया जाए तो मानव-जाति ने सीखी है? यह असंभव है। इन आविष्कारों का (जो मानसिक विकास का फल है) प्रयोग कितने ही हानिकारक ढंग से क्यों न किया गया हो, तो भी वे मनुष्य की प्राप्ति की हुई वस्तुओं और मानव-जाति के विकास के द्योतक हैं, और हम उन्हें भूल नहीं सकते। क्या भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के उस पारस्परिक संबंध को तोड़ दिया जाए जो शताब्दियों में स्थापित हो सका है, और उनकी जगह नए संबंध स्थापित किए जाएँ? क्या ऐसी नवीन संस्थाओं को जन्म दिया जाए जो बहुसंख्यक मनुष्य-समाज को रोक सकें? क्या ज्ञान के प्रचार की सलाह आप दे रहे हैं? ये सब बातें आजमाई जा चुकी हैं और इन्हें बड़े चाव और उत्साह के साथ किया भी जा रहा है। उन्नति के ये समस्त कल्पित उपाय अपने-आपको परेशानी में डालने और निश्चित नाश की ओर से ध्यान को हटाने के मुख्य उपाय हैं। राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन हो गया है, संस्थाएँ बदल गई हैं, ज्ञान का भी खूब प्रचार हो गया है; परंतु दूसरी सीमाओं के अंदर दूसरी संस्थाओं के साथ, और परिवर्धित ज्ञान के साथ भी मनुष्य वैसे ही पशु बने हुए हैं जो हर समय एक-दूसरे को नीचे डालने के लिए तैयार रहते हैं, अथवा वैसे ही गुलाम बने हुए हैं जैसे कि वे हमेशा रहे हैं। और वे हमेशा इसी तरह रहेंगे, जब तक कि

उनका मार्गदर्शक (नियंता) धार्मिक ज्ञान नहीं वरन् काम, क्रोध आदि इंद्रियों के विकार, मानसिक भावनाएँ तथा बाहरी जोर व दबाव इत्यादि रहेंगे।

मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता; वह या तो सबसे अधिक अविवेकवान् और घमंडी आदमियों का गुलाम होगा, अथवा ईश्वर का दास। क्योंकि मनुष्यों के लिए स्वतंत्र होने का केवल एक ही मार्ग है—ईश्वर की आज्ञानुसार कार्य करना। पर कुछ लोग तो धर्म को मानते ही नहीं, कुछ उन बाह्य और विचित्र बातों को ही धर्म मान बैठे हैं, जो बिल्कुल धर्म-विरुद्ध हैं; और कुछ केवल अपनी कामेंद्रियों के होके चलते हैं। ये सब मनुष्यों के बनाए कानून से डरते हैं और राम-दास होने के बजाय काम-दास हो जाते हैं, अतएव वे वैसे ही पशु अथवा गुलाम बने रहेंगे। बाहर से किया गया कोई भी प्रयत्न उनको इस अवस्था से निकाल नहीं सकेगा, क्योंकि केवल धर्म ही मनुष्य को स्वतंत्र बनाता है।

पर हमारे जमाने के तो अधिकांश लोग धर्महीन हैं।

2

थोड़े समय से लोग अपना धर्म खो बैठे हैं। इसीलिए वे नाना प्रकार के दु:ख भोग रहे हैं।

वर्तमान धर्म तथा उस मानसिक और वैज्ञानिक विकास के, जो इस समय मनुष्य-जाति को प्राप्त हुआ है, बीच जो भेद है उसे देखकर जिन लोगों ने यह तय किया है कि साधारणत: किसी भी प्रकार के धर्म की मनुष्य को आवश्यकता नहीं, वे बिना धर्म के अपना जीवन बिता रहे हैं, और लोगों को यह उपदेश देते हैं कि धर्म चाहे किसी भी प्रकार का और कैसा ही हो, व्यर्थ है। दूसरे लोग भी, जो धर्म के उस विकृत रूप के मानने वाले हैं, जिसकी शिक्षा लोगों को इस समय दी जा रही है, अन्य लोगों की भाँति धर्महीन जीवन व्यतीत कर रहे हैं और केवल बाहर की उन्हीं खोखली बातों को धर्म समझते हैं, जो मनुष्यों के सच्चे मार्ग की दर्शिका नहीं हो सकती।

तथापि वह धर्म, जो हमारे समय की सारी माँगों को पूरा करता है अब भी वर्तमान है तथा सब मनुष्यों पर प्रकट है, और गुप्त रूप में संसार के लोगों के हृदय में विद्यमान है। इसलिए इस धर्म को सब लोग समझ जाएँ और उसके अनुसार सब काम करें। इसके लिए केवल एक बात की आवश्यकता है। शिक्षित समाज के लोग—जो अशिक्षितों के मार्गदर्शक हैं—यह समझ लें कि मनुष्य के लिए धर्म एक आवश्यक वस्तु है। बिना धर्म के मनुष्य अच्छा जीवन नहीं बिता सकता। और विज्ञान धर्म का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता। सत्ताधारी तथा प्राचीन समय के खोखले धर्म का समर्थन करनेवाले इस बात को समझ लें कि वे जिस बात को धर्म समझकर उसका समर्थन करते हैं और लोगों को उसकी शिक्षा देते हैं, वह धर्म तो है

नहीं बल्कि मनुष्यों के सच्चे धर्म-प्राप्ति के मार्ग में एक बहुत बड़ा रोड़ा है। अतएव मनुष्य की मुक्ति का एकमात्र निश्चित उपाय यह है कि वह उन कामों को करना छोड़ दे जो मनुष्यों को सच्चे धर्म को पहचानने से रोकते हैं, जो पहले से ही उनके अंत:करण में विराजमान हैं।

3

जो लोग जान-बूझकर अथवा अनजान में धर्म की ओट में अधूरे मिथ्या-धर्म का प्रचार करते हैं, वे इस बात को समझ लें कि ये सारे धार्मिक सिद्धांत, प्रतिज्ञाएँ तथा विधि-नियम, जिनका वे समर्थन करते हैं और जिनकी शिक्षा देते हैं, अत्यधिक हानिकारक है, क्योंकि वे मनुष्यों से उस मुख्य धार्मिक सत्य को छिपाए रहते हैं जिसका तात्पर्य है ईश्वर की आज्ञा का पालन करना—मनुष्य-जाति की सेवा करना—दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना जैसा कि कोई मनुष्य चाहता है कि दूसरे उसके साथ करें यही वास्तविक धर्म का मूलमंत्र है।

लोगों को चाहिए कि वे अपने जीवन के उद्देश्य को समझ लें और उसे अपने सामने हमेशा रखें। पर यह तभी होगा जब वे धर्म के विषय में अपना गलत खयाल छोड़ देंगे। धर्म के मानी पुन: प्राचीन असभ्यावस्था को लौट जाना नहीं है। यदि किसी का यह खयाल हो तो वह उसे दूर कर दे। लोगों को सदाचारी और सुखी बनाने के लिए प्रचलित शिक्षा भी काफी नहीं है। विविध विषयों की जानकारी से मनुष्य के चरित्र पर क्या असर पड़ सकता है ? लोग सुखी तभी होंगे जब वे अपने-अपने धर्म को समझ लेंगे, जो उनके अंत:करण में पहले से ही विद्यमान है। जो लोग जान-बूझकर अथवा अनजान में धर्म-संबंधी मिथ्या बातें बनाकर मनुष्यों को ठग रहे हैं, उन्हें ऐसा करना छोड़ देना चाहिए। केवल पूजा-पाठ या मंदिरों, मस्जिदों या गिरजों में जाकर सबके साथ प्रार्थना कर लेना सच्चा धर्म नहीं है। मंत्र, तंत्र तथा नाना प्रकार के विधि-विधानों में भी धर्म की परिसमाप्ति नहीं हो जाती, न ये धर्म के अत्यावश्यक अंग हैं। किंतु धर्म के सच्चे मानी हैं ईश्वर तथा अपने पड़ोसियों से प्रेम करना और इस आज्ञा का पालन करना कि—''दूसरों के साथ वही करो जो तुम चाहते हो कि दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें'' यह नियम सद्धर्म और सदाचार का मूलमंत्र है।

यदि धर्माधिकारी समझे जानेवाले तथा वैज्ञानिक लोग दोनों इन साधारण, स्पष्ट और आवश्यक सच्ची बातों को समझ लेते और बच्चों तथा अशिक्षित जनों को उनका उपदेश करते, जिस प्रकार कि वे इस समय अपने जटिल, भ्रामक तथा अनावश्यक धार्मिक सिद्धांतों की शिक्षा देते हैं, तो सब लोग एक नियमित रूप से अपने जीवन का अर्थ समझ जाते और इस अर्थ के परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाले एक ही प्रकार के कर्तव्यों को अपना धर्म मान लेते।

4

हाँ, इस समय सुरंगों, बम के गोलों और मशीनगनों आदि से जो लड़ाई लड़ी जा रही है, वह उस आध्यात्मिक लड़ाई के सामने नगण्य है जो मनुष्य के हृदय में ज्ञान और अज्ञान, पाप और पुण्य, प्रकाश और अंधकार और ईश्वरी तथा शैतानी कल्पनाओं के बीच मची हुई है तथा निरंतर जारी रहती है।

क्या यह बात स्पष्ट नहीं कि यदि इस अवस्था से मुक्ति पाने का कोई मार्ग है, तो वह केवल एक ही मार्ग है—वही मार्ग जो महात्मा ईसा मसीह ने बतलाया है?

"पहले तू अपने-आपको उस ईश्वर साम्राज्य के पाने योग्य बना फिर शेष सब बातें तुझे अपने-आप आ मिलेंगी। यह साम्राज्य तेरे अंदर ही है।"

जीवन का यही नियम है। सच्चे सुख-समृद्धि की प्राप्ति उस समय नहीं होती जब मनुष्य इस सुख-समृद्धि के लिए प्रयत्न करता है—ऐसे प्रयत्नों का परिणाम, इसके विपरीत, प्रायः यह होता है कि मनुष्य उससे वंचित ही रहता है, किंतु यह केवल उसी समय प्राप्त होती है जब मनुष्य, इस सुख-समृद्धि की प्राप्ति का बिना विचार किए उस बात के पूर्ण रूप से पालन करने का प्रयत्न करता है जिसे ईश्वर के सामने, अपने जन्मदाता तथा जीवन-संबंधी व्यवस्था के कर्ता के सामने, न्याय समझता है। केवल उसी समय अनायास ही इस ऐहिक सुख-समृद्धि की भी प्राप्ति उसे हो जाती है।

इसलिए मनुष्य की सच्ची मुक्ति का मार्ग केवल एक ही है—प्रत्येक मनुष्य अपने अंतःकरण में, जिस पर उसका पूर्ण अधिकार है, ईश्वर की आज्ञा का पालन करे। उसकी इच्छा और आज्ञा के अनुसार कार्य करे। यही प्रत्येक व्यक्ति का मुख्य और एकमात्र साधन (उपाय) है, जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य दूसरों को अपने पक्ष में कर सकता है, और इसीलिए मनुष्य का सारा प्रयत्न इसी ओर—इसी एक बात की ओर—होना चाहिए।

प्रेम की परीक्षा

(महात्मा टॉल्सटॉय की निजी डायरी से उद्धृत)

कल (ता. 4 जून सन् 1893 ई.) को मैंने विचार किया—आओ धनिक समाज के उन लोगों के ऊपर (और भी स्पष्ट करने के लिए कहिए एक स्त्री और पुरुष, चाहे वह पति और पत्नी हो, चाहे भाई और बहन, पिता और पुत्री, अथवा माँ और बेटा हो) विचार करें, जिन्होंने साफतौर पर यह समझ लिया है कि विलासितापूर्ण और

आलस्यमय जीवन, जो वे परिश्रम और दरिद्रता से त्रस्त लोगों के बीच में व्यतीत कर रहे हैं, कितना पापमय जीवन है।

उन्होंने शहर को छोड़ दिया है, अपनी फालतू चीजों को दूसरों के हवाले कर दिया है (अथवा यों कहिए कि किसी-न-किसी तरह उनसे अपना पीछा छुड़ा लिया है), अपने लिए दो आदमियों की गुजर-बसर के वास्ते सिर्फ 15 पौंड के करीब सालाना आमदनी की मालियत और हिस्से रख छोड़े हैं (अथवा अपने लिए कुछ भी नहीं रखा है), और किसी-न-किसी उद्योग-धंधे, जैसे चीनी मिट्टी के खिलौनों और बर्तनों पर लुक चढ़ाना, अथवा अच्छी-अच्छी पुस्तकों का अनुवाद करना इत्यादि से, अपनी जीविका कमा रहे हैं और रूस के देहात के छोटे-छोटे गाँवों में रहते हैं।

अपने रहने के लिए एक छोटा-सा झोंपड़ा मोल अथवा किराए पर लेकर, वे अपने खेत अथवा बाग की जमीन को अपने-आप जोतते हैं, अपनी शहर की मक्खियों की देख-देख करते हैं, और इसी के साथ-साथ (अपनी योग्यता के अनुसार) गाँववालों को दवा-दारू की सहायता करते हैं, उनके बच्चों को पढ़ाते हैं और अपने पड़ोसियों के लिए चिट्ठियाँ और अर्जियाँ इत्यादि लिखते हैं।

लोग यह समझेंगे कि इससे अच्छा और कोई जीवन हो ही नहीं सकता। पर तो भी यह जीवन नरक ही होगा अथवा नरक ही हो जाएगा यदि ये लोग पाखंडी और मिथ्या-भाषी नहीं हैं, अर्थात् यदि उनमें वास्तव में सच्चाई है।

यदि इन लोगों ने उन सुविधाओं और ऐश-व-आराम की बातों को, जो उन्हें रुपए-पैसे की बदौलत और शहरों में प्राप्त थीं, छोड़ा है, तो ऐसा उन्होंने सिर्फ इसलिए किया है कि वे सब आदमियों को भाई, परमपिता परमेश्वर के सामने एक समान मानते हैं। समानता के मानी योग्यता और कीमत में समानता नहीं परंतु इस बात में कि सबको जीने का और जीवन के लिए आवश्यक चीजों को पाने का समान हक है।

मनुष्यों की समानता के संबंध में लोगों को उस समय संदेह हो सकता है, जब ये नवयुवकों के ऊपर विचार करते हैं जिनकी पहले की अवस्था भिन्न-भिन्न रही है; परंतु जिस समय मनुष्य छोटे-छोटे बच्चों के ऊपर विचार करता है, तो इस संदेह के लिए कहीं कोई स्थान नहीं रह जाता। क्या कारण है कि किसी एक बालक की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान रखा जाए, उसकी बड़ी हिफाजत और होशियारी के साथ परवरिश की जाए, और उसे हर तरह की सहायता पहुँचाई जाए, और साथ ही इसके दूसरे बालक को, जो वैसा ही सुंदर, वैसा ही अथवा उससे अधिक होनहार है, उचित लालन-पालन न होने के कारण क्षीण-

काय, और निर्बल होने दिया जाए। उसे काफी दूध भी न मिले, जिससे उसके अंग-प्रत्यंग एवं शरीर का समुचित विकास हो सके। वह मूर्ख और एक अभ्यास तथा मिथ्या बातों में विश्वास करनेवाला और एक भारवाहक पशु बना रहे। और फिर यह कहा जाए कि इसके भाग्य में यह लिखा है ?

इसमें संदेह नहीं कि यदि लोगों ने शहरों का रहना छोड़ दिया है; और जाकर देहात में बस गए हैं, जैसा कि इन लोगों ने किया है, तो इसका कारण केवल यही है कि वे मनुष्य के भाई-चारे (विश्व-बंधुत्व) के रिश्ते में केवल जबानी नहीं वरन् वास्तविक विश्वास को कार्य-रूप में परिणत करने को तैयार नहीं हैं, तो कम-से-कम अपने जीवन में वे अवश्य उसे कार्य-रूप में देखना चाहते हैं, और उसका उन्होंने श्रीगणेश भी कर दिया है। और यदि उनमें सच्चाई है, यदि वे जैसा कहते हैं वैसा ही करना चाहते हैं, तो उनके इस विचार पर अमल करने के प्रयत्न का फल यह अवश्य होगा कि वे एक बहुत बड़ी विषम स्थिति में पड़ जाएँगे।

कायदे से, आराम से और विशेषकर सफाई के साथ रहने की अपनी आदतों के साथ (जो बचपन से पड़ रही है) गाँवों में पहुँचने पर उन्होंने अपने रहने के लिए एक छोटा-सा झोंपड़ा—मोल अथवा किराये पर—लेकर उसकी खूब अच्छी तरह सफाई की है, उसमें मुद्दतों से लगे हुए जालों और कीड़े-मकोड़ों को साफ किया है, अथवा अपने ही हाथों से एक झोंपड़ा तैयार कर लिया है, और उसमें विलासिता नहीं वरन् आवश्यकता की कुछेक चीजें, जैसे—लोहे का पलंग, अलमारी तथा लिखने के लिए मेज इत्यादि रखकर उसे खूब सजाया है। इस प्रकार गाँवों में जाकर वे अपना जीवन आरंभ करते हैं। पहले तो गाँववाले उनसे घृणा करते हैं, यह समझते हैं कि (दूसरे अमीर आदमियों की तरह) वे भी बल-प्रयोग द्वारा अपने अधिकारों की रक्षा करेंगे, और इसीलिए अपनी-अपनी दर्ख्वास्त और माँगों को लेकर वे उन तक नहीं पहुँचते हैं। परंतु थोड़े ही दिन में, धीरे-धीरे लोग इन आनेवालों के स्वभाव से परिचित हो जाते हैं, वे (आगंतुक) लोग स्वयं अपनी ओर से अपनी सेवाएँ इन ग्राम्यजनों की भेंट करने लगते हैं, तथा साहसी और निर्भीक ग्रामवासी थोड़े ही समय में यह मालूम कर लेते हैं कि ये नवागंतुक किसी बात से इनकार नहीं करते, बल्कि लोगों को उनसे लाभ पहुँच सकता है।

इसके बाद उनके सामने हर प्रकार की माँग पेश होने लगती हैं। वे धीरे-धीरे बढ़ती भी रहती हैं। गाँववालों की माँगों की पूर्ति करते-करते वे भी उन्हीं की तरह हो जाते हैं।

भिक्षा-रूप में माँगते-माँगते, जैसा कि स्वाभाविक है, लोग उनसे बतौर अधिकार के अपनी माँगें पेश करने लगते हैं। लोग चाहते हैं कि नवागंतुकों के पास दूसरों से

जितना अधिक धन है उसे वे उन लोगों में बाँट दें। ये नए बसे हुए महानुभाव भी सोचते हैं कि जो लोग अत्यंत दीन और दु:खी हैं उनको अपने पास की फालतू चीजें, जिनकी उन्हें कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, बाँट दें। पर इससे भी उन्हें संतोष नहीं होता। वे तो यह चाहते हैं कि उनके पास भी सिर्फ उतनी ही चीजें बाकी बच रहें जितनी प्रत्येक मनुष्य (अर्थात् सामान्य मनुष्य) के पास होनी चाहिए। पर होता यह है कि एक सामान्य मनुष्य की जरूरतों का एक निश्चित माप न होने के कारण त्याग की कोई सीमा नहीं रह जाती। क्योंकि हमेशा चारों ओर गरीबों की चीख-पुकार मची ही रहती है, और जब इन अतिशय दरिद्र लोगों की दशा से वे अपनी तुलना करते हैं तो वे अपने पास इनकी अपेक्षा अधिक धन देखते हैं।

यह आवश्यक जान पड़ता है कि हरएक आदमी को एक-एक गिलास दूध मिला करे; परंतु इन दोनों के दो छोटे-छोटे दुध-मुँहे बच्चे हैं, जिनकी माँ के स्तनों में दूध नहीं है और एक-दो साल का बच्चा है, जो मारे भूख के मृतप्राय हो रहा है। वे एक गद्दा, तकिया और कंबल भी रख सकते हैं, जिससे दिन भर के परिश्रम से थक जाने पर रात को आराम से सो सकें। परंतु उनके सामने एक खाट के ऊपर, जिसमें जूँ और लीखें भरी पड़ी हैं, एक बीमार आदमी पड़ा हुआ है। सिवाय चटाई के उसके पास ओढ़ने के लिए कुछ भी नहीं है। इसीलिए जाड़े के मारे वह पत्थर हो गया है। इन दोनों के पास चाय और खाने का भी सामान है, परंतु जिस समय उनके पास कोई थका-माँदा बुड्ढा मुसाफिर आ जाता है तो उन्हें वह सब उसे देना पड़ता है। कम-से-कम मकान का साफ-सुथरा रखना भी जरूरी जान पड़ता है; लेकिन भिखारियों के लड़के आते हैं, और वहीं पर अपनी रात बिताते हैं, जिससे जुएँ और चीलर फिर बढ़ जाते हैं, जिनसे अभी मुश्किल में उसे छुटकारा मिल पाया था।

इस त्याग की भी कोई सीमा है? हाँ, है तो। पर उनके लिए जो या तो इस भातृ-भाव की वास्तविकता से परिचित नहीं है, या जो झूठ बोलने के इतने आदी हो गए हैं, कि उन्हें सच्चाई और झूठ में कोई अंतर ही नहीं देख पड़ता। सच्ची बात तो यह है कि इस त्याग की कोई सीमा हो भी नहीं सकती। और अगर इसकी कोई सीमा हो भी सकती है तो उससे केवल यह सिद्ध होता है कि जिस भाव से प्रेरित होकर इन लोगों ने यह कार्य प्रारंभ किया था वह भाव एक कल्पित अथवा बनावटी भाव था।

मैं आगे बढ़ता हूँ और सोचता हूँ कि नवागंतुक और क्या-क्या कर सकते हैं?

तमाम दिन काम करने के बाद वे घर लौटते हैं। कोई बिछौना अथवा तकिया न होने के कारण वे थोड़ी-सी घास डालकर, जिसे उन्होंने इकट्ठा किया है, उस पर पड़े रहते हैं, और थोड़ी-सी रूखी-सूखी रोटी खाकर सो जाते हैं। बरसात के दिन

हैं। बड़े जोर के साथ पानी बरस रहा है, कभी-कभी साथ में बर्फ के भी छींटे आ जाते हैं। इतने में कोई आकर दरवाजा खटखटाता है। क्या उस वक्त वे दरवाजा खोलने से इनकार कर दें? दरवाजा खोलते ही एक आदमी घुस पड़ता है, जो पानी से लथपथ है, और जिसको बड़े जोर से बुखार चढ़ा हुआ है। ऐसी दशा में उन्हें क्या करना चाहिए? क्या सूखी हुई घास उसे दे दें? अब उनके पास और ज्यादा सूखी घास तो नहीं। इसलिए वे या तो इस बीमार आदमी को मकान के बाहर कर दें या, यद्यपि वह भीगा हुआ है, उसे जमीन पर लेट जाने दें, अथवा वह पयाल उसे दे दें और खुद उसके साथ में लेट जाएँ, क्योंकि आदमी के लिए थोड़ा-सा तो लेना जरूरी है।

लेकिन इतने में भी जान नहीं बचती। एक दूसरा आदमी आता है, जो नंबर एक का शराबी और बदमाश है, जिसकी वे कई बार मदद कर चुके हैं, और उसने, जो कुछ भी उसे दिया गया, सब-का-सब शराबखोरी में उड़ा दिया। इस बार वह दांत कटकटाता हुआ आता है, और पाँच रुपयों के लिए अपना सवाल पेश करता है। वह जिन रुपयों की पूर्ति करना चाहता है, उन्हें उसने चुराकर शराबखोरी में खर्च कर दिया है और जिनके अदा न कर देने पर उसे जेलखाने का दरवाजा देखना पड़ेगा। वे उत्तर देते हैं कि भई हमारे पास सिर्फ छह रुपए हैं, जो हमें कल एक शख्स को बाकी के देना है। इस पर वह शराबी कहता है—"हाँ, मैं समझता हूँ। तुम बातें बनाना खूब जानते हो, लेकिन जब काम की बात आती है, तो तुम भी दूसरों की तरह हो जाते हो। जिस आदमी को तुम अपना 'भाई' कहते हो, उसे मर जाने देना तुम पसंद करते हो, लेकिन खुद तकलीफ उठाना नहीं चाहते।"

ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? उस ज्वर-ग्रस्त मनुष्य को गीली जमीन पर लेट जाने दें और खुद सूखी जमीन और घास पर लेटें? ऐसा करने पर तो और भी नींद नहीं आएगी। यदि आप उसे अपनी सूखी घास पर लिटा दें और उसके पास ही एक ओर लेट जाएँ तो आपको भी बुखार आ जाएगा और आपके भी जूँ पड़ जाएँगे। अगर आप अपने बचे हुए पाँचों रुपए उस माँगनेवाले को दें तो आपके पास दूसरे दिन के खाने का भी ठिकाना न रहेगा। पर इनकार कर देने का अर्थ, जैसा कि उसने बतलाया है, उन बातों से मुँह मोड़ लेना होगा, जिनके लिए मनुष्य जी रहा है।

यदि आप अपनी उदारता का अंत यहाँ कर सकते हैं, तो आप इससे पहले ऐसा क्यों नहीं कर सकते थे? आपको लोगों की मदद करने की ही क्या जरूरत है? आप अपनी जायदाद और शहर क्यों छोड़ते हैं? त्याग की सीमा कहाँ है? यदि जो काम आप कर रहे हैं, उसकी कोई हद है, तो इन सारी बातों का कोई अर्थ ही नहीं है, अथवा यदि कोई अर्थ है तो वह ढोंग के सिवाय और कुछ भी नहीं।

ऐसी दशा में कैसा आचरण किया जाए? किन उपायों को काम में लाया जाए? पीछे पैर न हटाने का मतलब है जिंदगी से हाथ धो बैठना, अपने बदन को जूँ और चीलरों की खुराक बना देना; भूखों मर जाना और प्राण दे देना और वह भी—जैसा कि साफ जाहिर है—व्यर्थ में—बिना किसी प्रयोजन के। रुक जाना, उन बातों से मुँह मोड़ लेना है, जिनकी खातिर इतना सब-कुछ किया है। इसके अलावा इससे मुँह मोड़ना कठिन है। क्योंकि यह मेरी अथवा महात्मा ईसा मसीह की आविष्कृत बात नहीं है कि हम लोग भाई-भाई हैं और इसलिए हमें एक-दूसरे की सेवा अवश्य करनी चाहिए। यह एक असलियत है। और जब इसने एक बार प्रवेश कर लिया तो फिर आप इस भावना को मनुष्य के हृदय से अलग नहीं कर सकते। तो फिर क्या उपाय किया जाए? क्या इससे छुटकारा पाने का कोई मार्ग नहीं है?

मान लीजिए, कि इन लोगों ने उस त्याग की आवश्यकता से लेश-मात्र भी भयभीत न होकर, जिसने उन्हें ऐसी स्थिति में डाल दिया है, जहाँ पर उनकी मृत्यु अनिवार्य है, यह निर्णय किया कि ऐसी स्थिति केवल इसलिए उत्पन्न हुई कि हम लोग अपर्याप्त साधनों अर्थात् बहुत थोड़े धन के साथ इन ग्रामीण जनों की सहायता करने आए थे, और यह कि यदि हमारे पास अधिक रुपया होता तो इसका परिणाम इससे भिन्न हुआ होता और हमने इससे कहीं अधिक उनका उपकार किया होता। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि उन्हें अधिक धन मिल जाता है। वे बहुत-सा रुपया इकट्ठा कर लेते हैं, और तब लोगों की सहायता करना आरंभ करते हैं। थोड़े दिनों के भीतर फिर वही बात होने लगेगी जो पहले होती थी। बात-की-बात में वह सारा माल-खजाना, फिर वह चाहे कितना ही क्यों न हो, उन गड्ढों में भर जाएगा जो दरिद्रता ने समाज के अंदर कर दिए हैं, और स्थिति वैसी ही बनी रहेगी जैसी कि पहले थी।

लेकिन शायद इसका कोई तीसरा रास्ता भी हो? कुछ लोगों का कहना है कि जन-साधारण में जागृति उत्पन्न की जाए, इससे विषमता (असमानता) दूर हो जाएगी।

परंतु यह भी साफतौर से पाखंड है; आप किसी ऐसे समाज में जागृति उत्पन्न नहीं कर सकते जो निरंतर फाके-कशी और दारिद्र्य के कारण मृतप्राय हो रहा है और इसके सिवा जो लोग इसका प्रचार करते हैं उनका ढोंगीपन सिर्फ इसी एक बात से जाहिर है कि जो मनुष्य लोगों में समानता स्थापित करने के लिए उत्सुक हैं (चाहे वह विज्ञान के द्वारा ही क्यों न हो) वे ऐसा जीवन पसंद न करेंगे जिसकी हरएक बात इस असमानता का समर्थन करती हो।

पर तो भी एक चौथा मार्ग शेष है, अर्थात् उन कारणों को मिटाने में सहायता

करना जो इस असमानता (विषमावस्था) के जन्मदाता हैं—पशु-बल के नष्ट करने में सहायता करना जो इस भीषण अवस्था को उत्पन्न करनेवाला है।

यह कार्य—मार्ग—उन सभी मनुष्यों को अवश्य दृष्टिगोचर होगा जिनके अंदर सच्चाई है और जो अपने जीवन में मनुष्यों के भ्रातृ-भाव-संबंधी अपने विचारों को कार्य-रूप में लाने का प्रयत्न करते हैं।

जिन लोगों का चित्र मैंने आप लोगों के सामने खींचा है, वे यह कहेंगे कि "यदि हम गाँव में इन लोगों के बीच में नहीं रह सकते; यदि हम ऐसी भयंकर स्थिति में पड़ गए हैं कि हमारे लिए भूखों मर जाना, जुओं और चीलरों से अपना तमाम बदन खिलवा देना और इस प्रकार धीरे-धीरे घुल-घुलकर मर जाना, अथवा उस बात से जो हमारे जीवन का एकमात्र नैतिक आधार है, मुँह मोड़ लेना आवश्यक हो गया है, तो इसका कारण यह है कि कुछ लोगों ने बहुत-सा धन एकत्र कर लिया है जबकि दूसरों के पास खाने भर को भी ठिकाना नहीं है! इस असमानता का आधार पशु-बल है, और चूँकि इस मामले की जड़ पशु-बल है, हमें पशु-बल के ही विरुद्ध लड़ाई लड़नी चाहिए।"

केवल पशु-बल तथा उससे उत्पन्न होनेवाली दासता का अंत कर देने से ही मनुष्य ऐसी सेवा कर सकता है जिससे उसे अपना जीवन-त्याग ही करने की आवश्यकता उत्पन्न न हो।

लेकिन इस पशु-बल का अंत किस प्रकार किया जाए? वह कहाँ है, फौज के सिपाहियों में, पुलिस में, राज्य के कर्मचारियों में और उस ताले में जो मेरे दरवाजे के ऊपर लटक रहा है। इसके विरुद्ध मैं संग्राम किस प्रकार कर सकता हूँ? कहाँ, और किस बात में?

यहीं पर हम देखते हैं कि क्रांतिवादी लोग, जो इस पशु-बल के सहारे अपने जीवन की रक्षा कर रहे हैं, इस पशु-बल के विरुद्ध लड़ाई लड़ते हैं, हिंसा से हिंसा का मुकाबला करते हैं।

लेकिन एक ऐसे आदमी के लिए, जिसके अंदर सच्चाई है, यह असंभव है। पशु-बल से पशु-बल के साथ युद्ध करने का अर्थ है पुरानी हिंसा के स्थान पर नई हिंसा को जन्म देना। उस संस्कृति की सहायता लेना भी, जिसका आधार पशु-बल के ऊपर है, वैसा ही है, । हिंसा (बल-प्रयोग) से प्राप्त होनेवाले धन एकत्र करने और उसका उन लोगों की सहायता करने में व्यय करने का, जिनकी दरिद्रता का कारण भी पशु-बल ही है, अर्थ होगा हिंसा से पैदा हुए घाव को हिंसा से ही भरना।

उस दशा में भी, जिसकी मैंने कल्पना की है, एक बीमार आदमी को अपने मकान में न आने देना और अपने बिस्तर पर न लेटने देना और रुपए देने से इसलिए

इनकार कर देना कि मैं पशु-बल की सहायता से ऐसा कर सकता हूँ, भी जोर-जुल्म का इस्तेमाल करना है। इसलिए हमारे समाज में, उस मनुष्य के लिए जो भ्रातृ-भाव के साथ रहना चाहता है, पशु-बल के विरुद्ध की जानेवाली लड़ाई को अपना जीवन हवाले कर देने, जुएँ और चीलरों से अपना बदन खिलवा देने और अपना प्राण त्याग कर देने की आवश्यकता दूर नहीं हो जाती, वरन् इसी के साथ-साथ हमेशा इस बात की आवश्यकता बनी रहती है कि हिंसा (बल-प्रयोग) के विरुद्ध लड़ाई की जाती रहे, विरोध न करने की शिक्षा दी जाती रहे, हिंसा का रहस्योद्घाटन (पर्दाफाश) किया जाता रहे, और इन सबके अलावा, अविरोध तथा आत्म-बलिदान के आदर्श का उदाहरण पेश किया जाता रहे।

चूँकि ईसाई-धर्म की आज्ञानुसार जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्य की स्थिति हिंसामय जीवन में बड़ी ही भयंकर और कठिन हो जाती है, इसलिए उसके लिए निरंतर संग्राम और बलिदान के अतिरिक्त—ऐसा बलिदान जिसका कोई अंत ही नहीं है—अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।

जो खाड़ी करोड़ों भूखों मरने वाले दीन-दुखी लोगों को उन अमीरों से अलग करती है जिनके पास असंख्य धन भरा पड़ा है, उसका जान लेना परमावश्यक है; और उस खाड़ी को भरने के लिए हमें उस ढोंग और झूठे आडंबर की नहीं, जिससे कि हम इस खाड़ी की गहराई को अपने-आपसे भी छिपाने की कोशिश करते हैं, वरन् बलिदान की आवश्यकता है।

यह संभव है, किसी मनुष्य में इस खाड़ी में कूद पड़ने की ताकत न हो; लेकिन जो मनुष्य जीवन-संबंधी बातों की खोज करता है वह इससे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता। यह दूसरी बात है कि हम उसमें घुसने के लिए राजी न हों, परंतु हमें इस संबंध में हमेशा ईमानदारी से काम लेना चाहिए; झूठे हीलों-हवालों से अपने-आपको धोखा देने की जरूरत नहीं है।

अंत में, यह खाड़ी इतनी भयंकर नहीं है जितनी कि वह दिखलाई पड़ती है। अथवा, यदि वह भयंकर हो भी तो जिन खतरों का हमें अपने इस सांसारिक जीवन में मुकाबला करना है वे और भी ज्यादा खौफनाक हैं।

जुओं-चीलरों, छूत से किसी दूसरे की बीमारी के दौड़कर लग जाने, अथवा दूसरों की मदद के लिए अपना बचा-खुचा धन दे देने के बाद हो जानेवाली गरीबी से मौत का जितना भय है, वह उस भय से कहीं कम है जो फौजों की चढ़ाइयों अथवा लड़ाई में मार डाले जाने में है।

जुओं-चीलरों, मैली-कुचैली रोटी, और दरिद्रता बड़े ही भयंकर हैं परंतु फिर भी दरिद्रता का गड्ढा इतना गहरा नहीं है, किंतु हमारी दशा प्रायः उस बालक की-

सी हो जाती है जो गहराई और उस पानी के भय से तमाम रात मारे डर के उस कुएँ के किनारे चिपटा रहा जिसमें वह पैर फिसल जाने के कारण लड़खड़ा गया था, ज़बकि सिर्फ एक फुट नीचे की उस तरफ कुएँ की तह में सब जमीन सूखी हुई थी।

पर हमें उस तह पर भी भरोसा न करना चाहिए; हमें तो मरने के लिए तैयार होकर आगे बढ़ना चाहिए। केवल वही प्रेम सच्चा है जिसमें बलिदान की कोई सीमा नहीं है—जिसमें मृत्यु तक का भी कोई भय नहीं।

बुद्धि और प्रेम

यदि मनुष्य ईश्वर की आज्ञा का पालन करना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह उसके बतलाए हुए काम को करे। उसका बतलाया हुआ काम करने के लिए दो बातों की—अलग-अलग नहीं बल्कि मिलाकर काम करने की आवश्यकता है, अर्थात् बुद्धि प्रेम करनेवाली हो, यानी उसका ध्येय प्रेम हो, और यह कि प्रेम; बुद्धि-युक्त हो, अर्थात् वह बुद्धि के विरुद्ध न हो।

पहले नियम का उल्लंघन करने का परिणाम होता है, बुद्धि का वैज्ञानिक खोज में लग जाना—नक्षत्रों के मार्ग का, तत्त्व-विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, कला-विज्ञान आदि का अन्वेषण। दूसरे का उदाहण है एकमात्र प्रेम, अर्थात् किसी स्त्री का, किसी के अपने बच्चे का, अपने देश और जाति का प्रेम—ऐसा प्रेम जिसका उद्देश्य कल्याण नहीं वरन् पाशविक वृत्तियों की तृप्ति है।

बुद्धि का काम है सत्य की खोज। प्रेम का काम है न्याय का दर्शन। परंतु इसलिए कि ठीक फल की प्राप्ति हो, यह आवश्यक है कि इन दोनों का प्रयोग एक साथ किया जाए।

न्याय की उत्पत्ति केवल उसी समय हो सकती है जब प्रेम बुद्धियुक्त हो; और सत्य की कसौटी पर वह कस लिया गया हो; और सत्य की उत्पत्ति सिर्फ उसी समय होती है जब बुद्धि प्रेमयुक्त हो, उसका लक्ष्य न्याय हो।

यह सब मेरी गढ़ंत नहीं है; यह वही है जो कुछ मैंने देखा है।

मिल् का कहना है—"जिस समय प्रत्येक मनुष्य का उद्देश्य अपनी व्यक्तिगत भलाई तथा सुख हो—उसे उन नियमों और शर्तों का भी ध्यान रखना चाहिए, जो दूसरे लोगों की भलाई के लिए आवश्यक है—उस हालत में मानव-समाज को उस समय की अपेक्षा अधिक सुख की प्राप्ति हो सकती है जब उसका एकमात्र लक्ष्य

अपने को छोड़ शेष अन्य लोगों की भलाई हो।"

यह सच है; लेकिन उसी समय, जब किसी व्यक्ति की भलाई से तात्पर्य उसके आध्यात्मिक कल्याण (भलाई) से अर्थात् ईश्वर की आज्ञानुसार, अथवा अपने अंत:करण (बुद्धि और प्रेम) के अनुसार कार्य करने से है।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर के साम्राज्य तथा उसके सत्य की खोज करे, और इसी में जीवन को लगा दे। उस समय सारे मानव-समाज का अधिक-से-अधिक कल्याण हो सकेगा। परंतु उस समय सिद्ध होगा कि मनुष्य की भलाई उस नियमों और शर्तों के पालन करने में है जिनसे सर्व-साधारण की भलाई होती हो—अर्थात् ठीक वह बात होगी, जिसका मिल् साहब खंडन करते हैं।

चमत्कार और चमत्कारकर्ता

कल मैंने आपको यह लिखना आरंभ किया था कि मुझे ऐसा क्यों प्रतीत होता है कि जो लोग इस भौतिक संसार की सत्यता में विश्वास करते हैं वे दिव्य-शक्ति में भी विश्वास करते हैं, अथवा यह कि जो लोग आध्यात्मिक जीवन में, अपने पारलौकिक अस्तित्व में तथा एक निराकार ईश्वर में विश्वास करते हैं, वे इस दिव्य-शक्ति में विश्वास नहीं कर सकते। परंतु उस समय मैंने अपने उस लेख को समाप्त नहीं किया था। उस समय मैंने जो कुछ सोचा था वह यह है—

मेरा विश्वास है, अथवा मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि यह सारा भौतिक संसार मेरी पाँच ज्ञानेंद्रियों का विकास मात्र है, और इस भौतिक संसार के समस्त नियम मेरी इन पाँचों इंद्रियों के पारस्परिक संसर्ग-संबंधी नियम हैं। संपूर्ण विज्ञान और हमारा संपूर्ण ज्ञान हमारी इन इंद्रियों के बीच के विविध संबंधों के प्रतिफल मात्र हैं। उदाहरणार्थ, बर्फ, जो हमारी स्पर्शेंद्रिय को कठोर (सख्त) प्रतीत होती है, थोड़ी-सी गर्मी पाते ही गलकर एक द्रव्य-पदार्थ (जल) में परिणत हो जाती है जिसका भी ज्ञान हमारी इंद्रियों को होता है; और इसके बाद थोड़ी-सी और गर्मी पहुँचने पर वह अस्पृश्य वाष्प (भाप) रूप में परिणत हो जाती है। हमारा सारा ज्ञान, हमारी इंद्रियों के पारस्परिक संबंध का ऐसा ही अनुसंधान है। हमने इन संबंधों का अध्ययन किया है और हम उन्हें जानते हैं। हम जानते हैं कि हमारी एक भी इंद्रिय के ऊपर जो प्रभाव पड़ता है, उसके साथ दूसरी इंद्रियों के लिए कोई-न-कोई अलौकिक दृश्य अवश्य उत्पन्न हो जाता है। यदि हमें खटखटाने का शब्द सुनाई पड़ता है, तो इससे हमारी स्पर्शेंद्रिय को किसी कठोर वस्तु का बोध होता है और

ऐसी ही दूसरी इंद्रियों के संबंध में भी है।

तो फिर बाह्य संसार के इस प्रकार के ज्ञान के अनुसार दिव्य-कर्म का क्या अर्थ होता है ? केवल यही कि इंद्रियों का व्यतिषंग (पारस्परिक संबंध), जिसका हमने अध्ययन किया है और जिसे स्थायी समझ लिया है, एकबारगी बदल जाता है। ऐसे संबंध का परिवर्तन केवल इसीलिए हो जाता है कि मैंने इंद्रियों के इस संबंध का गलत निरूपण किया है, और इसलिए मुझे इन इंद्रियों के सही और स्थायी संबंध की खोज करने की आवश्यकता है; अथवा इसलिए कि मेरी किसी इंद्रिय में विकार उत्पन्न हो गया है (व्यामोह हो गया है) परंतु संसार के संबंध में इस प्रकार के ज्ञान के अनुसार दिव्य-कर्म (अलौकिकता) का कोई अस्तित्व में ऐसा ज्ञान रखनेवाला मनुष्य किसी अलौकिक (दिव्य) कर्म को देखे, तो उसे यह निश्चय हो जाएगा कि वह अस्वस्थ है, उसकी इंद्रियाँ नियमित रूप से काम नहीं कर रही हैं, और उसे अपना इलाज करने की जरूरत है।

परंतु अध्यात्म-लोक (Spiritual Region) में ऐसे मनुष्य के लिए दिव्य (अलौकिक) कर्म हो ही नहीं सकता। क्योंकि अध्यात्म जीवन ऐसे किसी भी नियम का अनुवर्ती नहीं हो सकता, और इसके संबंध में हम इसके सिवाय और कुछ भी नहीं जानते कि पहले था, अभी है और आगे हमेशा रहेगा भी, क्योंकि इसके लिए न कोई विशेष समय है और न स्थान।

मसीह फिर से उठ खड़ा हुआ, इसका अर्थ यह निकलता है कि जिन लोगों के सामने वह उठता हुआ दिखाई दिया उनकी इंद्रियों ने नियमित रूप से अपना कार्य नहीं किया, किंतु उन्होंने इंद्रियों के उस संबंध के विरुद्ध कार्य किया जिनको सदैव प्रत्यावर्तन होता रहता है, और इसीलिए इन मनुष्यों की असभ्यावस्था पर केवल दया आती है।

परंतु यह कहना कि मसीह आत्मा के रूप में मनुष्य के अंदर रहते हैं और यह कि हम दूसरों में और दूसरे हममें रहते हैं, उस सामान्य अटल सत्य को प्रकट करना है जो प्रत्येक मनुष्य की समझ में आ सकता है जो ब्रह्म में रहता है।

यही बात है जो मैं कहना चाहता था।

आत्मा के विषय में हमने क्या समझा है ? यह कि इंद्रियों से प्राप्य होनेवाले ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भूतों के संसर्ग से हमने यह सीखा है कि एक और ऐसा तत्त्व विद्यमान है जिसे हम देख-सुन नहीं सकते पर जो है जरूर। हम उसके अस्तित्व से इनकार नहीं कर सकते। यह बात यहाँ तक सत्य है कि इस अस्तित्व को स्वीकार किए बिना हम किसी भी अन्य वस्तु के अस्तित्व का निरूपण नहीं कर सकते (उदाहरणार्थ, आकाश, जिसके मुक्त स्फुरणों से प्रकाश, गर्मी, विद्युत आदि ज्ञान

हमको अपनी इंद्रियों के द्वारा होता है, परंतु जिसके अस्तित्व को हम स्वीकार करते हैं, इसलिए नहीं कि हमारी पाँच इंद्रियों में से किसी एक ने अपने नियमों का उल्लंघन करके हमें उसका ज्ञान कराया है जिसको हमने मान लिया है और स्वीकार कर लिया है; किंतु इसके विपरीत, इसलिए कि इसकी सत्ता का ज्ञान हमको विवेक-बुद्धि के द्वारा हुआ है) और इस बात को स्वीकार कर लेने का परिणाम यह होता है कि इससे उस संबंध के नियमों का, जिसे हमने मान लिया है, उल्लंघन नहीं होता; उल्टा उस संबंध में और भी अधिक उचित दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है।

युद्ध

युद्ध के कारण

मैं उन लोगों से सहमत नहीं हो सकता जो वर्तमान युद्ध का कारण राजनीतिक नेताओं को बतलाते हैं।

यदि दो आदमी किसी शराबखाने में जाकर खूब शराब पी लें और फिर जब ताश खेलने लगें तो आपस में लड़ने लगें, तो मैं उनमें से किसी एक को भी अपराधी न मानूँगा, चाहे दूसरे आदमी की दलीलें कितनी ही माकूल क्यों न हों। उनके इस प्रकार लड़ने-झगड़ने का कारण यह नहीं कि उनमें से एक सही रास्ते पर है, किंतु इसका कारण यह है कि शांति के साथ काम करने और आराम के साथ बैठने के बदले उन्होंने शराबखाने में जाकर शराब पीना तथा ताश खेलना ज्यादा पसंद किया।

ठीक इसी प्रकार जब मुझसे यह कहा जाता है कि किसी एक लड़ाई में, जो छिड़ गई है, केवल एक ही पक्षवाले दोषी हैं, तो मैं इस बात से कभी सहमत नहीं हो सकता। यह बात मान ली जा सकती है कि एक पक्षवालों का व्यवहार दूसरे पक्षवालों के व्यवहार से अधिक खराब हो। लेकिन इस बात की जाँच करने से कि किस पक्षवालों का व्यवहार अधिक खराब है, उस कारण का ठीक-ठीक पता न लगेगा जिसकी वजह से लड़ाई—जैसी भयंकर, निर्दयतापूर्ण और अमानुषिक घटना हो रही है।

किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए, जो कि अपनी आँखें बंद नहीं कर लेता है, इस वर्तमान तथा उन युद्धों के, जो अभी हाल में हो गए हैं, वास्तविक कारण बिल्कुल स्पष्ट हैं। इन कारणों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, संपत्ति का

विषम-वितरण, अर्थात् एक मनुष्य-समाज को दूसरे मनुष्य-समाज द्वारा लूटा जाना। दूसरे सैनिक वर्ग के लोगों का होना जिसकी शिक्षा और नियुक्ति मनुष्यों का वध करने के लिए होती है। तीसरे, गलत और धोखे में डालनेवाली धार्मिक शिक्षा का होना जो इस समय हमारे नवयुवकों को दी जाती है। इसलिए मैं समझता हूँ चैंबरलेन, विलियम कैसर तथा ऐसे ही अन्य किसी व्यक्ति को लड़ाइयों का कारण बतलाना व्यर्थ ही नहीं वरन् हानिकर भी है। ऐसा करने से लोग उन कारणों को नहीं देख पाते जो बहुत निकट हैं और जिनमें हम सब लोग हिस्सा ले रहे हैं। हम चैंबरलेनों और कैसरों के ऊपर क्रोध कर उन्हें उलटी-सीधी गालियाँ सुना सकते हैं; परंतु हमारे इस क्रोध करने और गालियाँ देने से कोई लाभ न होगा; क्योंकि चैंबरलेन और कैसर उन शक्तियों के केवल अंधे औजार मात्र हैं, जो उन युद्धों का असली कारण हैं। ये जो कुछ भी करते हैं, वह करने के लिए वे मजबूर किए जाते हैं, और उन शक्तियों के विरुद्ध वे कुछ भी नहीं कर सकते। सारा इतिहास राजनीतिज्ञों की कारगुजारियों से भरा पड़ा है—जो ठीक वैसी ही हैं जो ट्रांसवाल-युद्ध के पहले हुई; और इसलिए ऐसे लोगों से नाराज होना और उनको दोष देना बिल्कुल व्यर्थ वरन् असंभव भी है। जब मनुष्य उनके इस व्यवहार के सच्चे कारणों को देखता है, और जब वह ऊपर बतलाए हुए तीन मूल कारणों के साथ अपने संबंध पर विचार करता है तो किसी-न-किसी रूप में वह अपने-आपको भी उसका दोषभागी पाता है।

जब तक हम लोग विशेष धन का उपभोग करते रहेंगे और अधिक संख्या में लोग परिश्रम के भार से पिसते रहेंगे, तब तक कारखानों में बने माल के लिए बाजार ढूँढ़ने तथा सोने की खानों आदि के लिए बराबर युद्ध होते ही रहेंगे, जिनकी हमें अपने इस विशेष धन की रक्षा के लिए आवश्यकता है। पर लड़ाइयाँ तब तक भी अनिवार्य रहेंगी जब तक हम सैनिक-संगठन में भाग लेते रहेंगे, उनका अस्तित्व बनाए रहेंगे, और अपनी सारी शक्ति लगाकर उसका विरोध न करने लग जाएँगे। हम लोग या तो स्वयं फौज में भर्ती हो जाते हैं या उसे आवश्यक ही नहीं वरन् प्रशंसनीय भी समझते हैं; और इसके बाद जब युद्ध छिड़ जाता है, तो हम इसके लिए किसी-न-किसी राजनीतिक नेता को उत्तरदायी ठहराने और उसे दोषी बतलाने लगते हैं। परंतु इन सब बातों के होते हुए भी लड़ाई का अस्तित्व उस समय तक बना ही रहेगा, जब तक हम केवल मानते ही नहीं वरन् बिना किसी क्रोध अथवा द्वेष के उस विकृत धर्म को सहन करते रहेंगे जिसके अनुसार सेना, शस्त्रों का पूजा करना और धर्म-युद्ध का मानना-जैसी बातें ग्राह्य समझी जाती रहेंगी। हम अपने बच्चों को इसी धर्म की शिक्षा देते हैं, हम स्वयं भी उसे मानते हैं और फिर इसके बाद हममें से कोई तो कहता है कि हम लोगों ने जो मनुष्यों की हत्या की है उसके

लिए चैंबरलेन दोषी है। कोई कहता है कि इसका दोष क्रूगर के ऊपर है।

यही कारण है कि मैं तुमसे क्यों सहमत नहीं हो सकता और अशांति तथा बुराई के इन अंधे औजारों को दोषी क्यों नहीं ठहरा सकता। मैं तो युद्ध का कारण उस बात में देखता हूँ जिसे बढ़ाने या घटाने में मैं सहायक हो रहा हूँ। इसलिए युद्ध के सच्चे विरोधी को चाहिए कि वह संपत्ति के समान बँटवारे में भाग ले, उन विशेषाधिकारों से, जो कि उसे प्राप्त हैं, कम-से-कम लाभ उठाए, किसी भी प्रकार के सैनिक-कार्य में भाग लेने से अलग रहे; उस जादू को मिटा दे जिसके कारण मनुष्य हत्यारे बनकर सेना में काम करते हैं, और यह सोचते रहते हैं कि वे सेना में भर्ती होकर बड़ा अच्छा कार्य कर रहे हैं और इन सबके अलावा उसे चाहिए कि वह बुद्धिपूर्वक धर्म का पालन करे, तथा अपनी सारी शक्ति के साथ मिथ्या धर्म के क्रूरतापूर्ण कपट-जाल को नष्ट करें, जिसकी शिक्षा युवकों को जबरदस्ती दी जा रही है। इस कार्य का करना, जैसा कि मुझे ज्ञात होता है, प्रत्येक ऐसे मनुष्य का धर्म है जो सत्य की उपासना करना चाहता है, और जिसकी आत्मा को वर्तमान भयंकर युद्ध से सचमुच चोट पहुँची है।

दो युद्ध

ईसाई-संसार इस समय दो महायुद्धों की रणभूमि हो रहा है। एक समाप्त हो चुका है और दूसरा अभी जारी है; परंतु कुछ समय तक वे एक साथ ही चलते रहे थे और इन दोनों में जो अंतर है वह बड़ा ही चित्ताकर्षक है। पहला स्पेन-अमेरिका-युद्ध—एक पुरानी, व्यर्थ की मूर्खतापूर्ण और क्रूरता की लड़ाई थी, जो बिल्कुल बे-मौका, और काफिरों की लड़ाई थी जिसकी मंशा एक मनुष्य-समाज का वध कर इस प्रश्न का हल करना था कि दूसरे मनुष्य-समाज का किस प्रकार और किसके द्वारा शासन किया जाए। दूसरी लड़ाई, जो अब भी जारी है और जिसका अंत केवल उसी समय होगा जब संसार से युद्ध का अंत हो जाएगा, एक नई, आत्म-बलिदान की और पवित्र धार्मिक लड़ाई है जिसका आधार बुद्धि और प्रेम है, और जिसकी घोषणा (जैसा कि विक्टर ह्यूगो ने एक महासभा के अवसर पर कहा है) एक उच्च विचारवाले और समुन्नत—ईसाई—मनुष्य-समाज ने दूसरे, मूर्ख और असभ्य समाज के विरुद्ध की है। यह लड़ाई अभी हाल में मुट्ठी-भर ईसाइयों—काकेशस के डूखोबर लोगों—ने शक्तिशाली रूसी सरकार के विरुद्ध बड़े साहस और सफलता के साथ छेड़ी है।

अभी उस दिन मुझे कोलार्ड से एक सज्जन जेसी ग्लाडविन का एक पत्र प्राप्त हुआ, जिसमें उन्होंने मुझे 'अमेरिका राष्ट्र के इस धर्म-कार्य तथा सिपाहियों और नाविकों की वीरता के संबंध में अपने विचार प्रकट करने के लिए' लिखा है। अधिकांश अमेरिका-निवासियों के साथ-साथ इन महाशय का भी पूर्ण विश्वास है कि अमेरिका-निवासियों का यह कार्य लगभग लाखों नि:शस्त्र मनुष्यों का (क्योंकि अमेरिकनों के साज व सामान के देखते हुए स्पेनवाले लगभग बिना शस्त्र के ही थे) वध करना निस्संदेह एक 'धर्म-कार्य' था, और वह उन बहुसंख्यक मनुष्यों को, जो अपने लाखों-करोड़ों भाइयों का वध कर चुकने के बाद सलामत और जिंदा बच रहे हैं और जिन्होंने अपने लिए प्रचुर धन-धान्य और सुविधाओं का प्रबंध कर लिया है, वीर समझते हैं।

स्पेन-अमेरिका-युद्ध—उन अत्याचारों का विचार न करते हुए जो स्पेनवालों ने क्यूबा में किए हैं, और जो इस युद्ध के लिए एक बहाना मिल गया—बिल्कुल इस प्रकार का है—एक वृद्ध मनुष्य, जो निर्बल और बालक जैसा है, और जिसका लालन-पालन एक झूठे सम्मान और गुरुता के वायुमंडल में हुआ है, किसी गलत-फहमी का निपटारा करने के लिए एक युवा मनुष्य को, जो अपनी पूरी ताकत में भरा हुआ है, मल्ल-युद्ध करने को ललकारता है। और यह युवा पुरुष, जिसे अपनी पहले की कुछ बातों तथा अपने विचारों के कारण इस निपटारे के सवाल से बिल्कुल दूर ही रहना ठीक था, इस मुकाबले के लिए तैयार हो जाता है। और इसके बाद एक डंडा लेकर वह युवा पुरुष उस कमजोर बुड्ढे आदमी के ऊपर टूट पड़ता है, ठोकरों से मारकर उसको गिरा देता है, उसके दाँत और पसलियाँ तोड़ डालता है, और इसके बाद अपने ही जैसे युवा पुरुषों की एक बड़ी भीड़ के सामने, जो खड़ी हुई इस दृश्य को देख रही थी, अपनी इस वीरता का बखान करता है और वे लोग इस वीर के कार्य की प्रशंसा करते हैं जिसने इस प्रकार एक वृद्ध पुरुष को घायल कर डाला और उस पर हर्ष प्रकट करते हैं।

पहली लड़ाई इस प्रकार की है, जिसकी समस्त ईसाई-संसार के अंदर चर्चा हो रही है। दूसरी लड़ाई के संबंध में कोई भी कुछ नहीं कहता, उसके बारे में मुश्किल से लोगों को कुछ मालूम है।

इस दूसरी लड़ाई का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—प्रत्येक राष्ट्र अपने शासकों द्वारा एक बहुत बड़े भ्रम में डाल रखा गया है। वे कहते हैं—"तुम लोग, जिनके ऊपर हम शासन करते हैं, हमेशा इस खतरे में रहते हो कि कहीं दूसरे राष्ट्र तुम पर हमला कर तुम्हें अपने अधीन न कर लें, हम तुम्हारी सुख-समृद्धि तथा तुम्हारी रक्षा का ध्यान रखते हैं, और इसलिए हम तुमसे कुछ करोड़ रुपए सालाना

माँगते हैं—जो तुम्हारे परिश्रम का फल है और जिसको हम तुम्हारी रक्षा के लिए सेना रखने, तोप, बंदूकें, गोला-बारूद और जहाज खरीदने में व्यय करेंगे। हम यह भी चाहते हैं कि तुम स्वयं भी उन संस्थाओं में जाओ जो हमने संगठित और निर्मित की है। वहाँ पर तुम एक बहुत बड़ी मशीन—फौज के, जिस पर हमारा पूर्ण अधिकार और नियंत्रण होगा, बेजान और बेहोश पूर्जे बन जाओगे। इस फौज में भर्ती होने पर तुम अपनी इच्छा के अनुसार काम करनेवाले मनुष्य न रह जाओगे। तुमको सिर्फ वही काम करना होगा जो हम तुमसे करने के लिए कहेंगे, परंतु हम जो कुछ चाहते हैं, वह शासन करना; इस शासन का साधक है हत्या और इसलिए हम तुम्हें हत्या करना सिखलाएँगे।''

एक राष्ट्र से कहा जाता है कि तुम खतरे में हो, दूसरा राष्ट्र तुम पर चढ़ाई करनेवाला है, दूसरे राष्ट्र के शासक भी उसे समझाते हैं कि तुम भी खतरे में हो, पहला राष्ट्र तुम पर चढ़ाई करेगा। इस प्रकार परस्पर शांति से रहने की इच्छा होने पर भी राष्ट्र मतलबी शासकों द्वारा एक-दूसरे से लड़ाए जाते हैं और लोग उनके इस कपट-जाल में फँस जाते हैं, अपना रुपया अपने को ही गुलाम बनाए जाने में व्यय करने के लिए दे देते हैं, और स्वयं दूसरों को गुलाम बनाने में सहायक होते हैं।

लेकिन अब लोग आते हैं और कहते हैं—''जो कुछ भी तुम उस डरावने खतरे के बारे में कहते हो यह सब तुम्हारा कपट-जाल है। यह भी झूठ है कि उससे तुम हमारी रक्षा करते हो, सारे राज्य हमको इस बात का निश्चय दिलाते हैं कि वे शांति चाहते हैं और फिर भी वे सब एक-दूसरे के विरुद्ध शस्त्र-संग्रह कर रहे हैं। इसके अलावा उस कानून के अनुसार, जिसे तुम स्वयं भी मानते हो, सब मनुष्य भाई-भाई हैं, और इसलिए चाहे कोई मनुष्य इस राज्य का हो अथवा किसी दूसरे राज्य का इससे कोई अंतर नहीं पड़ता; इसलिए दूसरे राष्ट्रों द्वारा हमारे ऊपर आक्रमणवाली बात से हम् नहीं डरेंगे, हम उसे कुछ भी महत्त्व नहीं देते। परंतु आवश्यक बात तो यह है कि जो कानून हमें ईश्वर की ओर से प्राप्त हुआ है और जिसे तुम लोग भी, जो हमसे हत्या के कामों में हिस्सा लेने को कहते हो, स्वीकार करते हो, उसमें केवल हत्या करने की ही नहीं वरन् हर तरह के बल-प्रयोग को भी मुमानियत की गई है। इसलिए हम तुम्हारी इस हत्या करने की तैयारी में कोई हिस्सा नहीं ले सकते, और न लेंगे। हम इस काम के लिए धन न देंगे और हम मनुष्यों के मस्तिष्क और अंत:करण को दूषित करने तथा उन्हें किसी भी दुष्ट हृदय मनुष्य के, जो उनका प्रयोग करना चाहते हैं, आज्ञानुवर्ती बल-प्रयोग के यंत्र बनाने के उद्देश्य से की गई सभाओं में उपस्थित न होंगे।''

दूसरी लड़ाई इस प्रकार की है। यह लड़ाई बहुत समय से संसार के सर्वोत्कृष्ट

मनुष्य-समाज और पशु-बल के पुजारियों में होती चली आई है और अभी हाल में भी इसने डूखोबरों (ईसाइयों का एक संप्रदाय) और रूसी सरकार के बीच भयंकर रूप धारण कर लिया है। रूसी सरकार ने उन सभी वस्त्रों का प्रयोग कर डाला है जो उसके हाथ में थे। गिरफ्तारियाँ करने के लिए, लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने से रोकने के लिए, लोगों के पारस्परिक समागम को बंद करने के लिए पुलिस का काम में लाना, पत्रों (चिट्ठियों) का पकड़ना, गुप्तचरों का रखना, डूखोबरों के संबंध में समाचार-पत्रों में कोई समाचार प्रकाशित करने की मनाही करना, अखबारों में उनकी बुराई छपवाना, घूसखोरी, कोड़े मारना, कारावास, निर्वासन और परिवारों की तबाही करना इत्यदि सब उपाय आजमाए जा चुके हैं।

इसके विपरीत डूखोबरों ने अपने एकमात्र धार्मिक अस्त्र, अर्थात् शांत बुद्धि और धर्मयुक्त दृढ़ता, का प्रयोग किया; और उनका कथन है "मनुष्य को मनुष्य की अपेक्षा ईश्वर की आज्ञा अधिक मान्य समझनी चाहिए। इसलिए आप हमारे साथ चाहे जो कुछ भी करें, हम आपकी आज्ञा नहीं मान सकते और न मानेंगे।"

लोग इन राक्षसी स्पेन-अमेरिका-युद्ध के उन वीरों की प्रशंसा करते हैं जिन्होंने संसार में यश प्राप्त करने और इनाम लेने की इच्छा से लाखों मनुष्यों का वध कर दिया है, अथवा अपने भाइयों का वध करने के बुरे काम में अपना जीवन दे दिया है। परंतु कोई भी मनुष्य उन वीरों का नाम नहीं लेता, अथवा उनको जानता तक नहीं, जिन्होंने इस युद्ध के विरुद्ध युद्ध करते हुए, जेलखाने की गंदी कोठरियों में अथवा कठोर निर्वासन में अपने प्राण दे दिए हैं और अब भी प्राण दे रहे हैं और जो शरीर में प्राण रहते हुए धर्म और सत्य के ऊपर दृढ़ रहे हैं।

मैं स्वधर्म पर अब तक बलिदान हो चुकनेवाले बीसियों ऐसे महापुरुषों को जानता हूँ और सैकड़ों ऐसे महानुभावों को भी जानता हूँ, जो समाप्त संसार में फैले हुए, सत्य का प्रचार करते हुए स्वर्गारोही होते चले जा रहे हैं।

मैं किसानों के उपदेशक मि. ड्रांगिन को जानता हूँ; जिन्हें दंड संबंधी सेना भेजकर और भाँति-भाँति के कष्ट देकर उनका प्राण-हरण किया गया। मैं एक दूसरे सज्जन, इस्यूमेको (ये ड्रांगिन के एक मित्र थे), को भी जानता हूँ जिन्हें कुछ काल तक दंड्य-सेना में रखकर, दूसरी दुनिया को निर्वासित कर दिया गया। मैं महाशय ऑल्खोविको को भी, जो एक कृषक थे, जानता हूँ, जिन्होंने फौज में नौकरी करना अस्वीकार कर दिया था और इसी कारण वह दंड्य-सेना में भेज दिए गए थे, जब उन्हें निर्वासित करने के लिए सिपाही एक जहाज पर लिए जा रहे थे, तब उन्होंने सेरेडा नामक सैनिक को, जो उन्हें अपनी निगरानी में लिए जा रहा था, अपने पक्ष में कर लिया। फौज में नौकरी करना पाप-कर्म है इस संबंध में ऑल्खोविको ने उससे

जो कुछ भी कहा था उस पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और इस प्रकार प्रभावित हो वह अपने अधिकारियों के पास गया और कहा—"मैं अत्याचारियों में अपनी गणना कराना नहीं चाहता; मुझे धर्म पर बलिदान होनेवालों की श्रेणी में अपना नाम लिखाने दो।" इस पर उन लोगों ने उसे दंड देना आरंभ कर दिया। दंड्य-सेना में उसे भेज दिया और इसके बाद उसे याकूस्टक प्रांत में निर्वासित कर दिया। मैं बीसियों ऐसे डूखोबरों को जानता हूँ जिनमें से बहुतों ने प्राण दे दिए अथवा नेत्र-विहीन कर दिए जाने पर भी उन बातों का करना स्वीकार नहीं किया, जो ईश्वरीय नियम के विरुद्ध हैं।

अभी उस रोज मुझे एक पत्र एक युवक डूखोबर के पास से प्राप्त हुआ जो समरकंद-स्थित फौज को अकेला भेज दिया गया था। उसे अधिकारियों की ओर से वे ही आज्ञाएँ मिलती हैं, वे ही धमकियाँ दी जाती हैं और अनुनय-विनय की जाती है, और हमेशा वही सीधा और अनिवार्य उत्तर मिलता है—"मैं उन बातों को नहीं कर सकता जो मेरे ईश्वर-संबंधी विश्वास के विरुद्ध है।"

"तो हम कष्ट देकर तुम्हारा प्राण-हरण कर लेंगे।"

"यह आपका काम है। आप अपना काम करें, और मैं अपना काम करूँगा।"

यह बीस वर्ष का युवक कैसा बहादुर है। उसका सब लोगों ने परित्याग कर दिया है। एक अज्ञात स्थान में वह उन लोगों से घिरा हुआ है जो उससे द्वेष रखते हैं, और धनवान्, शक्तिशाली और शिक्षित हैं और जो उसे अपनी अधीनता में लाने के लिए अपनी सारी बुद्धि और शक्ति का व्यय कर रहे हैं। पर वह उनकी अधीनता स्वीकार नहीं करता, किंतु यह सब होते हुए भी अपने इस विरोचित कार्य में दृढ़ रहता है।

परंतु लोग कहते हैं—"ये लोग व्यर्थ अपना बलिदान दे रहे हैं; ये लोग अपने प्राण देते हैं, परंतु संसार तो ऐसा ही बना रहेगा।" यह मैं समझता हूँ, ठीक वैसा ही, जैसा कि मसीह तथा सत्य की वेदी पर अपने प्राणों की बलि चढ़ा देनेवाली अन्य ऐसे ही महानुभावों के बलिदान के संबंध में कहा जाता था। इस समय के लोग, विशेषकर पढ़े-लिखे लोग ऐसे असभ्य हो गए हैं कि अपनी इस असभ्यता के कारण वे आध्यात्मिक बल के महत्त्व और प्रभाव को भी नहीं समझ सकते। पचास रतल का डाइनामाइट का गोला (बम का गोला) जीवित मनुष्यों के समूह के ऊपर छोड़ दिया जाता है—इसे वे बल जानते और मानते हैं। परंतु सत्य विचार, जिसको जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया गया है और व्यवहार में लाया गया है, यहाँ तक कि धर्मार्थ प्राणोत्सर्ग में भी उसका व्यवहार और अनुभव किया गया है, जो अब इस समय लाखों-करोड़ों मनुष्यों के लिए सुलभ हो गया है—यह उनके विचारानुसार

बल नहीं है, क्योंकि इसमें आवाज नहीं होती और न टूटे हुए अस्थि-पंजर और रक्त-कुंड ही दिखाई पड़ते हैं। विद्वान मनुष्य (यह सच है कि इन लोगों का ज्ञान एक मिथ्या ज्ञान है) अपनी सारी ज्ञान-शक्ति का प्रयोग इस बात को प्रमाणित करने में करते हैं कि मनुष्य-जाति पशुओं के जैसा जीवन व्यतीत करती है, केवल सांपत्तिक विचार ही मनुष्य के मार्ग-दर्शक हैं और बुद्धि उसको केवल मनोरंजन के लिए ही दी गई है। परंतु सरकारें इस बात को भली-भाँति जानती हैं कि वह कौन-सी वस्तु है, जो संसार के ऊपर शासन करती है और इस कारण आत्म-रक्षा के भाव से प्रेरित-होकर—वे निश्चित रूप से आध्यात्मिक शक्तियों के परिणामों के विषय में ही हमेशा चिंतित रहती हैं, क्योंकि उन्हीं शक्तियों के ऊपर तो उनका अस्तित्व अथवा विनाश निर्भर करता है।

इसीलिए रूसी सरकार की सारी शक्तियाँ इस काम में खर्च हो रही हैं कि डूखोबरों के प्रभाव से अपने-आपको कैसे बचाया जाए। अत: वे उनके प्रभाव का विश्लेषण करने और उन्हें देश की सीमा के बाहर निर्वासित कर देने में ही लगी हुई हैं।

परंतु इन सारे प्रयत्नों के होते हुए भी डूखोबरों के इस संग्राम ने लाखों मनुष्यों की आँखें खोल दी हैं।

मैं सैकड़ों, वृद्ध और युवा, योद्धाओं को जानता हूँ, जिनको साधु-प्रकृति, उद्योगी डूखोबरों पर होनेवाले अत्याचारों को देख, अपने कार्य के न्यायोचित होने में संदेह होने लगा है। मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ जिन्होंने इन लोगों के जीवन को तथा उन कष्टों को, जो उन्हें दिए गए हैं, देखने अथवा उनके विषय में सुनने के बाद ही, पहले-पहल जीवन तथा धर्म के सच्चे रहस्य पर विचार करना आरंभ किया है।

और जो सरकार लाखों मनुष्यों के ऊपर रोजाना सैकड़ों प्रकार के अत्याचार करती है, वह इस बात को जानती है, और इस बात को अनुभव करती है कि उसके अंत:करण पर भारी आघात हुआ है।

रूस में जो दूसरी लड़ाई इस समय लड़ी जा रही है, उसका ऐसा रूप है और उसके ऐसे परिणाम हैं। और ये परिणाम अकेले रूस की सरकार के लिए ही ऐसे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं; प्रत्येक ऐसी सरकार को, जिसका निर्माण हिंसा की भित्ति पर हुआ है और जिसकी स्थिति भी सैनिक बल के ऊपर है, इस अस्त्र से एक-सा ही आघात पहुँचा है। ईसा मसीह ने कहा था, "मैंने संसार को जीत लिया है।" और सचमुच उन्होंने संसार को जीत लिया है यदि लोग केवल उस अस्त्र की शक्ति पर विश्वास करना भर सीखे लें, जो उन्होंने दिया है।

और यह अस्त्र है क्या? प्रत्येक मनुष्य का स्वयं अपनी विवेक-बुद्धि और

अंत:करण की आज्ञानुसार कार्य करना। यह वास्तव में बहुत ही सरल असंदिग्ध और ऐसा है, जिसका मानना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। एक बुद्धिमान और विवेकवान् मनुष्य—वह मनुष्य जिसने अपनी आत्मा न तो बेच दी और न उसे कलुषित बना डाला है—यह कहता है—"तुम मुझे हत्या के काम में भागी बनाना चाहते हो; तुम अस्त्र-शस्त्र तैयार करने के लिए मुझसे रुपया माँगते हो; और यह चाहते हो कि मैं हत्यारों के संगठित दल में भाग लूँ? परंतु मेरा कानून जुदा है। इससे जुदा है पर उसे तुम भी मानते हो। उसके अनुसार हत्या करना तो दूर, किसी से किसी प्रकार का द्वेष करने की भी मनाही है; इसलिए मैं तुम्हारी आज्ञा नहीं मान सकता।"

यह और अकेला यही उपाय है जिससे सारा संसार जीता जा रहा है।

कोई फौज में भर्ती न हो

संस्कारवान, बुद्धिमान, साधु-प्रकृति धार्मिक पुरुष, जो प्रेम और भ्रातृ-भाव के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं, जो हत्या करना एक घोर पाप समझते हैं, (बहुत थोड़े-से आदमियों को छोड़) किसी पशु का वध नहीं कर सकते—ये सभी लोग एकबारगी, बशर्ते कि इन अपराधों को युद्ध की संज्ञा दे दी गई हो, लोगों के मारे जाने, उनका माल लूटने और उनके विनाश को केवल उचित और न्यायानुकूल ही नहीं समझते, वरन् स्वयं भी इस लूट-मार में, और इन हत्याओं में भाग लेते हैं, उनके लिए अपने-आपको तैयार करते हैं, उनमें सहायता करते हैं और उन पर गर्व करते हैं, बशर्ते कि इस लूट-मार और खून-खच्चर को युद्ध के नाम से गौरवान्वित कर दिया गया हो। इसके अतिरिक्त हमेशा और हर जगह बार-बार हम यही देखते हैं कि अधिकांश लोग—जो श्रमजीवी हैं—वे ही लोग जो लूट-मार और हत्याएँ करते हैं और जिनके ऊपर इन बातों का सारा भार है—इन बातों को न चाहते हैं, न उनके लिए तैयारी करते हैं और उनकी तदबीरें बाँधते हैं। उन्हें तो अपनी इच्छा के विरुद्ध उन युद्धों में केवल इसलिए हिस्सा लेना पड़ता है कि वे ऐसी स्थिति में डाल दिए गए हैं और उनको ऐसी विपरीत शिक्षा दी जाती है कि उन्हें मजबूर होकर युद्धों में भाग लेना पड़ता है, बल्कि वे तो सोचते हैं कि युद्ध से इनकार करेंगे तो हमें और भी अधिक दुख उठाना पड़ेगा। परंतु इसके विपरीत जो लोग इस लूटमार और इन हत्याओं के लिए तदबीरें बाँधते हैं और उनके लिए तैयारी करते हैं; वे उँगलियों पर गिने जा सकनेवाले बहुत थोड़े-से आदमी हैं, जो इन श्रमजीवियों की कमाई के ऊपर विलासितापूर्ण और

आलस्यमय जीवन व्यतीत करते हैं। यह कपट बहुत पहले से चला आ रहा है। परंतु हाल में थोड़े समय से इन दगाबाजों की धृष्टता अपनी चरम सीमा को पहुँच गई है, और श्रमजीवियों की कमाई का एक बहुत बड़ा अंश इन श्रमजीवियों से छीनकर लूट-मार और नर-हत्या के कामों की तैयारी में व्यय किया जा रहा है। यूरोप के उन समस्त देशों में, जिनमें वैध-शासन प्रणाली प्रचलित है, श्रमजीवियों को—सभी श्रमजीवियों को बिना किसी अपवाद के—इन लूट-मार और हत्या के कामों में हिस्सा लेने के लिए बाध्य किया जाता है; अंतरराष्ट्रीय संबंधों को जान-बूझकर अधिकाधिक जटिल बना दिया जाता है और इसका परिणाम युद्ध होता है। बिना किसी कारण शांतिप्रिय देश लूटे जा रहे हैं। प्रतिवर्ष कहीं-न-कहीं लोग कुछ हत्याएँ करते और माल लूटते रहते हैं; और सब लोगों की जान हमेशा आपस की लूट-मार और कत्ल के खतरे में बनी रहती है। इन सब बातों का कारण केवल यही है कि ज्यादातर लोगों को मुट्ठीभर आदमी, जिनको इस ठगाई से लाभ पहुँचता है, धोखे में डाले हुए हैं। इसलिए जो लोग मनुष्यों को आपस की लूट-मार और हत्या से उत्पन्न होनेवाली बुराई से बचाने को उत्सुक हैं उनके लिए सबसे पहला काम इस दगाबाजी और धोखेबाजी का पर्दाफाश करना होगा, जिसमें सीधे-साधे और भोले-भाले श्रमजीवी और साधारण आदमी पड़े हुए हैं। उन्हें यह बतलाना होगा कि उनके साथ इस धोखेबाजी से किस तरह काम लिया जा रहा है, इसका अस्तित्व किन-किन बातों के ऊपर है और उसका अंत किस प्रकार किया जा सकता है। परंतु यूरोप के संस्कारवान् मनुष्य इस प्रकार की कोई भी बात नहीं करते। संसार में शांति-स्थापना के बहाने वे आज यूरोप के एक नगर में एकत्र होते हैं तो कल दूसरे में और सभाओं में कुर्सियाँ तोड़ते हुए, गंभीरमुख बैठी बड़ी संजीदगी के साथ इस बात पर विचार और वाद-विवाद किया करते हैं कि उन चोरों को, जो लूट-मार से अपनी जीविका चलाते हैं, इस लूट-मार और डकैती को छोड़ देने और शांतिप्रिय नागरिक बनने के लिए राजी करने का सबसे उत्तम उपाय क्या है; इसके बाद वे बड़े-बड़े गंभीर प्रश्न करने लगते हैं। प्रथम यह कि क्या इतिहास, कानून, और उन्नति की दृष्टि से युद्ध अभी भी वांछनीय है? (मानो ये सारी मिथ्या बातें, जो हमारे द्वारा अविष्कृत हैं, हमको अपने जीवन के मूल नैतिक कानून से अलग कर सकती है)। दूसरे, यह कि युद्ध का परिणाम क्या होता है? (मानो इस बात में अब भी कोई संदेह है कि युद्ध का परिणाम हमेशा सार्वजनिक पीड़ा और दुराचार होता है); और अंततः यह कि युद्ध की समस्या कैसे हल की जाए? (मानो यह कोई बड़ी भारी समस्या उपस्थित हो गई हो कि मोहाकृष्ट लोगों को उस भ्रम से किस प्रकार मुक्त किया जाए जिसे कि हम स्वयं देख रहे हैं)।

यह बहुत भयंकर है! उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि कैसे तंदुरुस्त, शांतचित्त और सदैव प्रसन्न रहनेवाले मनुष्य प्रतिवर्ष मौंट कार्लो—जैसे द्यूत-स्थान के मालिक (रक्षकों?) को छोड़ अन्य किसी को भी लाभ न पहुँचाकर उन स्थानों पर अपनी तंदुरुस्ती, अपनी कीर्ति और कभी-कभी अपने प्राणों को भी छोड़कर चल बसते हैं। हमें इन लोगों पर दया आती है, हम इस बात को साफतौर पर देखते हैं कि उनकी इन वंचनाओं का कारण वे प्रलोभन हैं जिनमें जुआरी लोग फँस जाते हैं, अर्थात् जीत के अवसर की विषमता और जुआरियों की मूर्खता जो भली-भाँति यह जानते हुए भी कि अधिकांश संभावना उनके हारने की है, यह आशा करते रहते हैं कि शायद एक बार ही कहीं वे दूसरों से अधिक भाग्यशाली सिद्ध हो जाएँ और उनका पासा सीधा पड़ जाए। ये सब बातें बिल्कुल साफ हैं पर तो भी लोगों को इन दुर्व्यसनों और उनसे होनेवाली विपत्तियों से मुक्त करने के लिए हम उन्हें उन प्रलोभनों को दिखाने के बदले, जिनमें कि वे फँसे जा रहे हैं, द्यूत-क्रीड़ा की बुराइयों को, जिसका आधार दूसरे लोगों के भाग्य को अपने से खराब समझ लेना है, दिखाने तथा यह बतलाने के बदले कि वे हारेंगे अवश्य, सभाओं में एकत्र होते हैं और बड़ी गंभीरता के साथ इस प्रश्न पर वाद-विवाद करते हैं कि क्या प्रबंध किया जाए कि इन द्यूत-क्रीड़ा के मकानों के मालिक स्वेच्छा से इन संस्थाओं को बंद कर दें; हम इस विषय में पुस्तकें लिखते हैं, और हम अपने-आपसे यह प्रश्न करते हैं कि क्या इतिहास, कानून और उन्नति का यह तकाजा है कि द्यूतशालाएँ बनी रहें, और यह कि द्यूत-क्रीड़ा का आर्थिक, मानसिक (बुद्धि-विषयक) तथा नैतिक परिणाम क्या होता है।

यदि किसी मनुष्य को मद्यपान का व्यसन हो गया है, और मैं उसको यह बतलाता हूँ कि वह स्वयं मद्यपान की आदत को छोड़ सकता है और यह कि उसे फौरन यह आदत छोड़ देनी चाहिए, तो इस बात की आशा की जा सकती है कि वह मेरी बात सुनेगा। लेकिन अगर हम उससे यह कह दें कि तुम्हारे मद्यपान की समस्या एक बड़ी जटिल और कठिन समस्या है जिसे हल करने का हम विद्वान लोग अपनी सभाओं में प्रयत्न कर रहे हैं, जो शायद वह इस समस्या के हल करने के उपाय की प्रतीक्षा में बराबर शराब पीता ही रहेगा। ठीक यही बात मिथ्या और सभ्य, लड़ाई का अंत करने के बाह्य वैज्ञानिक साधनों, जैसे अंतरराष्ट्रीय, अदालतें, पंचायतें और ऐसी ही अन्य बहुत-सी वाहियात बातों के संबंध में भी है, जबकि हर समय होशियारी के साथ युद्ध के कारणों को दूर करने के सबसे सरल, सबसे अधिक आवश्यक और निश्चित उपाय को छिपाया जा रहा है—वह उपाय, जिसे प्रत्येक मनुष्य भली प्रकार देख सकता है, बस यही है कि जो लोग युद्ध नहीं चाहते हैं, वे आपस में लड़ें न। इस बात की आवश्यकता नहीं कि अंतरराष्ट्रीय कानून बनाया

जाए, पंचायतें बनाई जाएँ, और अंतरराष्ट्रीय अदालतें कायम की जाएँ अथवा समस्याओं का हल ढूँढ़ा जाए; किंतु आवश्यकता केवल इस बात की है कि जिन लोगों की आँखों में धूल झोंकी जा रही है, जिन्हें इस कष्ट का शिकार बनाया जा रहा है, वे अपनी आँखें खोलें, प्रबुद्ध हों, और अपने-आपको उस मोह अथवा इंद्रजाल से मुक्त करें जिसमें कि वे पड़े हुए हैं। जो लोग लड़ाई नहीं चाहते हैं, जो उसमें हिस्सा लेना पाप समझते हैं, उनके लिए लड़ाई से मुक्त होने का उपाय यह है कि वे लड़ाई से हमेशा दूर रहें, उससे अपना हाथ खींचे रहें। इस उपाय की शिक्षा पहले जमाने से टरटूलियन और ओरिजेन जैसे ईसाई लेखकों द्वारा तथा पॉल के अनुयायियों और उसके उत्तराधिकारी मेनानाइट, क्वेकर और हर्नहटर लोगों द्वारा दी जा रही है। सैनिक-सेवा एक पापपूर्ण, हानिकारक और मूर्खतापूर्ण कर्म है, इस संबंध में डामंड, गैरिसन ने और बीस वर्ष हुए बालों ने तथा स्वयं मैंने भी बहुत-कुछ लिखा है और उसका जितना भी हो सका प्रचार भी किया है। जिस उपाय का मैंने वर्णन किया है, उसको पुराने जमाने में लोगों ने अपनाया था और अभी हाल में आस्ट्रिया, प्रशिया, हालैंड, स्विटजरलैंड और रूस में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भी कभी-कभी इसका आश्रय लिया है और अभी थोड़े ही दिन हुए डूखोबरों ने भी इससे काम लिया था, जिनमें के पंद्रह हजार आदमियों ने तीन वर्ष तक शक्तिशाली रूस-सरकार का बड़ी वीरता के साथ मुकाबला किया, और उनको दिए गए उन तमाम कष्टों के बावजूद उन्होंने उसकी इस आज्ञा तुम आकर सैनिक-सेवा के अपराधों में भागी बनो—के सामने सिर नहीं झुकाया।

परंतु शांति के उपासक सुसंस्कृत महानुभाव, इस उपाय को काम में लाने की सलाह देना तो दूर रहा, उसकी बात को भी नहीं सुन सकते। यदि कहीं वह उनके सामने पेश किया जाता है तो वे इस बात का बहाना करते हैं कि उन्होंने उसे देखा ही नहीं, अथवा यदि किसी प्रकार उनकी दृष्टि उस पर पड़ ही जाती है तो वे बड़ी गंभीरता के साथ सिर हिलाकर उन अशिक्षित और विवेकहीन पुरुषों के प्रति दया प्रकट करते हैं जो उनकी दृष्टि में ऐसे प्रभावहीन और मूर्खतापूर्ण उपाय को काम में लाते हैं जबकि इससे अच्छा और उत्तम उपाय मौजूद है। और वह क्या है ? यही कि उस सरकार से, जो हिंसा पर टिकी है, इन दोनों बातों को छोड़ देने के लिए अनुनय-विनय करना।

वे हमें यह बतलाते हैं कि सरकारों के बीच जो गलतफहमी है उसका तस्फिया अदालतों अथवा पंचायतों के द्वारा हो जाएगा। लेकिन सरकारें गलतफहमियों का निबटारा चाहें तब न ? इसके विपरीत, जहाँ कोई गलतफहमी नहीं होती है, वहाँ वे एक-न-एक पैदा कर देती हैं, और दूसरी सरकारों के साथ होनेवाली ऐसी ही

गलतफहमी को वे सेना रखने का एक बहाना बना लेती हैं। क्योंकि उन्हें तो किसी-न-किसी प्रकार सेना रखनी है, जिसके ऊपर उनकी शक्ति का दारोमदार है। इस प्रकार शांति के बुद्धिमान उपासक लाखों-करोड़ों दु:खार्त श्रमजीवियों का ध्यान उस उपाय की ओर से दूर करने का प्रयत्न करते हैं जो उनको उस गुलामी से निकालने का एकमात्र उपाय है, जिसमें कि वे अपनी युवावस्था से लेकर अब तक पड़े हुए हैं। इसके लिए पहले तो वे उनमें स्वदेश-प्रेम के भाव भरती हैं, दूसरे विकृत धर्म के रोजगारी पुजारियों द्वारा लोगों को धर्म की शपथ दिलाते हैं, और तीसरे, उन्हें दंड का भय दिखाते हैं।

हमारे जमाने में, जबकि भिन्न-भिन्न जातियों और देशों के लोग परस्पर प्रेम और शांति के साथ रह रहे हैं, वह मायाजाल, जो स्वदेश-प्रेम के नाम से प्रसिद्ध है, हमारी अवस्था के विवेकशील पुरुषों पर इतनी इच्छी तरह प्रकट हो गया है कि वे उससे अपने-आपको मुक्त कर सकते हैं (यह स्वदेश-प्रेम हमेशा एक राज्य अथवा जाति के ऊपर दूसरे राज्य या जाति की प्रधानता का दावा किया करता है और इसलिए हमेशा लोगों को व्यर्थ के और हानिकारक युद्धों में फँसाए रहता है)। और शपथ लेने के बंधन के धार्मिक छल-कपट में (जिसकी उसी इंजील में साफतौर पर मुमानियत की गई है जिसको ये सरकारें मानती हैं) परमात्मा की कृपा से और भी कम विश्वास किया है। इस कारण जो बात बहुसंख्यक मनुष्यों को सैनिक-सेवा से इनकार करने से रोकती है, वह केवल दंड का भय है जो ऐसी इनकारी के लिए सरकारों की ओर से दिया जाता है। परंतु यह भी केवल सरकार के कपट-जाल का परिणाम-मात्र है, और सिवाय भ्रमोत्पादन के इसका अन्य कोई आधार नहीं है।

सरकारों को उन लोगों का भय हो सकता है और होना भी चाहिए जो सैनिक-सेवा से इनकार करते हैं, और वास्तव में वे उनसे डरते भी हैं। क्योंकि हरेक इनकार से उस मायाजाल को चिरकालीन प्रतिष्ठा का मूलोच्छेद होता है, जिसके द्वारा सरकारों को लोगों के ऊपर अधिकार प्राप्त है, परंतु उन लोगों को, जो सैनिक-सेवा से इनकार करते हैं, उस सरकार से डरने का किसी तरह का कोई कारण नहीं है, जो उन्हें नर-हत्या जैसे घोर अपराध करने को कहती हैं। सैनिक सेवा अस्वीकार करने में उतना खतरा नहीं है, जितना सेना में भर्ती होने में है। सैनिक सेवा का अस्वीकार कर देना और उसके परिणामस्वरूप दिया गया दंड—कैद की सजा, निर्वासन आदि—मनुष्य के लिए उन खतरों की अपेक्षा कहीं कम कष्ट-प्रद हैं, जो कि सैनिक सेवा स्वीकार कर लेने में होते हैं। सेना में भर्ती हो जाने पर प्रत्येक मनुष्य को युद्ध में हिस्सा लेना पड़ता है। इसी काम के लिए वह तैयार किया जा रहा है। युद्ध के समय प्रात: उसकी अवस्था मौत की सजा का हुक्म पाए हुए मनुष्य की भाँति हो जाती है।

वह या तो सचमुच अपनी जान से हाथ धोता है अथवा पंगु कर डाला जाता है। मैं सेबास्टपोल में देख चुका हूँ कि एक पल्टन का धावा उस किले की ओर बोल दिया गया, जहाँ पर इससे पहले दो पल्टनें खत्म हो चुकी थीं, और वह पल्टन वहीं खड़ी रही, यहाँ तक कि उसकी भी सफाई कर दी गई। दूसरे, जो आदमी फौज में भर्ती होता है वह यदि मारा नहीं गया तो वह सैनिक सेवा की अस्वास्थकर स्थिति में पड़कर बीमार हो जाएगा और मर जाएगा। तीसरे, अपने से बड़े अधिकारियों द्वारा अपमानित होने पर वह अपने-आपको सँभाल नहीं सकेगा और फौरन जवाब दे बैठेगा। इससे सैनिक व्यवस्था भंग होगी, जिसके परिणामस्वरूप उसे दंड दिया जाएगा और वह दंड उस दंड से अधिक भयंकर होगा जो सैनिक-सेवा अस्वीकार करने पर उसे दिया गया होता। यदि यह कुछ न हुआ तो वह अपने जीवन के तीन या चार साल नर-हत्या, दुराचार और पाप-कर्मों में व्यतीत करेगा, और इन वर्षों में जेल की भाँति ही बंदी-जीवन व्यतीत करता होगा और पाप-वृत्ति दुष्टात्माओं से अपमानित होता रहेगा। क्या इस घोर पापमय पशु-जीवन की अपेक्षा यह अच्छा नहीं है कि वह ऐसी निर्घृण सैनिक सेवा करने से इनकार कर दे और उसके दंड-स्वरूप जो कुछ थोड़ी-सी सजा मिले उसी को स्वीकार कर लें?

दूसरे, सैनिक सेवा अस्वीकार करने पर भी प्रत्येक मनुष्य (चाहे उसे यह बात कितनी ही आश्चर्यजनक क्यों न प्रतीत होती हो) हमेशा दंड से बचने की आशा कर सकता है। क्योंकि उसके इनकार कर देने पर सरकारों को अपने कपट-जाल के खुल जाने का डर रहता है, और इसलिए संभव है, उसे दंड भी न दिया जाए। सरकारें अगर दंड देना भी चाहेंगी तो उसमें कोई उनका साथ न देगा; क्योंकि कोई भी आदमी इतना बेवकूफ न होगा जो किसी ऐसे मनुष्य के दंड देने में भाग ले जो उन पर अत्याचार करने से इनकार करता है। इस कारण सैनिक सेवा की माँगों के आगे सिर झुकाना स्पष्टतया साधारण जनों को एक प्रकार से भ्रम में डालने के काम के आगे सर झुकाना है—ऐसा ही जैसा कि किसी गड़रिए का भेड़ों को देखते हुए भी गहरे तालाब में कूद पड़ना जहाँ पर कि उनका नाश स्पष्ट और अनिवार्य है।

एक और भी कारण है, जो प्रत्येक ऐसे मनुष्य को सैनिक सेवा अस्वीकार करने के लिए बाध्य कर सकता है, जो सरकार द्वारा जादू डालकर अचेत नहीं कर दिया गया है और जो अपने काम के महत्त्व को भली-भाँति समझता है। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसका जीवन उद्देश्यहीन और निष्फल जीवन न हो, बल्कि वह तो चाहता है कि उससे ईश्वर तथा मनुष्य की कुछ सेवा भी अवश्य हो सके। पर तो भी प्राय: मनुष्य ऐसी सेवा का बिना कोई अवसर पाए ही अपना सारा जीवन यों ही बिता देता है। सैनिक सेवा अस्वीकार करने का आह्वान इस समय के प्रत्येक मनुष्य

के लिए ठीक ऐसी सेवा करने का अवसर प्रदान करता है। प्रत्येक मनुष्य सैनिक सेवा में किसी प्रकार का भाग लेने अथवा किसी सरकार को टैक्स देने, जिनका उपयोग वह सैनिक कामों में करती, इनकार करके अपनी इनकारी से ईश्वर तथा मनुष्य की एक बहुत बड़ी सेवा कर सकता है। क्योंकि ऐसा करने से वह उस उत्तम सामाजिक व्यवस्था की ओर मनुष्य-जाति को क्रमशः बढ़ाने वाले अत्यंत प्रभावोत्पादक साधन का प्रयोग करता है जिसके लिए वह प्रयत्न कर रही है और जिसकी प्राप्ति अंततः उसको अवश्य होगी। परंतु सैनिक सेवा में भाग लेने से इनकार कर देना केवल लाभप्रद ही नहीं है, मैं तो समझता हूँ कि यह हमारे लिए एक बिल्कुल स्वाभाविक बात है और यही नहीं कि हमारे समय के अधिकांश लोगों को इस प्रकार इनकार कर देना चाहिए, बल्कि सच तो यह है कि यदि लोगों पर जादू की लकड़ी नहीं फेर दी गई है तो सैनिक सेवा करने से इनकार न करना लोगों के लिए असंभव हो जाना चहिए। प्रत्येक मनुष्य के लिए कुछ-न-कुछ काम ऐसे हैं जो नैतिक दृष्टि से उसके लिए असंभव होते हैं—ऐसे असंभव जैसे कि कुछ शारीरिक काम उसके लिए असंभव होते हैं। और अपरिचित तथा आचारहीन पुरुषों की, जिनका मनुष्यों का वध करना एक स्वीकृत लक्ष्य है, आज्ञा पालन करने की प्रतीक्षा गुलामों की तरह करना, अधिकांश लोगों के लिए, यदि उन पर इस जादू का कोई असर नहीं पड़ा है, तो नैतिक दृष्टि से ठीक ऐसा ही असंभव काम है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए सैनिक सेवा अस्वीकार कर देना केवल लाभप्रद और आवश्यक ही नहीं है, वरन् उसके लिए ऐसा न करना असंभव भी है, यदि वह सरकारों की ओर से फेरे जानेवाले और मूर्ख बना देनेवाले जादू के प्रभाव से मुक्त है।

"परंतु उस समय क्या होगा जबकि सब लोग सैनिक सेवा करने से इनकार कर देंगे, और दुष्टों के ऊपर कोई रोक या जवाब न रहेगा, और दुष्टों को सब प्रकार की स्वतंत्रता हो जाएगी? वे तो निर्भय और विजयी हो जाएँगे? तब तो असभ्य जंगली मनुष्यों से—पीली जाति वाले मंगोलों से भी—हमारी रक्षा का कोई साधन न रह जाएगा। वे लोग आएँगे और हमें दबा बैठेंगे। तब?"

मैं इस बारे में कुछ भी न कहूँगा। चूँकि दुष्ट पुरुष ही बहुत समय से विजय करते आए हैं, अब भी बराबर विजय कर रहे हैं, और एक-दूसरे से लड़ते हुए उन्होंने बहुत समय से ईसाई-जाति के ऊपर अपना आधिपत्य जमा रखा है, इसलिए उन बातों से भयभीत होने का कोई कारण नहीं है जो पहले हो चुकी हैं। मैं पीली जातिवाले जंगली लोगों के खतरे के संबंध में भी कुछ न कहूँगा—जिनको हम लड़ाई के लिए बराबर भड़काते और उसकी शिक्षा देते रहते हैं—क्योंकि यह सिर्फ एक बहाना-मात्र है। इस समय यूरोप में जितनी भी सेना है उसका शतांश भी इन

लोगों से अपनी रक्षा करने के लिए बिल्कुल पर्याप्त है—इन तमाम बातों के बारे में कुछ भी न कहूँगा, क्योंकि इनका संसार के लिए व्यापक परिणाम क्या होगा इसका विचार हमारे आचरण और उद्योग का पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता।

मनुष्य को दूसरा पथ-प्रदर्शक भी दिया गया है और वह भी ऐसा जो कभी भूल नहीं करता—उसका अंत:करण। उसकी आज्ञानुसार कार्य करने से मनुष्य को नि:संदेह यह मालूम हो जाता है कि वह वही कर रहा है जो उसे करना चाहिए था। इसलिए उन खतरों के बारे में, जो कि सैनिक सेवा अस्वीकार करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को हमेशा भयभीत किए रहते हैं तथा उन बातों के बारे में, जो ऐसी अस्वीकृति के परिणामस्वरूप, संसार में भय उत्पन्न करती है, सारे विचार उस घोर कपट-जाल के सामने एक परमाणुमात्र हैं, जिसमें ईसाई समाज फँसा हुआ है, और जिसकी रक्षा उन सरकारों की ओर से बड़ी सावधानी के साथ की जा रही है जो इस कपट-जाल की शक्ति के आधार पर ही कायम है।

यदि मनुष्य केवल उसी आज्ञा के अनुसार कार्य करे, जो उसे अपनी विवेक-बुद्धि, अपने अंत:करण और अपने ईश्वर की ओर से दी गई है अथवा दी जाती हैं, तो उसके तथा संसार-भर के लिए इसका परिणाम सर्वोत्कृष्ट होगा।

लोग हमारे जीवन की निंद्य अवस्थाओं की शिकायत करते हैं परंतु इस मौजूदा हालत में और हो ही क्या सकता है ? एक ओर तो हम सब लोग जबान से केवल उस एक सारभूत ईश्वरीय कानून को ही नहीं (जिसकी घोषणा अब से केवल लगभग हजार वर्ष पूर्व की गई थी) अर्थात् ''तू किसी का वध मत कर'' किंतु सारे मनुष्य-समाज के भ्रातृ-भाव और प्रेम के कानून को भी स्वीकार करते हैं, पर दूसरी ओर हमारे यूरोपीय संसार का प्रत्येक मनुष्य अपने आचार द्वारा उसी ईश्वरीय कानून को अस्वीकार करता है और राष्ट्रपति, राजा, प्रधानमंत्री, निकोलस अथवा कैसर की आज्ञा पाने पर हत्या करने के अस्त्र आदि लेकर यह कहने लगता है, ''यह लीजिए, मैं किसी भी मनुष्य को पीड़ा पहुँचाने, बारूद से उड़ा देने अथवा मार डालने के लिए तैयार खड़ा हूँ, मुझे आज्ञा दीजिए ?''

वह समाज किस प्रकार का होगा जो ऐसे आदमियों का बना हुआ है ? ऐसा समाज अवश्य भयंकर होगा, और वास्तव में ऐसा है भी।

भाइयो, उठो और आँखें खोलो ! तुम उन नराधमों की बातें न सुनो जो तुम्हारी बाल्यावस्था से तुम्हारे अंदर ऐसे स्वदेश-प्रेम के पैशाचिक भाव भरते रहते हैं, जो कि सत्य और धर्म दोनों के विरुद्ध हैं और जिनकी आवश्यकता केवल तुमसे तुम्हारी संपत्ति, तुम्हारी स्वाधीनता और तुम्हारे मनुष्योचित मान-प्रतिष्ठा का अपहरण करने के लिए ही है; न उन पुराने धूर्तों की बातें सुनो जो अपने आविष्कृत एक क्रूरकर्मा

ईश्वर के नाम पर, एक विकृत और मिथ्या धर्म के नाम पर, युद्ध करने का उपदेश करते हैं। तुम उन पाखंडी लोगों की बातें भी न मानो जो विज्ञान और सभ्यता के नाम पर, केवल वर्तमान स्थिति को बनाए रखने के अभिप्राय से ही सभाओं में जमा होते हैं, पुस्तकें लिखते और लंबे-चौड़े व्याख्यान देते हैं, जिनमें लोगों को यह आश्वासन दिलाते हैं कि वे लोगों के लिए ऐसे अच्छे और शांतिप्रिय जीवन की व्यवस्था कर देंगे, जिसमें उन्हें कोई काम ही नहीं करना होगा। तुम उन पर विश्वास मत करो। केवल अपने अंत:करण पर विश्वास करो जो तुम्हें यह बतलाता है कि तुम न तो पशु हो और न गुलाम; किंतु स्वतंत्र मनुष्य हो और अपने कामों के लिए आप उत्तरदायी हो; और इसीलिए अपनी इच्छा से अथवा उन लोगों की इच्छा पर, जिनका अस्तित्व इन हत्याओं के ऊपर है, हत्या करनेवाले मनुष्य नहीं बन सकते। तुम्हारे लिए आवश्यकता इसकी है कि उठो और आँखें खोलो और उस काम की भयंकरता और बुद्धिहीनता को देखो जो तुम करते आए हो और इस समय भी करते हो। और इस बात को भली प्रकार समझ जाने के बाद उस बुराई को त्याग दो, जिससे तुम घृणा करते हो और जो तुम्हारे विनाश का कारण हो रही है। यदि तुम केवल उस बुराई से अपना हाथ खींच लो, जिससे तुम स्वयं घृणा करते हो, तो उन धूर्त शासकों को आप-से-आप नाश हो जाएगा, जो पहले तुम्हें बिगाड़ते हैं और बाद में तुम पर अत्याचार करते हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य का प्रकाश होते ही उलूकगण अदृश्य हो जाते हैं। फिर बस जीवन को वे नवीन मानवीय और भ्रातृभाव उत्पन्न करनेवाले शर्तें भी बन जाएँगी जिनके लिए संसार—जो दु:खों से पीड़ित है, शासकों की धूर्तता से त्रस्त है और अनिवार्य द्वंद्वों में नष्ट हो गया है—बहुत समय से इच्छुक है।

कुछ चुनी हुई बातें

प्रत्येक मनुष्य यह जानता है और वह उसे जाने बिना रह भी नहीं सकता कि युद्ध, जो मनुष्य की नीचतम पैशाचिक शक्तियों का आह्वान करता है, मनुष्यों को पतित और पशु-तुल्य बना देता है। प्रत्येक मनुष्य उन दलीलों की कमजोरी को अच्छी तरह जानता है, जो युद्ध के पक्ष में पेश की जाती है जैसी कि डे मेस्टर, महाशय मोल्टके तथा ऐसे ही अन्य लोगों की ओर से पेश की गई हैं। उन सबका आधार लोगों का यह मिथ्या विश्वास है कि मनुष्य-जाति पर आनेवाले प्रत्येक संकट से किसी-न-किसी प्रकार उसका लाभ ही हो सकता है। उनके कथन का आधार यह

अस्थायी और मिथ्या कथन भी है कि युद्ध पहले से होते आए हैं और इसलिए वे हमेशा होते भी रहेंगे। मानो मनुष्य के बुरे कर्मों का समर्थन उस लाभ अथवा उपयोगिता से, जो उसे उन कामों में कभी-कभी दृष्टिगोचर होते हैं, अथवा इस विचार से किया जा सकता है कि बहुत काल से होते चले आए हैं। बुद्धिमान समझा जानेवाला संपूर्ण मनुष्य-समाज इन सब बातों को भली प्रकार जानता है। इसके बाद एकाएक युद्ध छिड़ जाता है और ये सारी बातें बात-की-बात में लोगों के दिमाग से काफूर हो जाती हैं, और वही आदमी जो कल युद्ध की निर्दयता, निरर्थकता और मूर्खता सिद्ध कर रहे थे, आज अधिकाधिक संख्या में मनुष्यों के मारे जाने के संबंध में, मनुष्य के परिश्रम से उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं के अधिकाधिक संख्या में बर्बाद और नष्ट किए जाने के संबंध में, तथा उन निरुपद्रव, शांतिप्रिय और परिश्रमशील मनुष्यों में—जो अपने परिश्रम से उन अर्द्ध-संस्कृत मनुष्यों को भोजन, वस्त्र आदि देते और उनका भरण-पोषण करते हैं जो उन्हें अपने अंत:करण, अपने कल्याण अथवा अपने विश्वास के विरुद्ध ऐसे भयंकर क्रूर कर्मों के करने को मजबूर करते हैं—अधिक-से-अधिक मात्रा में द्वेषाग्नि प्रज्वलित करने का ही विचार करते हैं, उसी की चर्चा करते हैं और उसी के संबंध में लेख लिखते हैं।

प्रार्थनाओं, धर्मोपदेशों, प्रोत्साहनों, प्रदर्शनों, चित्रों तथा समाचार-पत्रों से, जो युद्ध में आहुति का काम देते हैं, पागल बने हुए सैकड़ों-हजारों मनुष्य एक ही तरह की पोशाकें पहने, हाथों में नाना प्रकार के घातक अस्त्र लिए हुए, अपने माता-पिता, स्त्री, बच्चे सबको शोकावस्था में और व्यथित-हृदय छोड़कर, स्वयं भी व्यथित-हृदय होकर,—यद्यपि प्रकट में बड़ी शेखी बघारते रहते हैं—उस स्थान पर जाते हैं जहाँ पर वे अपनी जान को खतरे में डालकर, उन मनुष्यों की हत्या करने का भयंकर कर्म करेंगे जिनसे वे परिचित भी नहीं हैं और जिन्होंने उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचाई है। इनके साथ बहुत-से डॉक्टर और बहुत-सी उपचारिकाएँ भी हो लेती हैं जो यह समझती हैं कि वे अपने घर पर रहकर सीधे-सादे, शांतिप्रिय दु:खी मनुष्यों की सेवा नहीं कर सकतीं, किंतु वे केवल उन्हीं लोगों की सेवा कर सकती हैं जो एक-दूसरे का वध करने में व्यस्त हैं। जो लोग रणक्षेत्र से दूर हैं और अपने-अपने घरों में रहते हैं, वे मनुष्यों के मारे जाने की खबर पाकर बड़े प्रसन्न होते हैं, और जिस समय उन्हें यह मालूम होता है कि बहुत-से जापानी मारे गए तो वे अपने ईश्वर को बहुत ज्यादा धन्यवाद देते हैं।

ये सब बातें केवल उच्च भावों का प्रदर्शन ही नहीं समझी जाती, वरन् जो लोग ऐसे साहित्य से अलग रहते हैं वे लोग—यदि वे इन लोगों को क्रूर-कर्मों की वास्तविकता का दिग्दर्शन कराकर सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं—तो देश-

द्रोही और विश्वासघाती समझे जाते हैं और हर समय उनके उस क्रूरकर्मा नृशंस मनुष्य-समाज द्वारा अपमानित किए जाने और मारे जाने का भय रहता है जो अपनी इस मूर्खता और क्रूरता का समर्थन करने में पशु-बल के अतिरिक्त अन्य कोई भी अस्त्र ग्रहण नहीं कर सकते।

हमारे इस जमाने में ईसाई समाज की ऐसी स्थिति है। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि हम ऐसे ही रहेंगे जैसे कि इस समय है, अर्थात् अपने व्यक्तिगत जीवन में तथा भिन्न-भिन्न राज्यों संबंधी जीवन में केवल अपने तथा अपने राज्य के हित को ही दृष्टि में रखकर अपने सारे काम करते रहेंगे और जैसा कि इस समय करते हैं, बल-प्रयोग द्वारा इस हित की रक्षा करने का विचार करते रहेंगे, तो एक व्यक्ति तथा राज्य के विरुद्ध दूसरे व्यक्ति तथा राज्य के बल-प्रयोग के साधनों को निश्चित रूप से बढ़ाते हुए हम, अपनी आय के अधिकांश भाग को सैन्य-संगठन में व्यय करके, प्रथम तो अपना अधिक-से-अधिक नाश करेंगे, और दूसरे, पारस्परिक लड़ाई में उत्तम-उत्तम शक्ति-संपन्न वीरों का वध करके दिन-ब-दिन अधिकाधिक आचार-भ्रष्ट और नैतिक दृष्टि से पतित होते जाएँगे।

"परंतु हमें ऐसे समय में क्या करना चाहिए जबकि हमारे शत्रुओं ने हमारे ऊपर पहले से ही आक्रमण कर दिया है, हमारे आदमियों को मार रहे हैं, और हमको धमका रहे हैं?" यह बात किसी भी सिपाही, अफसर, सेनापति, जार अथवा किसी व्यक्ति-विशेष से पूछी जा सकती है। "क्या हमें चाहिए कि हम अपने शत्रुओं को अपनी संपत्ति नष्ट करने दें, अपनी गाढ़ी कमाई को छीन लेने दें, अपने आदमियों को कैद करने अथवा मार डालने दें?"

इस प्रश्न का कि इस समय, जब लड़ाई शुरू हो गई है, क्या करना चाहिए, मेरे लिए, जो कि अपने उद्देश्य को समझता हूँ फिर मैं चाहे जिस परिस्थिति में होऊँ, चाहे लड़ाई शुरू हो गई हो या नहीं, चाहे हजारों रूसी या जापानी मार डाले गए हों, चाहे अकेला पोर्टआर्थर ही नहीं किंतु सेंट पीटर्सबर्ग और मास्को भी ले लिया गया हो, स्पष्ट उत्तर यह होगा कि मैं ईश्वर की आज्ञा को छोड़कर किसी की आज्ञानुसार कोई काम नहीं कर सकता, और इसलिए एक मनुष्य की हैसियत से मैं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में, सेना का संगठन करके या उसमें सहायता पहुँचाकर अथवा प्रोत्साहन देकर, किसी भी प्रकार से युद्ध में भाग नहीं ले सकता; मैं न कर सकता हूँ, न करना चाहता हूँ और न करूँगा ही। मेरे उन कामों के न करने से, जो कि ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध हैं, तात्कालिक परिणाम क्या होगा, इस बात को मैं नहीं जानता परंतु मेरा विश्वास है कि ईश्वर की आज्ञा का पालन करने का परिणाम सिवा उसके और कुछ हो ही नहीं सकता जो मेरे लिए तथा अन्य सब लोगों के लिए अच्छा है।

"परंतु उन शत्रुओं के संबंध में कैसा आचरण करना चाहिए जो कि हम पर आक्रमण करते हैं?"

"अपने शत्रुओं से प्रेम करो और फिर तुम्हारा कोई शत्रु न रह जाएगा।" यह बात ईसा के मतानुयायी बारहों देवदूतों के उपदेशों में कही गई है। यह उत्तर केवल शब्द-मात्र नहीं हैं, जैसा कि वे लोग समझते होंगे, जो इस खयाल के आदमी हैं कि किसी को अपने शत्रुओं से भी प्रेम करने का उपदेश अथवा सलाह देना अत्युक्ति है, यह उत्तर एक बहुत स्पष्ट और निश्चयात्मक कार्य को तथा उसके परिणामों को प्रकट करता है।

अपने शत्रुओं से—जैसे जापानी, चीनी, वे पीले (मंगोलियन) आदमी जिनके प्रति अज्ञानी मनुष्य हमारे अंदर द्वेष-भाव भड़काने का प्रयत्न कर रहे हैं—प्रेम करने का अर्थ है, उन्हें अफीमखोरी की आदत डालकर उनका शरीर विषाक्त बनाने का अधिकार प्राप्त करने के अभिप्राय से वध न करना, जैसा कि अंग्रेज जाति ने किया है; उनकी जमीन छीन लेने के इरादे से उन्हें न मारना, जैसा कि फ्रांसीसियों, रूसियों और जर्मन लोगों की ओर से किया गया था; उन्हें सड़कों को नुकसान पहुँचाने के दंड-स्वरूप जिंदा जमीन में न गाड़ देना, उनके बाल पकड़कर उन्हें दूसरे के साथ बाँध न देना और उन्हें अमूर नदी में डुबो न देना, जैसा कि रूसवालों ने किया था।

एक शिष्य अपने गुरु से बढ़कर नहीं हो सकता...उसके लिए इतना ही काफी है कि वह अपने गुरु जैसा हो जाए।"

उन पीली जाति के लोगों (मंगोलियनों) को, जिन्हें हम अपना शत्रु कहते हैं, प्रेम करने का अर्थ है उन्हें, ईसाई-धर्म के नाम पर, मनुष्य के पतन, मोक्ष और पुनरुत्थान इत्यादि के विषय में निरर्थक बातों की शिक्षा न देना, उन्हें दूसरों को धोखा देने और उनकी हत्या करने की कला की शिक्षा न देना, किंतु न्याय, स्वार्थ-त्याग, दया और प्रेम आदि की शिक्षा देना, और वह भी केवल शब्दों से नहीं, किंतु स्वयं अपने उदाहरण से।

जब यह सब बंद हो जाएगा उस समय वे लोग, जिन्हें अब तक धोखे में डाला गया है और तरह-तरह से छला गया है, सँभलेंगे और कहेंगे, "अच्छा तो जाओ, तुम्हीं हृदयहीन और अनीश्वरवादी जार, मिकाड़ो, राज-मंत्रियों, धर्माधिकारियों, पुरोहितों, सेनापतियों, पत्र-संपादकों, तत्त्वविदों अथवा जो कुछ भी तुम कहे जाते हो, स्वयं जाओ और उन तोपों और बंदूकों और बम के गोलों का शिकार बनो। हम लोग जाना नहीं चाहते और न हम लोग जाएँगे। हमें शांति के साथ अपने खेत जोतने-बोने और मकान बनाने के लिए छोड़ दो, जिससे हम अपना और पर-धनोपजीवी तुम लोगों का भी भरण-पोषण कर सकें।" उनका यह कहना बिल्कुल स्वाभाविक होगा।

परंतु नहीं, वे ऐसा नहीं कहते; वे जाते हैं; और वे जाते रहेंगे; उस समय तक उनके पास सिवाय चल देने के और कोई चारा ही नहीं है जब तक कि वे उस चीज से डरते हैं जो शरीर का नाश करती है, उस चीज से नहीं जो शरीर और आत्मा दोनों का नाश करती है।

स्त्री और पुरुष

पत्रों और डायरियों से

स्त्री-पुरुषों के सहवास के संबंध में मैंने जहाँ तक हो सका 'क्रूजर स्पेनेटा' नाम की पुस्तक में उपसंहार में अपने विचार भली-भाँति प्रकट कर दिए हैं। इन सारे प्रश्न का उत्तर एक शब्द में इस प्रकार दिया जा सकता है—मनुष्य को चाहिए कि वह हमेशा और हर हालत में, चाहे वह विवाहित हो अथवा अविवाहित, जहाँ तक वह रह सकता हो ब्रह्मचर्य से रहे, जैसा कि ईसा मसीह ने और उनके बाद, महात्मा पाल ने बतलाया है। यदि वह आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर सकता है तो इससे अच्छा वह और कुछ कर ही नहीं सकता। परंतु यदि वह अपने-आपको रोक नहीं सकता, अपनी इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने में असमर्थ है, तो उसे चाहिए कि वह जहाँ तक हो सके, अपनी इस निर्बलता के बहुत कम वशीभूत हो, और किसी अवस्था में विषयोपभोग को आनंद की वस्तु न समझे। मैं समझता हूँ कोई भी गंभीर और सत्यशील प्राणी इस प्रश्न का इससे भिन्न अन्य कोई उत्तर दे ही नहीं सकता; और ऐसे सभी मनुष्य इस उत्तर से सहमत हैं।

दूसरा पत्र 'ऐडल्ट' के संपादक के पास से स्वच्छंद प्रेम के संबंध में आया है। यदि मेरे पास समय होता, तो इस विषय में मैं अवश्य लिखता। शायद मैं लिखूँगा भी। मुख्य बात तो यह बतला देना है कि इस मामले का सारा दारोमदार, बिना परिणाम को सोचे, यह समझ बैठने में है कि किसमें अधिक-से-अधिक सुख है। इसके अतिरिक्त लोग उस बात की शिक्षा देते हैं, जो पहले से ही विद्यमान है, और जो बहुत खराब हैं। तो फिर ऐसी दशा में जबकि मनुष्य पर कोई नियंत्रण नहीं है इसके सुधार की संभावना कैसे हो सकती है? वास्तव में मैं इस संबंध में समस्त कानूनी व्यवस्थाओं का विरोधी हूँ और चाहता हूँ कि लोगों को पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाए।

आदर्श केवल ब्रह्मचर्य का हो, सुख और आनंद का नहीं।

स्त्री-पुरुष—संबंध से, पारस्परिक आसक्ति से उत्पन्न होनेवाली सारी विपत्तियों का कारण यह है कि हम कामाभिलाषा को आध्यात्मिक जीवन के साथ, तथा—कहते रोमांस होता है—विशुद्ध प्रेम के साथ मिला देते हैं; हम अपनी विवेक-बुद्धि से इस कामाभिलाषा की निंदा और उसको दबाने का काम नहीं लेते, किंतु उलटा इस पर आध्यात्मिकता की कलई करते हैं।

कामाभिलाषा का, जो बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों का उद्गम है, हमारे लिए निवारण और नियंत्रण करना तो दूर रहा, हम उल्टा यथाशक्ति अधिक उत्तेजन देते रहते हैं। और इसके बाद यह शिकायत करते हैं कि हमें कष्ट है, दुःख पा रहे हैं।

ईसाई मजहब में जीवन के भेद बतलाए गए हैं, परंतु उसमें, मनुष्यों के पारस्परिक सभी संबंधों में, आदर्श का—जीवन के उद्देश्य का वर्णन किया गया है। यही बात स्त्री-पुरुषों के सहवास-संबंधी प्रश्न के संबंध में भी है। परंतु जिन लोगों में सच्चे ईसाई धर्म के भाव नहीं हैं, वे भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवन की व्याख्या चाहते हैं। उन लोगों के लिए 'चर्च मैरेज' का आविष्कार किया गया है कि जिसमें कोई भी बात ईसाई-धर्म की नहीं पाई जाती। रति (संभोग) तथा ऐसी ही अन्य बातों में—जैसे हिंसा, क्रोध आदि—मनुष्य को चाहिए कि वह कभी आदर्श को नीचा न करे और न कभी उसमें कोई रूपांतर ही करे। किंतु ठीक यही बात धर्माचार्यों ने विवाह के संबंध में की है।
संसार की कितनी·लड़ाइयाँ है, उनमें कामाभिलाषा (मदन) के साथ होनेवाली लड़ाई सबसे ज्यादा कठिन है, और सिवाय प्रारंभिक बाल्यावस्था तथा अत्यंत वृद्धावस्था के, कोई भी ऐसी अवस्था अथवा समय नहीं है जिसमें मनुष्य इससे मुक्त हो। इसलिए किसी मनुष्य को इस लड़ाई से न तो कभी हताश होना चाहिए और न कभी ऐसी अवस्था की प्राप्ति की आशा करनी चाहिए जिसमें उसका अभाव हो। एक क्षण के लिए भी किसी को निर्बलता न दिखानी चाहिए, किंतु उन समस्त साधनों को एकत्र कर उनका उपयोग करना चाहिए जो इस शत्रु को निःशस्त्र बना देते हैं—उन बातों का परित्याग कर देना चाहिए जो शरीर और मन को उत्तेजित (दूषित) करनेवाली हों और हमेशा काम करने में व्यस्त रहना चाहिए। यह तो हुआ एक मार्ग। दूसरा मार्ग यह है कि यदि तुम इस लड़ाई में विजयी नहीं हो सकते, तो विवाह कर लो—अर्थात् किसी ऐसी स्त्री को पसंद कर लो, जो विवाह करने के लिए राजी हो, और अपने मन में इस

बात की दृढ़ प्रतिज्ञा कर लो कि यदि तुम अपना पतन रोक नहीं सकते तो तुम्हारा पतन इस स्त्री के साथ ही हो, इसी के साथ तुम अपनी संतान की, यदि कोई हो तो, शिक्षा और लालन-पालन का प्रबंध करो, और इसी के साथ, उसका भरण-पोषण करते हुए, तुम अपने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो। इसमें जितनी ही शीघ्रता की जाएगी उतना ही अच्छा है। मुझे और कोई दूसरा उपाय नहीं मालूम है। इन सब बातों के परे, इस अभिप्राय से कि इन दोनों उपायों का प्रयोग सफलता के साथ कर सके, मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर के साथ अपना संबंध दृढ़ करे—हमेशा इस बात को स्मरण रखे कि मनुष्य उस परम पिता परमेश्वर के यहाँ से आया है और उसी के पास वापस जाएगा और यह कि इस जीवन का सारा उद्देश्य और अर्थ उसी परमात्मा की आज्ञा का पालन करना, अर्थात् उसकी इच्छानुसार काम करना है।

जितना ही अधिक तुम उसकी याद करोगे, उतनी ही अधिक वह तुम्हारी सहायता करेगा।

एक बात और है। और वह यह कि यदि तुम्हारा पतन हो जाए तो कभी हताश मत हो। यह मत समझ लो कि तुम्हारा नाश हो गया—यह कि इसके बाद तुम्हें अब अपनी रक्षा करने की कोई जरूरत नहीं रही और अब तुम्हें अपनी कुछ भी परवाह न करनी चाहिए। किंतु इसके विपरीत, यदि तुम्हारा पतन हो गया है तो तुम्हें और भी अधिक साहस के साथ इस लड़ाई में कटिबद्ध हो जाना चाहिए।

मैंने अक्सर 'प्रणय' की अवस्था पर विचार किया है, परंतु मुझे इसके लिए कोई स्थान अथवा अर्थ मालूम न हो सका। तथापि इसका स्थान और इसका अर्थ बिल्कुल स्पष्ट और निश्चित है। वे कामाभिलाषा रति-सुख और ब्रह्मचर्य के बीच होनेवाली लड़ाई को कम करने में हैं। यह प्रणयावस्था, उन युवा स्त्री-पुरुषों के संबंध में जो पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं कर सकते, विवाह के पूर्व होनी चाहिए जिससे जीवन के सबसे नाजुक वक्त—सोलह वर्ष से लेकर बीस वर्ष अथवा इससे अधिक अवस्था तक—में इस अत्यंत कठिन लड़ाई से उनकी रक्षा हो सके। यह समय 'प्रणय' अर्थात् प्रेम करने का है। परंतु जिस समय विवाह के पश्चात् भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जीवन में इसका संचार होता है, तो वह बिल्कुल बे-मौका और निंद्य हो जाता है।

आप पूछते हैं कि इस कामुकता के साथ युद्ध करने के कौन-कौन से साधन हैं। छोटे-छोटे साधनों में जैसे परिश्रम करना, व्रत करना इत्यादि। सबसे अधिक प्रभावोत्पादक साधन है दरिद्रता, धन का अभाव, अर्थात् बाह्यतः निर्धन प्रतीत होना; जो एक ऐसी अवस्था है जिसमें यह स्पष्ट है, कोई मनुष्य किसी स्त्री के चित्त को

आकृष्ट नहीं कर सकता। परंतु मुख्यतया सर्वोत्कृष्ट उपाय, जिसे मैं मानता हूँ, निरंतर संग्राम करते रहना, अर्थात् इस बात का ज्ञान रखना है कि यह संग्राम एक आकस्मिक अल्पकालीन अवस्था नहीं किंतु जीवन की एक स्थिर और अपरिवर्तनीय अवस्था है।

मैं समझता हूँ विवाह में सहवास (संभोग) एक आचार-विरुद्ध कर्म (व्यभिचार) नहीं है; परंतु इस बात को प्रमाण के साथ लिखने के पहले मैं इस प्रश्न पर कुछ अधिक ध्यानपूर्वक विचार कर लेना चाहता हूँ, क्योंकि इस कथन में भी कुछ सत्यता प्रतीत होती है कि काम-पिपासा बुझाने के लिए अपनी धर्मपत्नी के साथ भी किया गया संभोग पाप है। मैं तो समझता हूँ कि इंद्रिय-विच्छेद कर देना भी वैसा ही पाप-कर्म है जैसा कि विषय-सुख के लिए संभोग (रति) करना। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मैं समझता हूँ कि आवश्यकता से अधिक खा लेना अथवा अनशन करके या विष खाकर प्राण दे देना समान-रूप से ही पाप-कर्म हैं। जो भोजन मनुष्य को अपने अन्य भाइयों की सेवा करने के योग्य बनाता है, वह न्यायोचित भोजन है, और इसी प्रकार वह मैथुन भी न्यायोचित जायज है जो संतानोत्पत्त्यर्थ (वंश चलाने के उद्देश्य से) किया जाता है।

षंढ (नपुंसक) लोगों का यह कहना सही है कि स्वपत्नी के साथ में किया गया संभोग भी आचार-विरुद्ध अर्थात् व्यभिचार है यदि वह बिना आध्यात्मिक (विशुद्ध) प्रेम के केवल विषय-सुख के लिए और इसलिए नियत समय के ऊपर न किया गया हो, परंतु उनका यह कहना सर्वथा अनुचित और भ्रम-मूलक है कि संतानोत्पत्त्यर्थ और विशुद्ध आध्यात्मिक प्रेम के होते हुए किया गया मैथुन भी पाप है। वास्तव में यह पाप नहीं किंतु ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है।

इंद्रिय-विच्छेद मेरी सम्मति में बिल्कुल ऐसा है—मान लीजिए कि एक मनुष्य दुराचार-मय (आवारगी का) जीवन व्यतीत करता रहा है, और अपने गल्ले से शराब बनाने और पीने का आदी हो गया है; और अब वह इस बात का अनुभव करने लगा है कि वह गलती पर है और पाप कर रहा है। बजाय इसके वह इस आदत को छोड़ दे और इस गल्ले (अनाज) को अच्छे काम में, जैसे मनुष्यों और पशुओं की सेवा में, लाना सीख ले, वह यह तय करता है कि उसके इस पाप से बचने का एकमात्र उपाय यह है कि वह अपना वह सारा अनाज जला दे, और वह ऐसा ही करने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसका पाप अंदर जैसा-का-तैसा ही बना रहता है, उसके पड़ोसी लोग पहले की भाँति ही मदिरा और आसव तैयार करते रहते हैं, परंतु वह न तो अपने परिवार को भोजन दे पाता है, न खुद खा पाता अथवा दूसरों को खिला पाता है।

बिना कारण ही ईसा मसीह ने यह कहकर छोटे-छोटे बालकों की प्रशंसा नहीं की है कि ईश्वर का साम्राज्य उन्हीं का है, और जो बातें बुद्धिमान और परिणामदर्शी मनुष्यों से गुप्त रखी जाती हैं, वे उन पर प्रकट कर दी जाती हैं। इस बात को हम स्वयं भी जानते हैं। यदि छोटे-छोटे बालक न होते, यदि उनका पैदा होना बंद हो जाता तो पृथ्वी-तल पर ईश्वर के साम्राज्य की कोई भी आशा न रह जाती। केवल उन्हीं में हमारी आशा है। हम पहले से ही पंकसिक्त (कलुषित) हो गए हैं, और अब हमारी शुद्धि होना कठिन है। परंतु प्रत्येक प्रसव के साथ प्रत्येक परिवार में नित नई निष्पाप और पवित्र आत्माएँ जन्म लेती हैं जो सदैव ऐसी ही शुद्ध और पवित्र बनी रह सकती हैं। नदी का जल बिल्कुल मलीन और पंकिल हो गया है, परंतु बहुत-से शुद्ध और निर्मल जल-स्रोतों का उसमें प्रवाह होता है और इसलिए यह आशा की जाती है कि नदी का जल एक बार फिर शुद्ध और निर्मल अवश्य हो जाएगा।

मनुष्य के अंदर काम-वासना का होना इस बात के प्रयत्न का द्योतक है कि यदि कोई मनुष्य सारे ईश्वरीय कानून का पालन नहीं कर पाता है, तो उसके लिए इस बात की निश्चय संभावना है कि उसके वंशज (पुत्र-पौत्रादि) उसको अवश्य पूरा कर सकेंगे। इस बात की सत्यता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के व्यक्तिगत अनुभव से भी प्रमाणित होती है। जितना ही अधिक मनुष्य इस कानून की पूर्णता के निकट पहुँचता जाता है, उतना ही अधिक वह इस काम-वासना से मुक्त होता जाता है। ऐसा ही इसके विपरीत भी है।

यदि लोगों का झुकाव रति (मैथुन) की ओर होता है, तो इसका कारण केवल यह है कि वे उस पूर्णता की प्राप्ति को आगे आनेवाली दूसरी संतान के लिए संभव बनाना चाहते हैं जिसको वर्तमान समय के लोग प्राप्त नहीं कर सके हैं। इस संबंध में परमात्मा की बुद्धि कैसी विचित्र है! मनुष्य के लिए पूर्णता प्राप्त करना अत्यावश्यक है, जैसा कि बाइबिल में कहा गया है—"तू वैसा ही पूर्ण (निर्दोष) बन जैसा कि स्वर्गस्थित तेरा पिता परमेश्वर निर्दोष है।" पूर्णता (सिद्धि अथवा निर्दोषता) प्राप्त करने का मुख्य साधन ब्रह्मचर्य है—सच्चा ब्रह्मचर्य जिसका संबंध केवल ब्राह्म कर्मों से ही नहीं वरन् आत्मा से भी है, अर्थात् काम-वासना से पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर लेना। यदि कभी मनुष्य पूर्णता (सिद्धि) को प्राप्त हो जाए और ब्रह्मचारी बन जाए तो मानव-संतति की वृद्धि रुक जाएगी और संसार में उसके जीवन का कोई लक्ष्य न रह जाएगा, क्योंकि सारा मनुष्य-समाज देवदूत-तुल्य हो जाएगा, जो कभी विवाह नहीं करते, जैसा कि इंजील में बतलाया गया है। परंतु जब तक मनुष्यों को पूर्णता

(सिद्धि) प्राप्त नहीं होती, तब तक वे नई संतानें उत्पन्न करते रहते हैं, और ये नई संतानें पूर्णता प्राप्त करती हैं और उन बातों को प्राप्त करती हैं जिनका परमेश्वर की ओर से आदेश मिला है, और मनुष्य पूर्णता (सिद्धि) के अधिकाधिक निकट पहुँचता जाता है।

प्रत्येक युवक को, जो अच्छा जीवन बिताने का इच्छुक है, चाहिए कि वह अपना विवाह अवश्य कर ले, परंतु मनुष्य को किसी भी दशा में प्रेम के वशीभूत होकर विवाह नहीं करना चाहिए, किंतु भली प्रकार हिसाब लगाकर ऐसा करना चाहिए। यहाँ इन प्रेम और हिसाब दोनों शब्दों का अर्थ उस अर्थ के ठीक विपरीत लेना चाहिए जिसमें साधारणत: इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

सारांश यह कि किसी मनुष्य को विषयाक्त प्रेम से प्रेरित होकर नहीं किंतु हिसाब लगाकर—इस बात का नहीं कि वह कहाँ पर और किस प्रकार रहेगा (क्योंकि हम सब लोग कहीं-न-कहीं और किसी-न-किसी प्रकार रहने का प्रबंध कर ही लेते हैं) किंतु इस बात का कि उसका भावी साथी उसको मनुष्योचित जीवन व्यतीत करने में कहाँ तक सहायता दे सकता है अथवा कहाँ तक उसके इस कार्य में बाधक हो सकता है।

हाँ, मैं समझता हूँ विवाह की व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जो ईसाई धर्म के विरुद्ध है। ईसा ने क़भी विवाह नहीं किया, और न उनके शिष्यों ने ही अपना विवाह किया, और उन्होंने विवाह के संबंध में कभी कोई व्यवस्था नहीं दी, परंतु आदमियों से अपील करते हुए, जिनमें कि कुछ लोग तो विवाहित थे और कुछ अविवाहित, उन्होंने विवाहितों से कहा कि तुम्हें अपनी धर्म-पत्नियाँ न बदलनी चाहिए, जैसा कि तुम हजरत मूसा के कानून के अनुसार कर सकते (Matt. v. 32) और अविवाहितों से उन्होंने कहा कि यदि तुमरो हो सके तो अच्छा हो कि तुम अपना विवाह मत करो (Matt. xix. 10-12); और इन दोनों से उन्होंने यह कहा कि याद रखो स्त्रियों को विलासिता की वस्तु समझ लेना महापाप है। (Matt. v. 28) (उसमें यह नहीं बतलाया है कि यही बात स्त्रियों की ओर से पुरुषों के प्रति भी समझनी चाहिए।)

इन बातों से स्वभावत: नीचे लिखा निष्कर्ष निकलता है, जो बिल्कुल व्यवहार्य है—

यह न समझ लेना चाहिए, जैसा कि इस समय लोग करते हैं, कि प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह पुरुष हो अथवा स्त्री, अपना विवाह कर लेना चाहिए; परंतु

इसके विपरीत यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य के लिए, फिर चाहे वह पुरुष हो अथवा स्त्री, यह आवश्यक है कि वह पवित्र बना रहे जिससे कोई भी वस्तु मनुष्य को अपनी सारी शक्ति ईश्वर की उपासना में लगा देने से रोक न सके।

यदि किसी मनुष्य का, चाहे वह पुरुष हो अथवा स्त्री, पतन हो जाए (अर्थात् उसका किसी स्त्री अथवा पुरुष से ताल्लुक हो जाए) तो ऐसा न समझ लेना चाहिए, जैसा कि इस समय समझा जाता है, कि यह एक ऐसी भूल है जिसका प्रतिकार वह किसी अन्य व्यक्ति के साथ अपना वैवाहिक संबंध जोड़कर कर सकता है, अथवा यह कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए किया गया ऐसा काम है जिसके लिए वह क्षमा किया जा सकता है; किंतु किसी व्यक्ति के साथ में जोड़े गए पहले शारीरिक संबंध (जिंसी रिश्ता) को एक सुदृढ़ (दुर्भेद्य) वैवाहिक संबंध समझ लेना चाहिए जिसकी कभी विच्छेद नहीं हो सकता (Matt. xix.4-6) और जिससे उन दोनों (स्त्री-पुरुषों) के ऊपर एक-एक खास जिम्मेदारी हो जाती है जो किसी किए हुए पाप-कर्म से मोक्ष का काम करती है।

विवाह को अपनी कामेंद्रिय-तृप्ति के लिए दी गई आज्ञा नहीं, जैसा कि इस समय समझा जाता है, वरन् एक ऐसा पाप-कर्म समझ लेना चाहिए जिसके प्रतिकार की आवश्यकता है।

इस पाप का प्रतिकार इस बात में है कि, स्त्री और पुरुष दोनों विषयासक्ति से अपने-आपको मुक्त कर लें, और इसमें तथा जहाँ तक संभव हो अपने प्रेमी और प्रेमिका नहीं वरन् भाई और बहन के जैसे पारस्परिक संबंध को कायम रखने में एक-दूसरे की सहायता करें। और दूसरे, इस विवाह से उत्पन्न संतति को, जो ईश्वर के भावी सेवक हैं, सुशिक्षित बनाएँ।

इस प्रकार के विवाह में तथा उस विवाह में जो इस समय जारी है बहुत बड़ा अंतर है। लोग अब भी बराबर विवाह करते रहेंगे, माता-पिता अपने लड़के-लड़कियों के विवाह का अब भी प्रबंध करते रहेंगे। परंतु इस विवाह में बहुत बड़ा अंतर हो जाता है, जिस समय इंद्रियों की तृप्ति करना उचित, धर्म-शास्त्रानुकूल, और संसार का सबसे बड़ा सुख समझा जाता है—अथवा जिस समय वह पाप समझा जाता है। एक ईसु-धर्मानुयायी केवल उसी समय विवाह करेगा जिस समय वह समझता है कि उसके लिए कोई दूसरा चारा नहीं है, और विवाह कर चुकने के बाद वह विषय-वासना में लिप्त न हो जाएगा, किंतु वह (पुरुष और स्त्री दोनों) उसके दमन करने का ही प्रयत्न करता रहेगा। अपनी संतान के आध्यात्मिक कल्याण की इच्छा रखनेवाले माता-पिता अपने हरेक बच्चे का विवाह कर देना अनिवार्य न समझेंगे, वरन् उनका विवाह केवल उसी समय करेंगे—अर्थात् उनके पतन में सहायक होंगे या उसकी सलाह देंगे—जिस

समय वे देखेंगे कि उनमें (लड़के-लड़कियों में) आत्म-निग्रह करने की सामर्थ्य नहीं है, और जिस समय यह स्पष्ट हो जाएगा कि उनके लिए निर्वाह का अन्य कोई मार्ग नहीं है। जिन लोगों का विवाह हो गया है, वे जैसा कि इस समय के लोग करते हैं, अधिकाधिक संतान की इच्छा न करेंगे, किंतु इसके विपरीत अपना जीवन शुद्ध और पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हुए इस बात में प्रसन्न होंगे कि उनके बहुत कम संतान हैं, और यह कि वे अपनी सारी शक्ति अपने बच्चों की शिक्षा में, जो अब तक पैदा हुए हैं, तथा दूसरे लोगों के उन बच्चों की सहायता और शिक्षा में व्यय कर सकते हैं जिनकी सहायता वे कर सकते हैं, यदि वे परमेश्वर के भावी सेवकों की शिक्षा द्वारा उस परम पिता की सेवा करना चाहते हैं।

यह अंतर वैसा ही होगा जैसा कि उन आदमियों में जो भोजन केवल इसीलिए करते हैं कि बिना इसके उनका काम ही चल नहीं सकता और इसलिए उसके तैयार करने में और खाने में जितना कम समय लग सकता है लगाते हैं, तथा उन आदमियों में हैं जो केवल खाने के लिए ही जीते हैं, और इसलिए नाना प्रकार के भोजनों का आविष्कार करना, उसकी सामग्री जुटाना, भूख का बढ़ाना और अधिकाधिक मात्रा में भोजन करना ही अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य समझते हैं, जैसा कि उन रोमन लोगों ने इसे अंतिम सीमा तक पहुँचा दिया था जो एक बार भोजन कर चुकने के बाद वमनकारक औषधि खा लेते थे जिससे दूसरी बार फौरन ही फिर खा सकें।

'क्रिश्चियन' विवाह की प्रथा न कभी थी और न कभी हो सकती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कभी 'क्रिश्चियन' प्रापर्टी (ईसाई-संपत्ति) अथवा अन्य ऐसी ही वस्तुएँ नहीं रही हैं। परंतु, जैसा कि संपत्ति के संबंध में है, विवाह के संबंध में भी ईसाई-वृत्ति अवश्य है।

संपत्ति के साथ एक ईसाई का संबंध यह है कि, यद्यपि मैं अपनी कमीज को अपनी निजी संपत्ति समझता हूँ तथापि जिस समय कोई दूसरा मनुष्य मुझसे माँगे उस समय उसे दे देना भी मैं जरूरी समझता हूँ। ठीक उसी प्रकार विवाह के संबंध में भी एक ईसाई की वृत्ति ऐसी ही है कि उसका यह संयोग (union) एक बिल्कुल शास्त्रविहित अपरिवर्तनीय वैवाहिक बंधन है, और इस विवाहितावस्था में वह और उसकी धर्मपत्नी दोनों सदैव दो बातों के लिए प्रयत्न करते रहते हैं—प्रथम तो ईश्वर के सम्मुख अपनी संतान को उत्तम शिक्षा देना; और अपनी काम-वासना की इस निर्बलता का यथाशक्ति दूर करने और शारीरिक अनुराग के स्थान पर आध्यात्मिक अनुराग के संबंध को स्थापित करने का प्रयत्न करते रहना।

यदि मनुष्य केवल इतनी बात अच्छी तरह और साफतौर से समझ ले कि

कर्मेंद्रिय की तृप्ति करना एक नैतिक पतन और पाप है, और किसी एक स्त्री के साथ ताल्लुक हो जाना एक ऐसी बात है, जो तोड़ा नहीं जा सकता और जो उस पाप का प्रायश्चित्त है, तो यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस प्रकार के विचार को ही सामने रखकर मानव-समाज के अंदर ब्रह्मचर्य की वृद्धि हो सकती है।

जिस समय मैं यह बतलाता हूँ कि विवाहित मनुष्यों को किस प्रकार रहना चाहिए, तो इससे मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि मैं स्वयं वैसा ही रहूँ या इस समय रहता हूँ जैसा कि मुझे रहना चाहिए था। इसके विपरीत मैं स्वयं अपने अनुभव से इस बात को निश्चित रूप से जानता हूँ कि मनुष्य का जीवन कैसा होना चाहिए, केवल इसलिए कि मेरा जीवन ऐसा रहा है जैसा कि किसी मनुष्य का नहीं होना चाहिए।

मैं पहले कही हुई अपनी बात को वापस नहीं ले रहा हूँ; किंतु जो कुछ मैंने कहा है उसको और जोर के साथ कहता हूँ। परंतु यह बात सच है कि इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। इसकी आवश्यकता इसलिए है कि हमारा जीवन उस आदर्श से इतना दूर है जो प्रत्येक मनुष्य के जीवन का होना चाहिए (जैसा कि हमारी अंतरात्मा को स्वयं अनुभव होता है और जैसा कि ईसा मसीह ने बतलाया है) कि इस संबंध में सत्य बात को सुनकर हम चौंक पड़ते हैं (इस बात को मैं स्वयं अपने अनुभव से जानता हूँ) ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक धर्मपरायण व्यापारी जो खूब धन जमा कर रहा है, इस बात को सुनकर चौंक पड़ेगा कि किसी मनुष्य को अपने परिवार के लिए धन जमा न करना चाहिए और न गिरजाघरों के लिए घंटे बनवाने चाहिए किंतु पाप से मुक्ति पाने के लिए उसे चाहिए कि वह अपना सर्वस्व दान कर दे।

इस विषय में मैं जो कुछ सोचता हूँ उसे नीचे लिख देता हूं। यद्यपि उनमें कोई भ्रम नहीं है—

यह 'प्रणय' का भाव—जो मनुष्य को अपनी पूर्ण शक्ति के साथ वश में किए हुए हैं—उन दो स्त्री-पुरुषों में उत्पन्न होता है जिनमें अभी तक परस्पर समागम नहीं हुआ है। इसी प्रणय भाव से प्रेरित होकर ही लोग विवाह करते हैं; और इस विवाह का परिणाम यह होता है कि उनके संतान उत्पन्न होती है। गर्भावस्था का समय आरंभ होता है और इस कारण पति और पत्नी के बीच परस्पर सहवास (रति) की इच्छा कम होने लगती है—यह एक ऐसी शिथिलता है जो बिल्कुल स्पष्ट हो सकती है और सहवास को एकदम रोक सकती है, जैसा कि पशुओं में होता है, यदि मनुष्य ऐसे सहवास को एक न्यायोचित और आनंद की वस्तु न समझता होता। इस शिथिलता से बालक के लालन-पालन और उसकी वृद्धि के लिए समय मिलता है और जब तक बालक दूध पीना छोड़ नहीं देता तब तक यह क्रम बना रहता है और

सहवास का यह शैथिल्य जारी रहता है; और एक उच्चकोटि के विवाहित जीवन में (यहीं पर मनुष्यों तथा पशुओं में भेद हो जाता है) उन्हीं व्यक्तियों के अंदर परस्पर फिर एक-दूसरे के प्रति प्रेम का आकर्षण होता है।

हम इससे चाहे कितना भी दूर क्यों न रहें, इसमें संदेह नहीं कि यह एक ऐसी बात है जो वास्तव में होनी चाहिए। और यही कारण है कि प्रथम तो जिस समय गर्भाधान असंभव होता है (अर्थात् जिस समय स्त्री गर्भिणी होती है) उस समय रति-क्रिया कोई उपयुक्त अर्थ नहीं रखती और वह केवल विषय-सुख (कामेंद्रिय की तृप्ति) को छोड़ और कुछ भी नहीं है जो एक बहुत ही कुत्सित और लज्जा-जनक कर्म है, जैसा कि प्रत्येक विचारवान् एवं शुद्ध-मति मनुष्य पर प्रकट है। यह एक ऐसा घृणित कर्म है जिसकी तुलना काम में वशीभूत हो नीचातिनीच प्रकृति-विरुद्ध मैथुन आदि से की जा सकती है। इस प्रकार की विषय-वासना में लिप्त मनुष्य पशु से भी अधिक विवेकहीन (निर्बद्ध) हो जाता है, क्योंकि वह अपनी बुद्धि का प्रयोग बुद्धि के ही नियमों (कानून) का उल्लंघन करने में करता है। दूसरे, सब लोग इस बात को जानते और मानते हैं कि रति-क्रिया (मैथुन) से मनुष्य निर्बल और निस्तेज हो जाता है, यहाँ तक कि उसकी सार-भूत मानवीय शक्ति (आत्म-बल) भी निर्बल हो जाती है। इस संबंध में लोगों के वर्तमान आचार का समर्थन करनेवाले यह कहेंगे कि, 'परिमित' अर्थात् नियमों से काम लेना चाहिए। परंतु जिस समय बुद्धि-प्रतिपादित नियमों का ही उल्लंघन किया जाता है उस समय वास्तविक 'परिमितता' हो ही नहीं सकती। हाँ, 'परिमित' से (इस विषय में इस शब्द का उच्चारण करना कितना दुःखद प्रतीत होता है) काम लेते समय असंयम (व्यभिचार) से मनुष्य को पहुँचनेवाली हानि की मात्रा में कमी हो सकती है। (सिवाय उस समय के, जबकि स्त्री गर्भवती है रति करना असंयम या व्यभिचार) है, यदि मनुष्य एक पत्नी-व्रत हो, अर्थात् एक स्त्री को छोड़ अन्य किसी को न जाने। परंतु पति के लिए जो नियम है, वही पत्नी के लिए व्यभिचार है जिस समय कि वह गर्भवती हो अथवा शिशु-पालन या बालक के लालन-पालन में लगी हो।

मैं समझता हूँ कि स्त्रियों के इस कदर पिछड़े होने तथा उनमें मूर्छा आदि भयंकर रोगों के होने का कारण मुख्यतः यही है। यही बात है जिससे स्त्रियों को बचाने की आवश्यकता है, जिससे वे पुरुष की सच्ची सहचरी बन सकें, उसके समान ही उन्नति कर सकें और शैतान की नहीं वरन् ईश्वर की सच्ची सेविका (उपासिका) बन सकें। यह एक दूरवर्ती किंतु ऊँचा आदर्श है। तो फिर क्या कारण है कि मनुष्य इसके लिए प्रयत्न नहीं करते।

मैं इस विषय का एक मानसिक चित्र खींचता हूँ कि विवाह इस प्रकार का होना

चाहिए। एक स्त्री और एक पुरुष परस्पर एक-दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं, यहाँ तक कि वे अपने-आपको सँभाल नहीं सकते और उनमें समागम हो जाता है, एक बालक भी उत्पन्न हो जाता है, और वे दोनों, (पति-पत्नी) उन तमाम बातों से दूर रहते हुए जो कि उस बालक की वृद्धि और उसके पोषण में बाधा पहुँचाती हों, तमाम विषय-वासनाओं एवं शारीरिक प्रलोभनों से दूर रहते हुए, उनको उत्पन्न करते और बढ़ाते हुए नहीं, जैसा कि इस समय हो रहा है, भाई और बहन की भाँति रहते हैं। इस समय यह होता है कि पति जो पहले से ही भ्रष्ट-चरित्र हो चुका है, अपनी इन कुवासनाओं का संचार अपनी पत्नी में करता है, उसमें भी विषय-वासना का विष फैलाता है, और उसे एक ही साथ रमणी, एक अवसन्न-गात्र माता तथा एक रोगग्रस्त, चिड़चिड़ी और क्षीण-काय मूर्च्छावान व्यक्ति का-सा जीवन बिताने का असह्य भार वहन करने के लिए विवश करता है। वह पति रमणी की अवस्था में उसे प्यार करता है, एक माता की अवस्था में उससे दूर रहता है और उसके उग्र-स्वभाव तथा मूर्च्छा-रोग के कारण, जिनको उसी ने पैदा किया है, और कर रहा है, उससे घृणा करता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यही उन समस्त दुःखों की कुंजी है जो अधिकांश परिवारों में अंतर्हित हैं। इसी प्रकार मैं उन स्त्री-पुरुषों (पति और पत्नी) का चरित्र-चित्रण करता हूँ जो भाई और बहन की भाँति रहते हैं। जिस समय वह प्रशांतावस्था में (गर्भवती) होती है, वह बालक जनती है, बिना किसी विघ्न-बाधा के उसका भरण-पोषण और लालन-पालन करती है, और साथ ही इसके उसे नैतिक शिक्षा भी देती है; और केवल उस समय जबकि वह गर्भ से मुक्त होती है; फिर वे परस्पर प्रेम करते हैं (आसक्त होते हैं)। यह अवस्था लगभग एक सप्ताह के रहती है, और इसके बाद फिर शांति हो जाती है।

मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि आसक्ति (Being in love) वह वाष्प-शक्ति है जो सारे यंत्र (ऐंजिन) को विदीर्ण कर सकती है, यदि रक्षण-कपाट (Safety Valve) काम न करे। यह ढक्कन (कपाट) केवल उसी समय खुलता है जब उस पर बहुत बड़ा दबाव पड़ता है; बाकी वक्तों में वह बड़ी मजबूती और तरकीब के साथ बंद रहता है। इसलिए हमारा काम यह होना चाहिए कि हम उस पर जितना दबाव डाल सकते हैं डालकर उसे जितना मजबूत हो सके बंद रखें, जिससे वह खुल न सके। यही भाव है जिसमें हम इस वाक्य को समझते हैं, "वह जो इसके ग्रहण करने की योग्यता रखता है, उसको ही इसे प्राप्त होने दो। (He that is able to receive it let him receive (Matt. XIX-12) सारांश यह है कि प्रत्येक मनुष्य को विवाह न करने का ही प्रयत्न करना चाहिए, परंतु जिस समय वह विवाह कर चुके तो अपनी स्त्री के साथ वैसे ही रहे जैसे भाई और बहन रहते हैं। वाष्प-शक्ति का संचय होगा। कपाट (ढक्कन)

ऊपर उठेंगे (खुलेंगे) किंतु हमें उन्हें स्वयं नहीं खोलना चाहिए, जैसा कि हम उस समय करते हैं जब रति-क्रिया को धर्म-विहित सुख की वस्तु समझते हैं। इसकी आज्ञा केवल उसी समय है जब हम अपने-आपको सँभाल न सकते हों, और जिस समय वह हमारी इच्छा के विरुद्ध स्फुटित हो निकले।

"परंतु कोई मनुष्य इस बात का निर्णय कैसे कर सकता है कि किस समय वह आत्म-निग्रह नहीं कर सकता (अपने-आपको संभाल नहीं सकता)।"

इस तरह के कितने ही प्रश्न सुनने में आते हैं और उनके उत्तर कितने असंभव प्रतीत होते हैं? और तो भी वे कितने सरल हैं; जब कोई मनुष्य अपने लिए आप उन्हें हल करता है, दूसरों के लिए दूसरे लोग हल नहीं करते। दूसरों के लिए हल करने में मनुष्य केवल थोड़ी दूर तक पहुँच पाता है। एक वृद्ध पुरुष एक वेश्या के साथ प्रेम करने ल.गता है और उसके साथ खूब रब्त-जब्त बढ़ाता है—यह कितना घोर निंद्य कर्म है; एक युवा पुरुष भी ऐसा ही करता है—यह उसकी अपेक्षा कम निंद्य है। एक वृद्ध पुरुष काम के वशीभूत होकर विवाह के लिए किसी स्त्री से अनुराग करता है—यह काम भी निंद्य है किंतु एक युवा पुरुष के किसी वेश्या के साथ अनुराग करने की अपेक्षा कम निंद्य है। एक युवा पुरुष स्त्री के साथ कामासक्त होकर प्रेम करता है—यह अपेक्षाकृत कुछ कम निंद्य है, यद्यपि अप्रिय यह भी अवश्य है। ऐसा क्रम दूसरों के संबंध में भी है, और हम सब लोग इस बात को खूब अच्छी तरह जानते हैं। विशेषकर युवा पुरुष और वे बालक जिनका चरित्र अभी निष्कलंक है। परंतु एक मनुष्य के लिए एक दूसरा भी विचार है। ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले प्रत्येक पुरुष और स्त्री को यह ज्ञात है (यद्यपि मिथ्या भावनाओं में पड़कर उसका यह ज्ञान कभी-कभी निष्प्रभ हो जाता है) कि पवित्रता की कद्र करनी चाहिए, यह कि प्रत्येक व्यक्ति के अंदर उसके बनाए रखने की अभिलाषा होती है, और यदि किसी दशा में वह नष्ट हो जाए तो इससे कितना संताप और लज्जा होती है। अंत:करण से बराबर एक आवाज आती रहती है, जो पद-स्खलित होने के बाद और हमेशा लोगों को स्पष्ट-रूप से यह बतलाया करती है कि यह अनुचित और लज्जास्पद बात है। (यह सब मनुष्य के ज्ञान और बुद्धि पर निर्भर करता है।)

संसार में काम-वासना से प्रेरित हो किसी से प्रेम करना एक बहुत अच्छी चीज समझा जाता है ठीक उसी प्रकर जिस प्रकार रक्षण-कपाट (Safety Valve) को खोल देना और भाप को निकाल देना समझे जा सकते हैं। परंतु ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार, केवल शुद्ध और पवित्र जीवन व्यतीत करना, अपनी बुद्धि को ईश्वरोपासना में लगाना अर्थात् मनुष्यों से उनकी आत्माओं, तथा उन सबमें सबसे पहली और सबसे नजदीकी आत्मा—अपनी धर्मपत्नी से प्रेम करना, उसको सत्य का ज्ञान प्राप्त करने में

सहायता देना, उसको अपनी कामाग्नि बुझाने का साधन-मात्र बनाकर उसके बुद्धि और बल का दुरुपयोग न करना ही एक शुद्धि और पवित्र एवं उत्तम कर्म है। सारांश यह, कि उस वाष्प-शक्ति (स्टीम) का प्रयोग काम करने के लिए ही किया जाए, और उसको स्फुटित होने (निकल जाने) से रोकने के लिए जितना प्रयत्न हो सके किया जाए।"

"परंतु ऐसा करने से तो मानव-सृष्टि का अंत हो जाएगा।"

सर्वप्रथम तो, लोग स्त्री-पुरुषों के इस संसर्ग को रोकने का चाहे जितना प्रयत्न क्यों न करे, ये रक्षण-कपाट (Safety Valve) उस समय तक बने ही रहेंगे जब तक कि उनकी आवश्यकता है, और इसलिए बच्चे पैदा होते ही रहेंगे। इसके भी अलावा हमें झूठ बोलने की क्या आवश्यकता ? क्या जिस समय हम स्त्री-पुरुषों के समागम (रति-क्रिया) का समर्थन करने लगते हैं उस समय सचमुच हम संतान उत्पन्न करने के लिए उत्सुक होते हैं ? हमें तो आनंद (मजे) का ही खयाल होता है। और हमें साफ-साफ ऐसा ही कह देना चाहिए। क्या मानव-सृष्टि का क्रम रुक जाएगा ? क्या मनुष्य-तनु-धारी प्राणी का इस संसार में नाम-निशान न रह जाएगा ? यह सब कैसी हृदय-विदारक और मर्मभेदी बातें हैं ! विश्व-प्रलय से पूर्व के प्राणियों का कोई अस्तित्व नहीं रहा है, और उसी प्रकार यह निश्चय है कि मानव-सृष्टि का भी कोई न रह जाएगा (यदि अमरता और अनंतता का विचार किया जाए)। इसका नाश भले ही हो जाए, पर यदि सच्चे प्रेम और प्रेमियों का अंत न होगा तो मुझे मनुष्य नाश पर उतना ही दु:ख होगा जितना उन अनेक प्राणियों के नाश पर होता है जो एक समय इस पृथ्वी पर थे। और यदि मनुष्यों के विषय-सुख का परित्याग कर देने के कारण मानव-सृष्टि का लोप भी हो जाए, तो इस सच्चे प्रेम का अंत न होगा वरन्, इसके विपरीत, उसकी वृद्धि इस अपरिमिति परिणाम में हो जाएगी कि जो प्राणी इस सच्चे प्रेम का अनुभव करते हैं उनके लिए सृष्टि की कोई आवश्यकता ही न रह जाएगी।

शारीरिक प्रेम (विषाक्त प्रेम) की आवश्यकता केवल इसी काम के लिए है— यह कि मनुष्य के लिए यह संभावना बनी रहे कि वह उन्नति करके इन श्रेष्ठतर प्राणियों के पद को प्राप्त कर सके।

इन तमाम बातों को, जो मैं बिना क्रम से ऊपर कह आया हूँ, पढ़ जाइए और सोचिए, जो कुछ मैं कहना चाहता था और जो कुछ मैंने कहा होता किंतु कह नहीं सका। ये विचार अकस्मात् उत्पन्न नहीं हुए—उनकी उत्पत्ति और परिपुष्टि मेरे अनुभव और जीवन से हुई है, और यदि ईश्वर ने चाहा तो मैं आगे चलकर इनको बहुत साफ-साफ और स्पष्टता के साथ प्रकट करने का प्रयत्न करूँगा।

पशु केवल उसी समय मैथुन करते हैं जब बच्चा पैदा करना होता है। पर अज्ञानी मनुष्य, जैसे कि हम लोग हैं, हमेशा मैथुन करते रहते हैं, और उसने इस मत का भी आविष्कार कर लिया है कि यह एक आवश्यकता है। और इस आविष्कृत आवश्यकता (अपनी ओर से उत्पन्न की गई आवश्यकता) से वह गर्भ तथा शिशु-पालन की अवस्था में भी स्त्री को अपनी रमणी बनने के लिए विवश करता है, (जो शरीर को अत्यधिक श्रांत कर देनेवाला और अस्वाभाविक है) और उसके जीवन का सत्यानाश करता है। हम लोगों ने स्वयं अपनी ऐसी माँगों से स्त्रियों की विवेक-शक्ति का और उनके स्वधर्म का नाश कर दिया है, और इसके बाद हम उनकी बुद्धिहीनता की शिकायत करते हैं अथवा किताबों और विश्वविद्यालयों से उनका उपचार कर उनको उन्नत बनाना चाहते हैं, उनका सुधार करना चाहते हैं। प्राणी-जीवन में मनुष्य पशु से भी गया-बीता हो गया है। अतः उसे यत्नपूर्वक उस प्राणी जीवन के समतल पर पहुँचाना होगा। और जिस समय बुद्धियुक्त जीवन का आरंभ हो जाता है, उस समय वह आप-से-आप ही प्राणी-पद को प्राप्त हो जाता है, अन्यथा, उसकी विवेक-बुद्धि का झुकाव उसके विकृत पाशविक जीवन की ओर हो जाता है।

मनुष्य और उसकी स्त्री (धर्मपत्नी) के बीच रति-संबंध प्रश्न अर्थात् वह कहाँ तक उचित है—व्यावहारिक ईसाई-धर्म के प्रश्नों में सबसे अधिक महत्त्व रखता है, जो संपत्ति-संबंधी प्रश्न के समान है। वह अब भी मेरे दिमाग में चक्कर काट रहा है। इस प्रश्न का उत्तर इंजील में दिया गया है। इस संबंध में ईसा ने जो निर्णय दिया है उससे हमारा जीवन इतना दूर है कि हम उसके अनुसार कार्य करना तो ठीक, उसे ठीक-ठीक समझ भी नहीं सकते। बाइबिल के मैथ्यू खंड के अध्याय 19 के पैरा 11 और 12 में कहा गया है, "परंतु उसने उनसे कहा कि सब लोग इस वचन को ग्रहण नहीं कर सकते, सिवाय उन लोगों के कि जिनके लिए वह कहा गया है (जिनको वह दिया जाता है ?), क्योंकि कुछ षंढ अपनी माता के गर्भ से ही नपुंसक) उत्पन्न हुए हैं; और कुछ लोगों ने स्वर्ग के साम्राज्य के लिए अपने-आपको क्लीब बना डाला है। जो इसके प्राप्त (ग्रहण) करने के योग्य है उसे ही प्राप्त करने दो।"

क्या कारण है कि इस वाक्य का इतना और ऐसा गलत अर्थ किया गया है ? उसके मानी तो साफ हैं। यदि मनुष्य पूछता है कि काम-शक्ति (काम-प्रवृत्ति) के संबंध में उसे क्या करना चाहिए ? उसे किस बात की अभिलाषा करनी चाहिए ? (अपनी आधुनिक भाषा में) मनुष्य के लिए आदर्श क्या है ? तो वह उत्तर देता है—"स्वर्ग का साम्राज्य प्राप्त करने के लिए नपुंसक—विषय-विमुख—बन जाओ। और जिस मनुष्य को इसकी प्राप्ति हो जाती है, और जिसको इसकी प्राप्ति नहीं होती उसके लिए भी यह अच्छा होगा कि वह उसके लिए प्रयत्न करे। जो इसके प्राप्त

करने के योग्य है उसे ही प्राप्त करने दो।"

मैं समझता हूँ कि मनुष्य के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि पुरुष और स्त्री दोनों पूर्ण ब्रह्मचारी-जीवन व्यतीत करने का उद्योग करते रहें, और इसके पश्चात् उनके लिए इसका वही परिणाम होगा जो होना चाहिए। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जब मनुष्य आवश्यकता से अधिक प्रयत्न करेगा तब वह आवश्यक उच्चता तक पहुँच सकेगा। परंतु यदि इसके विपरीत मनुष्य जान-बूझकर शारीरिक संबंध के लिए ही प्रयत्न करता रहेगा, जैसा कि इस समय हम लोगों में होता है , चाहे वह विवाह के रूप में ही क्यों न हो, तो उसका उन बातों में फँस जाना (पतन हो जाना) अनिवार्य है जो अनुचित (अन्याय) और विकार-युक्त हैं। यदि मनुष्य विचारपूर्वक अपने पेट के लिए ही नहीं वरन् आत्मा के लिए जीवित रहने का प्रयत्न करता रहे तो भोजन के प्रति उसका भाव वही होगा जो होना चाहिए। परंतु मनुष्य पहले से ही अपने लिए सुस्वादु भोजन तैयार कर ले तो उसमें अनौचित्य (अन्याय) और दुराचार का उत्पन्न हो जाना अनिवार्य है।

विवाहित जीवन के संबंध में मैं बहुत कुछ विचार करता रहा हूँ और कर रहा हूँ, और जैसा कि मेरे संबंध में हमेशा, जब कभी मैंने किसी गंभीर विषय के ऊपर विचार करना आरंभ किया है, होता रहा है मुझे बाहर से प्रोत्साहन और सहायता मिलती रही है।

अभी परसों मुझे अमरीका से एलिस स्टाकहम एम. डी.नामक एक स्त्री-चिकित्सिका द्वारा रचित 'Jokolosy a book for every woman' नाम की पुस्तक प्राप्त हुई है। स्वास्थ्य की दृष्टि से यह पुस्तक बड़े मार्के की है और उसमें सबसे बड़े महत्त्व की जो बात है, वह यह है कि, उसमें एक अध्याय में उसी विषय का वर्णन है जिसके ऊपर हम लिख रहे हैं और उसमें इस प्रश्न का वही हल बतलाया गया है जो हम बतलाते हैं। जिस समय अंधकार में पड़े हुए किसी मनुष्य को अपने निकट ही प्रकाश दिखलाई पड़ता है तो उसे बड़ी प्रसन्नता होती है। मेरे लिए मेरी आत्मश्लाघा में, यह कहा जाता है कि मैंने अपना जीवन पशु की भाँति बिताया है, और मैं अब उसका पुनर्लाभ नहीं कर सकता—यह बड़े दुःख की बात है, क्योंकि यह कहा जाएगा कि "तुम्हारे जैसे एक मरणोन्मुख मनुष्य के लिए यह सब कुछ कहना बिल्कुल ठीक है, परंतु तुम्हारा जीवन दूसरी तरह का रहा है। जिस समय हम भी बुड्ढे होंगे हम यही कहेंगे।" पर मेरे पाप का प्रायश्चित्त अब इसी में है। एक मनुष्य समझता है कि वह ईश्वर की आज्ञा को पूर्ण करने के लिए बिल्कुल अयोग्य है। परंतु इस विचार से उसको आश्वासन मिलता है कि मैं अपने अनुभव से दूसरों को सचेत कर दूँ। यदि वे भी ठीक राह पर आ जाएँ तो काफी है।

उन अधिकांश दु:खों का, जो स्त्रियों और पुरुषों से समागम से उत्पन्न होते हैं, कारण केवल यह है कि एक (स्त्री-जाति अथवा पुरुष-जाति) दूसरी जातिवालों के विषय में बिल्कुल अनभिज्ञ रहते हैं।

पुरुष बहुत कम इस बात को समझते हैं कि स्त्रियों के साथ बच्चों का क्या संबंध है; उनके जीवन में उनका क्या स्थान है; और इससे भी कम स्त्रियाँ इस बात को समझती हैं कि मनुष्य को अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए क्या करना पड़ता है। उसके सामाजिक और धार्मिक कर्तव्य क्या अर्थ रखते हैं।

यदि प्रश्न केवल पति के उन तमाम चिंताओं और कष्टों से छुटकारा पाने का है जो छोटे बच्चों की शिक्षा अथवा उनके लालन-पालन—उन्हें बिछौने पर सुलाना, उनके हाथ-मुँह, शरीर और कपड़ों को धोना, उनके लिए तथा दूसरे लोगों के लिए भोजन बनाना, उनके कपड़े आदि सीना तथा ऐसे ही अन्य कामों से उत्पन्न होते हैं, तो यह बिल्कुल ईसाइयत के खिलाफ, निर्दय और अन्याय है।

स्त्रियों को, जैसा कि इस समय है, बच्चों के लालन-पालन और भरण-पोषण में पुरुषों की अपेक्षा अधिक परिश्रम करना पड़ता है, और इसलिए यह बिल्कुल स्वाभाविक जान पड़ता है कि पुरुष बाकी तमाम चिंताओं को अपने ऊपर ले लें। पर उसके लिए अपने निजी काम में कोई क्षति न पहुँचाएँ क्योंकि उसकी भी उस परिवार को आवश्यकता है। और इसमें संदेह नहीं कि पुरुष इस बात को जरूर करता, यदि कार्य का सारा भार सबसे निर्बल और इसलिए सबसे अधिक वशवर्ती (आज्ञाकारी) मनुष्य के ऊपर डाल देने के इस क्रूर (असभ्य) व्यवहार ने हमारे समाज में इतनी मजबूत जड़ न पकड़ ली होती है। यह व्यवहार हमारे जीवन में इतना व्याप्त हो गया है कि स्त्रियों के समानाधिकारों (समानता) को स्वीकार करते हुए भी अधिक-से-अधिक उदार चित्त, सभ्य और शिष्ट पुरुष अपनी पूरी ताकत के साथ स्त्रियों के प्रोफेसर और पुरोहित आदि होने के अधिकार का समर्थन करेगा; अथवा वह उस रूमाल को उठाने के लिए दौड़ेगा जो किसी महिला ने गिरा दिया है, चाहे इसमें उसकी जान भी खतरे में क्यों न पड़ जाए, तथा ऐसे ही दूसरे काम भी करने में लग जाएगा। परंतु अपने बच्चे के, (जो उसकी भी वैसी संतान है जैसी कि उसकी स्त्री की) मैले कपड़े धोना, अथवा जिस समय उसकी स्त्री बीमार है या परिश्रांत है, अथवा दिनभर बच्चे का लालन-पालन एवं भरण-पोषण कर चुकने के पश्चात् कुछ पढ़ना चाहती है या किसी विषय में कुछ सोचना चाहती है; उस समय अपने बच्चे के लिए कपड़े सीने या मोजे आदि बनाना—आदि उसके दिमाग में भी न आएगा।

इस संबंध में लोकमत इतना कलुषित है कि ऐसा कार्य करना हास्यास्पद समझा जाएगा; और इसलिए इसके करने के लिए बहुत बड़े साहस की आवश्यकता है।

स्त्री-जाति का वास्तविक उद्धार इस बात में है कि ऐसा परिश्रम विशेषकर स्त्रियों का काम न समझा जाए जिसके छूने में स्वयं मनुष्य लज्जा करें किंतु पुरुष को चाहिए कि वह अपनी पूरी ताकत के साथ उसके कामों में सहायता करे, क्योंकि पुरुषों की अपेक्षा उसमें शारीरिक निर्बलता अधिक है। जिस काम को पुरुष खूब कर सकता है उससे स्त्री को मुक्त कर देना चाहिए।

इसी प्रकार बालिकाओं की शिक्षा के संबंध में भी इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि संभवतः उनके भी बच्चे होंगे और इसलिए उन्हें भी कम अवकाश मिलेगा। अतः लड़कियों के लिए ऐसी पाठशालाओं की व्यवस्था करनी चाहिए जो बालकों की पाठशालाओं से अच्छी हों, जिससे वे पहले से ही उस शक्ति और ज्ञान का संचय कर लें जिसकी उनमें सामर्थ्य है।

प्रत्येक मनुष्य को—चाहे वह स्त्री हो चाहे पुरुष—व्यवसाय मानव-समाज (मनुष्य-जाति) की सेवा करना है। इस व्यापक कथन से, मैं समझता हूँ, सभी ऐसे मनुष्य सहमत होंगे जो दुश्चरित्र और दुराचारी नहीं हैं। इस व्यवसाय (कार्य) का संपादन करने में स्त्री और पुरुष के बीच उन साधनों के विषय में बहुत बड़ा अंतर है जिनको वे प्रयोग में लाते हैं। पुरुष शारीरिक, मानसिक और धार्मिक कर्मों से मनुष्य-जाति की सेवा करता है। उसकी सेवा की विधियाँ नाना प्रकार की हैं। बच्चा जनने और उसका भरण-पोषण करने के अतिरिक्त बाकी जितने काम मनुष्य कर सकता है वे सब पुरुष की सेवा के अंतर्गत हैं। स्त्री, जिसके लिए पुरुषों की भाँति मानव-समाज की सेवा करना संभव नहीं है, स्वभावतः अपनी ऐसी शारीरिक रचना के कारण वह सेवा करने के लिए उत्पन्न की गई है—उसके लिए ऐसा करना अनिवार्य कर दिया गया—जो पुरुष के कार्य-क्षेत्र से बाहर है। मनुष्य-समाज की सेवा स्वभावतः दो भागों में विभाजित कर दी गई है। एक तो, वर्तमान मानव-समाज के कल्याण (सुख-समृद्धि) की मात्र वृद्धि करना; दूसरा स्वयं मानव-जाति को बनाए रहना। पहला काम मुख्यतः पुरुषों का है, क्योंकि उनके लिए दूसरे प्रकार की सेवा करना संभव नहीं है। स्त्रियों के लिए दूसरे प्रकार का काम है, क्योंकि केवल इन्हीं में इसके करने की क्षमता है। इस अंतर को कोई भूल नहीं सकता, उसको मिटा नहीं सकता और न उसे इसको भूलना या मिटाना चाहिए। इसी अंतर से दोनों (स्त्री और पुरुष) जातियों के कर्तव्य की उत्पत्ति होती है। इस कर्तव्य का आविष्कार स्वयं मनुष्यों ने नहीं किया है, किंतु उसकी उत्पत्ति स्वयं प्रकृति से ही है। इसी अंतर से स्त्री-पुरुषों के पुण्य और पाप का भी निरूपण किया जाता है। यह निर्णय है जो सभी युगों में होता आया है, और अब भी विद्यमान है, और जिसका अंत उस समय तक न होगा जब तक मनुष्यों के पास विवेक रहेगा।

पुरुष के लिए बहुत-से काम हैं, परंतु उसके सारे प्रयत्न, सारा शारीरिक और मानसिक परिश्रम, उसका धर्म-संबंधी सारा कार्य केवल उसी समय उपयोगी और सफलीभूत होंगे जब वे उस उच्चतम सत्य के नाम पर किए गए हों जिस तक उनकी पहुँच है।

यही बात स्त्रियों के व्यवसाय के संबंध में भी है। उसका बच्चों को जन्म देना, उनका लालन-पालन और भरण-पोषण करना मानव-जाति के लिए उसी समय उपयोगी सिद्ध होगा जब वह केवल अपने आनंद के लिए बच्चे नहीं किंतु मानव-समाज के भावी सेवक उत्पन्न करेगी; जब इन बालकों को शिक्षा उस उच्चतम सत्य के नाम पर दी गई हो जिसका उसे ज्ञान है; अर्थात् जिस समय उसने अपने बच्चों को शिक्षा इसलिए दी हो कि वे जहाँ तक हो सके मनुष्यों से लें कम और उनको दें अधिक। एक आदर्श स्त्री, जैसी कि मेरी भावना है, वह स्त्री होगी जो उस उत्तम जीवन-संबंधी भावना और विश्वास का समीकरण कर चुकने के पश्चात् जिससे वह परिचित है अपने-आपको उस मातृ-प्रवृत्ति के हवाले कर देती है जो अनिवार्य रूप से उसके हृदय में स्थान पाए हुए हैं; और अधिक-से-अधिक संख्या में ऐसी संतान उत्पन्न करती हैं, जो उनके जीवनोद्देश्य के अनुसार मनुष्य-समाज की सेवा करने योग्य हो। और इसी ढंग पर वह लालन-पालन और भरण-पोषण भी करती है, और उनको शिक्षा देती है। जीवन-संबंधी यह भावना स्त्रियों के विश्वविद्यालयों में दिखाई नहीं पड़ सकती—इसकी प्राप्ति केवल उसी समय हो सकती है जब मनुष्य उसकी ओर से अपनी आँखें और कान बंद कर ले और अपने हृदय की विशालता और ग्रहण-शक्ति को बढ़ाए।

अच्छा, तो जिनके संतान नहीं है, अथवा जिन्होंने विवाह नहीं किया है, उनको और विधवाओं को क्या करना चाहिए? उनके लिए यह अच्छा होगा कि वे भिन्न-भिन्न प्रकार के कामों में पुरुषों का हाथ बटाएँ। प्रत्येक स्त्री, जिस समय कि वह अपने बच्चों के साथ अपना काम समाप्त कर चुके, यदि वह काफी मजबूत है, तो अपने पति के काम में उसकी सहायता कर सकती है, और ऐसी सहायता बड़ी मूल्यवान है।

तुम लोग, जैसा कि मैं समझता हूँ, इस लोक-सिद्ध और अत्यंत हानिकर भ्रम में पड़े हुए हो कि 'प्रणय' और 'प्रेम' में समानता और सादृश्य है, और यह एक बड़ा अच्छा भाव है, परंतु वास्तव में यह कुत्सित और बड़ा हानिकर भाव है और इसका परिणाम हमेशा दुःखद होता है। मनुष्य किसी धार्मिक अथवा नैतिक नियम (कानून) को न मानता हुआ उसमें निरत (आसक्त) हो सकता है, परंतु प्रणय (आसक्ति) की न्यायता (न्यायानुकूलता) स्वीकार करना प्रेम को जीवन का एक नियम (कानून)

मानने के विरुद्ध है (अर्थात् यदि प्रणय को धर्म-सम्मत मान लिया जाए तो वह इस विश्वास का खंडन करता है कि प्रेम-विशुद्ध प्रेम जीवन का एक नियम है)। प्रेम केवल उसी समय प्रेम माना जाएगा जब उसमें आत्म-संयम की बात हो, आत्म-तुष्टि (अपनी इंद्रियों आदि की तृप्ति) की अभिलाषा न हो। ऐसा प्रेम आप अपनी धर्मपत्नी में ही पा सकते हैं, और यह भाव ही आपको सच्चा आनंद (परम सुख) प्रदान कर सकता है। किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति ऐसे राग (अनुराग) से सिवा नैतिक पतन और उससे होनेवाले दु:ख एवं शोक के आपके हाथ कुछ न लगेगा।

मनुष्य को बुद्धि और वाणी इसलिए नहीं दी गई हैं कि वह इनकी सहायता से अपनी पाशविक इंद्रिय-शक्ति (काम-पिपासा) को उचित सिद्ध करने के उपायों का आविष्कार करे, किंतु वे इसलिए दी गई हैं कि उनकी सहायता से वह इस काम-वासना के साथ संग्राम करे और बुद्धि की माँग को बढ़ाए और उनका स्पष्टीकरण करते हुए उनका अनुवर्ती बन जाए अर्थात् अपने-आपको उनके हवाले कर दे। बुद्धि ने, बहुत समय हुआ लोगों को प्रमाणित कर दिया है कि शारीरिक संबंध (सहवास) के बारे में, जिसका परिणाम संतान की उत्पत्ति होता है, ऐसी व्यवस्था बना लेनी चाहिए जिससे वह विपत्तियों का कारण सिद्ध न हो। ऐसे संबंध के विषय में मनुष्य का कर्तव्य क्या है, इसकी सबसे सरल और स्पष्ट परिभाषा यह है कि स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि वे अपने-आपको हमेशा के लिए एक-दूसरे के साथ संयुक्त समझें और कभी किसी दूसरे व्यक्ति के साथ अपना रिश्ता न जोड़ें। इसी का नाम विवाह है। इसकी आवश्यकता इसलिए है कि जिन लोगों में यह संबंध स्थापित हो गया है, अर्थात् जिनमें समागम हो चुका है उनके लिए हर तरह की विपत्तियों का मार्ग रोका जा सके और संतान का पालन-पोषण भी हो सके।

❑❑❑

स्त्री और पुरुष

अनुवादक
ज्ञानचंद जैन

'क्रूज़र सोनाटा' का परिशिष्ट

मेरे पास अपरिचित व्यक्तियों के ऐसे अनेक पत्र आए हैं और आ रहे हैं, जिनमें मुझसे कहा गया है कि अपनी 'क्रूज़र सोनाटा'[1] शीर्षक कहानी में मैंने जिस विषय को उठाया है, उस संबंध में अपने विचार सरल और सुबोध भाषा में स्पष्ट कर दूँ। मैं यहाँ यही यत्न करूँगा, अर्थात् मैं यथासंभव संक्षेप में, उस कहानी के द्वारा मैं जो कुछ कहना चाहता था, उसका सार देने का प्रयत्न करूँगा, तथा मेरे मतानुसार उस कहानी से जो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, उन्हें बताने की चेष्टा करूँगा।

पहली बात तो मैं यह कहना चाहता था कि हमारे समाज के सभी वर्गों में यह दृढ़ धारणा बँध गई हैं, और झूठे विज्ञान के द्वारा इसका समर्थन भी किया जाता है, कि स्वास्थ्य रक्षा के लिए मैथुन नितांत आवश्यक है, तथा, चूँकि सभी व्यक्तियों के लिए विवाह संभव नहीं है, इसलिए विवाह-बंधन के बिना भी, पैसे देकर, व्यभिचार करना सर्वथा स्वाभाविक है और उसे प्रोत्साहन देना चाहिए।

यह धारणा समाज में इतनी फैल गई है कि कितने ही माता-पिता डॉक्टरों की सलाह से अपने संतानों को पापाचरण के लिए उत्तेजित करते हैं; सरकार का धर्म अपनी प्रजा का नैतिक जीवन ऊँचा उठाना है, पर वह पापालयों का संगठन करती है, अर्थात् स्त्रियों के एक ऐसे वर्ग का संचालन करती है, जो अपना शारीरिक तथा आध्यात्मिक पतन करके पुरुषों की काल्पनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, तथा अविवाहित पुरुष बिना किसी आत्मप्रतारणा के पापरत होते हैं।

मैं यह कहना चाहता था कि यह अनुचित है। कुछ लोगों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए दूसरों के शरीर तथा आत्मा का नाश किया जाए, यह कहना उसी प्रकार बुरा है, जिस प्रकार यह कहना कि अपने स्वास्थ-लाभ के लिए दूसरों का खून पिया जाए।

मेरी समझ में इससे स्वभावत: यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति को इस बुराई से बचना चाहिए। और इन बुराइयों से बचने का एक उपाय यह है कि मनुष्य अनीतिपूर्ण शिक्षाओं को स्वीकार करने से इनकार कर दे, चाहे झूठे विज्ञान

---

1. स्त्री-पुरुष संबंध की विवेचना करनेवाली टॉल्सटॉय की एक प्रसिद्ध कहानी। —अनु०

उन शिक्षाओं का समर्थन ही क्यों न करते हों। दूसरे, वह यह भलीभाँति समझ ले कि जिस विषयोपभोग में पुरुष अपने कार्यों के परिणाम, अर्थात् संतानोत्पत्ति से, अपने को मुक्त रखता है, तथा उसका संपूर्ण उत्तरदायित्व स्त्री पर डाल देता है, जो संतति-निरोध के कृत्रिम उपायों का आश्रय लेती है, वह विषयोपभोग अनीतिपूर्ण है, वह कायरता है; अत: जो अविवाहित पुरुष कायर नहीं बनना चाहते, उन्हें इस प्रकार के व्यभिचार से बचना चाहिए।

यदि पुरुषों को संयमशील जीवन बिताना है तो उन्हें अपना जीवन-क्रम सरल बना लेना चाहिए। उन्हें न तो शराब पीनी चाहिए और न अधिक भोजन करना चाहिए। मांसाहार छोड़ देना चाहिए। उन्हें परिश्रम से कभी मुँह न मोड़ना चाहिए (केवल कसरत ही काफी नहीं है, बल्कि शरीर को थका देनेवाला सच्चा परिश्रम करना चाहिए)। उन्हें पर-स्त्रियों से कभी व्यभिचार न करना चाहिए, उनकी तरफ वैसी ही दृष्टि रखनी चाहिए, जैसी दृष्टि वे अपनी माता, बहन, निकट की रिश्तेदार अथवा मित्र-पत्नियों के प्रति रखते हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपने आस-पास इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण मिल जाएँगे कि संयमशील जीवन बिताना नितांत संभव है, और विलासी-जीवन की अपेक्षा वह कम खतरनाक तथा स्वास्थ्य के लिए कम हानिकर होता है।

यह तो हुई पहली बात।

दूसरी बात, फैशनेबल समाज में यह धारणा बँध जाने से कि विषयोपभोग न केवल एक स्वास्थ्यदायक तथा आनंददायक वस्तु है, बल्कि वह जीवन का एक काव्यपूर्ण तथा लोकोत्तर वरदान है, समाज के सभी वर्गों में दुराचार एक मामूली-सी बात हो गई है (किसानों में मुख्यतया फौजी नौकरी के कारण यह बुराई बढ़ी है।)

मेरा मत है कि यह अनुचित है, और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन बुराइयों से बचना चाहिए।

और इन बुराइयों से बचने के लिए स्त्री-पुरुष के प्रेम के संबंध में जो विचार फैले हुए हैं, उन्हें बदलना आवश्यक है। माता-पिताओं तथा लोकमत द्वारा लड़के-लड़कियों को यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि विवाह से पहले तथा बाद में एक-दूसरे से प्रेम करने लगना तथा विषयोपभोग में प्रवृत्त होना कोई काव्यमय तथा लोकोत्तर अवस्था नहीं है, बल्कि यह तो पशु-जीवन की एक अवस्था है और मनुष्य की मर्यादा घटानेवाली है। समाज को पर-स्त्री अथवा पर-पुरुष से संबंध न रखने की वैवाहिक-प्रतिज्ञा भंग करनेवालों को उसी प्रकार भर्त्सना करनी चाहिए, जिस प्रकार बकाया रुपया न अदा करनेवालों तथा व्यापार में धोखा देनेवालों की भर्त्सना की जाती है। इस समय तो उपन्यासों, कविताओं, गीतों तथा थिएटरों आदि में इस प्रकार

के दुराचार का गुणगान किया जाता है, जो नितांत अनुचित है।

यह हुई दूसरी बात।

तीसरी बात, विषयोपभोग को मिथ्या महत्त्व देने के कारण हमारे समाज में संतानोत्पादन का सच्चा अर्थ नष्ट हो गया है। संतानोत्पत्ति वैवाहिक सुख का पवित्र उद्देश्य मानी जाने के बजाय विषयोपभोग के आनंद में बाधक मानी जाने लगी है। फलतः डॉक्टरों की सहायता से विवाह के पूर्व और पश्चात् स्त्रियों की संतानोत्पादन की शक्ति व्यर्थ करने के लिए संतति-निरोध के कृत्रिम उपाय अधिकाधिक व्यवहार में लाए जा रहे हैं। पहले गर्भावस्था तथा गोद में दूध-पीता बच्चा होने की अवस्था में विषयोपभोग वर्जित था, आज भी पुराने कृषक-परिवारों में यह प्रथा प्रचलित है, पर अब गर्भावस्था तथा गोद में बच्चा होने की अवस्था में भी विषयोपभोग करना एक रिवाज-सा हो गया है।

यह नितांत अनुचित है।

संतति-निरोध के कृत्रिम उपायों का अवलंबन करना बहुत-ही अनुचित है, क्योंकि इससे मनुष्य बच्चों के पालन-पोषण आदि के चिंता-भार से मुक्त हो जाता है। दंपती-प्रेम की सार्थकता संतानोत्पत्ति में ही है। दूसरे संतति-निरोध का अवलंबन करना एक प्रकार से जीव-हत्या करना है, जो मनुष्य-जाति में सबसे जघन्य अपराध माना जाता है। गर्भावस्था तथा गोद में बच्चा होने की अवस्था में विषयोपभोग करने से स्त्री की शारीरिक, और इससे भी अधिक उसकी आत्मिक-शक्ति का नाश होता है, इसलिए इस अवस्था में विषयोपभोग बहुत-ही बुरा है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन बुराइयों से बचना चाहिए। इन बुराइयों से बचने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य संयम का महत्त्व समझ ले। मर्यादा-रक्षा के लिए अविवाहित जीवन में संयम रखना आवश्यक तो है ही, विवाहित जीवन में संयम रखना आवश्यक है।

यह हुई तीसरी बात।

चौथी बात, हमारे वर्तमान समाज में बच्चों का पैदा होना विषयानंद में बाधा, अथवा दुर्भाग्यपूर्ण संयोग माना जाता है; या फिर बच्चों का पैदा होना तभी तक सुखकर माना जाता है, जब तक वे एक पूर्वनिर्धारित संख्या में उत्पन्न हों। ऐसी दशा में बच्चों का पालन-पोषण, उन्हें बड़ा होने पर मानव-जीवन की समस्याओं का सामना करने में समर्थ बनाने की दृष्टि से नहीं, बल्कि माता-पिताओं की आत्म-तुष्टि करने की गरज से किया जाता है। फलतः बच्चों का लालन-पालन पशुओं के समान होता है; माता-पिताओं की मुख्य चिंता (तथाकथित झूठा डॉक्टरी-विज्ञान इसमें उनका समर्थन करता है) बच्चों को मनुष्य की मर्यादा की शिक्षा देना नहीं,

बल्कि उन्हें खूब खिला-पिलाकर मोटा-ताजा और सुंदर-सुडौल बनाना रहती है। (निम्न वर्ग के लोग ऐसा नहीं कर पाते, इसका कारण उनकी गरीबी होती है, पर उनकी लालसा तो उच्च वर्गों के समान ही होती है)। और इस प्रकार से पाले गए बच्चों में खूब खिला-पिलाकर पाले-पोसे गए पशुओं की भाँति, अस्वाभाविक रूप से कच्ची उम्र में ही दुर्दमनीय विषय-वासना जाग्रत हो जाती है जिससे यौवनावस्था प्राप्त करने पर उन्हें नाना यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। उनके चारों ओर का वायुमंडल भी उनकी विषय-वासना को उत्तेजना देने में योग देता है। उनके कपड़े, उनकी किताबें, संगीत, नृत्य, मेले, चित्र, कहानियाँ, उपन्यास तथा कविताएँ, उनके प्रतिदिन के जीवन में काम आनेवाली सभी वस्तुएँ उनकी कामुकता बढ़ाती हैं। इसका फल यह होता है कि बहुधा युवक-युवतियाँ जीवन के बसंतकाल में ही नाना घृणित व्यभिचारों तथा भयंकर रोगों में लिप्त हो जाती हैं और प्रौढ़ावस्था में भी चारित्रिक दोष तथा रोग उनका पीछा नहीं छोड़ते।

यह बहुत ही बुरा है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चों का पालन-पोषण पशुओं की तरह नहीं होना चाहिए तथा उन्हें मोटा-ताजा और सुंदर-सुडौल बनाने के बजाय दूसरी बातों की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

यह हुई चौथी बात।

पाँचवीं बात, हमारे समाज में युवक-युवती का प्रेम-व्यापार मानव-जीवन का सर्वोच्च उत्कृष्ट लक्ष्य माना जाता है (जरा हमारे समाज की कला और काव्य पर दृष्टिपात करिए)। इस प्रेम-व्यापार का मूलाधार यौन-आकर्षण रहता है। युवक अपने मन के लायक किसी रमणी को ढूँढ़ निकालने और उससे स्वतंत्र प्रेम-संबंध स्थापित करने अथवा विवाह करने में, तथा युवतियाँ पुरुषों को मोहित करने में, अपने जीवन का सर्वोत्तम काल गँवा देती हैं।

इस प्रकार पुरुषों की शक्ति एक निरर्थक तथा हानिकर कार्य में खर्च हो जाती है। इसी कारण हमारे जीवन में इतनी मूढ़तापूर्ण विलासिता आ गई है; पुरुषों में अलसता तथा स्त्रियों में निर्लज्जता बढ़ती जाती है, वे कुलटाओं की देखा-देखी नए-नए फैशन ग्रहण करती हैं और कामाग्नि भड़कानेवाले अपने अंगों का प्रदर्शन करने में भी संकोच नहीं करतीं।

मैं इसे अनुचित मानता हूँ।

यह इसलिए अनुचित है कि कविताओं तथा उपन्यासों में स्वतंत्र प्रेम तथा विवाह करके स्त्री-पुरुष का मिलन चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न ठहराया गया हो, पर मनुष्य जीवन के लिए यह लक्ष्य उसी प्रकार शोभनीय नहीं है, जिस प्रकार

बढ़िया पकवानों से पेट भर लेना चाहे बहुत-से लोग इसे जीवन की नियामत ही क्यों न मानते हों।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यों को स्त्री-पुरुष का प्रेम कोई लोकोत्तर वस्तु मानना छोड़ देना चाहिए। उसे यह समझ लेना चाहिए कि मनुष्य चाहे देश-सेवा करना अपने जीवन का लक्ष्य बनाए, चाहे वह विज्ञान अथवा कला की आराधना अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित करे (ईश्वर की आराधना तो दूर की बात है), पर इनमें से एक भी लक्ष्य की सिद्धि वह विषय-वासना में पड़कर नहीं कर सकता। प्रेम तथा विषय-सेवन की अवस्था जीवन के किसी भी पुनीत लक्ष्य की पूर्ति में सहायक नहीं होती, उल्टे वह उसमें बाधक होती है (चाहे काव्य और उपन्यास इससे उल्टा सिद्ध करने की कितनी चेष्टा क्यों न करें)।

यह हुई पाँचवीं बात।

उस कहानी में मैं जो कुछ कहना चाहता था, वह संक्षेप में यही है। मैं समझता हूँ कि उस कहानी में मैंने यह व्यक्त भी कर दिया है। मेरा खयाल है कि उस कहानी में विवेचना करके समाज की जो बुराइयाँ इंगित की गई हैं, उन्हें दूर करने के उपायों के संबंध में भले ही मतभेद हों, पर उन विचारों से कोई असहमत नहीं हो सकता।

मेरा खयाल था कि कोई उनसे असहमत हो भी कैसे सकता है? वह विचार मानव-प्रगति के सर्वथा अनुकूल हैं—मनुष्य-जाति निरंतर उच्छृंखलता से अधिकाधिक शील की ओर बढ़ रही है। वे समाज तथा व्यक्ति के नैतिक आदर्शों के भी सर्वथा अनुकूल हैं, हम सदैव असंयम की निंदा तथा संयम की प्रशंसा करते हैं। पुनः वे विचार बाइबिल की शिक्षा के अनुसार हैं, जिसे हम अपने सदाचरण-संबंधी विचारों का मूल मानते हैं।

पर बाद में मेरा यह खयाल गलत साबित हुआ।

यह सच है कि प्रत्यक्ष रूप से कोई इन विचारों का खंडन नहीं करता कि विवाह से पूर्व अथवा बाद में विलासिता बुरी है, कृत्रिम संतति-निरोध अनुचित है, बच्चों को खिलौना नहीं बनाना चाहिए तथा विषयोपभोग जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य नहीं है—संक्षेप में कोई भी इस बात का खंडन नहीं करता कि विलासिता से संयम उत्तम है। पर कहा जाता है—'यदि विवाह से ब्रह्मचर्य उत्तम है, तो मनुष्य को उत्तम पथ का अनुसरण करना चाहिए। पर यदि वे ऐसा करें तो मनुष्य-जाति का अंत हो जाएगा और ऐसा मनुष्य-जाति कभी नहीं चाहेगी।'

मनुष्य-जाति के अंत हो जाने पर विचार कोई नया नहीं है। धार्मिक व्यक्ति इसमें पूर्ण श्रद्धा रखते हैं। वैज्ञानिक मानते हैं कि सूर्य दिनों-दिन ठंडा होता जा रहा

है, जिससे यही अनिवार्य निष्कर्ष निकलता है। पर इस बात को यहाँ छोड़ भी दें, तो भी उक्त आपत्ति के पीछे एक दूसरी बहुत पुरानी गलतफहमी है। कहा जाता है—'यदि मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श पर पहुँच जाए तो मनुष्य-जाति ही समाप्त हो जाएगी, अतः यह आदर्श गलत है।' पर जो लोग ऐसा तर्क करते हैं वे जान-बूझकर या बिना जाने दो अलग वस्तुओं—नियमों और आदर्श—को एक में मिलाकर गड़बड़ी करते हैं।

ब्रह्मचर्य नियम नहीं, बल्कि एक आदर्श है, अथवा आदर्श जीवन का एक अंग है। आदर्श तभी तक वस्तुतः आदर्श रहता है जब तक उसकी सिद्धि केवल विचारों में ही संभव हो, जब तक वह अनंत काल में सिद्ध होनेवाला मालूम पड़े, अतः उसकी प्राप्ति अनंत काल तक संभव मालूम पड़े। यदि आदर्श सिद्ध हो जाए अथवा उसे हम सिद्ध करने योग्य मान सकें तो वह आदर्श नहीं रह जाएगा।

पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना करने का ईसा का आदर्श ऐसा ही है। पुराने पैगंबरों ने भी इस आदर्श की भविष्यवाणी पहले ही कर दी थी, उन्होंने कहा था कि वह समय आ रहा है जब तलवारों से हलका काम लिया जाएगा, भाले पेड़ों की कलम काटने का काम देंगे, शेर और बकरी एक घाट पानी पिएँगे और प्राणी-मात्र प्रेम के बंधन में बँध जाएँगे। मानव-जीवन का चरम उद्देश्य इसी आदर्श की ओर बढ़ना है। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। अतः इस आदर्श तथा ब्रह्मचर्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने में जीवन का विनाश नहीं होगा; इसके विपरीत यदि इस आदर्श की प्रतिष्ठा न रही तो जीवन की प्रगति तथा सच्चे जीवन की संभावना नष्ट हो जाएगी।

ब्रह्मचर्य का पालन करने से मानव-जाति नष्ट हो जाएगी, यह तर्क वैसा ही है, जैसे यह तर्क करना कि यदि मनुष्य लड़ाई-झगड़े त्याग कर शत्रु और मित्र, सभी प्राणियों के प्रति प्रेम-धर्म का पालन करने का प्रयत्न करने लगे तो मनुष्य-जाति का नाश हो जाएगा। ऐसे तर्क वे ही लोग देते हैं, जो नीति-शिक्षा के दो भिन्न-भिन्न मार्गों का भेद नहीं समझते।

जिस प्रकार किसी पथिक को दो प्रकार से मार्ग-निर्देश किया जा सकता है, उसी प्रकार सत्य के शोधक को भी दो प्रकार से नीति-शिक्षा दी जा सकती है। एक तो पथिक को बता दिया जाए कि तुम्हें मार्ग पर अमुक-अमुक चिह्न मिलेंगे और उन्हें देखते हुए अपना रास्ता ढूँढ़ते चले जाना। दूसरे पथिक का दिग्सूचक यंत्र देकर मार्ग बता दिया जाए और वह एक ही दिशा को लक्ष्य में रखकर अपने मार्ग में हेर-फेर करता रहे।

नीति-शिक्षा का पहला मार्ग बाह्याचरण की शिक्षा का है। मनुष्य को कुछ

नियम बता दिए जाते हैं कि अमुक काम करना चाहिए, अमुक काम नहीं करना चाहिए—उदाहरणार्थ, चोरी मत कर, शराब मत पी, किसी जीव की हत्या मत कर, गरीबों को दान दे, प्रतिदिन पाँच बार ईश्वर की प्रार्थना कर, आदि-आदि। ये धर्म-शिक्षा के बाहरी नियम हैं। हिंदू-धर्म, बौद्ध-धर्म, इस्लाम, यहूदी-धर्म तथा पादरी-धर्म (जिसे गलत ढंग से ईसाई-धर्म कहा जाता है), सभी धर्मों में इस प्रकार के बाह्याचरण के नियम हैं।

दूसरा मार्ग आदर्श का निर्देश कर देना है, जिसे मनुष्य कभी प्राप्त नहीं कर पाता, पर प्राप्त करने का सतत प्रयत्न किया करता है; उस आदर्श से वह कितना दूर है, यह देखकर वह अपनी कमजोरियों का अंदाज लगाता है और उन्हें दूर करने की चेष्टा करता है।

'काया, वाचा, मनसा ईश्वर से प्रेम कर और अपने पड़ोसी को निज के समान प्याार कर।'

'परम-पिता की भाँति पूर्ण बन।'

ये ईसा के उपदेश हैं।

धर्म के बाहरी नियमों का पालन करने की कसौटी यह है कि मनुष्य का बाह्याचरण उन नियमों के अनुकूल हो, और यह संभव है।

ईसा के उपदेशों का पालन करने की कसौटी है कि मनुष्य पूर्ण आदर्श तक न पहुँच सकने की अपनी कमजोरियों के प्रति सतत सजग रहे (वह यह तो नहीं देख पाता कि वह आदर्श के कितने निकट पहुँच सका है, पर यह अवश्य देख लेता है कि वह आदर्श से कितनी दूर है)।

बाहरी नियमों का पालन करनेवाला मनुष्य खंबे पर टँगी लालटेन के प्रकाश में खड़ा रहनेवाले मनुष्य के समान है। वह लालटेन के प्रकाश में खड़ा है, उसके चारों ओर प्रकाश है, पर उसे आगे का मार्ग नहीं सूझता। ईसा के उपदेशों पर चलनेवाला मनुष्य उस मनुष्य के समान है जो आगे-आगे लालटेन लेकर चल रहा हो। प्रकाश सदा उसके आगे रहता है और वह उसका बराबर अनुसरण करता रहता है; प्रकाश में उसके सामने बराबर नया मार्ग प्रकट होता रहता है।

एक फारिसी[1] समस्त नियमों का पालन कर ईश्वर को धन्यवाद देता है। उस धनिक युवक ने बचपन से समस्त नियमों का पालन किया था, फिर भी वह समझ नहीं पाता था कि उसके अंदर क्या कमी है। उसकी अवस्था में यह स्वाभाविक था,

---

1. यहूदियों का एक संप्रदाय, जो हजरत मूसा के सभी नियमों का अक्षरशः पालन करने पर जोर देता है।

क्योंकि उसके सामने कोई चीज नहीं थी जो उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा करे। वह अपनी आय का दसवाँ हिस्सा दान में देता था, साप्ताहिक व्रत का पालन करता था, अपने माता-पिताओं का आदर करता था, व्यभिचार, चोरी तथा हत्या से दूर रहता था, वह सबकुछ तो करता था।

जो ईसा के उपदेशों पर चलते हैं, उन्हें पूर्णता की एक सीढ़ी पर पैर रखते ही दूसरी सीढ़ी पर पैर रखने की आवश्यकता मालूम पड़ती है, दूसरी सीढ़ी पर पैर रखते ही तीसरी सीढ़ी पर पैर रखने की आवश्यकता मालूम पड़ती है, इस प्रकार उनकी प्रगति का पथ अनंत रहता है।

ईसा के सच्चे अनुगामियों को सदा अपनी अपूर्णता का भान रहता है। वे कभी पीछे मुड़कर नहीं देखते कि उन्होंने कितना रास्ता तय किया है, वे सदा आगे देखते हैं कि उन्हें अभी कितना और रास्ता तय करना बाकी है।

ईसा के उपदेशों तथा अन्य धर्मों के उपदेशों में यही भेद है, यह भेद बाहरी आचारों का नहीं, मार्ग का है।

ईसा ने जीवन के नियम नहीं बनाए। उन्होंने विवाह अथवा अन्य कोई संस्था नहीं स्थापित की। परंतु मनुष्यों ने उनके उपदेशों की विशेषताएँ ग्रहण नहीं कीं। वह तो केवल नियमों का पालन कर अपना बाहरी आचरण शुद्ध रखने के इच्छुक थे। अत: उन्होंने, उदाहरणार्थ फारिसियों ने, ईसा के शब्दों का भीतरी अर्थ समझने की कोशिश नहीं की। उन्होंने, उनके शब्दों को पकड़कर, किंतु उनकी आशय के ठीक विपरीत, बाहरी नियमों का एक पोथा रच डाला और इस प्रकार ईसा के सच्चे उपदेशों पर पर्दा डाल दिया।

इन नियमों को हम 'पादरियों के नियम' कह सकते हैं, परंतु इन्हें गलत तरीके से 'ईसाईधर्म के सिद्धांत' कहकर प्रचारित किया गया है। ये नियम ईसा के सच्चे उपदेश के विरुद्ध हैं। पादरियों ने जीवन के सभी व्यापारों के संबंध में नियमोपनियम बना दिए हैं। सरकार कैसे चलाई जाए, क्या-क्या कानून बनाए जाएँ, युद्ध कैसे हों, गिरजाघरों के क्या कायदे हों, पूजा-विधि कैसी हो, उन्होंने सभी चीजों के संबंध के नियम बनाए हैं। ईसा ने कभी विवाह-संस्था की स्थापना नहीं की। उनके आदेश तो इसके विरुद्ध थे (जैसे, 'अपनी स्त्री को छोड़ दो और मेरा अनुसरण करो')। परंतु पादरियों ने अपनी ओर से ईसा का नाम जोड़कर विवाह-संस्था ईसाई संस्था करार कर दी है, अर्थात् उन्होंने ऐसे नियमों की रचना कर डाली है जिनका पालन करते हुए, उनके कथनानुसार विषयोपभोग भी पूर्ण तथा पापरहित तथा ईसाई-धर्म में जायज मान लिया गया है।

यद्यपि ईसा के सच्चे उपदेशों में विवाह-संस्था का कोई स्थान नहीं है, तथापि

आज तो यह अवस्था हो रही है कि हम न इधर के रह गए हैं न उधर के; हमने ईसा की सच्ची शिक्षा को ग्रहण किए बिना दूसरी शिक्षा का भी त्याग कर दिया है। हम विवाह-विषयक पादरियों के नियमों में भी विश्वास नहीं करते, हम अनुभव करते हैं कि ईसा की शिक्षाओं में इनका समावेश नहीं है, दूसरी ओर हम ईसा की सच्ची शिक्षा—पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने का यत्न करने—से भी अवगत नहीं हैं। अत: विवाहित जीवन के लिए हमारे यहाँ सुनिश्चित नियम नहीं हैं। यही कारण है कि यहूदी, मुसलमान तथा लामा लोगों की धार्मिक शिक्षाएँ ईसाई धर्म से निम्न स्तर की होते हुए भी, उनमें तथाकथित ईसाइयों की अपेक्षा पारिवारिक बंधन तथा विवाहित जीवन में सदाचरण बहुत दृढ़ है। उन लोगों में विवाहित जीवन के सुनिश्चित नियम हैं। उनमें भी उप-पत्नीत्व, बहु-पत्नीत्व तथा बहु-पतीत्व की प्रथाएँ हैं, पर उनके यहाँ इन सबकी एक सीमा है। हमारे यहाँ कोई सीमा नहीं, हम ढोंग तो करते हैं कि हमारे यहाँ एक-पत्नीत्व अथवा एक-पतीत्व का पालन होता है, पर उप-पत्नीत्व, बहु-पत्नीत्व तथा बहु-पतीत्व का दूषण हमारे यहाँ सबसे अधिक है।

पादरी लोग धन के लोभ से, कुछ धार्मिक कृत्य करके, जिन्हें हम विवाह की संज्ञा देते हैं, स्त्री-पुरुष का गठबंधन कर देते हैं और हम अपने को धोखा देते हुए समझते हैं कि हमारे समाज में एक-पत्नीव्रत अथवा एक-पतिव्रत का पालन होता है।

ईसाई विवाह उसी प्रकार अनहोनी बात है, जिस प्रकार ईसाई पूजा[1], ईसाई उपदेशक, ईसाई पादरी[2], ईसाई संपत्ति, ईसाई सेना, ईसाई अदालत तथा ईसाई सरकार अनहोनी बातें हैं।

पहली तथा उसके बाद की कुछ शताब्दियों के ईसाइयों का भी यही मत था।

ईसाई आदर्श तो है—ईश्वर तथा अपने पड़ोसी से प्रेम करो; ईश्वर तथा अपने पड़ोसी की सेवा के लिए आत्माहुति कर दो। विषयोपभोग तथा विवाह तो आत्म-सेवा, अपनी सेवा है, इसलिए वह ईश्वर की सेवा तथा मनुष्य की सेवा में बाधक है तथा ईसाई धर्म की दृष्टि से पाप है।

विवाह से मनुष्य तथा ईश्वर की सेवा में कोई सहायता नहीं पहुँचती, भले ही विवाहेच्छु युवक-युवतियों ने मनुष्य समाज की सेवा करने का व्रत ही क्यों न ले लिया हो। यदि इस प्रकार के युवक-युवती मनुष्य-समाज की सेवा वास्तव में करना चाहते हैं तो उन्हें विवाह करके नए बच्चे पैदा करने के बजाय उन लाखों बच्चों को बचाने तथा उनका पालन-पोषण करने का यत्न करना चाहिए, जो भोजन (आध्यात्मिक

---

1. मैथ्यू, 4, 4—12, जान 4, 21. *2. मैथ्यू, 23, 8—10.*

भोजन तो दूर की बात है, शारीरिक भोजन) के अभाव में मर रहे हैं।

एक ईसाई तो तभी विवाह-बंधन में फँस सकता है, और उसे पाप नहीं मान सकता, जब वह यह समझ ले कि दुनिया में इस समय जितने बच्चे वर्तमान है, उन्हें भरपेट अन्न मिल रहा है।

आप ईसा के उपदेशों को मानने से भले ही इनकार कर दें—उन उपदेशों को, जो हमारे जीवन के रग-रग में व्याप्त हो गए हैं और जिन पर हमारा सारा नीतिशास्त्र बना है, पर यदि आप उन्हें मानते हैं, तो आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि इनमें पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श का संकेत है।

बाइबिल में साफ-साफ शब्दों में लिखा है, जिसका कोई दूसरा अर्थ ही नहीं निकलता कि पुरुष को दूसरी स्त्री करने के लिए अपनी पहली स्त्री को तलाक नहीं देना चाहिए, बल्कि जिस स्त्री से उसका गठबंधन हुआ है, उसी के साथ उसको रहना चाहिए।[1] दूसरे, किसी भी पुरुष का (अर्थात् वह पुरुष चाहे विवाहित हो या अविवाहित) स्त्री को भोग की वस्तु मानना पाप है।[2] तीसरे, अविवाहित पुरुष के लिए उत्तम यही है कि वह विवाह न करे, अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचारी रहे।[3]

बहुत-से लोगों को ये विचार विचित्र तथा परस्पर विरोधी मालूम पड़ेंगे। वे परस्पर विरोधी तो नहीं हैं पर हमारी वर्तमान जीवन-धारा के विरुद्ध अवश्य हैं। स्वभावतया प्रश्न उठता है कि किसे सही मानें—इन विचारों को या अपनी वर्तमान जीवन-धारा को? जिस समय मैं अपने वर्तमान निष्कर्षों पर पहुँच रहा था, उस समय मेरे मन में भी यह प्रश्न जोरों से उठा था। उस समय मैंने सोचा भी न था कि मेरे विचार मुझे उन निष्कर्षों पर ले जाएँगे, जिन पर मैं आज पहुँचा हूँ। मुझे अपने निष्कर्षों ने चौंका दिया। मैं उन पर विश्वास करना नहीं चाहता था, पर उन पर अविश्वास करना असंभव था। वे हमारी वर्तमान जीवन-धारा के चाहे कितने ही विरुद्ध हों, वे स्वयं मेरे पहले के विचारों के चाहे कितने ही विरुद्ध हों, पर उन्हें स्वीकार करने के अलावा मेरे पास और कोई चारा न था।

लोग दलील करते हैं—ये तो सामान्य विचार हैं। हो सकता है कि ये ईसा के उपदेशों के अनुसार हों। पर इन्हें तो वही मानेंगे, जिनका इनमें विश्वास हो। पर जिंदगी आखिर जिंदगी है। आपने ईसा के अप्राप्य आदर्श का संकेत कर दिया। पर आप संसार के इस सबसे ज्वलंत प्रश्न के संबंध में मनुष्यों को केवल ईसा के अप्राप्य आदर्श का संकेत करके, उन्हें बीच धार में नहीं छोड़ सकते। इससे तो बहुत अनिष्ट

1. मैथ्यू, 5, 31, 32 तथा 19, 8. *2. मैथ्यू, 5, 28, 29.*

3. मैथ्यू, 19, 10—12.

होने की संभावना है। एक भावुक युवक शायद पहले इस आदर्श की ओर आकर्षित हो जाए। पर वह अपनी टेक निभा नहीं सकेगा, उसकी टेक बीच में ही टूट जाएगी। उस समय वह न तो कोई नियम जानता होगा और न उन्हें मानेगा, बस उसका घोर अध:पतन हो जाएगा।

ईसा का आदर्श दुष्प्राप्य है, अत: वह जीवन का पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकता। भले ही हम उसके विषय में लंबी-चौड़ी बातें कर लें, उसके स्वप्न देख लें, पर वह जीवन में व्यवहार्य नहीं है, अत: त्याज्य है।

हमें आदर्श की आवश्यकता नहीं, अपनी सामर्थ्य के अनुसार, समाज की सामान्य नैतिक अवस्था के अनुकूल, मार्ग-निर्देशन की आवश्यकता है। हमें धर्म-सम्मत विवाह की; अथवा पूर्ण रूप से धर्म-सम्मत विवाह न भी सही, (मान लीजिए विवाह से पूर्व पुरुष का अन्य स्त्रियों से संबंध रह चुका है, जैसा कि हमारे समाज में बहुधा होता है) तो भी विवाह की; अथवा सिविल मैरिज की (कानून में स्वीकृत स्त्री-पुरुष संबंध की); अथवा तलाक की छूट सहित विवाह विधान की; अथवा (इसी तर्क से) जापानियों की भाँति नियत काल के विवाह की; अथवा, क्या बुरा है, चकलों की; आवश्यकता है (क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि सड़कों पर खुलेआम पापाचार से चकले अच्छे हैं)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हम यदि अपनी कमजोरियों को प्रश्रय देने के लिए अपना आदर्श नीचा होने देते हैं, तो फिर वह आदर्श किस हद तक नीचे चला जाएगा, इसकी कोई सीमा नहीं रहती।

फिर ऊपर की दलील शुरू से गलत है। पहले तो यह खयाल ही गलत है कि पूर्णता के आदर्श को सामने रखकर जीवन का मार्ग-निर्देशन नहीं हो सकता। दूसरा यह सोचना भी गलत है कि मैं तो निराश हो जाऊँ और कहूँ—'मुझे इसे त्याग देना चाहिए, इसका मेरे लिए कोई उपयोग नहीं, मैं इस तक कभी नहीं पहुँच सकता, या फिर मैं आदर्श को नीचा करके उसे उस स्तर पर ले जाऊँ, जिस स्तर पर, अपनी कमजोरी के कारण मैं रहना चाहता हूँ।

यह दलील वैसी ही है, जैसे जहाज का कप्तान कहे कि मैं कंपास से निर्देशित दिशा में नहीं जा सकता, इसलिए मैं कंपास फेंक देता हूँ, अथवा अब उसकी ओर नहीं देखूँगा (अर्थात् आदर्श त्याग दूँगा); अथवा वह यह कहे कि मैं कंपास की सूई उसी दिशा में बाँध देता हूँ जिस दिशा में मेरा जहाज जा रहा है (अर्थात् अपनी कमजोरियों के अनुरूप आदर्श नीचा कर दूँगा)।

ईसा ने हमारे सामने पूर्णता का जो आदर्श रखा है, वह न तो स्वप्न है और न कोई काव्यपूर्ण उपदेश। वह नीतिमय जीवन बिताने के लिए एकमात्र सर्व-सुलभ

मार्ग-निर्देशक है। जैसे जहाज के कप्तान के पास मार्ग-निर्देशन लिए कंपास होता है, वैसे ही हमारे लिए यह आदर्श है। पर कंपास की भाँति इस पर भी हमारी पूर्ण आस्था होनी चाहिए।

हम चाहे जिस अवस्था में हों, ईसा के आदर्श को सामने रखकर, यह जान सकते हैं कि हमें क्या करना चाहिए। परंतु इसके लिए हमें ईसा के उपदेशों में पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए और अन्य उपदेशों में विश्वास न करना चाहिए, जिस प्रकार जहाज का कप्तान अपने कंपास में पूर्ण श्रद्धा रखता है, अपने दाएँ-बाएँ नहीं देखता।

कंपास का व्यवहार किस प्रकार किया जाता है, जैसे यह जानना जरूरी है, उसी प्रकार यह जानना भी जरूरी है कि ईसा के उपदेशों का अनुसरण कैसे करना चाहिए। इसके लिए अपनी स्थिति का सदा भान करते रहना परमावश्यक है। आदर्श की दिशा से हम कितने हटे हुए हैं, इस ज्ञान से हमें कभी भयभीत न होना चाहिए। मनुष्य चाहे जिस स्तर पर हो, वह सदा आदर्श की ओर आगे बढ़ सकता है। ऐसी कोई स्थिति नहीं है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य कह सके कि मैंने उसे पा लिया। इसी प्रकार इससे आगे कोई मार्ग नहीं है, जहाँ पहुँचने की कोई मनुष्य आकांक्षा रख सके।

सामान्य रूप से ईसा के आदर्श के प्रति, और विशेष रूप से ब्रह्मचर्य के प्रति, मनुष्य की ऐसी ही वृत्ति होनी चाहिए। चाहे एक निर्दोष बालक हो या एक पतित-से-पतित व्यक्ति या चाहे इन दो के बीच किसी सीढ़ी पर खड़ा व्यक्ति हो, यदि उसके सामने ईसा के उपदेश तथा उनका आदर्श है, तो उसे तत्काल उत्तर मिल जाएगा कि उसका क्या जीवन-मार्ग होना चाहिए, उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।

'एक निर्दोष बालक या बालिका को क्या करना चाहिए?' उसे अपने को पवित्र तथा प्रलोभनों से दूर रखना चाहिए और ईश्वर तथा मनुष्य की सेवा में अपनी सारी शक्तियाँ अर्पित कर देने के हेतु उसे अपने विचारों तथा भावों में अधिकाधिक पवित्रता प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।

'उस युवक अथवा युवती को क्या करना चाहिए, जो प्रलोभनों के शिकार बन चुके हैं, जो या तो निरुद्देश्य प्रेम की कल्पनाओं में लिप्त रहते हैं या किसी के प्रेमपाश में बँध चुके हैं और इस प्रकार कुछ हद तक मनुष्य तथा ईश्वर की सेवा करने में अयोग्य बन चुके हैं?'

वे भी उपर्युक्त मार्ग पर चलें, पाप से बचें (यह समझ लें कि पाप-मार्ग पर चलने पर प्रलोभन दूर नहीं होगा, बल्कि और बढ़ेगा)। उन्हें अधिकाधिक पवित्र

बनने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे वे ईश्वर तथा मनुष्य की पूर्ण सेवा करने के योग्य बन सकें।

'वे क्या करें, जिन्होंने प्रलोभनों का प्रतिकार नहीं किया और पतित हो चुके हैं?'

उन्हें अपना पतन उचित आनंदोपभोग न मानना चाहिए, जैसा कि आजकल विवाह-संस्कार हो जाने पर माना जाता है। उन्हें अपना पतन एक ऐसा सुख भी न मानना चाहिए, जिसका उपभोग जब-तब दूसरों के साथ किया जा सकता है। यदि उसका संबंध अपने से नीचे दर्जे के किसी स्त्री या पुरुष से, और बिना विवाह-संस्कार के हुआ हो, तो उन्हें इससे क्लेश न करना चाहिए, बल्कि अपने प्रथम पतन को ही सच्चा और अटूट विवाह-बंधन मान लेना चाहिए।

इस प्रकार विवाह-बंधन में बँध जाने और उसके फलस्वरूप संतानोत्पत्ति होने से स्त्री-पुरुष की ईश्वर तथा मनुष्य-समाज की सेवा करने की क्षमता सीमित हो जाती है। विवाह से पूर्व वे प्रत्यक्ष रूप से तथा नाना प्रकार से ईश्वर तथा मनुष्य-समाज की सेवा कर सकते थे, परंतु विवाह-बंधन में बँध जाने से उनका क्षेत्र सीमित हो जाता है। उन्हें चाहिए कि वे अपने बच्चों का उचित रीति से पालन-पोषण करें तथा उन्हें उपयुक्त शिक्षा दें, जिससे वे वयस्क होने पर ईश्वर तथा मनुष्य-समाज के सेवक बन सकें।

'वे दंपती क्या करें जो अपने बच्चों का पालन-पोषण कर तथा उन्हें शिक्षा देकर ईश्वर तथा मनुष्य-समाज की परिमित सेवा कर रहे हैं?'

उनके लिए भी वही मार्ग है, जो पहले बता चुका हूँ। उन्हें प्रलोभनों से मुक्त होने की चेष्टा करनी चाहिए, अपने को पवित्र बनाने का यत्न करना चाहिए तथा वैषयिक प्रेम को शुद्ध भाई-बहन के प्रेम में बदलकर पाप से बचना चाहिए, और इस प्रकार ईश्वर तथा मनुष्य-समाज की सेवा करने के मार्ग में जो सबसे बड़ी बाधा है, वह दूर कर देनी चाहिए।

इसलिए यह कहना सच नहीं है कि हम ईसा के आदर्शों पर नहीं चल सकते, क्योंकि वह बहुत ऊँचा, पूर्ण तथा अप्राप्य है। हम उस पर इसलिए नहीं चल पाते कि हम अपने से झूठ बोलते हैं, अपने को धोखा देते हैं। जब हम यह कहते हैं कि हमें ईसा के आदर्श की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक नियमोपनियम चाहिए, तो वास्तव में हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं होता कि ईसा का आदर्श बहुत ऊँचा है—क्योंकि हम यदि इन आदर्शों पर न चलेंगे तो हम पाप के गड्ढे में गिर जाएँगे; हमारे कहने का असली अर्थ यह होता है कि हम इन आदर्शों में विश्वास नहीं करते और उनके अनुसार आचरण नहीं करना चाहते।

जब हम यह कहते हैं कि एक बार पतन होने पर मनुष्य पाप के गड्ढे से फिर

निकल नहीं पाता, तो उससे यह ध्वनि निकलती है कि हमने पहले से धारणा बाँध ली है कि अपने से निम्न-वर्ग के साथ संबंध स्थापित हो जाना पाप नहीं, बल्कि मनोरंजन का एक साधन है और हमारे लिए विवाह करके उस पाप को धोना जरूरी नहीं। इसके विपरीत यदि हम यह समझते हैं कि इस प्रकार का पतन पाप है और उसका एकमात्र प्रायश्चित्त अटूट विवाह-बंधन में बँध जाना तथा इसके फलस्वरूप जो संतानें उत्पन्न हों, उन्हें शिक्षादि देकर अपने कर्तव्य का पालन करना है, तो हम अपने पतन को पापरत होने का कारण कभी न बनने देते।

मान लीजिए, एक किसान बीज बोना सीखना चाहता है। वह खेत को बुरी तरह बोता है और उसे छोड़ देता है। इसी प्रकार वह दूसरे खेत को और तीसरे खेत को भी बुरी तरह बोकर छोड़ देता है। अब यदि वह यह समझता है कि उसने जिस तरह खेत बोया है, वही खेत बोने की सफल रीति है, तो वह जमीन और बीज, दोनों का नुकसान करेगा। इसके अलावा वह कभी ठीक तरह से खेत बोना भी सीख नहीं सकेगा। ब्रह्मचर्य को आदर्श मानो और पतन होने पर, चाहे जिस व्यक्ति के साथ पतन हुआ हो, उसी के साथ आजीवन विवाह-संबंध स्थापित कर लो और तब तुम्हें स्पष्ट हो जाएगा कि ईसा ने जो मार्ग-निर्देशन किया है, वह केवल व्यावहारिक ही नहीं, बल्कि एकमात्र जीवन-मार्ग है।

लोग कहते हैं, 'मनुष्य अपूर्ण है, उससे उसकी सामर्थ्य के अनुसार काम करने को कहना चाहिए।' यह तर्क ऐसा है जैसे कोई कहे, 'मेरा हाथ कमजोर होने की वजह से मैं सीधी रेखा नहीं खींच सकता, अतः सीधी रेखा खींचने के लिए मैं टेढ़ी-मेढ़ी रेखा का नमूना अपने सामने रखूँगा।'

मेरा हाथ जितना ही कमजोर हो, उतना ही आदर्श नमूना मेरे सामने होना आवश्यक है।

ईसा की शिक्षाओं से हम अवगत हैं, अतः हमें अज्ञानी बनकर उनके आदर्श के स्थान पर बाहरी नियमों की प्रतिष्ठा नहीं करनी चाहिए। ईसाई-आदर्श मनुष्य-जाति को इसलिए प्रकट किया गया है कि उसकी विकास की वर्तमान अवस्था में वही उसका मार्ग-निर्देशन कर सकता है। मनुष्य-जाति अब बाहरी धार्मिक नियमों के युग से बहुत आगे बढ़ आई है, अब कोई भी बाहरी नियमों में विश्वास नहीं करता।

ईसाई शिक्षा ही मनुष्य-जाति का मार्ग-निर्देशन कर सकती है। हम ईसा के आदर्श के स्थान पर बाहरी नियमों की प्रतिष्ठा नहीं कर सकते, और हमें ऐसा करना भी नहीं चाहिए। हमें इस आदर्श को अपने शुद्ध रूप में सदा अपने सामने रखना चाहिए और उसमें श्रद्धा रखनी चाहिए।

जब तक जहाज किनारे पर रहता है, तब तक तो यह आदेश दिया जा सकता है कि 'अमुक चट्टान से बचे रहना', 'अमुक मार्ग से जाना', अमुक मीनार को लक्ष्य में रखना'; पर जब जहाज किनारा छोड़कर बीच समुद्र में पहुँच जाता है, तब तो कप्तान को सुदूरवर्ती नक्षत्रों तथा अपने कंपास को ही देखकर अपना रास्ता ढूँढ़ना पड़ता है। हमारे पास दोनों साधन मौजूद हैं।

डायना

मुझे 'क्रूज़र सोनाटा' तथा उसके 'परिशिष्ट' के संबंध में अनेक पत्र मिले हैं। इससे पता चलता है कि स्त्री-पुरुष संबंध के प्रचलित दृष्टिकोण में सुधार की आवश्यकता मैं ही नहीं, बल्कि कितने ही विचारशील स्त्री-पुरुष अनुभव करते हैं। उनकी आवाज इसलिए नहीं सुनाई पड़ती कि वह परंपरागत रूढ़ियों का जोर-शोर से समर्थन करनेवालों के शोरोगुल में डूब जाती है। मुझे जो पत्र मिले हैं, उनमें एक पत्र 7 अक्टूबर, 1890 को आया है, इस पत्र के साथ एक छोटी-सी पुस्तिका 'डायना' भी है। पत्र इस प्रकार है—''हम आपको 'डायना' नाम की एक छोटी-सी पुस्तिका भेज रहे हैं। यह मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञान की दृष्टि से स्त्री-पुरुष संबंध पर लिखा गया एक छोटा-सा निबंध है। आपकी 'क्रूज़र सोनाटा' कहानी अमरीका में छपने के बाद कई लोगों ने कहा है कि 'डायना' टॉल्सटॉय के सारे सिद्धांतों का खुलासा कर देती है। अतः हम आपकी सेवा में यह पुस्तिका अपनी ओर से भेज रहे हैं, जिससे आप स्वयं इसका निर्णय कर सकें। परमात्मा से हमारी प्रार्थना है कि आपकी मनोकामनाएँ पूर्ण हों। भवदीय (हस्ताक्षर), बर्न्स कंपनी, न्यूयार्क।''

इससे पहले मुझे फ्रांस से श्रीमती एंजेल फ्रांस्वायस का पत्र और उनकी पुस्तिका मिली थी। उन्होंने अपने पत्र में सूचित किया था कि स्त्री-पुरुष के संबंध में पवित्रता लाने के उद्देश्य से दो संस्थाएँ काम कर रही हैं, एक इंग्लैंड में और दूसरी फ्रांस में। श्रीमती एंजेल की पुस्तिका में भी वही विचार व्यक्त किए गए हैं जो 'डायना' में हैं, पर ये कुछ अस्पष्ट तथा रहस्यवादी ढंग से व्यक्त हुए हैं।

'डायना' में जो विचार व्यक्त किए गए हैं, वे ईसाई शिक्षाओं पर नहीं, बल्कि गैर-ईसाई शिक्षाओं पर आधारित हैं। फिर भी वे अत्यंत नवीन तथा मनोरंजक हैं। उनमें सिद्ध किया गया है कि हमारे समाज में विवाहित तथा अविवाहित स्त्री-पुरुषों में जो दुराचार फैला है, वह अत्यंत अविवेकपूर्ण है। मैं पाठकों के लाभार्थ इन विचारों को नीचे देता हूँ।

पुस्तिका पर आदर्श वाक्य 'और उन दोनों का शरीर एक होगा' दिया है। पुस्तिका का सार इस प्रकार है :

स्त्री और पुरुष में केवल शारीरिक भेद ही नहीं, अन्य भेद भी हैं। उनमें अलग-अलग नैतिक गुण होते हैं, पुरुषों में पुरुषत्व तथा स्त्रियों में स्त्रीत्व कहे जाते हैं। स्त्री और पुरुष केवल शारीरिक सम्मिलन की इच्छा से ही नहीं, बल्कि इन भिन्न-भिन्न गुणों के कारण भी एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। स्त्रियों का स्त्रीत्व तथा पुरुषों का पुरुषत्व, दोनों को एक-दूसरे की ओर आकर्षित करता है। दोनों एक-दूसरे को पाकर पूर्ण होते हैं। अतः स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण उन्हें आध्यात्मिक तथा शारीरिक, दोनों प्रकार के सम्मिलन के लिए उत्प्रेरित करता है। दोनों प्रकार के सम्मिलन एक-ही शक्ति के दो अंग हैं और एक-दूसरे से इतने संबद्ध हैं कि एक अंग की तृप्ति से दूसरे अंग की तृप्ति की कामना नहीं रह जाती। यदि आध्यात्मिक सम्मिलन की कामना पूर्ण होती रहती है, तो शारीरिक सम्मिलन की कामना या तो धीमी पड़ जाती है या एकदम बुझ जाती है। इसी प्रकार शारीरिक सम्मिलन की कामना प्रबल होने पर आध्यात्मिक सम्मिलन की कामना या तो कमजोर पड़ जाती है या नष्ट हो जाती है। अतः स्त्री-पुरुष का आकर्षण केवल शारीरिक ही नहीं होता, वह दोनों प्रकार का होता है—आध्यात्मिक और शारीरिक। दोनों में पूर्णतया आध्यात्मिक संबंध भी हो सकता है, और पूर्णतया शारीरिक भी, जिसमें बच्चे पैदा करना ही उनका काम रह जाता है। इसके अलावा उनके संबंध इन दोनों के बीच की कई अवस्थाएँ भी हो सकती हैं। स्त्री और पुरुष इन दो संबंधों में किस संबंध को बढ़ाएँगे और किसे घटाएँगे, यह इस पर निर्भर करता है कि वे किस प्रकार के संबंध को उत्तम, धर्मपूर्ण तथा वांछनीय समझते हैं। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है, जहाँ सगाई हो जाने के बाद भी युवक-युवतियों का संयोग वांछनीय नहीं माना जाता, अतः उन्हें यदि सगाई होने के बाद सालों एक कमरे में रखा जाए तो भी वे ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे। इससे प्रकट होता है कि स्त्री-पुरुष का संबंध कहाँ तक उत्तम, धर्मपूर्ण तथा वांछनीय माने जानेवाले विचारों से नियमित होता है।

स्त्री और पुरुष इस संबंध में पूर्णतया संतुष्ट रहते हैं, जिसे वे उत्तम, धर्मपूर्ण तथा वांछनीय मानते हैं, जो बहुत कुछ उनके व्यक्तिगत विचारों पर निर्भर करता है। पर यदि हम व्यक्तिगत विचारों को छोड़ दें और यह प्रश्न करें कि क्या स्त्री-पुरुषों के संबंधों की कोई ऐसी अवस्था है, जो उन्हें अधिक संतोष प्रदान करती है, तो वह कौन-सी अवस्था है, आध्यात्मिक या शारीरिक? तो हम स्पष्ट तथा निश्चित रूप से उत्तर दे सकते हैं (यद्यपि यह उत्तर समाज में प्रचलित धारणाओं का खंडन करता

है) कि स्त्री-पुरुष का संबंध जितना ही शारीरिक होता है, उतनी ही इच्छाएँ बढ़ती जाती हैं और संतोष-लाभ नहीं होता।

इसके विपरीत हमारा संबंध जितना ही आध्यात्मिक होता है, हमारी इच्छाएँ उतना ही कम होती हैं और हमें संतोष-लाभ होता है। पारस्परिक संबंध जितना ही शारीरिक होता है, उतना ही अधिक जीवन-शक्ति का क्षय होता है, तथा पारस्परिक संबंध जितना ही अधिक आध्यात्मिक होता है, उतना ही अधिक जीवन में शांति, सुख तथा बल मिलता है।

पुस्तिका के लेखक ने स्त्री-पुरुष का 'एक शरीर' हो जाना, 'अटूट विवाह-बंधन में बँध जाना', उच्चतम जीवन के विकास के लिए आवश्यक माना है। लेखक के अनुसार स्त्री-पुरुषों के लिए प्रौढ़ होने पर विवाह एक स्वाभाविक तथा वांछनीय अवस्था है तथा यह आवश्यक नहीं कि वह केवल शारीरिक सम्मिलन ही हो, वह पूर्णतया आध्यात्मिक सम्मिलन भी हो सकता है। स्त्री-पुरुष की वृत्ति तथा उनके धर्म-अधर्म, वांछनीय-अवांछनीय के विवेक के अनुसार उनका संबंध आध्यात्मिक अथवा शारीरिक होता है, परंतु यह सिद्ध है कि उनका संबंध जितना आध्यात्मिक होता है, उतना ही उन्हें संतोष-लाभ होता है।

चूँकि लेखक ने यह माना है कि स्त्री-पुरुष के आकर्षण की परिणति आध्यात्मिक संबंध—प्रेम, अथवा शारीरिक संबंध—काम, दोनों में हो सकती है और वे अपनी इच्छानुसार अपने संबंधों को एक क्षेत्र से हटाकर दूसरे क्षेत्र में ले जाने की क्षमता रखते हैं, अतः उसने स्वीकार किया है कि ब्रह्मचर्य असंभव नहीं है। इतना ही नहीं, उसने यह भी कहा है कि स्त्री-पुरुषों के लिए विवाह से पहले और बाद में ब्रह्मचर्य-पालन शरीर के लिए श्रेयस्कर होता है।

लेखक ने अपने कथनों के प्रमाण में अनेक दृष्टांत दिए हैं, शरीर-विज्ञान का वर्णन किया है तथा बताया है कि मैथुन से शरीर में क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं तथा किस प्रकार वृत्तियों को प्रेम अथवा काम की ओर मोड़ा जा सकता है। अपने विचारों की पुष्टि में उसने हरबर्ट स्पेंसर के इन शब्दों को उद्धृत किया है—"यदि कोई नियम मानव-जाति के लिए कल्याणकर होता है तो मानव-स्वभाव अपने को उसके अनुकूल बना लेता है, जिससे उस नियम का पालन मनुष्य के लिए आनंददायक हो जाता है" तथा लिखा है—'इसलिए हमें वर्तमान प्रचलित रूढ़ियों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए, हमें तो उस अवस्था का विचार करना चाहिए, जो मनुष्य को अपने उज्ज्वल भविष्य में प्राप्त करनी चाहिए।'

लेखक ने अपने समस्त विचारों का सार इस प्रकार दिया है—'डायना' में मूल-रूप में दिखाया गया है कि स्त्री-पुरुष में दो प्रकार का संबंध हो सकता है, एक

तो वैषयिक, दूसरा प्रेममय। यदि संतति की इच्छा न हो तो उन्हें अपनी वृत्तियाँ सात्त्विक प्रेम संबंध की ओर मोड़नी चाहिए। इसके लिए उन्हें अपने विचार भी तदनुकुल बना लेने चाहिए तथा अपनी आदतें भी वैसी ही डालनी चाहिए। इस प्रकार अनेक कष्टों से मुक्ति पा जाएँगे तथा संतोष-लाभ करेंगे।

पुस्तिका के अंत में माता-पिताओं के नाम एलिज़ा बर्न्स का एक पत्र छपा है। इस पत्र में गोपनीय विषयों का उल्लेख है। इसका संभवत: उन युवकों पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा जो असंयम तथा व्यभिचार में पड़कर नाना दु:ख भोग रहे हैं। अत: इस पत्र का ऐसे युवकों में, जो अपनी सर्वोत्तम शक्तियों का क्षय कर रहे हैं, तथा गरीब लड़कों व स्कूलों-कॉलेजों में प्रचार करना मंगलकारी होगा।

चयनिका

(पत्रों तथा डायरियों आदि से संकलित)

सर्वोपरि ध्येय

विषयोपभोग के संबंध में मैं अपने विचार 'क्रूज़र सोनाटाके परिशिष्ट' में व्यक्त कर चुका हूँ। इस सारे प्रश्न का उत्तर एक वाक्य में दिया जा सकता है—मनुष्य को सदा, वह चाहे विवाहित हो या अविवाहित, ब्रह्मचर्य का पालन करने का यत्न करना चाहिए, जैसा कि ईसा ने और उनके बाद पाल ने उपदेश किया है। यदि वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का (स्त्री-संग से सदा दूर रहना) पालन न कर सके, तो भी उसे यही अपना सर्वोपरि ध्येय बनाना चाहिए। यदि वह संयम न रख सके तो उसे यथासंभव कम-से-कम अपनी इस कमजोरी में प्रवृत्त होना चाहिए और विषयोपभोग को कभी आनंददायी न मानना चाहिए। मेरे विचार में सभी विचारशील व्यक्ति इस प्रश्न पर विचार करते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे तथा वे इस संबंध में एकमत हैं।

'एडल्ट' (प्रौढ़) के संपादक ने स्वतंत्र प्रेम के संबंध में एक पत्र भेजा है। यदि मुझे समय मिला तो मैं इस पर लिखना चाहूँगा। शायद मैं लिखूँगा। सबसे अधिक यह इंगित करना है कि सारा जोर अपने कार्यों के परिणाम पर विचार किए बिना अधिक-से-अधिक आनंद-लाभ करने पर दिया जाता है। इसके अलावा वे ऐसी बातों का प्रचार करते हैं, जो प्रचलित हैं और बहुत बुरी हैं। अंकुश न रहने पर अवस्था में सुधार कैसे हो सकता है ? मैं सभी प्रकार की कानूनी-बंदिशों के विरुद्ध हूँ; तथा पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में हूँ, पर हमारा ध्येय ब्रह्मचर्य होना चाहिए आनंद-लाभ नहीं।

वासनाओं पर अंकुश

विषयोपभोग से, प्रेम से सारी बुराइयाँ इसीलिए उत्पन्न होती हैं कि हम विषयवासना को आध्यात्मिक सुख से, सात्त्विक प्रेम से मिला देते हैं। हम वासनाओं की निंदा करके उन पर अंकुश लगाने की चेष्टा नहीं करते, इसके विपरीत हम उन पर आध्यात्मिकता का मुलम्मा चढ़ाने का प्रयत्न करते हैं।

हमारे नाना दु:खों का कारण विषय-वासना है, पर उसकी निंदा करने, उस पर अंकुश लगाने के बजाय, हम उसे हर प्रकार से उभाड़ने की चेष्टा करते हैं। इसके बाद हम शिकायत करते हैं कि हम दु:ख भोगते हैं।

स्त्री-पुरुष के आकर्षण का कारण

इसी रीति से दोनों विचारों का सामंजस्य होता है। स्त्री-पुरुष के आकर्षण का समस्त कारण विषयेच्छा पर थोपना बड़ा पदार्थवादी दृष्टिकोण मालूम पड़ता है, पर वस्तुत: वह अत्यंत आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। जो बातें आध्यात्मिक क्षेत्र की नहीं हैं, उन्हें उस क्षेत्र से हटा देने पर ही उसका महत्त्वपूर्ण रूप से प्रकाशित होता है।

व्यभिचारी पुरुष

व्यभिचारी स्त्री-पुरुषों में, शराबियों की भाँति, एक बेचैनी, एक जिज्ञासा, नित नूतनता की एक इच्छा होती है, जो अनेक से संबंध करने के कारण उत्पन्न होती है। एक व्यभिचारी व्यक्ति संयम कर सकता है, परंतु उसकी स्थिति शराबी जैसी होती है, संयम की लगाम जरा ढीली होते ही वह फिर व्यभिचारी गड्ढे में गिर पड़ता है।

प्रलोभनों से संघर्ष

प्रलोभनों के विरुद्ध संघर्ष में विजय प्राप्त करने का विचार पहले से ही अपने सामने रख लेने पर, हम कमज़ोर पड़ जाते हैं। हम पहले से ही विजय प्राप्त करने के विचार से अपना पग आगे बढ़ाते हैं। हम अपनी सामर्थ्य से बाहर का काम अपने लिए नियत कर लेते हैं, जिसे पूरा कर पाना या न कर पाना हमारे हाथ में नहीं है। संन्यासियों की भाँति हम पहले से ही अपने मन में कहते हैं, 'मैं ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा करता हूँ।' यहाँ ब्रह्मचारी रहने का अर्थ ब्रह्मचर्य-पालन से होता है। और यह असंभव है, क्योंकि एक तो हम पहले से कल्पना नहीं कर सकते कि हमें किन-किन अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ेगा, हमारे जीवन में ऐसी अवस्था भी आ सकती है जब हम प्रलोभनों का प्रतिकार न कर सकें। दूसरा यह गलत रास्ता है,

क्योंकि इस प्रकार हम अपने लक्ष्य, पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर नहीं बढ़ पाते, बल्कि उल्टी दिशा में जाते हैं।

बाह्य-ब्रह्मचर्य-पालन अपना लक्ष्य बना लेने पर, मनुष्य या तो संन्यासियों की भाँति संसार त्याग देते हैं और स्त्रियों से दूर भागते हैं, या अपना अंग-भंग कर डालते हैं और सबसे मुख्य बात को—संसार में प्रलोभनों के विरुद्ध जो आंतरिक विचार-संघर्ष चलता है, उसे आँखों से ओट कर देते हैं। यह ऐसा ही हुआ जैसे कोई सैनिक कहे कि मैं युद्ध में इसी शर्त पर उतरूँगा कि मैं सदा विजयी रहूँ। ऐसा सैनिक सदा वास्तविक शत्रु से बचेगा और काल्पनिक शत्रुओं से लड़ेगा। वह युद्ध करना नहीं सीख सकेगा और सदा विफल होता रहेगा।

इसके अलावा, बाह्य-ब्रह्मचर्य का लक्ष्य अपने सामने रख लेना और यह सोचना कि इससे पूर्ण ब्रह्मचारी बनने में सहायता मिलेगी, अनिष्टकारी होता है; क्योंकि प्रलोभनों का सामना पग-पग पर रहता है और पतन होने पर निराशा आ घेरती है और कभी-कभी अपने लक्ष्य पर ही संदेह होने लगता है। ऐसा मनुष्य सोचने लगता है—'ब्रह्मचारी बनना असंभव है, मैंने अपने सामने गलत लक्ष्य रखा।' और वह एकदम व्यभिचार के गड्ढे में गिर पड़ता है। यह ऐसा ही हुआ जैसे कोई योद्धा टोना बाँधकर चले और सोचे कि यह टोना मृत्यु या आघात से मेरी रक्षा करेगा। इसके बाद जरा-सा आघात या खरोंचा लगते ही वह अपना पुरुषार्थ खो बैठता है और मैदान से भाग खड़ा होता है। मनुष्य का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह अपने चरित्र, अपने स्वभाव तथा अपने अतीत व वर्तमान अवस्था के अनुकूल अधिक-से-अधिक ब्रह्मचर्य की साधना करे। यह साधना मनुष्यों के सामने नहीं, बल्कि ईश्वर को साक्षी रखकर करनी चाहिए, क्योंकि मनुष्यों को पता नहीं रहता कि हमें कितना संघर्ष करना पड़ रहा है। ऐसा करने पर कोई भी बाधा हमारी प्रगति नहीं रोक पाती, प्रलोभन हमारा कुछ बिगाड़ नहीं पाते और हम बराबर अपने अनंत लक्ष्य की ओर—पाशविकता त्यागकर ईश्वर की ओर बढ़ते जाते हैं।

ईसाईयत और विवाह

ईसाई शिक्षा में जीवन की व्याख्या नहीं की गई है, केवल आदर्श की दिशा का संकेत किया गया है। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष संबंध के बारे में भी। पर ईसाई शिक्षा को हृदयंगम न करनेवाले लोग व्याख्याएँ ढूँढ़ते हैं। ऐसे ही लोगों के लिए पादरियों ने विवाह का विधान खड़ा कर दिया है—ईसाई शिक्षा में विवाह का विधान नहीं है। चाहे स्त्री-पुरुष संबंध का प्रश्न हो, चाहे हिंसा, क्रोध आदि के अन्य प्रश्न, हमें

अपना आदर्श कभी नीचा नहीं करना चाहिए, उसे कभी मलिन नहीं होने देना चाहिए। परंतु पादरियों ने विवाह के संबंध में ऐसा ही किया है।

ईसाई धर्म का मर्म न समझने के कारण, मनुष्यों को बहुधा ईसाई और गैर-ईसाई में बाँट दिया जाता है। सबसे मोटा श्रेणी-विभाजन बपतिस्मा पाए हुए लोगों को ईसाई पुकारना है। जो लोग ईसा की शिक्षाओं के अनुसार शुद्ध पारिवारिक जीवन बिता रहे हों तथा हत्या आदि जघन्य पापों के दोषी न हों, उन्हें ईसाई मानना तथा इसके विरुद्ध जीवन बितानेवालों को ईसाई न मानना, यह श्रेणी-विभाजन यद्यपि कम स्थूल है, फिर भी गलत है। ईसाई धर्म में ईसाई और गैर-ईसाई के बीच कोई विभाजक-रेखा नहीं है। एक ओर प्रकाश है, पूर्ण आदर्श है, ईसा का मार्ग है; दूसरी ओर अंधकार है, पाशविकता है। इन दोनों मार्गों के बीच, ईसा का नाम लेकर ईसा के मार्ग पर बढ़ो।

इस प्रकार स्त्री-पुरुष संबंध में आदर्श पूर्ण ब्रह्मचर्य है। एक ईश्वर-भक्त में विवाह करने की इच्छा उसी प्रकार नहीं होगी, जिस प्रकार उसमें शराब पीने की इच्छा न होगी। पर ब्रह्मचर्य की कई सीढ़ियाँ हैं। विवाह करें या न करें, जो लोग इस प्रश्न का उत्तर चाहते हैं उनसे यही कहा जा सकता है—यदि तुम्हें ब्रह्मचर्य का आदर्श नहीं दिखाई पड़ता तो कभी घुटने मत टेको, तुम विवाह के विकारपूर्ण मार्ग से ब्रह्मचर्य की ओर बढ़ो (चाहे तुम उसे जानो नहीं)। जैसे, मैं यदि लंबा हूँ और मुझे अपने सामने ऊँची इमारत दिखाई पड़ती है, पर मेरा साथी नाटा है और उसे वह इमारत नहीं दिखाई पड़ती, तो मुझे चाहिए कि मैं उस मार्ग में उसे कोई नीची इमारत दिखा दूँ। इसी प्रकार जो लोग ब्रह्मचर्य के आदर्श नहीं देख पाते, उन्हें उसके मार्ग में विवाह के नीचे आदर्श का संकेत कर देना चाहिए। किंतु हम-आप यह कर लें, पर ईसा ने हमारे सामने ब्रह्मचर्य का ही आदर्श रखा है।

जीवन का सार

संघर्ष ही जीवन है, उसी में जीवन का सार है। विश्राम कहीं नहीं है। आदर्श सदा सामने है और जब तक—मैं यह नहीं कहूँगा कि जब-तब मैं उसे प्राप्त नहीं कर लेता—बल्कि जब तक मैं उसकी तरफ बढ़ता नहीं रहता, मुझे चैन नहीं मिलता।

उदाहरण के लिए ब्रह्मचर्य के आदर्श को लीजिए। जो इस आदर्श की ओर बढ़ रहा है, उसे केवल इतने से संतोष नहीं होगा कि उसने कुछ समय के लिए संयम करके अपनी इंद्रियों का दमन कर लिया, जैसे अपने आस-पास के भूखों को खिलाकर आर्थिक क्षेत्र में संतोष नहीं प्राप्त किया जा सकता। संतोष तभी प्राप्त होगा,

जब आदर्श पूर्ण रूप में सामने हो, उसी पूर्ण रूप में अपनी कमजोरियों का ज्ञान तथा आदर्श से अपनी दूरी का ज्ञान हो, तथा उसकी तरफ बढ़ने का प्रयत्न हो। तभी संतोष हो सकता है। उस अवस्था में संतोष नहीं हो सकता कि अपनी आँखें बंद कर लें और आदर्श में तथा हमारे जीवन में कितना अंतर है, इस पर दृष्टिपात न करें।

विकारी-भावों पर विजय

वासनाओं से संघर्ष सबसे कठिन संघर्ष है, बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था को छोड़कर, अन्य किसी अवस्था में मनुष्य को इस संघर्ष से छुटकारा नहीं मिलता। अतः हमें संघर्ष से निराश नहीं होना चाहिए और न यह आशा करनी चाहिए कि ऐसी कोई अवस्था प्राप्त हो सकती है जब संघर्ष से मुक्ति मिले। हमें एक क्षण के लिए भी कमजोर नहीं पड़ना चाहिए, तथा विकारी भावों पर विजय प्राप्त करने के लिए सभी उपाय काम में लाने चाहिए, शरीर तथा मन को उत्तेजना देनेवाली वस्तुओं से बचना चाहिए तथा अपने को हर समय काम में लगाए रहना चाहिए। यह एक उपाय हुआ। दूसरा उपाय यह है कि यदि तुम विकारों पर विजय नहीं पा सकते तो विवाह कर लो। ऐसी स्त्री चुन लो जो तुमसे विवाह करने को राजी हो और इसके बाद प्रतिज्ञा कर लो कि मैं यदि अपने विकारों का शमन नहीं कर सका, तो केवल इसी स्त्री के साथ पाप करूँगा तथा यदि बच्चे हुए तो उनको शिक्षा दूँगा, तथा अपनी स्त्री के सहयोग से ब्रह्मचर्य का पालन करने का यत्न करूँगा। जितनी जल्दी ब्रह्मचर्य का पालन आरंभ किया जा सके, उतना अच्छा है। और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इन उपायों से सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम ईश्वर से अपना संबंध बढ़ाएँ—हम बराबर याद रखें कि हम उसी के पास से आए हैं और उसी के पास लौट जाएँगे, तथा इस जीवन का उद्देश्य तथा अर्थ उसकी इच्छाएँ पूरी करना है।

जितना ही तुम उसे याद करोगे, उतना ही वह तुम्हारी सहायता करेगा।

एक बात और। यदि तुम्हारा पतन हो जाए, तो निराश मत हो! यह मत सोचो कि तुम्हारा नाश हो गया—अब तुम्हें अपनी रक्षा करने की आवश्यकता नहीं, अब तुम अपने को पतन के गड्ढे में गिरने दे सकते हो। इसके विपरीत, यदि तुम्हारा पतन हो जाए, तो तुम्हें दूने उत्साह से विकारों पर विजय प्राप्त करने का जीवन-संघर्ष आरंभ करना चाहिए।

काम-ज्वर

काम-ज्वर से मति-भ्रम उत्पन्न होता है, अथवा मति भ्रष्ट हो जाती है। सारा संसार अंधकारमय हो जाता है। मनुष्य खो जाता है। अंधकार और विफलता ही नजर आती है।

तुमने काम-ज्वर से पीड़ित होकर बहुत दुःख उठाए हैं, विशेष रीति से उस समय, जब तुमने अपने को काम के हाथ पूरी तौर पर सौंप दिया। मैं जानता हूँ कि वह किस प्रकार सब वस्तुओं पर छा जाता है, कुछ काल के लिए हृदय और बुद्धि नष्ट कर देता है। परंतु इससे मुक्ति पाने का एक उपाय यह है कि तुम अपने मन में समझ लो कि यह एक सपना है, माया-मरीचिका है, जो भंग हो जाएगी और तुम पुनः अपना सच्चा स्वरूप जान लोगे। काम-ज्वर से पीड़ित होने के समय भी तुम ऐसा भान कर सकते हो। ईश्वर तुम्हारी सहायता करे।

उद्बोधन

तुझे भूलना नहीं चाहिए कि तू कभी पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं रहा और न रहेगा, पर तू कुछ हद तक ब्रह्मचर्य की तरफ बढ़ सकता है; और इसमें तुझे कभी निराश न होना चाहिए। प्रलोभन के समय, पतन के समय भी अपने ईप्सित लक्ष्य का ध्यान रख तथा अपने मन में सोच—'मेरा पतन हो रहा है, मैं पतन से घृणा करता हूँ और मैं जानता हूँ कि यदि अभी नहीं तो बाद में विजय मेरी ही होगी।'

लक्ष्य स्थिर करने में गलती

मनुष्य को पूर्ण ब्रह्मचर्य का नहीं, वरन् पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए यत्न करने का, लक्ष्य अपने सामने रखना चाहिए। एक जीवित मनुष्य सच्चे अर्थों में पूर्ण ब्रह्मचारी कभी नहीं बन सकता। वह केवल ब्रह्मचारी बनने का यत्न कर सकता है, क्योंकि उसमें काम-विकार है। यदि मनुष्य में काम-विकार न होते तो उसके लिए ब्रह्मचारी बनने की आवश्यकता भी न होती और ब्रह्मचर्य की कल्पना भी न की जाती। हमसे गलती यह हो जाया करती है कि हम बहुधा अपना लक्ष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए यत्न करना (जीवन की परिस्थितियों में विकारों पर विजय प्राप्त करने तथा अधिक पवित्र बनने की आवश्यकता अनुभव करना) नहीं, बल्कि पूर्ण ब्रह्मचर्य (बाह्य-ब्रह्मचर्य) निर्धारित कर लेते हैं।

यह गलती बहुत बड़ी है। जो मनुष्य बाह्य-ब्रह्मचर्य अपना लक्ष्य बना लेता है, उसके लिए पथभ्रष्ट होने पर, सब कुछ नष्ट हो जाता है और बहुधा उसकी गति, उसका आगे का जीवन अवरुद्ध हो जाता है। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य के लिए यत्न करना अपना लक्ष्य बनाता है, उसका पतन कभी नहीं होता, उसकी गति कभी नहीं रुकती, प्रलोभनों का शिकार होने तथा पतन होने पर वह ब्रह्मचर्य के लिए यत्न करना त्याग नहीं देता, बल्कि दूने उत्साह से यत्न करना आरंभ करता है।

प्रेम

जब तक मनुष्य अपने सुख के अलावा और कोई रस नहीं जानता, तब तक 'प्रेम' को वह जीवन में एक कदम आगे बढ़ना मानता है, पर यदि उसने ईश्वर-प्रेम, मानव-प्रेम का रस चखा है, वह ईसाई बन चुका है, तो इस ऊँची मन:स्थिति पर पहुँचकर, उसके मन में 'प्रेम' से मुक्ति पाने की इच्छा होने लगती है। आप इस ईसाई, मानव-प्रेम से संतुष्ट क्यों नहीं रहते? इसलिए आप क्षमा करें, आपने उसके प्रेम से अपने को पवित्र बनाने की शक्ति मिलने की जो बात लिखी है, वह उस स्त्री का अपमान है। प्रत्येक मनुष्य को, विशेष रीति से एक ईसाई को, शारीरिक प्रभाव नहीं बल्कि आध्यात्मिक प्रभाव डालने की कामना करनी चाहिए। आपको अपनी पवित्रता की रक्षा अपनी शक्ति से करनी चाहिए तथा उसे अपना नि:स्वार्थ प्रेम अर्पित करना चाहिए। ईश्वर के स्थान पर मनुष्य की प्रतिष्ठा मत करो। ईश्वर आपको आप जितनी आशा करते हैं, उससे बहुत अधिक देगा, और उसका प्रेम भी आपको प्रदान करेगा।

आप लिखते हैं कि मुझे अपने प्रेम से उसकी रक्षा करनी चाहिए। मेरी समझ में नहीं आया—'किस चीज़ से रक्षा?' और आप क्यों और किसलिए उस पर दया करते हैं? हमसे बहुधा गलती होती है कि हम नए ढंग से विवाह करना चाहते हैं। जैसा कि ईसा ने कहा है और पाल ने उसका समर्थन किया है और हमारी बुद्धि भी उसका समर्थन करती है—'जो उसे पाने की सामर्थ्य रखता है, उसे उसको पाना चाहिए, और जो उसे पाने की सामर्थ्य नहीं रखता, उसे विवाह कर लेना चाहिए।' और विवाह नए ढंग से नहीं हो सकता। जिस ढंग से विवाह होता है, उसी ढंग से हो सकता है; अर्थात् हम एक साथी चुन लें, उसके प्रति वफादार रहने, उसे मृत्यु-पर्यंत न त्यागने की प्रतिज्ञा कर लें, और उसके साथ मिलकर खंडित ब्रह्मचर्य को पुन: स्थापित करने का प्रयत्न करें। यदि हम विवाह-संस्कारों को तथा अन्य प्रथाओं को महत्त्व नहीं देते, तो भी हमें विवाह को उसी अर्थ में लेना पड़ेगा, जिस अर्थ में अन्य लोग लेते हैं। विवाह पारस्परिक आकर्षण का परिणाम माना गया है और सदा माना जाएगा। और यदि पारस्परिक आकर्षण नहीं, तो विवाह अनुचित है।

आनंददायी प्रेम

मेरा ख्याल है कि मैं तुम दोनों को समझता हूँ और मैं चाहता हूँ कि मैं तुम्हारे संबंधों में जो कुछ कष्टदायी और दु:खदायी है, उसको निकालकर उसे सुखदायी और आनंददायी बनाने में तुम्हारी सहायता करूँ। उसका कहना सही है कि यह उत्कट पारस्परिक प्रेम ईश्वर-प्रेम से दूर की चीज है और उसमें बाधा पहुँचाता है। परंतु इसके प्रति तुम्हारा यह उत्कट प्रेम एक सत्य वस्तु है, जिसकी तुम उसी प्रकार

उपेक्षा नहीं कर सकते, जिस प्रकार तुम अपने शरीर को अथवा व्यक्तिगत स्वभाव की उपेक्षा नहीं कर सकते। किंतु इस तथ्य को स्वीकार करते हुए वो जो कुछ शिव है, उसे स्वीकार करके जो कुछ अशिव है उसे निकाल फेंकने की चेष्टा करनी चाहिए। शिव है अपने प्रेम-पात्र के प्रेममय होने की अनुभूति। हमें अपनी अहंपूर्ति के लिए नहीं, बल्कि ईश्वर की इच्छा पूरा करने में एक-दूसरे की सहायता करने के लिए प्रेम करना चाहिए। तब सच्चा आनंद मिलेगा। परंतु इस आनंद की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि प्रेम में पड़ने से (और यह तुम्हारी कमजोरी है) ईर्ष्या, जुगुप्सा आदि जो हीन भावनाएँ संचारित हो जाती हैं, वे निकाल फेंकी जाएँ। मेरी सलाह है कि अपनी भावनाओं में मत जाओ, उन्हें एक-दूसरे को मत लिख भेजो (यह चोरी नहीं, संयम है), बल्कि अपने जीवन, अपने कार्य के बारे में लिखो। तुम उसे अति प्रेम करते हो और वह तुम्हें करती है, यह वह भी जानती है और तुम भी जानते हो। मनुष्य को एक सीमा तक अपनी भावनाओं को व्यक्त करना चाहिए, उस सीमा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए—और तुमने उस सीमा का उल्लंघन किया है। सीमा का उल्लंघन करने के बाद भावनाओं की अभिव्यक्ति आनंददायी न होकर भारपूर्ण हो जाती है।

ईश्वर ने हमें प्रेम में आनंद अनुभव करने की क्षमता दी है, पर हमें यह न भूलना चाहिए कि वह आनंद कोरा आनंद नहीं है, बल्कि दूसरों का उपकार करने की इच्छाजन्य है। और जैसे ही तुम्हारा प्रेम सच्चा हो जाएगा, अर्थात् उसका उपकार करने की तुम्हारी इच्छा होगी, तुम्हारे उसके प्रेम में जो कुछ भी कष्टदायी है, वह दूर हो जाएगा।

प्रेम हानिकारक नहीं हो सकता, जब तक वह प्रेम है, प्रेम की ओट में अहंता का भूत नहीं है। हमें अपने से पूछना चाहिए—क्या मैं उसके उपकार के लिए उसे कभी न देखने तथा उससे संबंध तोड़ लेने के लिए तैयार हूँ? यदि आप तैयार नहीं हूँ, तो अहंता का भूत है, जिसे मार डालना चाहिए। मैं जानता हूँ कि तुम्हारी वृत्ति धर्मपरायण तथा उदार है और यदि तुम पर अहंता का भूत सवार है तो तुम उसे परास्त कर दोगे।

तुम्हारा यह कहना ठीक है कि मनुष्य सबको समान रूप से प्यार नहीं कर सकता। केवल एक ही व्यक्ति से उत्कट प्रेम करने में सुखानुभूति होती है, पर स्मरण रहे कि प्रेम उसके लिए हो, अपनी अहंपूर्ति के लिए नहीं।

प्रेम का स्थान

मैंने 'प्रेम' पर बहुत विचार किया है, परंतु मुझे उसका कोई अर्थ न दिखाई पड़ा। फिर भी मानव-जीवन में उसका स्थान तथा अर्थ स्पष्ट तथा निश्चित है। वह भोग

और ब्रह्मचर्य में चलनेवाले संघर्ष की तीव्रता कम करता है। जो युवक-युवती ब्रह्मचर्य न धारण कर सकें, वे विवाह करने के लिए प्रेम कर सकते हैं और इस प्रकार 16 से लगाकर 20 वर्ष की अवस्था तक जीवन के अत्यंत नाजुक समय में भीषण यंत्रणाओं से बच सकते हैं। जीवन की इसी अवस्था में प्रेम का स्थान है। पर विवाह के बाद प्रेम के लिए स्थान नहीं है, वह कुत्सित होता है।

प्रेम करना अच्छा है या बुरा? मेरे लिए तो इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है।

यदि मनुष्य सेवापूर्ण आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहा है तो उसके लिए प्रेम तथा विवाह करना पतन है, क्योंकि तब उसे अपनी शक्ति का एक भाग अपनी पत्नी या अपने कुटुंब या अपने प्रेमपात्र को देना होगा। यदि वह पशु-जीवन बिता रहा है, खाना, कमाना तथा लिखना ही उसका जीवन-ध्येय है, तो प्रेम की अवस्था उसके लिए उन्नतिकारी होगी, जैसा कि पशुओं तथा कीड़े-मकोड़ों में होता है।

उत्पादक-शक्ति

मैं नहीं समझता कि तुम्हें स्त्रियों से किसी प्रकार के आध्यात्मिक संबंध की आवश्यकता है। स्त्रियों से सामाजिक संबंध तभी आनंददायी होगा, जब तुम्हारे मन में स्त्री-पुरुष विषयक कोई भेदभाव न रह गया हो, तुम स्त्रियों को भी अन्य प्राणियों के समान देखने लगो।

मैं समझता हूँ कि तुम्हें श्रम की आवश्यकता है। तुम्हें कोई ऐसा श्रम करना चाहिए जिसमें तुम्हारी शक्ति व्यय हो सके।

मुझे एलाइस स्टॉकहम की पुस्तिका अच्छी लगी, जिसमें उन्होंने विषयेच्छा को 'उत्पादक-शक्ति' बताया है। वे कहती हैं कि जब मनुष्यों में अन्य प्राकृतिक इच्छाओं के साथ विषयेच्छा उत्पन्न हो, तो उन्हें जान लेना चाहिए कि यह कोई उत्पादक-कार्य करने की इच्छा है। यही इच्छा निम्न रूप में कामेच्छा के रूप में प्रकट होती है। यह उत्पादक कार्य करने की इच्छा है और दृढ़ इच्छा-शक्ति तथा अनवरत प्रयत्न से अन्य उपयोगी शारीरिक कार्यों अथवा आध्यात्मिक जीवन की दिशा में मोड़ी जा सकती है।

मैं भी सोचता हूँ कि सचमुच यह एक शक्ति है जो परमात्मा की इच्छा को पूर्ण करने में, पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना करने में, सहायक हो सकती है। प्रजनन में इसका उपयोग करके हम इसी कार्य को (पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना के कार्य को) अपनी संतति पर डाल देते हैं। ब्रह्मचर्य तथा सेवाव्रत ले लेने पर यह शक्ति परम मंगलमय रूप धारण कर लेती है। इस दिशा में इसे मोड़ना कठिन है, पर असंभव नहीं है। हम देखते हैं कि हमारी आँखों के सामने सैकड़ों-हजारों आदमियों ने ऐसा

करके दिखा दिया है।

यदि तुम अपने विकारों को जीत सको तो बहुत अच्छा है, यदि न जीत सको तो विवाह कर लो—यह बहुत अच्छा तो नहीं होगा, पर बुरा भी नहीं होगा।

बुरा तो कामाग्नि से जलते हुए इधर-उधर फिरना है, जैसा कि पाल ने कहा है।

हाँ, यह कल्पना कभी मत करो कि स्त्रियों का सान्निध्य कल्याणकर करुण-कोमल भावनाओं का संचार करनेवाला होता है। यह भ्रम कामुकता से उत्पन्न होता है। पुरुषों की भाँति स्त्रियों का सान्निध्य भी आनंद उत्पन्न करता है, परंतु स्त्रियों के सान्निध्य में कोई विशेष आनंददायक बात नहीं होती। और यदि ऐसा मालूम पड़े तो उसे कामुकता-जनित भ्रम मानो।

अकिंचन बनो

...तुम पूछते हो कि विकारों से संघर्ष करने का उपाय बताओ। श्रम, उपवास आदि गौण उपायों में सबसे अधिक कारगर उपाय है, दरिद्रता का वरण, अपने को अकिंचन प्रकट करना, जिससे तुम्हारी ओर कोई स्त्री आकर्षित ही न हो। परंतु मुख्य तथा सर्वोत्तम उपाय तो विकारों से अनवरत संघर्ष ही है, तुम्हारे दिल में सदा यह भाव रहना चाहिए कि यह संघर्ष कोई नैमित्तिक या अस्थायी अवस्था नहीं, बल्कि जीवन की स्थायी और अपरिवर्तनीय अवस्था है।

स्वेच्छापूर्वक नपुंसकत्व

तुमने मुझसे स्कोपत्सी[1] जातिवालों के विषयों में पूछा है। लोगों का उन्हें बुरा बताना क्या उचित है ? क्या वे मैथ्यू के प्रवचन के 19वें अध्याय का आशय ठीक-ठीक समझे हैं कि उसके 12वें पद्य के प्रमाण पर वे अपनी तथा दूसरे की जननेंद्रिय काट डालते हैं। पहले प्रश्न पर मेरा उत्तर है कि 'बुरे' नहीं हैं। सभी मनुष्य एक ही परमपिता की संतान हैं, सब आपस में भाई-भाई हैं, न कोई बुरा है, न कोई भला। स्कोपत्सी लोगों के बारे में मैंने जो कुछ सुना है, उससे मालूम पड़ता है कि वे नीतिपूर्ण तथा श्रमपूर्ण जीवन बिताते हैं। दूसरे प्रश्न के संबंध में कि क्या वे प्रवचन का ठीक-ठीक आशय समझते हुए अपनी जननेंद्रियाँ काट डालते हैं, मेरा निर्भ्रांत उत्तर है कि वे प्रवचन का गलत अर्थ समझते हैं, और अपनी तथा विशेष रीति से दूसरों को जननेंद्रियाँ काटकर वे सच्चे ईसाई धर्म के विरुद्ध जाते हैं। ईसा ने ब्रह्मचर्य

---

1. रूसी किसानों का एक संप्रदाय जो ब्रह्मचर्य-पालन के लिए स्वेच्छा से नपुंसक बन जाता है, अर्थात् अपनी जननेंद्रिय काट डालता है।

का उपदेश दिया है, पर अन्य सद्गुणों की भाँति ब्रह्मचर्य का महत्त्व भी तभी है जब वह श्रद्धा के साथ दृढ़ इच्छा-शक्ति से प्राप्त किया जाए। उस ब्रह्मचर्य का कोई महत्त्व नहीं, जो पाप करने की संभावना ही दूर करके प्राप्त किया जाए। यह तो ऐसा ही हुआ कि जैसे कोई मनुष्य अधिक खाने के प्रलोभन से बचने के लिए ऐसी दवा खा ले कि मंदाग्नि उत्पन्न हो जाए या युद्ध न करने के लिए अपनी बाँहें बाँध ले, या गाली न देने के लिए अपनी जबान काट डाले। ईश्वर ने मनुष्य को वैसा ही बनाया है जैसा वह है। उसने उसके विकारपूर्ण शरीर में आत्मा प्रतिष्ठित की है, जिससे वह शारीरिक विकारों को अपने वश में कर सके (जीवन का यही उद्देश्य है)। परमात्मा ने मनुष्यों को सर्वांगपूर्ण शरीर इसलिए नहीं दिया कि वह ईश्वर के कार्य में संशोधन करने के लिए अपने को विकलांग बना ले।

स्त्री और पुरुष एक-दूसरे की ओर इसलिए आकर्षित होते हैं कि वे जिस पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सके, वह अगली पीढ़ी के लिए संभव हो जाए। धन्य है उस दयानिधान की इस चातुरी को! मनुष्य पूर्ण बनने के लिए बनाया गया है; 'अपने स्वर्गीय पिता के समान पूर्ण बन'। पूर्णता का एक चिह्न ब्रह्मचर्य-प्राप्ति है। सच्चा ब्रह्मचर्य मनसा, वाचा, कर्मणा, विषयवासना से पूर्ण मुक्ति। यदि मनुष्य पूर्ण बन जाए और ब्रह्मचर्य का पालन करने लगे, तो मानव-जाति का जीवनोद्देश्य पूरा हो जाए, फिर पृथ्वी पर जन्म लेने की कोई आवश्यकता न रह जाए, मनुष्य फरिश्ते बन जाएँ, जो विवाह नहीं करते। परंतु कभी मनुष्य पूर्ण नहीं बन सका है, इसलिए वह नई पीढ़ी को जन्म देता है और नई पीढ़ी ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करती हुई अपना जीवन-यापन करती है। इस प्रकार मानव-जाति उत्तरोत्तर पूर्णता के निकट पहुँच रही है। यदि मनुष्य स्कोपत्सी लोगों के उपदेश पर चलने लगें, तो मानव-जाति पूर्णता प्राप्त किए बिना ही, ईश्वर की इच्छा पूरी किए बिना ही, अंत को प्राप्त हो जाए।

मेरे स्कोपत्सी लोगों को गलत मानने का पहला कारण तो यही है। दूसरा कारण यह है कि बाइबिल की शिक्षा मंगलकारी है (ईसा ने कहा है—मेरे पथ पर चलना बड़ा सरल और कष्ट-रहित है), और उसमें हिंसा का निषेध है : अतः दूसरों को दुःख और कष्ट देना पाप तो है ही, अपने को भी विकलांग बनाना तथा कष्ट देना ईसाई धर्म के विरुद्ध है।

तीसरा कारण यह है कि स्कोपत्सी लोगों ने मैथ्यू के प्रवचन के 19वें अध्याय के 12वें पद्य का अर्थ स्पष्टतया गलत लगाया है। यह सारा अध्याय विवाह के संबंध में है। ईसा ने विवाह का निषेध नहीं किया, बल्कि पत्नियाँ बदलने, अर्थात् तलाक का, निषेध किया है। इस प्रकार विवाहावस्था में ईसा ने अधिक-से-अधिक

संयम पालने की आज्ञा दी है, मनुष्यों को एक-पत्नीव्रत का पालन करना चाहिए। जब स्त्रियों ने उनसे कहा (पद्य 10) कि इस प्रकार का संयम-पालन, अर्थात् एक-पत्नीव्रत, तो बड़ा कठिन है तो उन्होंने उत्तर दिया—यद्यपि सभी लोग जन्मजात नपुंसकों अथवा मनुष्य द्वारा बनाए गए नपुंसकों की भाँति संयम पालन नहीं कर सकते, परंतु कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने स्वर्ग-प्राप्ति के लिए अपने को नपुंसक बना लिया है, अर्थात् आत्म-बल से काम-विकार जीत लिया है, और लोगों को उन्हीं का अनुकरण करना चाहिए। यहाँ 'कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने स्वर्ग-प्राप्ति के लिए अपने को नपुंसक बना लिया', इन शब्दों का अर्थ शरीर पर आत्मा की विजय करना चाहिए। इनसे यह अर्थ नहीं निकलता कि शरीर को विकलांग बना लिया जाए, क्योंकि जहाँ पर शरीर को विकलांग बनाने का उल्लेख है, वहाँ 'मनुष्य द्वारा बनाए गए नपुंसक' लिखा गया है, तथा जहाँ पर शरीर पर आत्मा की विजय से तात्पर्य है, वहाँ 'अपने को नपुंसक बना लिया है', लिखा गया है।

मैं 12वें पद्य का यही अर्थ लगाता हूँ, पर मैं इतना और कह दूँ कि यदि तुम्हें इन शब्दों का यह अर्थ ठीक न जँचे, तो भी तुम्हें याद रखना चाहिए कि सदा मूल-भाव पर ही जाना उचित है। बलपूर्वक अथवा स्वेच्छा से अंग-भंग करना ईसाई-धर्म के विरुद्ध है।

मैं समझता हूँ विवाह कर लेने पर स्त्री-पुरुष का विषयोपभोग करना अनीतिपूर्ण नहीं है। पर इस पर अधिकारी रीति से कुछ लिखने से पहले मैं इस प्रश्न का सूक्ष्म रीति से अध्ययन कर लेना आवश्यक समझता हूँ, क्योंकि इस मत में भी बहुत सत्यांश है कि केवल अपनी विषय-वासना शांत करने के लिए अपनी स्त्री से भी विषय-सेवन करना पाप है। मेरा तो खयाल है कि विषय-सेवन से बचने के लिए अपनी इंद्रियों को काट डालना भी उतना ही बड़ा पाप है जितना कि केवल आनंद-प्राप्ति के लिए विषय-सेवन करना। यह वैसा ही पाप है जैसे प्रलोभन में आकर अधिक खाना या भूखों मरकर प्राण दे देना, या विषपान कर लेना। जिस प्रकार मनुष्यों की सेवा करने के लिए अन्न खाकर शरीर की रक्षा करनी धर्म-सम्मत है, उसी प्रकार वंश-रक्षा के लिए विषय-सेवन भी धर्म-सम्मत है।

स्वेच्छा से नपुंसक बन जानेवालों का यह कहना सही है कि आध्यात्मिक प्रेम के बिना, केवल शरीर-सुख के लिए अपनी स्त्री से भी विषयभोग करना अनीतिपूर्ण है, व्यभिचार है। पर उनका यह कहना गलत है कि आध्यात्मिक प्रेम होने पर संतानोत्पत्ति के लिए भी विषयोपभोग करना पाप है। वह पाप नहीं, ईश्वर की इच्छा पूर्ण करना है।

मेरी समझ में इंद्रिय काट डालना पाप है। मान लीजिए, एक आदमी अनीतिपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है। वह अनाज से शराब बनाकर पीता है और नशे में चूर रहता है। वह अनुभव करने लगता है कि यह बुरा है, पाप है। अब वह अपनी इस बुरी आदत को छोड़कर अनाज का मनुष्यों तथा पशुओं के लिए सदुपयोग करने के बजाय, यह सोचता है कि पाप-मार्ग से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि मैं सारा अनाज ही जला डालूँ और वह अपने अनाज के कोठरे में आग लगा देता है। फल यह होता है कि उसकी पापवृत्ति उसके अंदर ज्यों-की-त्यों वर्तमान रहता है। उसके पड़ोसी पहले ही की तरह अनाज से शराब बनाते हैं, पर वह अपनी तथा अपने प्ररिवारवालों की क्षुधा शांत करने में असमर्थ हो जाता है।

ईश्वर ने नन्हें-नन्हें बालकों की प्रशंसा व्यर्थ ही नहीं की कि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है तथा बुद्धिमान लोगों को भी जो बात समझ में नहीं आता उसे वे सहज ही जान लेते हैं। हम स्वयं इस कथन की सच्चाई अनुभव करते हैं। यदि बालक न हों, वे जन्म लेना बंद कर दें, तो पृथ्वी पर स्वर्ग के राज्य की आशा भी न रह जाए। वे ही हमारी आशा हैं। हम पाप में डूबे हैं, अपने को शुद्ध बनाना बहुत कठिन है, परंतु हमारे परिवार में हर पीढ़ी में, नई-नई, निर्दोष, शुद्ध आत्माएँ जन्म लेती हैं और वे आजन्म शुद्ध बनी रह सकती हैं। नदी का पानी गंदा होता है, पर उसमें कितने ही निर्मल जल के स्रोत मिलते रहते हैं, जिससे नदी के पानी की भी शुद्ध होने की आशा बनी रहती है।

यह प्रश्न बहुत बड़ा है, और इस पर मनन करने में मुझे आनंद मिलता है। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि शरीर-सुख के लिए विषय-सेवन तथा विषय-सेवन से बचने के लिए अपनी इंद्रिय काट डालना, दोनों ही समान रूप से पाप-पूर्ण हैं। परंतु इंद्रिय काट डालना तो जघन्य पाप है। विषयाधीन होने में गर्व नहीं होता, लज्जा होती है, परंतु इंद्रिय काट डालनेवालों को तो अपने कार्य पर लज्जा तक नहीं आती, वे गर्व करते हैं कि उन्होंने प्रलोभनों से काम-विकार के संघर्ष से बचने के लिए ईश्वर का नियम भंग कर डाला। यथार्थतः हमें अपने हृदय के विकारों को काट फेंकना चाहिए, तब शरीर को काट फेंकना आवश्यक हो जाएगा। इंद्रियों को काट फेंकने से प्रलोभनों से मुक्ति नहीं मिल जाती। मनुष्य इस जाल में क्यों फँस जाते हैं ? इसका कारण यह है कि हृदय में काम-विकारों को दूर करना बड़ा कठिन है— इसके लिए मनुष्य को अपने हृदय के सभी विकारों का शमन करना पड़ता है, तथा खुदी को भूलकर तन-मन-धन से ईश्वर को प्यार करना पड़ता है। यह रास्ता बड़ा लंबा है, यही कारण है कि कुछ लोग भूल से सोच बैठते हैं कि वे जीवन में सबसे बड़े पाप से बचने के लिए यह छोटा रास्ता अख्तियार कर सकते हैं। पर दुःख की

बात तो यह है कि इस प्रकार के छोटे रास्ते ईप्सित लक्ष्य की ओर नहीं ले जाते, बल्कि किसी दलदल में ले जाकर फँसा देते हैं।

वंश-रक्षा के लिए विवाह

वंश-रक्षा के लिए विवाह करना अच्छा और जरूरी है, पर यदि लोग इस ध्येय से विवाह करते हैं, तो उन्हें अपने अंदर यह शक्ति पैदा करनी चाहिए कि वे अपनी संतानों को परान्नजीवी बनने के बजाय मनुष्य तथा परमात्मा के सच्चे सेवक बनने की शिक्षा दे सकें। और इसके लिए आवश्यक है कि वे दूसरों के श्रम पर नहीं, बल्कि अपने श्रम पर जीवन-यापन करने की सामर्थ्य अर्जित करें।

हम लोगों में यह विचार घुस गया है कि मनुष्य को शादी तभी करनी चाहिए जब वह दूसरों की गर्दन पर अच्छी तरह सवार हो गया हो, अर्थात्, 'साधन-संपन्न' हो गया हो। परंतु होना चाहिए ठीक इसके विपरीत। उन्हीं को शादी करनी चाहिए जो साधन-विहीन होने पर भी जीवन-यापन करने तथा बच्चों को शिक्षा देने की सामर्थ्य रखते हों। ऐसे ही माता-पिता अपने बालकों को ठीक रीति से शिक्षा दे सकते हैं।

विषय-वासना

विषयेच्छा ईश्वर के बनाए नियमों को यदि स्वयं न पूरा कर सके तो उसे अपने वंशजों द्वारा पूरा कराने का साधन है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में इसकी सत्यता की अनुभूति होती है। मनुष्य ईश्वर के बनाए नियमों की पूर्ति की दिशा में जितना ही आगे बढ़ता है, उतना ही वह विषय-वासना से दूर भागता है। इसके विपरीत वह ईश्वर के नियमों की पूर्ति से जितना ही दूर रहता है, उतना ही विषय-वासना उसे सताती है।

विषय-भोग इसीलिए इतना आकर्षक है कि वह हमारे एक महान् कर्तव्य-पूर्ति का साधन है मानो वह मनुष्य को एक महान् कर्तव्य-बोझ से मुक्त करके उसे अगली पीढ़ी पर डाल देता है। मैं नहीं, तो मेरी संतति स्वर्गीय राज्य प्राप्त करेगी। इसीलिए स्त्रियाँ अपने बच्चों में इतनी तन्मय रहती हैं।

ब्रह्मचर्य-पालन

'एन' ने ब्रह्मचर्य के आदर्श के विरुद्ध यह दलील दी कि इसका पालन करने से मनुष्य जाति का अंत हो जाएगा। इसके उत्तर में मैंने कहा—पादरियों के विश्वास के अनुसार संसार का अंत एक-न-एक दिन होगा। विज्ञान भी यही कहता है कि एक दिन पृथ्वी के तमाम मनुष्य और स्वयं पृथ्वी नष्ट हो जाएगी। फिर इस कल्पना से

मनुष्य क्यों इतना चौंकता है कि नीतियुक्त सदाचार-पूर्ण जीवन व्यतीत करने से भी मनुष्य जाति का अंत किया जा सकता है? शायद दोनों बातें साथ-साथ हों। एक लेख में यही इंगित भी किया गया है। उसमें कहा गया है—ब्रह्मचर्य का पालन करके मनुष्य क्यों न अपने को ऐसी बुरी मौत से बचा ले? बिल्कुल ठीक कहा है।

हरशेल ने हिसाब लगाया है जिससे प्रकट होता है कि यदि सृष्टि के आरंभकाल से, इस समय की भाँति मनुष्य की संख्या प्रति साल दूनी होती रहती, तो (आदम-हौवा से लेकर अब तक का समय 7000 वर्ष मान लेने पर) अब तक मनुष्य-संख्या इतनी अधिक बढ़ जाती कि यदि वे एक के सिर पर एक खड़े कर दिए जाते, तो वे न केवल पृथ्वी से सूरज तक, बल्कि उससे 27 गुना अधिक ऊँचे पहुँच जाते।

इससे क्या नतीजा निकला? सिर्फ दो नतीजे निकलते हैं—या तो हम प्लेग और युद्धों की आवश्यकता मानें, या हम ब्रह्मचर्य पालन का प्रयत्न करें। ब्रह्मचर्य-पालन से ही बढ़ती हुई मनुष्य-संख्या रोकी जा सकती है।

युद्धों और प्लेगों के आँकड़ों की ब्रह्मचर्य-पालन के आँकड़ों से तुलना मनोरंजक होगी। निश्चय ही इन आँकड़ों से प्रकट होगा कि दोनों एक-दूसरे की पूर्ति करते हैं। यदि युद्ध और प्लेग कम हुए होंगे तो मनुष्य-जाति के ब्रह्मचर्य-पालन करने के अधिक उदाहरण मिलेंगे। दोनों संतुलन बनाए रखते हैं।

एक दूसरा नतीजा यह निकलता है, यद्यपि मैं इसे स्पष्ट रूप में रख सकने में समर्थ नहीं हूँ, कि मनुष्य-संख्या घटाने की चिंता करना, उसका हिसाब लगाने बैठना, ठीक नहीं हैं। केवल प्रेम ही श्रेष्ठ मार्ग है, पर प्रेम अकेला नहीं रहता, उसका आँचल थामे हुए पवित्रता रहती है। मान लीजिए, हम एक ऐसे आदमी की कल्पना करें, जो एक ओर तो जनसंख्या बढ़ाने के लिए व्यग्र है और दूसरी ओर उसे घटाने के लिए। दोनों कार्य एक साथ होने की आशा करना हास्यास्पद नहीं है। वह तभी हो सकता है जब एक का प्राण लिया जाए और दूसरे को जन्म दिया जाए।

एक ही बात तर्क-संगत हैं। 'अपने परम पिता की भाँति पूर्ण बन'। और यह पूर्णता पहले ब्रह्मचर्य और फिर प्रेम की साधना से मिलती है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्मचर्य-पालन का स्थान प्रथम है और वंश-रक्षा का स्थान द्वितीय।

मनुष्य के नियम

'एन' के पत्र पर, जिसमें उसने लिखा है कि विषयोपभोग एक पवित्र कार्य है, क्योंकि उससे वंश-रक्षा होती है, मैं यह सोच रहा हूँ कि जिस प्रकार मनुष्य पशुओं की भाँति, जीवन-संघर्ष के नियम के अधीन है, उसी प्रकार वह पशुओं की भाँति, प्रजनन के नियम के भी अधीन है, पर मनुष्य मनुष्य है। उसने जीवन-संघर्ष से भिन्न

अपना नियम बनाया है—प्रेम। इसी प्रकार उसने प्रजनन के विपरीत अपना नियम बनाया है—ब्रह्मचर्य।

स्त्री-त्याग का अर्थ

अपने माता-पिता तथा बीबी और बच्चों को छोड़कर मेरा अनुसरण कर' बाइबिल के इन शब्दों का तुमने संकुचित अर्थ लिया है। इन शब्दों का सही-सही अर्थ क्या है, विशेष रीति से जब पारिवारिक बंधनों और धार्मिक कर्तव्यों में वैषम्य उपस्थित हो, तब किस प्रकार समस्या सुलझाई जाए, इस संबंध में मेरा मत यह है कि समस्या का हल बाहरी नियमों और आदेशों में नहीं मिल सकता, उसका हल तो मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार ही कर सकता है। आदर्श तो स्थिर रहेगा, जैसा कि ईसा ने कहा है—'अपनी स्त्री को छोड़ दे और मेरे पीछे चल।' पर इस आदेश का पालन मनुष्य कहाँ तक कर सकता है, यह तो वह स्वयं या परमात्मा जानता है।

तुम पूछते हो 'अपनी स्त्री को छोड़ दें' का क्या अर्थ है? क्या इसका अर्थ उसका 'परित्याग' कर देने अथवा उसके साथ शयन करना तथा संतानोत्पत्ति करना छोड़ देने से है?

निश्चय ही 'छोड़ दे' का अर्थ है कि उससे पत्नीत्व का संबंध त्याग दें, और उसे संसार की अन्य स्त्रियों की तरह अपनी बहन मानें। यह आदर्श है। इसकी पूर्ति इस प्रकार करनी चाहिए कि स्त्री को क्षोभ न हो, उसे दुस्सह न मालूम पड़े, वह ईर्ष्या तथा विकारों की शिकार न बन जाए। यह बड़ा कठिन कार्य है। ब्रह्मचर्य-पालन का यत्न करनेवाले विवाहित पुरुषों को अपने ही द्वारा पहुँचाए गए इस घाव को भरने में बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। फिर भी मैं केवल एक ही बात सोच और कह सकता हूँ, वह यह कि विवाह हो जाने पर भी, पाप का बोझ अधिक न बढ़ाने के लिए, अपनी सारी शक्ति से ब्रह्मचर्य-पालन करने का यत्न करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की महिमा

सारा सवाल ब्रह्मचर्य का, ब्रह्मचर्य की शिक्षा तथा ब्रह्मचर्य-पालन का है। जिस क्षण मनुष्य ब्रह्मचर्य में अपना कल्याण देखेंगे, उसी क्षण विवाहों की संख्या कम हो जाएगी।

विवाहेच्छु स्त्री-पुरुषों को सीख

...यदि आनंदोपभोग के लिए ही विवाह करेंगे तो संयम पालन में कभी सफलता नहीं मिलेगी। विवाह-बंधन ही जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य बना लेना बहुत गलत है।

यदि गंभीरता से विचार करें तो यह गलती स्वतः प्रकट हो जाती है। क्या जीवन का अंतिम लक्ष्य विवाह-बंधन है? विवाह कर लिया। उसके बाद? यदि विवाह से पहले दोनों ने अपना कोई जीवन-लक्ष्य नहीं बनाया है, तो विवाह के बाद कोई लक्ष्य स्थिर करना अति कठिन, लगभग असंभव हो जाएगा। यह निश्चित है कि यदि विवाह से पहले दोनों का समान जीवन-लक्ष्य नहीं है, तो विवाह के बाद दोनों के दिल एक-दूसरे से मिलेंगे नहीं, बल्कि फिरेंगे। विवाह तभी सुखकर होता है जब दोनों का जीवन-लक्ष्य समान तथा एक होता है।

दो व्यक्ति एक ही रास्ते पर जाते हुए मिलते हैं, और कहते हैं 'आओ, हम साथ-साथ चलें।' ठीक है। दोनों एक-दूसरे को सहारा देते हुए आगे बढ़ेंगे।

पर जब वे पारस्परिक आकर्षण से खिंचकर अपने अलग-अलग रास्ते छोड़कर एक होते हैं, तो वे एक-दूसरे की सहायता नहीं कर पाते, और इसलिए कुछ लोगों का यह मत कि जीवन में आँसू-ही-आँसू हैं अथवा अधिकांश लोगों का यह मत कि जीवन क्रीड़ा-स्थल है, दोनों ही गलत हैं।

जीवन सेवा का क्षेत्र है। इसमें मनुष्य को कभी-कभी असीम कष्ट भी उठाने पड़ते हैं, पर बहुधा उसे अनेक प्रकार के आनंद मिलते हैं। सच्चा आनंद तभी मिलता है जब मनुष्य अपने जीवन को सेवामय बना लेते हैं, वे अपने व्यक्तिगत सुखों से आगे अपना कोई निश्चित जीवन-लक्ष्य बना लेते हैं। बहुधा विवाह करते समय मनुष्य इस बात को भूल जाते हैं। विवाह का सुख, पिता बनने का सुख, इनकी कल्पना में ही वे इतने मग्न हो जाते हैं कि वे समझने लगते हैं कि यही जीवन है; पर यह भारी गलती है।

यदि माता-पिता कोई विशेष लक्ष्य स्थिर किए बिना ही जीवनयापन और बच्चे पैदा करते हैं, तो कहना होगा कि वे जीवन का प्रश्न हल करना केवल आगे के लिए टाल रहे हैं और इस प्रकार निरुद्देश्य जीवन बिताने का पूरा-पूरा फल उन्हें बाद में भुगतना पड़ेगा। पर वे इस प्रश्न को केवल टाल सकते हैं, उससे बच नहीं सकते, क्योंकि एक दिन उन्हें अपने बच्चों को शिक्षा देनी ही होगी, स्वयं कोई पथ ज्ञात न होने पर भी उनका पथ-प्रदर्शन करना ही होगा। ऐसी अवस्था में बहुधा माता-पिता अपने मनुष्योचित गुणों और फलस्वरूप उनसे उत्पन्न होनेवाले सुखों से हाथ धो बैठते हैं, और बच्चे पैदा करने की कल बन जाते हैं।

इसीलिए मैं विवाहेच्छु सभी स्त्री-पुरुषों से कहूँगा कि आपको अभी अपना जीवन चाहे हरा-भरा ही क्यों न दिखाई पड़ता हो, पर आप पहले से अपने जीवन के लक्ष्य पर विचार कर लीजिए, उसे स्पष्ट कर लीजिए। इसके लिए आपको अपने जीवन की वर्तमान स्थिति पर तथा अपने अतीत पर नजर डालनी चाहिए। आपके

जीवन में कौन-सी चीज महत्त्वपूर्ण लगती है, कौन-सी व्यर्थ; आप शाश्वत सत्य किसे मानते हैं, आप किन सिद्धांतों पर अपना जीवन गढ़ना चाहते हैं; इन सब प्रश्नों का उत्तर आपको माँगना चाहिए। और आप इन सब बातों का केवल विचार और निश्चय करके ही न ठहरें, उन पर अमल करना भी शुरू कर दें क्योंकि मनुष्य जब तक किसी सिद्धांत पर अमल नहीं करता, वह नहीं जानता कि वह उनमें श्रद्धा रखता है या नहीं। मैं तुम्हारे जीवन-सिद्धांतों को जानता हूँ। इन सिद्धांतों के जिन अंगों पर तुम अमल कर सको, अभी से उन पर अमल करना शुरू कर दो। मनुष्यों से प्यार करना चाहिए और उनका प्रेम-भाजन बनना चाहिए—इस जीवन-सिद्धांत को पूरी तौर से अमल में लाने के लिए मैं इस समय तीन सीखों पर चल रहा हूँ। इस दिशा में अति नहीं हो सकती। तुम्हें भी इस समय इन सीखों पर चलना चाहिए।

सबको प्यार करने और उनका प्रेम-भाजन बनने के लिए सबसे पहले तो तुम्हें यह चाहिए कि तुम दूसरों से अधिक आशा न रखो, क्योंकि यदि तुम दूसरों से अधिक आशा रखोगे तो तुम्हें अनेक यंत्रणाएँ होंगी। तुम उनसे परिपूर्ण प्रेम नहीं कर सकोगे, उन्हें उलाहने देने लगोगे। इस दिशा में तुम अपने को बहुत-कुछ सुधार सकते हो।

दूसरे, केवल शब्दों से ही नहीं, बल्कि अपने कार्यों से भी प्रेम प्रकट करने के लिए तुमको सेवाव्रत सीखना चाहिए। इस क्षेत्र में तुम बहुत-कुछ कर सकते हो।

तीसरे, सबको प्यार करने और उनको प्रेम-भाजन बनने के लिए लघुता, विनम्रता सीखनी चाहिए। अप्रीतिकर व्यक्तियों तथा चीजों को भी सहन करना चाहिए, सबके प्रति ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि उन्हें चोट न पहुँचे और इतना न हो सके, तो कम-से-कम इतना तो अवश्य करो कि तुमसे किसी का अपमान न हो। इस दिशा में भी तुम बहुत कुछ कर सकते हो। सोते-बैठते तुम्हें इन सीखों पर चलने का प्रयत्न करना चाहिए, और इसमें तुम्हें आनंद मिलेगा। प्रतिदिन मैं कितनी उन्नति कर रहा हूँ, यह देखना बड़ा आनंदप्रद होता है। इसके अलावा तुम्हें शनैः-शनैः लोगों का प्रेमभाव भी प्राप्त होगा, जो बड़ा सुखकर पुरस्कार होगा।

इसलिए मैं तुम दोनों को सलाह दूँगा कि पहले तुम दोनों अपने जीवन पर गंभीरता से विचार करो, अपने जीवन को गंभीर बनाओ; क्योंकि केवल इस रीति से तुम जान सकोगे कि तुम एक राह के पथिक हो या नहीं, तुम दोनों का विवाह-बंधन उचित होगा या नहीं; और यदि तुम्हारा प्रेम सच्चा हो तो तुम्हें भावी जीवन की तैयारी करनी चाहिए। तुम्हारे जीवन का उद्देश्य विवाह-सुख नहीं, बल्कि अपने निर्मल प्रेममय जीवन से संसार में अधिक प्रेम और सच्चाई का प्रचार करना होना

चाहिए। विवाह इसीलिए किया जाता है कि पति-पत्नी दोनों इस उद्देश्य की पूर्ति में एक-दूसरे की सहायता कर सकें।

कहावत है, दोनों छोर मिल जाते हैं। सबसे अधिक स्वार्थपूर्ण और अवांछनीय जीवन उनका है जो शरीर-सुख के लिए विवाह करते हैं। इसके विपरीत सबसे ऊँचा जीवन उनका है, जो ईश्वर की सेवा करने के लिए, संसार में सत्य और प्रेम की वृद्धि करने के लिए, विवाह करते हैं।

इसलिए सावधान रहो, गलती मत करना। दोनों रास्ते ऊपर से कभी-कभी एक दिखाई पड़ते हैं, पर वस्तुतः हैं जुदे-जुदे। इसलिए ऊँचे रास्ते को ही क्यों न चुनो? ऊँचा रास्ता चुन लेने पर, उस रास्ते पर चलने में अपनी आत्मा की सारी शक्ति लगा देनी चाहिए, थोड़ी शक्ति लगाना व्यर्थ होगा।

सदाचारपूर्ण जीवन बिताने की इच्छा रखनेवाले प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों को अवश्य विवाह कर लेना चाहिए, पर उन्हें केवल प्रेम के आवेश में नहीं, बल्कि खूब सोच-समझकर विवाह करना चाहिए।

अर्थात्, उन्हें ऐंद्रिक प्रेम के लिए नहीं, बल्कि यह सोच-समझकर विवाह करना चाहिए कि जिस व्यक्ति से विवाह कर रहे हैं, वह मनुष्योचित जीवन बिताने में कहाँ तक सहायक अथवा बाधक होगा (जीवन का गुजारा कैसे होगा, यह सोचना बेकार है, क्योंकि पेट तो किसी-न-किसी प्रकार भर ही जाता है)।

...विवाह करने से पूर्व सौ नहीं, हजार बार सोच-समझ लो। एक निष्ठावान व्यक्ति के लिए किसी स्त्री से संबंध करना, विवाह-बंधन में बँधना सबसे महत्त्वपूर्ण कृत्य है जिसके परिणामों को भली-भाँति सोच लेना चाहिए। विवाह तभी करो जबकि वह अनिवार्य हो जाए, जैसे आदमी के लिए मौत अनिवार्य हो जाती है।

जीवन में महत्त्व की दृष्टि से मृत्यु के बाद विवाह का दूसरा नंबर है। जिस प्रकार वही मृत्यु अच्छी होती है जो अनिवार्य हो, उसी प्रकार वही विवाह अच्छा होता है जो अनिवार्य हो। अकाल-मृत्यु की भाँति अकाल-विवाह भी बुरा होता है। विवाह जब अनिवार्य हो जाए तो वह बुरा नहीं होता।

मैं कहूँगा कि जो लोग विवाह से बचने की गुंजाइश होते हुए भी विवाह करते हैं, वे उन व्यक्तियों के समान हैं, जो ठोकर खाए बिना ही जमीन पर लेट जाते हैं।...यदि कोई गिर पड़े तो लाचारी है, पर ख्वामख्वाह क्यों गिरा जाए?

...विवाह का प्रश्न उतना सरल नहीं, जितना ऊपर से दीख पड़ता है। प्रेम में पड़ जाना पथभ्रष्ट होना है, पर कोरी सिद्धांत की बातें हाँकना उससे भी बुरा है। आप कहते हैं, मनुष्य को जो लड़की मिल जाए, उसी से शादी कर लेना चाहिए। अर्थात् उसे अपने सुख के खयाल से लड़की नहीं चुननी चाहिए, इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य अपने को भाग्य पर छोड़ दे, अपनी पसंदगी अलग रखकर दूसरे की पसंदगी के आगे सिर झुका दे। जटिल तथा पापपूर्ण परिस्थितियों में हम अविवेक से नहीं चल सकते, क्योंकि यदि हमने उन परिस्थितियों को सुलझाने की कोशिश न की, उनसे फंदा तोड़कर निकल भागने की कोशिश की, तो हम दूसरों को कष्ट में डाल देंगे। पर यदि भावुकता मनुष्य को एक उलझन में डालती है, तो कोरी सिद्धांत की बातें उससे भी गहरी उलझन में डाल देती हैं। हमको जीवन में अपना लक्ष्य विवाह नहीं बनाना चाहिए, बल्कि सत्य-पथ पर चलना अपना जीवन-ध्येय बनाना चाहिए और उसी पथ पर सदा चलते रहना चाहिए। उस पथ पर चलते हुए ऐसा समय आएगा, ऐसे संयोग उपस्थित होंगे, जब विवाह न करना असंभव हो जाएगा। इस पथ पर चलने से मनुष्य न तो कभी गलती करेगा और न पाप का भागी होगा।

विवाह के संबंध में रूढ़िगत विचार सर्वविदित हैं 'यदि साधन न होते हुए विवाह करोगे तो इसका फल यह होगा कि बच्चे होंगे, दरिद्रता बढ़ेगी और दो-एक साल में एक-दूसरे से ऊब उठोगे...दस साल के भीतर-भीतर कलह से तुम्हारा जीवन नरक बन जाएगा।' यदि विवाह करनेवालों का कोई दूसरा अंदरूनी हेतु नहीं है, तो अन्य रूढ़िगत विचार सही ठहरेंगे, उनमें प्रस्तुत किया गया चित्र सिद्ध होगा, पर यदि विवाह के भीतर कोई महान् उद्देश्य है, तब अन्य विचार गलत साबित होंगे। जीवन का कोई लक्ष्य न होने पर विवाह दु:खमय सिद्ध होता है।

हृदय को टटोलो

तुम दोनों दो बंधनों से बँधे हो—अपने समान विश्वासों के बंधन से और प्रेम के भी बंधन से। मेरे मत में इनमें से एक बंधन काफी है। सच्चा बंधन निर्मल प्रेम का बंधन है। यदि निर्मल प्रेम है और उससे ऐंद्रिक प्रेम भी उत्पन्न हो गया है तो अच्छा है, बंधन और दृढ़ हो जाएगा। यदि केवल ऐंद्रिक प्रेम है, तो यद्यपि वह उतना अच्छा नहीं है, फिर भी बुरा नहीं है और निभाया जा सकता है; काफी कशमकश करने पर जीवन की गाड़ी उससे ठेली जा सकती है। पर यदि न निर्मल प्रेम है, न ऐंद्रिक प्रेम ही, बल्कि दिखावा है, तब स्थिति बड़ी खराब होगी। इसलिए मनुष्य को अपने हृदय को अच्छी तरह टटोलकर देख लेना चाहिए कि उसमें कौन-सा भाव आंदोलित हो रहा है।

उपन्यासों का आरंभ और अंत

उपन्यासों का अंत नायक-नायिका के विवाह में होता है। यथार्थ में आरंभ विवाह से तथा अंत विवाह का अंत हो जाने, अर्थात् ब्रह्मचर्य-व्रत ले लेने पर हो, अन्यथा मानव-जीवन का वर्णन आरंभ करके उसे विवाह पर समाप्त कर देना ऐसा ही है, जैसे किसी यात्रा का वर्णन आरंभ किया जाए और यात्री के चोरों के हाथ लुट ज़ाने पर वह यकायक समाप्त कर दिया जाए।

बाइबिल में विवाह

बाइबिल में विवाह का आदेश नहीं है। उसमें विवाह का जिक्र तक नहीं है, हाँ, उसमें दुराचार, विलासिता तथा जिनका विवाह हो गया है, उनके द्वारा तलाक दिए जाने की कड़ी निंदा की गई है। पर उसमें विवाह-विधान का रंचमात्र भी उल्लेख नहीं है, यद्यपि पादरी लोग ऐसा कहते हैं।

हाँ, मेरा खयाल है कि विवाह-विधान गैर-ईसाई है। ईसा ने कभी विवाह नहीं किया। न उनके शिष्यों ने विवाह किया। उन्होंने विवाहितों से कहा कि अपनी स्त्रियों की अदला-बदली मत करो (अर्थात् तलाक मत दो), जिसकी मूसा ने अनुमति दे रखी थी (मैथ्यू, अध्याय 32)। अविवाहितों से उन्होंने कहा—यथासंभव विवाह मत करो (मैथ्यू, अध्याय 19, पद्य 10—12)। विवाहितों-अविवाहितों दोनों से उन्होंने कहा कि स्त्री को भोग-सामग्री मानना पाप है (मैथ्यू, अध्याय 5, पद्य 28)। (यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यही बात स्त्रियों पर भी लागू है)।

इन प्रवचनों से स्वभावतया हम निम्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :

यह न मानना चाहिए, जैसा कि लोग मानते हैं, कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को विवाह करना चाहिए। इसके विपरीत यह मानना चाहिए कि स्त्री-पुरुष दोनों के लिए अपनी पवित्रता की रक्षा करना उत्तम है, जिससे अपनी सारी शक्ति ईश्वर-सेवा में लगा देने में कोई बाधा न पहुँचे।

किसी स्त्री या पुरुष का पतन (दूसरे से शरीर-संबंध) एक गलती न समझी जाए, जो किसी दूसरे व्यक्ति से विवाह करके सुधारी जा सकती है, न उसे शारीरिक आवश्यकता की क्षम्य-पूर्ति माना जाए। इसके विपरीत यदि किसी पर-स्त्री या पर-पुरुष से संबंध हो जाए, तो उसे ही अटूट विवाह-बंधन मान लेना चाहिए (मैथ्यू, अध्याय 19, पद्य 4—6) और दंपती को अपने पाप से मुक्त होने के लिए अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए।

विवाह को विषय-भोग का साधन नहीं मानना चाहिए, जैसा कि इस

समय माना जाता है, बल्कि एक पाप मानना चाहिए, जिससे मुक्ति पाने की चेष्टा करनी चाहिए।

इस पाप से मुक्ति का उपाय है कि पति-पत्नी, दोनों विकारों के अधीन होने से बचें, इस कार्य में एक-दूसरे की सहायता करें, तथा यथासंभव प्रेमी-प्रेमिका नहीं, वरन् भाई-बहन का पवित्र बंधन आपस में स्थापित करने का प्रयत्न करें। दूसरे, उन्हें अपने बच्चों को सुशिक्षित तथा सुसंस्कृत बनाना चाहिए, जो ईश्वर के भावी-सेवक हैं।

इस विचारधारा में, और इस समय समाज में विवाह के विषय में जो धारणाएँ प्रचलित हैं, उनमें बहुत अंतर है। लोगों के विवाह होते रहेंगे, माता-पिता अपने लड़के-लड़कियों के विवाह तय करते रहेंगे, पर उनका समस्त दृष्टिकोण बदल जाने से इसमें महान् अंतर आ जाएगा। तब विवाह विषय-भोग का क्षम्य-साधन नहीं, बल्कि एक पाप माना जाएगा। ईसाई-शिक्षाओं पर चलनेवाला एक व्यक्ति तभी विवाह करेगा जब वह अनिवार्य हो जाएगा, विवाह कर लेने पर वह विषयभोग में नहीं डूब जाएगा, बल्कि वह विकारों का दमन करने का प्रयत्न करेगा। माता-पिता अपने लड़के-लड़कियों की आध्यात्मिक उन्नति का ध्यान रखेंगे और उनकी शादी करना आवश्यक नहीं मानेंगे (अर्थात् उनको पतन की सलाह अथवा सुविधाएँ नहीं देंगे), बल्कि उनकी शादी तभी करेंगे, जब यह देख लेंगे कि वे अब इसके बिना पवित्र-जीवन बिता नहीं सकते अथवा शादी अनिवार्य हो गई है। विवाहित स्त्री-पुरुष बहुत अधिक बच्चे पैदा करने की इच्छा नहीं करेंगे, बल्कि पवित्र जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करते हुए थोड़े-से बच्चों से खुश होंगे। वे अपनी सारी शक्ति अपने बच्चों की (और यदि हो सके तो दूसरों के बच्चों की भी) शिक्षा-दीक्षा में लगाएँगे, और इस प्रकार ईश्वर के भावी-सेवक तैयार करके स्वयं ईश्वर सेवा के भागी बनेंगे।

यह अंतर वैसा ही होगा, जैसा अंतर जीवन-निर्वाह के लिए खानेवालों में और रसना का आनंद लेने के लिए खानेवालों में है। पहले प्रकार के व्यक्ति इसलिए अन्न ग्रहण करते हैं कि वह आवश्यक है। वे भोजन की तैयारी और उसे खाने में यथासंभव कम-से-कम समय देते हैं। दूसरे प्रकार के व्यक्ति नाना प्रकार के व्यंजन तैयार करवाने में, अपनी भूख बढ़ाने तथा अधिक अन्न खाने में अपना सारा समय लगा देते हैं। उनकी दशा उन रोमनों जैसी है, जो खाने के बाद क़ै की दवाई लेते थे, जिससे और अधिक भोजन कर सकें।

'ईसाई' विवाह न तो कभी हुआ है और न हो सकता है, जैसे कि 'ईसाई' संपत्ति

नहीं हो सकती, पर ईसाई-धर्म में विवाह और संपत्ति का नियम हो सकता है।[1]

एक सच्चा ईसाई संपत्ति के संबंध में इस तरह का विचार रखता है—यद्यपि मैं अपनी कमीज़ को अपनी समझता हूँ, पर यदि कोई दूसरा इसे माँगे तो उसे दे देना मेरा कर्तव्य है। इसी प्रकार विवाह के संबंध में भी वह सोचता है—विवाह बंधन अटूट है, विवाह के बाद मैं अपनी पत्नी सहित दो बातें पूरी करने की चेष्टा करूँगा, एक तो हम अपने बच्चों को सुशिक्षित बनाएँगे, दूसरे हम यथासंभव विकारों से मुक्त होकर आपस में शारीरिक संबंध के बजाय आध्यात्मिक प्रेम-संबंध स्थापित करेंगे।

मनुष्य जब समझ लेंगे कि विषय-भोग पतन है, पाप है; तथा एक स्त्री के साथ किया हुआ पाप दूसरी स्त्री के साथ विवाह कर लेने पर धुल नहीं जाता, बल्कि पाप से मुक्ति तभी होती है जब उसी स्त्री से अटूट विवाह-बंधन में बँध जाएँ, तभी मनुष्य-जाति में संयम की मात्रा बढ़ेगी।

प्रेम और विवाह

...जब मैं यह कहता हूँ कि विवाहित मनुष्यों को अमुक-अमुक रीति से रहना चाहिए, तब मेरे कहने का यह मतलब नहीं रहता कि मैं स्वयं इस प्रकार रहता आया हूँ या रह रहा हूँ। इसके विपरीत मैं अपने अनुभव से जानता हूँ कि कैसे जीवन व्यतीत करना चाहिए, क्योंकि मेरा जीवन जैसा बीता है, वैसा न होना चाहिए।

मैंने जो कुछ कहा है, उसमें से कुछ भी वापस नहीं लूँगा, बल्कि उन बातों पर और जोर देना चाहूँगा। हाँ, उन बातों को और समझाने की आवश्यकता अवश्य है। यह आवश्यकता इसलिए है कि हमारा जीवन ईसा के बताए मार्ग से इतना भिन्न है कि इस विषय में यदि कोई सत्य बात कहता है, तो हम चौंक उठते हैं (यह मैं अपने अनुभव से कहता हूँ)। हम उसी प्रकार चौंक उठते हैं, जिस प्रकार कोई धनी व्यापारी इस सीख पर चौंक उठता है कि अपने परिवार के लिए धन इकट्ठा करना पाप है, गिरजाघरों में घंटे लगवाने के लिए भी धन एकत्र करना अनुचित है, धन का सदुपयोग उसका दान कर देने में है।

इस विषय में मेरे जो विचार हैं, मैं लिख देता हूँ :

अविवाहित स्त्री-पुरुषों में प्रेम की प्रबल भावना उत्पन्न होती है, इस भावना के फलस्वरूप विवाह होता है; और विवाह के फलस्वरूप बच्चे पैदा होते हैं। स्त्री गर्भधारण करती है और फलस्वरूप कामवासना मंद पड़ जाती है—यदि पुरुष विषय-भोग को जायज़ मानना छोड़ दें, तो यह बात तत्काल लक्षित हो जाए और

---

1. *बिल्कुल यही दशा आजकल कृत्रिम उपायों से संतति-निरोध करनेवालों की भी है।*

संभोग बंद हो जाए, जैसा कि गर्भावस्था में पशुओं में होता है। काम-वासना मंद पड़ जाने पर, उसके स्थान पर वात्सल्य भाव की, शिशु-संवर्द्धन के भाव की, वृद्धि होती है। जब तक बच्चा दूध पीता रहता है, यही भाव प्रबल रहता है। जब बच्चा दूध पीना छोड़ देता है तब पुनः कामाकर्षण बढ़ जाता है (यही मनुष्य और पशु में अंतर है)।

यह प्राकृतिक स्थिति है और यही होना चाहिए, भले ही हम इससे चाहे कितनी दूर हों। कारण, एक तो जब स्त्री गर्भवती होती है तब विषय-भोग अनुचित होता है, वह केवल काम-वासना की तृप्ति के लिए होता है, वह अप्राकृतिक संबंधों की भाँति हेय और लज्जाजनक होता है। इस अवस्था में रमण करनेवाला पुरुष पशु से भी गया-बीता हो जाता है, क्योंकि वह प्रकृति के साधारण नियमों का भी अतिक्रमण करता है। दूसरे, सब लोग यह बात मानते हैं कि विषय-भोग से मनुष्य की शक्ति क्षीण होती है, सबसे अधिक उसकी आध्यात्मिक शक्ति का क्षय होता है। इस प्रकार के विषय-भोग का समर्थन करनेवाले कहेंगे—नियमशीलता बरती जाए। पर मनुष्य जब प्राकृतिक नियमों को भंग करता है तो नियमशीलता कहाँ बरती जा सकती है? संभव है, नियमशीलता बरतने से पुरुष को कम नुकसान हो (राम! राम! इस पाशविकता को नियमशीलता कहें?)। पर उस स्त्री के लिए तो जो गर्भवती है, अथवा जिसकी गोद में बच्चा है, यह असंयम घोर दु:खदायी होता है।

मेरा खयाल है कि स्त्रियाँ पिछड़ी हुई तथा चिड़चिड़े स्वभाव की इसी कारण होती हैं; स्त्रियों को पुरुष के बराबर लाने तथा उन्हें ईश्वर की सच्ची सेविका बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वे इस अनाचार से मुक्त की जाएँ। यह एक दूरवर्ती आदर्श है, पर है महान्। मानव क्यों नहीं इसके लिए अमल करता?

मेरी विवाह के चित्र की कल्पना इस प्रकार है—युवक और युवती में जब इस प्रकार का प्रेम हो जाए कि उनके लिए अलग रहना असंभव हो जाए, तो वे विवाह कर लें। बच्चा पेट में आने पर वे ऐसे सभी कृत्यों से बचें, जो शिशु-संवर्द्धन के लिए हानिकर हों। इस अवस्था में वे आजकल की तरह एक-दूसरे को लुभाने का प्रयत्न न करें, इसके विपरीत प्रलोभनों से बचें और आपस में भाई-बहन की तरह रहें। आजकल तो यह होता है कि पहले से बिगड़े हुए पति महोदय अपनी बुरी आदतें अपनी पत्नी में भी उत्पन्न कर देते हैं, उसमें भी वैषयिकता का विष बो देते हैं। इसका फल यह होता है कि पत्नी को एक साथ प्रेमिका, कथित माता तथा बीमार चिड़चिड़े स्वभाववाली स्त्री होने का बोझ वहन करना पड़ता है। पति महोदय प्रेमिका के नाते अपनी पत्नी को प्यार करते हैं, माता के नाते उसकी उपेक्षा करते हैं तथा बीमार चिड़चिड़े स्वभाववाली स्त्री होने के नाते उससे घृणा करते हैं, यद्यपि

उन्होंने ही उसे बीमार तथा चिड़चिड़ा बनाया है। मैं समझता हूँ कि अधिकांश परिवारों में क्लेश का यही कारण है। इस प्रकार मैं पति-पत्नी के भाई-बहन के रूप में रहने की कल्पना करता हूँ। पत्नी शिशु का पोषण करती है, साथ ही उसे प्रतिदिन नैतिक शिक्षाएँ भी देती है। शिशु के बड़े हो जाने पर, माता का दूध पीना छोड़ देने पर ही, पति-पत्नी एक-दूसरे से प्रेम करते हैं, और कुछ सप्ताहों के बाद फिर उनका जीवन शांतियुक्त हो जाता है।

मेरी समझ में प्रेम का आवेश इंजन की भाप की तरह होता है, जो बंद करके रखी जाती है। इंजन में जब बहुत भाप इकट्ठी हो जाती है, तब उसका सेफ्टी-वाल्व स्वत: हटकर भाप को निकल जाने का रास्ता दे देता है, जिससे भाप इंजन को ही न तोड़ डाले। इसी प्रकार मनुष्य को भी प्रेम का वेग अधिक हो जाने पर ही उसे मार्ग देना चाहिए, अन्यथा उसे रोक रखना चाहिए। इंजन का वाल्व भी तभी हटता है जब भाप बहुत इकट्ठी हो जाती है, अन्यथा वह मजबूती से बंद रखी जाती है। इसी प्रकार प्रेम का वाल्व भी अन्य समय मजबूती से बंद रखना चाहिए। 'जो उसे ग्रहण कर सकें, करें'—बाइबिल के इन शब्दों का[1] मैं यही आशय लेता हूँ, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को अविवाहित रहने की चेष्टा करनी चाहिए, पर विवाह कर लेने के बाद उसे अपनी पत्नी के साथ भाई-बहन की तरह रहना चाहिए, जब भाप बहुत इकट्ठी हो जाएगी तो वाल्व अपने आप हट जाएगा, पर हमें स्वयं उस वाल्व को नहीं हटाना चाहिए, जैसा कि विषयोपभोग को जायज आनंद माननेवाला व्यक्ति करता है, जब प्रेम का वेग हम रोक न सकें, तभी उसे मार्ग देना क्षम्य है।

'पर मनुष्य यह निर्णय कैसे करे कि अब वह अपने वेग को नहीं रोक सकता ?'

इस प्रकार के न मालूम कितने सवाल हैं और वे अबूझ मालूम पड़ते हैं। पर यदि मनुष्य उनको दूसरों के लिए नहीं, बल्कि अपने लिए और दूसरों से हल करवाने नहीं, बल्कि स्वत: हल करने बैठें, तो वे अबूझ नहीं रहते। दूसरों के लिए निश्चित मापदंड हैं। एक वृद्ध मनुष्य वेश्यागामी है, वह घृणित माना जाता है, वही बात एक जवान आदमी करता है, यह उतना बुरा नहीं माना जाता। वह वृद्ध पुरुष अपनी पत्नी से काम-चेष्टाएँ करता है, यह बुरा माना जाता है, पर उतना बुरा नहीं जितना एक युवा पुरुष का किसी वेश्या के साथ ऐसी चेष्टाएँ करना। एक युवा पुरुष अपनी स्त्री के साथ काम-चेष्टाएँ करता है, यह उससे भी कम बुरा माना जाता है, प्रत्युत इसे शोभाजनक मानते हैं। दूसरे के लिए इसी प्रकार का मापदंड है और हम सब उसे जानते हैं, विशेष रीति से निर्दोष बालक और युवा पुरुष। पर अपने लिए

---

1. मैथ्यू, 9, 12

दूसरा मापदंड होता है। प्रत्येक कुमार और कुमारी की अंतरात्मा बतलाएगी (यद्यपि मिथ्या विचारधाराओं के फलस्वरूप उसकी आवाज बहुधा दब जाती है) कि पवित्रता एक अमूल्य धन है और उसकी सदा रक्षा करनी चाहिए तथा इस धन की हानि उसके मन में शोक और लज्जा उत्पन्न करेगी। अंतरात्मा पाप-कर्म से पूर्व भी और पश्चात् भी कहती है कि यह बुरा है, लज्जापूर्ण है।

संसार में विषय-भोग को अच्छा समझा जाता है, जैसे इंजन में सेफ़्टी-वाल्व को हटाकर भाप का निकल जाना। पर ईश्वर के नियमानुसार तो सत्यतापूर्ण जीवन बिताना, अपनी शक्ति का उपयोग ईश्वर-सेवा में करना ही अच्छा है। अर्थात् मनुष्य को सब मनुष्यों से प्यार करना चाहिए, उसे अपने प्रियजनों को, अपनी पत्नी को, अपना प्रेम सबसे पहले देना चाहिए, उसे सत्य-मार्ग समझाने में मदद देनी चाहिए, उसे अपने भोग का साधन बनाकर उसकी आध्यात्मिक शक्तियों को कुंठित नहीं करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, भाप का सदुपयोग करना चाहिए और उसे रोक रखने में पूरा जोर लगा देना चाहिए।

'पर इस प्रकार तो मनुष्य जाति का अंत हो जाएगा?' सबसे पहले, मनुष्य विषय-भोग से बचने की चाहे जितनी कोशिश करे; पर जब तक सेफ़्टी-वाल्व की जरूरत है वह रहेगा और बच्चे पैदा होंगे। दूसरे, हम झूठ क्यों बोलें? जब हम विषय-भोग को उचित ठहराते हैं, तब क्या हमें जाति-रक्षा की चिंता सताती है? हमें वस्तुतः अपने सुख की चिंता रहती है। हमें साफ-साफ कहना चाहिए। क्या मनुष्य-जाति संसार से उठ जाएगी? पशुओं का, मनुष्यों का अंत हो जाएगा? कितनी भयानक बात लगती है! प्रलय से पहले के सब प्राणी जब नष्ट हो गए तो एक दिन मनुष्य जाति का भी नाश हो जाएगा (यदि हम अनंतकाल और आकाश की दृष्टि से देखें)। हो जाने दो नाश! मुझे इन दो पैर के पशुओं के नष्ट हो जाने पर कोई दुःख नहीं होगा, जब तक संसार में सच्चा जीवन और सच्चा प्रेम वर्तमान है। यदि विषय-भोग को छोड़ देने के कारण मनुष्य-जाति नष्ट हो जाए, तो भी सच्चा प्रेम कदापि नष्ट नहीं हो सकता। वह इतना बढ़ जाएगा कि सच्चे प्रेम का रस चख लेनेवालों के लिए मनुष्य-जाति की संरक्षा की कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

ऐंद्रिक प्रेम का एकमात्र यही उद्देश्य है—कि मनुष्यों के इतने ऊँचे उठ जाने की संभावना नष्ट हो जाए।

इन अस्त-व्यस्त पंक्तियों को पढ़कर समझ लेना कि मैं क्या कहना चाहता हूँ, क्या कह पाया और क्या नहीं कह पाया। ये विचार आकस्मिक नहीं हैं—ये मेरी अंतरात्मा से, मेरे जीवन से उत्पन्न हुए हैं। यदि ईश्वर ने चाहा तो मैं इन्हें कभी और सुस्पष्ट रूप में व्यक्त करने की चेष्टा करूँगा।

मनुष्य बनाम पशु

पशुओं में मैथुन तभी होता है जब संतानोत्पत्ति की संभावना होती है। मूढ़ मनुष्य हर समय मैथुन में रत रहता है और उसने यह सिद्धांत तक आविष्कृत कर लिया है कि वह आवश्यक है। और यह आवश्यकता आविष्कार कर लेने के बाद वह स्त्री के गर्भवती होने अथवा उसकी गोद में बच्चा होने पर भी उसे सताता है। स्त्री मातृत्व और पत्नीत्व के बोझ के नीचे मर मिटती है। हमने स्वयं इस प्रकार के अनाचार से स्त्रियों की विचार-शक्ति नष्ट कर डाली है और इसके बाद हम उसके विचारहीन होने की शिकायत करते हैं, किताबों और कॉलेजों की सहायता से उसके मानसिक विकास का प्रयत्न करते हैं। सच मानिए, इन बातों में मनुष्य पशुओं से भी गया-बीता हो गया है और उसे कम-से-कम इन बातों में अपने को पशु-जीवन की सतह पर तो ले आना चाहिए। यह तभी संभव होगा जब वह ज्ञानपूर्वक जीवन आरंभ करे अन्यथा, उसकी बुद्धि का उपयोग अपने पाशविक जीवन को और विकृत बनाने में रहता है।

बाइबिल का समाधान

स्त्री-पुरुष का संबंध कहाँ तक जायज है, यह ईसाई धर्म का उतना ही महत्त्वपूर्ण सवाल है, जितना संपत्ति का सवाल; और मैं इसका सदा मनन किया करता हूँ। बाइबिल में, अन्य सवालों की भाँति, इस सवाल का भी हल दिया है, परंतु हमारा जीवन ईसा के बताए मार्ग से इतना दूर है कि हमारे लिए उस हल पर चल पाने की बात कौन रहे, उसे समझ पाना भी दूभर हो गया है। मैथ्यू के प्रवचन के 19वें अध्याय में लिखा है—सभी आदमी इस उपदेश को ग्रहण नहीं कर सकते, इसे केवल वे ही ग्रहण कर सकते हैं, जिन्हें वह दिया गया है। संसार में कुछ जन्मजात नपुंसक होते हैं, कुछ ऐसे होते हैं, जिन्होंने स्वर्ग-प्राप्ति के लिए अपने को नपुंसक बना लिया है। जो इसको ग्रहण कर सकें, करें (पद्य 11, 12)।

इन पद्यों का बहुत गलत अर्थ लगाया गया है। इनमें साफ-साफ बताया गया है कि मनुष्य को अपनी विषय-वासना के संबंध में क्या करना चाहिए? उसे किस दिशा में आगे बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए? आधुनिक भाषा में कहें कि मनुष्य का क्या आदर्श होना चाहिए? ईसा ने इन प्रश्नों का उत्तर दिया है—स्वर्ग-प्राप्ति के लिए नपुंसक बन जाओ। जो इस स्थिति को प्राप्त कर सका है, उसने सबसे श्रेष्ठ वस्तु प्राप्त कर ली है, जिसने इस स्थिति को प्राप्त नहीं किया, उसे प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। 'जो इसको ग्रहण कर सकें, करें।'

मेरे विचार में मनुष्य को अपने कल्याण के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने

का यत्न करना चाहिए। उसे सजग होकर ब्रह्मचर्य की ओर बढ़ना चाहिए, तभी वह ईप्सित अवस्था तक पहुँच सकेगा। लक्ष्य-भेद के लिए लक्ष्य से ऊपर दृष्टि रखना आवश्यक है। यदि मनुष्य विषय-प्रेम पर दृष्टि रखेगा (चाहे विवाहित जीवन के भीतर ही क्यों नहीं), तो वह निश्चय ही पतन के गड्ढे में, दुराचार के दलदल में गिर जाएगा। यदि मनुष्य पेट के लिए नहीं, बल्कि जीवन-रक्षा के लिए भोजन करेगा, तो अन्न के प्रति उचित दृष्टिकोण रख सकेगा। पर यदि वह पहले से ही सुस्वादु भोजन के लिए तैयारी कर लेगा तो वह अवश्य रसना-लोलुपता में फँस जाएगा।

हृदय-मंथन

'विवाहित जीवन के बारे में बहुत कुछ सोचा है और सोचता रहता हूँ। जब कभी मैं किसी विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करता हूँ, तब यही होता है। मुझे बाहर से भी प्रेरणा मिलती रहती है।

परसों मुझे अमरीका की एक डॉक्टर, श्रीमती एलाइस स्टॉकहम, एम० डी० की पुस्तक प्राप्त हुई है। यह पुस्तक स्वास्थ्य-विचार की दृष्टि से बड़ी उत्तम पुस्तक है। जिस विषय पर इतने दिनों से हमारा पत्र-व्यवहार चल रहा है उस पर भी इसमें एक अध्याय है और लेखिका भी ठीक उसी नतीजे पर पहुँची हैं जिस पर हम पहुँचे हैं। जब आदमी अँधेरे में रहता है और उसे अचानक कहीं से प्रकाश दिखाई पड़ता है, तो उसे बड़ा आनंद मिलता है। यह सोचकर बड़ा दुःख होता है कि अहंकारवश मैंने एक पशु का जीवन बिताया और अब उसे मिटाया नहीं जा सकता। दुःख इसलिए होता है कि लोग कहेंगे—तुम कब्र में पैर लटकाए हो, तुम्हारे लिए यह सब कहना ठीक है, पर तुम्हारा पूर्व जीवन कैसा था? जब हम बूढ़े हो जाएँगे तो हम भी तुम्हारी जैसी बातें करेंगे। पाप-कर्म का यही फल मिलता है—मनुष्य सोचता है कि मैं तो गया-बीता हूँ, मैं परमात्मा का पवित्र संदेश प्रचारित करने के सर्वथा अयोग्य हूँ, पर उसे यह ढाढस बँधती है कि दूसरे लोग ऐसी गलती नहीं करेंगे। परमात्मा तुम्हारा और सबका कल्याण करे।

दांपतिक-सहवास में स्त्री का स्थान

'परिशिष्ट' से संबंधित विषयों पर विचार करते हुए मैं सोचता हूँ कि पहले विवाह का अर्थ था संपत्ति की भाँति स्त्री प्राप्त कर लेना। युद्ध में बंदी बनाई गई स्त्रियाँ हरम में डाल ली जाती थीं। पुरुष उन्हें अपनी विषय-वासना तृप्त करने का खिलौना समझता था। एक विवाह प्रचलित होने पर स्त्रियों की संख्या घट गई, पर स्त्रियों के

संबंध में पुरुष का दृष्टिकोण नहीं बदला। सच्चा संबंध ठीक इससे उल्टा होना चाहिए। पुरुष हमेशा विषयोपभोग के योग्य रहता है और हमेशा संयम भी रख सकता है। स्त्री कुमारीत्व भंग हो जाने के बाद, प्रकृति की चाह होने पर अपने ऊपर बड़ी कठिनाई से संयम रख पाती है, बहुधा दो साल में एक बार उसमें इस प्रकार की इच्छा प्रबल होती है। इसलिए विषय-वासना तृप्त करने का अधिकार पुरुष को कदापि नहीं, स्त्री को ही है। स्त्री के लिए विषय-वासना की तृप्ति आनंदोपभोग नहीं है, जैसा कि पुरुष के लिए है। उसके लिए तो विषय-वासना दुःख, कष्ट सहने का आमंत्रण है। मैं समझता हूँ, विवाह का रूप इस प्रकार होना चाहिए—दंपती एक-दूसरे के प्रति आध्यात्मिक प्रेम के बंधन से बँधे रहें। वे प्रतिज्ञा कर लें कि उन्हें बच्चों की आवश्यकता होगी तो वे आपस में ही उत्पन्न करेंगे, अन्यथा ब्रह्मचर्य पालन करेंगे। संभोग की प्रार्थना पुरुष की ओर से नहीं, स्त्री की ओर से होनी चाहिए।

स्त्री का कर्तव्य

...सबसे पहले मैं तुम्हारा यह खयाल गलत मानता हूँ कि तुम्हें स्वयं बच्चों के पिता से प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। तुमने लिखा है—'मैं न चाहती हूँ न कर सकती हूँ।' परंतु जब बच्चे पैदा हो जाएँ तो स्त्री और पुरुष का संबंध अटूट हो जाता है, पादरियों के हाथ से विवाह संस्कार चाहे हुआ हो या न हुआ हो। इसलिए तुम्हारे बच्चों के पिता की चाहे जो स्थिति हो, वह चाहे विवाहित हो या अविवाहित, चाहे अच्छा हो या बुरा, मेरा खयाल है कि तुम्हें उसके पास जाना चाहिए और यदि उसने अपने कर्तव्यों की उपेक्षा की है, तो तुम्हें उसे बताना चाहिए कि उसका कर्तव्य अपनी स्त्री तथा बच्चों की सेवा करना है। यदि वह तुम्हारी प्रार्थना पर विचार न करके तुम्हें झिड़क दे, तुम्हारा अपमान करे, तो भी ईश्वर के प्रति, अपने प्रति, बच्चों के प्रति और सबसे अधिक उसके प्रति, तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम उसे हर तरह से समझाओ कि वह अपने ही भले के लिए अपने कर्तव्य का पालन करे। तुम उसे विनय के साथ, प्यार के साथ, आग्रह के साथ अपने कर्तव्य का भान कराओ, जैसा कि बाइबिल में वर्णित विधान ने किया था। यह मेरा सुविचारित तथा हार्दिक मत है। तुम इस सीख की चाहे अवहेलना करो और चाहे उस पर चलो, पर मैंने अपना कर्तव्य यही समझा कि मैं तुम्हें अपना विचार बता दूँ।

आध्यात्मिकता से शून्य स्त्री-पुरुषों का सम्मिलन परमात्मा का सत्य को प्रकट करने का साधन है। जो सबल हैं, वे ब्रह्मचर्य पालन की ओर बढ़ते हैं, जो निर्बल हैं, वे सत्य की किरण का दर्शन करते हैं।

शंका—समाधान

तुम्हारा पत्र मिला। मैं तुम्हारी शंकाओं का समाधान करने की चेष्टा करूँगा जो बहुधा हमारे हृदय में उत्पन्न होती है और बिना समाधान पाए रह जाती हैं।

बाइबिल में लिखा है कि पति और पत्नी दो नहीं, एक ही प्राणी हैं। यह सत्य है, इसलिए नहीं कि ईश्वर-वाणी है, बल्कि इसलिए कि यह अनुभव-सिद्ध है। जब स्त्री-पुरुष का संयोग होता है और फलस्वरूप संतान पैदा होती है, तब दोनों रहस्यपूर्ण ढंग से एकाकार हो जाते हैं और कुछ बातों में वे दो प्राणी न होकर एक प्राणी हो जाते हैं।

और इसलिए मेरा खयाल है कि इन संयुक्त प्राणियों को (अर्थात् दोनों को) साथ-साथ संयम-पालन के लिए, विषय-भोग के त्याग के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, दोनों में जो अधिक उन्नत हो, उसे सरल जीवन, अपने उदाहरण तथा उपदेश द्वारा दूसरे को इस दिशा में प्रेरित करने का प्रयत्न करना चाहिए। पर जब तक दोनों की समान दिशा न हो जाएँ, उन्हें संयुक्त रूप से अपने पापों का बोझ ढोते रहना चाहिए।

वासना के उद्रेक में हम बहुधा ऐसे काम कर बैठते हैं, जिनसे हमारी अंतरात्मा घृणा करती है। इसी प्रकार संयुक्त-जीवन में दांपत्य-जीवन भी अपने को अलग प्राणी न मानते हुए, हमें कभी-कभी ऐसे काम करने पड़ते हैं जिनसे हमारी अपनी अंतरात्मा घृणा करती है। कहने का मतलब यह है कि एकाकी जीवन की भाँत विवाहित जीवन में भी प्रलोभनों में पड़ना पाप मानना चाहिए और उनके विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए।

तुम्हारा यह कहना सही है कि मनुष्य परमात्मा की प्रतिमा है और उसे पापाचरण से अपना शरीर-रूपी मंदिर दूषित नहीं करना चाहिए, पर यह बात बाल-बच्चेवाले गृहस्थ पर लागू नहीं होती। संतानोत्पत्ति और उसके पालन-पोषण से पाप का बोझ बहुत-कुछ हलका हो जाता है, इसके अलावा गर्भावस्था और शिशु-संवर्द्धन के समय दीर्घकाल के लिए पाप से मुक्ति मिल जाती है।

बच्चे पैदा करना अच्छा काम है, या बुरा, यह तर्क करना हमारा काम नहीं है। ईश्वर ने पवित्रता-भंग के पाप को धोने के लिए यह उपाय निकाला है और भला-बुरा वह जानता है।

यदि मेरी बात अप्रिय लगे तो क्षमा करना, पर मैं कहूँगा कि तुमने जो यह लिखा है कि संतानोत्पत्ति से मनुष्य की घबड़ाहट अधिकाधिक बढ़ती जाती है, उससे तुम्हारी निष्ठुर अहंवृत्ति प्रकट होती है। तुम संसार में आनंद-मंगल मनाने के लिए नहीं, बल्कि अपने नियत कर्तव्य को पूरा करने के लिए आई हो। अपना

आत्म-कल्याण करना तुम्हारा कर्तव्य है ही, इसके अलावा तुम्हारा कर्तव्य, यदि तुम पवित्रता में अपने पति से आगे हो, तो उसे भी उस दिशा में आगे बढ़ाना है। तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम स्वयं यह नियत-कार्य पूर्ण न कर सको, तो संसार को ऐसे प्राणी दो जो उस कार्य को पूरा कर सकें।

दूसरे, दंपती में जो संबंध होते हैं, उसमें दोनों का योग होता है। यदि पति-पत्नी में से एक में अधिक वासना है, तो दूसरा चाहे यह भले ही समझे कि वह पूर्ण रूप से पवित्र है, पर यह सही नहीं है।

मैं समझता हूँ कि तुम्हारे संबंध में भी यही बात लागू होती है। दूसरे के पाप के आगे तुम्हें अपना पाप दिखाई नहीं पड़ता। यदि तुम पूर्ण रूप से पवित्र होतीं, तो तुम्हारा पति कहाँ अपनी वासना-तृप्ति करता है, इसके प्रति तुम उदासीन होती— अर्थात् तुम उससे ईर्ष्या न करती, तुम उसके पतन पर केवल दया करती, पर ऐसी बात नहीं है।

तुम क्या करो, इस संबंध में यदि तुम मेरी व्यावहारिक सलाह चाहती हो, तो मैं कहूँगा कि जिस समय तुम्हारे पति में तुम्हारे प्रति निर्मल प्रेम का प्राबल्य हो, तुम उसे बता दो कि तुम्हें विषय-संबंध से कितनी यातना, कितना दु:ख होता है और तुम किस प्रकार इससे छुटकारा पाने के लिए तड़प रही हो। यदि वह तुमसे इस बात पर सहमत न हो (जैसा कि तुम लिखती हो) कि पवित्रता अच्छी चीज है और वह तुमसे आग्रह करे, तो उसके आगे सिर झुकाओ और जब बच्चे हों तो अपने पति से प्रार्थना करो कि वह गर्भावस्था और शिशु-संवर्द्धन के काल में तुमसे दूर रहे। इसके बाद भी यदि आवश्यकता पड़ जाए, तो उसकी इच्छा पूरी करो और इसका फल क्या होगा, इसकी चिंता मत करो।

इससे तुम्हारा, तुम्हारे पति का और तुम्हारे बच्चों का कल्याण ही होगा। क्योंकि ऐसा करने पर तुम अकेले अपने ही सुख और शांति की साधना नहीं करोगी, बल्कि परमात्मा की इच्छा भी पूरी करोगी।

यदि मैंने कुछ गलत कहा हो तो मुझे क्षमा करना। परमात्मा को साक्षी रखकर मैंने वही लिखने का प्रयत्न किया है जो इस विषय में मैंने स्वयं अनुभव और चिंतन किया है।

गुत्थी सुलझाने का उपाय

पति और पत्नी के बीच यदि कोई गाँठ पड़ जाए, तो वह विनम्रता से ही दूर हो सकती है, जैसे सीते वक्त तागे में गुत्थी पड़ जाने पर धैर्यपूर्वक प्रत्येक गुत्थी का अनुशीलन करने पर ही वह गुत्थी सुलझती है।

सब समान रूप से दुःखी

...मा़लूम पड़ता है कि वह अपने विवाहित जीवन से असंतुष्ट है। वह अपने विवाह-कर्म पर पछताता है, सोचता है—हे ईश्वर, विवाह न करता तो अच्छा था। विश्वास करो, सुख बाहरी अवस्थाओं पर निर्भर नहीं करता। एक राक्षस की शादी एक देवी से हो जाती है, एक दिव्य पुरुष की शादी राक्षसी से हो जाती है, दोनों ही अपने विवाहित जीवन से असंतुष्ट होते हैं। अधिकांश व्यक्ति, अधिकांश नहीं, सभी व्यक्ति, अपने विवाह से असंतुष्ट रहते हैं। सभी सोचते हैं कि हमसे दुःखी कोई न होगा। अतः सभी की स्थिति समान है।

स्त्री भोग-वस्तु नहीं

यदि तू स्त्री को, चाहे वह तेरी पत्नी ही क्यों न हो, भोग-वस्तु मानता है, तो तू व्यभिचार करता है। अपने श्रम का पसीना बहाकर जीवन-यापन करनेवालों के लिए विवाह का उद्देश्य, सुखोपभोग नहीं, एक सहायक उत्तराधिकरी प्राप्त करना होता है। परंतु वैभव की गोद में लोटनेवालों के लिए विवाह दुराचार है।

अनाथ बच्चे

बाग़वान की स्त्री के बच्चा हुआ है। बूढ़ी दाई फिर आई और बच्चे को ले गई, ईश्वर जाने कहाँ।

सबको बड़ा क्रोध हो रहा है। यदि संतति-निरोध के उपायों का अवलंबन किया जाए तो चिंता नहीं, पर इसे धिक्कारने के लिए तो शब्द ढूँढे नहीं मिलते।

आज मालूम हुआ कि बूढ़ी दाई बच्चे को लौटा लाई है। रास्ते में उसे अन्य दाइयाँ मिलीं, जो इसी प्रकार बच्चे लिए जा रही थीं। एक बच्चे के मुँह में स्तन बहुत ज्यादा दे दिया गया। बच्चे ने जैसे ही स्तन मुँह में दबाया, वह उसके गले में चला गया और वह दम घुटकर मर गया। मास्को के नाजायज़ बच्चों के अनाथालय में एक दिन में ऐसे पच्चीस बच्चे ले जाए गए थे। उनमें से 9 बच्चे लौटा दिए गए जो या तो नाजायज़ थे या बीमार थे।

'एन' ने आज सुबह बाग़वान की स्त्री को फटकारा। उसने अपने पति की वकालत करते हुए कहा कि ऐसी गरीबी तथा अनिश्चित अवस्था में वह बच्चे को पाल नहीं सकती, इसके अलावा उसके दूध नहीं होता। एक शब्द में बच्चे उसके लिए असुविधाजनक हैं।

इससे पहले मैं तीन अनाथ बच्चों को पालने में झुला रहा था। बच्चों की पैदायश बेहद बढ़ गई है। वे बड़े होने पर शराबखोर, सिफलिस से पीड़ित होने तथा

अधिक विचारशील के अधीन कर दे।

• मनुष्य को चाहिए कि वह मानवता और अपने परिवार की सेवा को एकाकार कर दे। अपने परिवार की सेवा, परिवार के लोगों की शिक्षा व बच्चों की शिक्षा को ही समस्त मानव-जाति की सेवा का साधन बना ले। धर्म-विवाह, जो संतानोत्पत्ति के रूप में फलीभूत होता है, परोक्ष रूप में ईश्वर सेवा ही है, माता-पिता अपने बच्चों के लिए ईश्वर की सेवा करते हैं। इसलिए विवाह से हमें सुख-शांति मिलती है। उसके लिए हम अपना कार्य दूसरों पर सौंप देते हैं। 'यदि मैंने अपना समस्त कर्तव्य पूरा नहीं किया, तो मेरे बच्चे मेरा स्थान लेंगे और उसे पूरा करेंगे।'

पर बच्चे ऐसे होने चाहिए कि वे कार्य पूरा कर सकें। उन्हें ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि वे ईश्वर के कार्य के बाधक नहीं, साधक बनें। यदि मैं आदर्श सिद्ध न कर सकूँ, तो मुझे शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिए कि मेरे बच्चे सिद्ध कर सकें। इस रीति से संपूर्ण शिक्षाक्रम बन जाता है, शिक्षा धर्म-सम्मत हो जाती है। इस रीति से मनुष्य अपने परिवार की सेवा को मनुष्य-जाति की सेवा से एकाकार कर देने के योग्य बन जाता है।

नवीन शिशु के जन्म का रहस्य

मैं नवजात इवान[1] का स्वागत करता हूँ। वह कहाँ से आया है ? क्यों आया है ? कहाँ आया है ? वह कौन है ? जो लोग विज्ञान के उत्तर से संतुष्ट हो जाते हैं, उनके लिए ठीक है। पर जो लोग विज्ञान के उत्तर से संतुष्ट नहीं होते, वे विश्वास करते हैं कि नवीन शिशु का जन्म बहुत अर्थ-पूर्ण होता है, हम जितने ही अंशों में शिशु के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करते हैं, यह अर्थ उतने ही अंशों में हमारी समझ में आता है।

स्त्री-परित्याग पाप

...विवाहित पुरुषों को या तो अपने बीवी-बच्चों को छोड़ देना चाहिए, जिसकी सलाह नहीं दी जा सकती, या एक जगह पर बस जाना चाहिए। दर-दर भटकना स्त्रियों के लिए बड़ा दुःखदायी होता होगा, जो (मुझे क्षमा करें) ईश्वर-प्रेम से नहीं, बल्कि पति-प्रेम से खिंचकर पवित्र जीवन व्यतीत करती हैं (और यह उन बेचारी स्त्रियों के लिए बड़ा कष्टदायी होता है)। अतः मेरी समझ में उन पर दया करनी चाहिए। पति-पत्नी एक जगह अपनी गृहस्थी जमा पाते हैं कि अचानक उन्हें घर-बार उठाकर दूसरी जगह कूच करना पड़ता है। यह सब उनकी शक्ति के बाहर होता

---

1. अपने एक मित्र के परिवार में बालक का जन्म होने की ओर संकेत है।

है और इससे बड़े परिश्रम से तैयार की गई इमारत ढह जाएगी। मैं जानता हूँ कि तुम कहोगे कि ईसा का आदेश यह है कि मनुष्य को अपने परिवार के साथ नहीं रहना चाहिए, बल्कि अपने बीबी-बच्चों को छोड़ देना चाहिए, परंतु मेरा खयाल है कि ऐसा परस्पर अनुमति से करना चाहिए। ईसा का इससे भी बड़ा आदेश है—'पति और पत्नी दो नहीं, एक शरीर हैं,' तथा 'जिन्हें परमात्मा ने एक कर दिया है, उन्हें मनुष्य जुदा-जुदा नहीं कर सकता।' तुम्हारे जैसे सुखी और स्वस्थ मनुष्य को शादी नहीं करनी चाहिए, पर शादी करने और बाल-बच्चेवाले हो जाने के बाद, अपने किए पाप का परिणाम भोगना चाहिए। मेरी समझ में पतियों से अपनी पत्नियों को छोड़ देने की आज्ञा या सलाह देना महापाप है। यह सच है कि शुरू में यह खयाल होता है कि स्त्री और बच्चों को अलग रखकर परमात्मा की अधिक सेवा की जा सकती है, पर यह भ्रम है। (यदि तुम पूर्ण रूप से पवित्र तथा निष्पाप हो तब तो तुम्हारे लिए ऐसा संभव है)। दूसरों को अपनी स्त्री और बाल-बच्चे छोड़ देने का उपदेश न देना चाहिए, क्योंकि इससे पाप करनेवाले, अर्थात् विवाह कर लेनेवाले, लोगों को अपनी स्थिति बड़ी निराशापूर्ण प्रतीत होगी। यह अच्छा नहीं होगा। मेरी समझ में पापी तथा निर्बल भी ईश्वर की सेवा कर सकते हैं।

एक बार विवाह का पाप कर लेने के बाद मनुष्य को ईसाई ढंग से जीवन बिताते हुए अपने पाप का फल भोगना चाहिए। उसे एक दूसरा पाप करके अपने को पहले पाप से मुक्त करने की चेष्टा न करनी चाहिए, बल्कि अपनी अवस्था में संतुष्ट रहकर अपनी सारी शक्ति से ईश्वर की सेवा करनी चाहिए।

वंश-रक्षा की चिंता

हाँ, ईसा ने परमात्मा की सेवा का जो आदर्श रखा है, उसमें जीवन तथा वंश-रक्षा की चिंता त्याग देने के लिए कहा गया है। अभी तक इन चिंताओं से मुक्त रहने का प्रयत्न करने से मनुष्य-जाति का नाश नहीं हुआ। आगे क्या होगा, मैं नहीं जानता।

स्त्री-पुरुष के संबंध में गड़बड़ी

अपने समय की विचित्रताओं के संबंध में मेरी कुछ कहने की इच्छा नहीं होती। परंतु सभी ईसाई देशों में क्या गरीब, क्या अमीर, पति और पत्नी, स्त्री और पुरुष का संबंध कुछ विचित्र है। मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि स्त्रियों के कारण, पति और पत्नी का संबंध बिगड़ गया है, वे पुरुषों के साथ न केवल उद्धत, बल्कि घृणापूर्ण व्यवहार करती हैं। वे दिखा देना चाहती हैं कि वे पुरुषों से किसी बात में कम नहीं हैं। उनमें नैतिक भावना का अभाव होता है, और यदि होती भी है तो मातृत्व की

भावना उसे दबा देती है।

मेरा खयाल है कि स्त्री और पुरुष समान हैं, पर उनके विवाह कर लेने और माता बन जाने के बाद, स्वभावतया उनके कार्य-क्षेत्र बँट जाते हैं। मातृत्व-भार में स्त्री की इतनी शक्ति खर्च हो जाती है कि उसमें नैतिक पथ-प्रदर्शन की शक्ति नहीं रह जाती, यह कार्य स्वभावतया पति पर आ पड़ता है। सृष्टि के आदि से यह क्रम चलता आया है...।

पर आजकल यह स्वाभाविक क्रम गड़बड़ा गया है। कुछ तो इसलिए, कि पुरुषों ने अपने अधिकार का दुरुपयोग किया, उन्होंने बलपूर्वक स्त्रियों को अपने पथ पर चलने के लिए विवश किया, कुछ इसलिए कि स्त्रियों ने अब ईसाई धर्म छोड़ दिया है। ...स्त्रियों ने भय से पुरुषों की आज्ञाओं का पालन करना छोड़ दिया है और अभी स्वेच्छा से पुरुषों के मार्गदर्शन को कल्याणकारी समझकर उनका अनुकरण करना शुरू नहीं किया है। इससे समाज के सभी क्षेत्रों में गड़बड़ी दिखाई पड़ती है।

स्त्रियों और पुरुषों को मुख्यतया इसलिए दुःखी देखा जाता है कि दोनों एक-दूसरे को समझते नहीं।

पुरुष यह नहीं समझ पाते कि स्त्री के लिए बच्चे कितने महत्त्वपूर्ण होते हैं, और स्त्री यह नहीं समझ पाती कि पुरुष अपने सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों के पालन को कितना महत्त्व देता है।

स्त्री की समझ

पुरुष यद्यपि स्वयं बच्चे नहीं जनते, पर वे समझते हैं कि बच्चों को पेट में रखना और जन्म देना कितना कष्टदायी और दुःखदायी होता है। पर ऐसी बिरली स्त्रियाँ होंगी और जो यह समझ सकें कि नए आध्यात्मिक जीवन को जन्म देना कितना कठिन और गुरुतर कार्य है। वे क्षण भर के लिए यह अनुभव करती हैं और तुरंत भूल जाती हैं। जैसे ही उनकी कोई अपनी बात उठती है, वह चाहे कोई घरेलू बात हो या पहनने-ओढ़ने की, वे पुरुषों के दृढ़ जीवन-सिद्धांतों को भूल जाती हैं और अपने रुपए-पैसे, कपड़े की बात के आगे वे जीवन-सिद्धांत उन्हें अवास्तविक और हवाई मालूम पड़ने लगते हैं।

परिवार और पत्नी

मैं सोचता हूँ कि पति और पत्नी में कलह का प्रधान कारण पारिवारिक जीवन क्रम के संबंध में उनके भिन्न-भिन्न विचार होते हैं।

एक स्त्री कभी यह स्वीकार नहीं कर सकती कि उसका पति होशियार और व्यवहार-चतुर है, क्योंकि यदि वह यह स्वीकार कर ले तो उसे पति की सभी बातें माननी पड़ें।

यदि मैं अब 'क्रूज़र सोनाटा' लिखता, तो उसमें यह बात मुख्य रूप से दिखाता।

अंततोगत्वा वही शासन करते हैं जिन पर जोर-जबरदस्ती की गई है, अर्थात् जिन्होंने अप्रतिरोध के नियम का पालन किया है। आज स्त्रियाँ अधिकारों के लिए लड़ रही हैं, पर वे वास्तव में शासन करती हैं, क्योंकि उन पर जोर-जबर्दस्ती की जाती रही है। संस्थाएँ पुरुषों के हाथ में हैं, पर लोकमत स्त्रियों के हाथ में है। लोकमत कानूनों और फौजों से लाखों गुना अधिक शक्तिशाली होता है। लोकमत स्त्रियों के हाथ में है, इसका सबूत यह है कि न केवल गृह-व्यवस्था, भोजन-व्यवस्था आदि स्त्रियों के अधीन हैं, बल्कि धन का व्यय और अत: मानव-श्रम का नियंत्रण भी स्त्रियों के हाथ में है। कला-कृतियों और पुस्तकों की सफलता, शासकों का चुनाव तक लोकमत के हाथ रहता है और लोकमत स्त्रियों के हाथ में है।

किसी ने कहा है कि स्त्रियों को नहीं, पुरुषों को स्वाधीनता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

पति : अपनी पत्नी की नजरों में

एक सुंदर स्त्री अपने मन में कहती है—'मेरा पति चतुर है, विद्वान है, यशस्वी है, धनवान है, महान् है, नीतिवान है, पवित्र है, पर मेरे निकट मूर्ख, अज्ञानी, दरिद्र, क्षुद्र तथा अनीतिवान है—वह मेरे प्रलोभन में आ जाता है, अत: उसकी विद्या, बुद्धि और सब कुछ वृथा है।' यह असंयम पत्नी को गिराता है, उसका नाश करता है।

हमारे जीवन की व्यर्थता का कारण स्त्री का हम पर हावी होना है, स्त्री हमारे असंयम के कारण हम पर हावी होती है, अत: जीवन की व्यर्थता का कारण हमारा असंयम है।

'क्रूज़र सोनाटा' की कहानी

कहानी (क्रूज़र सोनाटा) लिखते समय मैंने बराबर उसमें निम्न नाटकीय स्थिति उत्पन्न करने की चेष्टा की—पति पत्नी की विषय-लोलुपता बढ़ाता है। डॉक्टर बच्चे न पैदा करने का आदेश देता है। पत्नी में लोलुपता भर गई है, फिर

कलाकृतियाँ उसकी लोलुपता बढ़ाती हैं। वह कैसे अपने को रोके ? पति को जानना चाहिए कि उसी ने उसका पतन किया है। जिस समय वह उससे घृणा करने लगा, वह उसका नाश कर चुका था। इसके बाद तो वह बहाना ढूँढ़ता रहा और वह उसे मिल गया।

घरेलू काम

यदि प्रश्न यह है कि पति अपने बच्चों के पालन-पोषण तथा उनकी शिक्षा आदि के भार से मुक्त होना चाहता है, यदि वह बच्चों को सुलाने, नहलाने, कपड़े पहनाने, उनका और दूसरों का भोजन बनाने, कपड़े सीने आदि कार्यों से मुक्त होना चाहता है, तो यह भावना अत्यंत अनुचित, निर्दयतापूर्ण और अन्यायपूर्ण है।

आज भी बच्चों को जन्म देने और उनका पालन करने का अधिकांश भार स्त्री पर पड़ता है, इसलिए यदि पति अवकाश के समय अन्य कार्यों का भार अपने ऊपर ले ले, तो वह अस्वाभाविक न होगा। यदि हमारे समाज में सारा कार्य-भार निर्बल आज्ञाकारी स्त्री पर लाद देने की बर्बर प्रथा न चल गई होती, तो ऐसा ही होता। यह बर्बर प्रथा हमारे समाज में ऐसे घुस गई है कि हम यद्यपि स्त्रियों को पुरुषों के समान मानते हैं; उदार और सुसंस्कृत लोग कहते हैं कि स्त्रियों को कॉलेजों में प्रोफेसर आदि होना चाहिए, यदि किसी महिला का रूमाल गिर जाता है, तो हम अपनी जान पर खेलकर उसे उठाने दौड़ते हैं, पर हम अपने बच्चे के मल-मूत्र के कपड़े धोना, पत्नी के बीमार होने, या थक जाने, या बच्चे को खिलाने से ऊबकर कुछ पढ़ने, या सोचने के लिए अवकाश चाहने, पर उनके कपड़ों की मरम्मत स्वयं करना, अपना काम नहीं समझते।

इस संबंध में लोकमत इतना पतित है कि इस प्रकार के काम हास्यापद माने जाएँगे, उन्हें करने के लिए बड़े पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

सो इस विषय में मैं तुमसे पूरी तरह सहमत हूँ, मैं तुम्हारा बड़ा आभारी हूँ कि तुमने मुझे इस विषय को अपने निकट स्पष्ट करने का मौका दिया।

लड़कियों की शिक्षा

स्त्री-स्वातंत्र्य का सच्चा अर्थ यह है—कोई काम स्त्रियों का विशेष कार्य मत मानो, जिस तुम्हें स्वयं करने में लज्जा आती हो, बल्कि अपनी सारी शक्ति से उसकी सहायता करो, क्योंकि वह अबला है, जितना हो सके उतना उसका कार्य हल्का करने की कोशिश करो।

इसी प्रकार लड़कियों की शिक्षा के संबंध में हमें यह खयाल रखना चाहिए कि

वे भविष्य में माताएँ बनेंगी और उन्हें अवकाश नहीं मिलेगा, अत: उनके स्कूल ऐसे होने चाहिए, जहाँ वे पहले से इसके लिए शक्ति तथा ज्ञान अर्जित कर सकें।

भयंकर बुराई

यह सच है कि स्त्रियों और उनके कार्यों के बारे में हमारे समाज में बहुत-सी हानिकारक तथा बुरी धारणाएँ प्रचलित हो गई हैं और हमें उनके खिलाफ अपनी आवाज उठानी चाहिए। परंतु मेरी समझ में जो समाज स्त्रियों के लिए पुस्तकालय और संस्थाएँ खोलता है, वह इसके लिए झगड़ न सकेगा।

स्त्रियों को कम वेतन मिलता है, पुरुषों को अधिक, इससे मुझे गुस्सा नहीं आता, क्योंकि मजूरी काम पर दी जाती है। पर मुझे गुस्सा इस पर आता है कि स्त्री बच्चे को कोख में रखती है, उसे दूध पिलाकर उसका पोषण करती है और ऊपर से खाना पकाने का बोझ भी उसके सिर पर डाल दिया जाता है—वह चूल्हे में तपे, बर्तन मले; कपड़े धोए, घर की झाड़ू-बुहारू करे और फिर सीए-पिरोए। इतने कामों का बोझ केवल स्त्री पर ही क्यों डाल दिया जाता है। एक किसान, मजदूर या सरकारी मुलाजिम खुद तो बैठकर मजे से धूम्रपान करता है और घर का सारा काम स्त्री पर छोड़ देता है। भले ही वह गर्भवती हो या बीमार हो, पर उसे ही चूल्हे के सामने तपना पड़ता है, कपड़े धोने पड़ते हैं और रात भर बच्चे को रखना पड़ता है। यह सब उसे समाज में प्रचलित इस कुधारणा के फलस्वरूप करना पड़ता है कि ये स्त्रियों के काम हैं।

यह भयंकर बुराई है। इससे असहाय स्त्रियों में नाना रोग उत्पन्न होते हैं, उनकी तथा बच्चों की बुद्धि कुंठित हो जाती है और वे असमय में बूढ़ी हो जाती हैं तथा मर जाती हैं।

एक ही उपाय

स्त्रियाँ सदा से पुरुषों का अधिकार मानती आई हैं। गैर-ईसाई देशों में ऐसा ही था। पुरुष शक्तिशाली होने के कारण शासन करते थे। सारे संसार में यही होता आया है और आज भी हजार पीछे नौ सौ निन्यानवे पुरुष ऐसा ही करते हैं। ईसाई धर्म का उदय हुआ और उसने मनुष्य की पूर्णता पशुबल में नहीं, प्रेम में मानी। इस प्रकार उसने तमाम गुलामों और स्त्रियों को स्वाधीन बनाया। परंतु गुलामों और स्त्रियों की स्वाधीनता विपत्ति न बने, इसके लिए आवश्यक है कि वे ईसाई धर्म अंगीकार कर लें, अर्थात् अपना जीवन ईश्वर तथा मनुष्य जाति की सेवा के लिए अर्पित कर दें। पर गुलाम और स्त्रियाँ स्वाधीन तो हो गई हैं; पर उन्होंने ईसाई धर्म अंगीकार नहीं किया

है। इसीलिए वे संसार के लिए भयानक बनी हुई हैं, वे संसार की सारी विपत्तियों की जड़ हैं। तब क्या किया जाए? क्या उन्हें फिर गुलाम बना दिया जाए? पर यह असंभव है, क्योंकि ऐसा कोई करेगा नहीं। ईसाई दूसरे को गुलाम नहीं बना सकते और गैर-ईसाई गुलामी को कबूल नहीं करेंगे, वे लड़ेंगे। सच तो यह है कि वे आपस में लड़ रहे हैं और ईसाइयों को अपना गुलाम बना रहे हैं। तब क्या किया जाए? केवल एक-ही उपाय है—उन्हें ईसाई धर्म की ओर खींचा जाए, उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित किया जाए। और ऐसा अपना जीवन ईसा के बताए मार्ग पर ढालकर किया जा सकता है।

अध:पतन की ओर

जो स्त्रियाँ पुरुषों का काम और पुरुषों के समान स्वाधीनता माँगती हैं, वे नहीं जानतीं कि वे अज्ञात रूप से स्वेच्छाचारिता की माँग कर रही हैं, और फलत: वे परिवार के दायरे को तोड़कर अध:पतन की ओर जा रही हैं, जबकि वे समझती हैं कि वे उन्नति कर रही हैं।

उलटी सीख

मैं अन्य बातों के साथ स्त्रियों और विवाह के संबंध में बहुत कुछ सोचता रहा हूँ और अपने विचार प्रकट कर देना चाहता हूँ। निश्चय ही मैं छोटी-छोटी बातों (महिला विद्यापीठ आदि) के बारे में नहीं, बल्कि स्त्रियों के महत्कार्य के बारे में सोचता रहा हूँ। इस संबंध में बहुत-सी उलटी सीखें शिक्षित महिला-समाज में दी जा रही हैं। उदाहरण के लिए यह उपदेश दिया जा रहा है कि स्त्रियों को अपने बच्चों को दूसरे बच्चों से अधिक प्यार न करना चाहिए। स्त्रियों के विकास, पुरुषों से स्त्रियों की समानता आदि के संबंध में बहुत-सी गोलमाल और भ्रमपूर्ण बातें प्रचारित की जाती हैं, पर यह उपदेश सर्वत्र दिया जाता है कि स्त्रियों को अपने बच्चों को दूसरे के बच्चों से अधिक प्यार न करना चाहिए। यह इन सब उपदेशों का सार कहा जा सकता है। पर यह उपदेश बिल्कुल गलत है।

स्त्री-पुरुष के कर्तव्य

प्रत्येक-स्त्री-पुरुष का कार्य मानव-जाति की सेवा है। मैं समझता हूँ कि सभी नीतिवान पुरुष इस कथन से सहमत होंगे। इस कार्य को पूरा करने के स्त्रियों और पुरुषों के साधन अलग-अलग हैं। पुरुष अपने शारीरिक, मानसिक तथा नीति-सम्मत कार्यों से सेवा करता है। वह विविध रूपों से सेवा करता है। बच्चे पैदा करने

और उन्हें पालने के काम को छोड़कर, अन्य सभी कामों को वह अपनी सेवा का क्षेत्र बना सकता है। स्त्री भी सब क्षेत्रों में सेवा कर सकती है, पर उसके शरीर की बनावट ने एक सेवा-कार्य विशेष रीति से उसके लिए नियत कर दिया है, जो पुरुष नहीं कर सकता। मनुष्य जाति की सेवा दो प्रकार से की जा सकती है—एक तो मनुष्यों की अधिक-से-अधिक भलाई करना, दूसरे मनुष्य-जाति को कायम रखना[1]। पहला कार्य विशेषकर पुरुषों के जिम्मे है, क्योंकि वे दूसरा कार्य नहीं कर सकते। स्त्रियों के लिए विशेष रीति से दूसरा कार्य है, क्योंकि इसे वे ही कर सकती हैं। यह भेदभाव भुलाया नहीं जा सका और न भुलाना चाहिए, इसे मिटाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, जैसा कि कुछ लोग करते हैं (यह पाप है अर्थात् गलत है)। इस भेदभाव से स्त्रियों और पुरुषों के अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित होते हैं, ये स्वाभाविक हैं, पुरुषों के बनाए कृत्रिम नहीं हैं। इस भेद-भाव से स्त्रियों और पुरुषों के गुण-दोषों की कसौटी निर्धारित होती है—यह कसौटी युगों से चली आई है और आज भी कायम है और (जब तक मनुष्य विवेकशील प्राणी बना रहेगा) कायम रहेगी।

जो पुरुष अपना जीवन विविध पुरुषोचित कार्यों को करने में बिताते हैं और जो स्त्रियाँ अपना जीवन बच्चे पैदा करने और उनका पालन-पोषण करने में बिताती हैं, वे सदा अनुभव करेंगे कि उन्होंने अपना जीवन पुण्य कार्यों में बिताया, और मनुष्य-समाज सदा उन्हें आदर की दृष्टि से देखेगा क्योंकि उन्होंने अपने कर्तव्यों का पालन किया। पुरुषों का कार्य बहुमुखी और विस्तृत है, स्त्रियों का कार्य सीमित, पर गंभीर है। इसलिए पुरुष एक, दस अथवा सौ कामों में गलती भी करे, तो वह बुरा नहीं माना जाता, क्योंकि उसने अन्य हजार काम ठीक किए। पर स्त्रियों के इने-गिने कार्य हैं, इसलिए यदि वह इनमें से एक कार्य भी नहीं करती, तो वह बुरी मानी जाती है। लोकमत सदा से ऐसा ही रहा है और रहेगा, क्योंकि यह एक तात्त्विक प्रश्न है। पुरुष को शरीर तथा बुद्धि से ईश्वर की सेवा करनी चाहिए, वह अनेक क्षेत्रों से अपने कर्तव्य की पूर्ति कर सकता है। परंतु स्त्री के लिए ईश्वर-सेवा का एकमात्र साधन

---

1. *यहाँ पर यह संकेत कर देना आवश्यक है कि यह टॉल्सटॉय के 'क्रूज़र सोनाटा का परिशिष्ट' लिखने से पहले का लिखा हुआ है। 'क्रूज़र सोनाटा का परिशिष्ट' लिखने के समय टॉल्सटॉय के विचार और परिपक्व हो गए थे और वे पूर्ण ब्रह्मचर्य को मानव-जीवन का आदर्श मानने लगे थे और मानव-जाति को कायम रखना जरूरी कार्य नहीं मानते थे। आगे भी कुछ ऐसे अवतरण हैं, जिनमें पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श से मेल न खानेवाले विचार आए हैं। इन्हें पढ़ते समय पाठक ध्यान में रखें कि यह टॉल्सटॉय के पहले विचार हैं। —अनु०*

बच्चों का लालन-पालन है (क्योंकि और कोई यह सेवा-कार्य नहीं कर सकता)।

पुरुष को अपने कार्यों से ईश्वर और मनुष्य जाति की सेवा करने का आदेश दिया गया है, पर स्त्री को बच्चों द्वारा ही सेवा करने के लिए आदेश दिया है। इसलिए स्त्रियों को अपने बच्चों को विशेष रीति से प्यार करना सर्वथा स्वाभाविक है। इसके खिलाफ़ जो दलीलें दी जाती हैं, वे व्यर्थ की हैं। माता सदा अपने बच्चों को विशेष रीति से प्यार करेगी। माता का अपने बच्चों को शैशवावस्था से प्यार करना अहंवृत्ति का द्योतक नहीं है, जैसी कि उलटी सीख लोग देते हैं, यह प्यार वैसा ही है, जैसे कोई कारीगर अपने हाथ से बनाए कार्य को प्यार करता है। यदि यह प्यार निकाल दिया जाए, तो फिर उसके लिए काम करना असंभव हो जाएगा।

यदि मैं कोई जूता बना रहा हूँ तो मैं उसे उसी प्रकार प्यार करूँगा जिस प्रकार कोई माता अपने बच्चे को प्यार करती है। यदि कोई उस जूते को नुकसान पहुँचाए तो मुझे क्लेश होगा। मेरा यह विशेष प्रेम तभी तक रहेगा, जब तक मैं उस कार्य को करता रहूँगा। जब मैं अपना कार्य पूरा कर लूँगा तो उसके प्रति मेरा मोह बना रहेगा—एक क्षीण ममता। यही बात किसी माता के संबंध में भी चरितार्थ होती है।

पुरुष को विविध कार्यों से मनुष्य जाति की सेवा करने का आदेश दिया गया है और वह अपने इन कार्यों से प्रेम करता है। स्त्री को अपने बच्चों की सेवा करने का आदेश दिया गया है और वे बच्चे जब तक तीन अथवा सात अथवा दस वर्ष के न हो जाएँ, तब तक उनका पालन-पोषण करते हुए उसका उनसे प्रेम करना सर्वथा स्वाभाविक है।

मेरी समझ में इस तरह स्त्रियों और पुरुषों की पूर्ण रूप से समानता सिद्ध होती है, क्योंकि दोनों समान रूप से ईश्वर तथा मनुष्य-जाति की सेवा करते हैं, यद्यपि उनके कार्यक्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। दोनों की समानता इस बात से भी सिद्ध है कि दोनों का योग समान रूप से महत्त्वपूर्ण है, एक की दूसरे के बिना कल्पना नहीं की जा सकती, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, तथा दोनों को अपने-अपने कार्य संपन्न करने के लिए सत्य को जानना जरूरी होता है और उसे जाने बिना कार्य मानव जाति के लिए लाभदायी होने के बजाय हानिकारक हो जाते हैं।

पुरुष को विविध कार्य करने का आदेश दिया गया है, पर उसका शारीरिक-श्रम (अन्न उत्पन्न करना अथवा तोपें बनाना), उसका मानसिक-कार्य (मनुष्यों की भलाई करना अथवा रुपए गिनना) तथा उसका धार्मिक कार्य (मनुष्यों में एकता स्थापित करना) तभी लाभदायी होता है जब वह अनुभूत सत्य के आधार पर किया जाता है।

यही बात स्त्रियों पर भी चरितार्थ होती है। उनका बच्चे पैदा करना तथा उनका पालन-पोषण करना मनुष्य जाति के लिए तभी लाभदायी होगा जब वह अपने सुख के लिए बच्चों का पालन-पोषण नहीं करेगी, बल्कि वह उन्हें मानव-जाति का भावी-सेवक बनाएगी, जब वह उन्हें सत्य की शिक्षा देगी, अर्थात् उन्हें यह सिखाएगी कि वे मनुष्य से कम-से-कम लें और उसे अधिक-से-अधिक दें। मैं उस स्त्री को आदर्श स्त्री कहूँगा जो जीवन सिद्धांतों को अच्छी तरह समझ लेने के बाद अधिक-से-अधिक संख्या में बच्चे पैदा कर तथा पाल-पोसकर उन्हें मानव-जाति की सच्ची सेवा कर सकने के योग्य बना देने की शिक्षा देती है। जीवन-सिद्धांतों की शिक्षा महिला विद्यापीठों में अथवा आँख-कान बंद रखने से नहीं मिलती, वह हृदय का द्वार मुक्त-रूप से खोल देने पर प्राप्त होती है।

अच्छा, जो नि:संतान हैं या अविवाहित है या विधवा हो गई हैं, वे क्या करे? उन्हें चाहिए कि वे पुरुष के विविध कार्यों में हाथ बँटाएँ। प्रत्येक स्त्री को बच्चे पैदा करने के कर्तव्य को पूरा कर लेने के बाद, शक्ति रहने पर अपने पति के कार्यों में हाथ बँटाना चाहिए और इस प्रकार की सहायता बड़ी मूल्यवान होती है।

हानिकारक फैशन

स्त्रियों की अति प्रशंसा करना तथा यह कहना कि वे बुद्धि में न केवल पुरुषों के समान, बल्कि उनसे बढ़ी-चढ़ी होती हैं, एक बुरा तथा हानिकारक फैशन है।

इसमें संदेह नहीं कि स्त्रियों के अधिकारों पर प्रतिबंध नहीं लगने चाहिए, उनका आदर और प्रेम भी पुरुषों के समान करना चाहिए तथा उनके अधिकार पुरुषों के समान होने चाहिए। परंतु यह कहना कि साधारण स्त्रियों में भी पुरुषों के समान आध्यात्मिक शक्ति होती है, स्त्रियों से भी उतनी-ही आशा करना, जितनी आशा पुरुषों से की जाती है, अपने को जान-बूझकर धोखा देना होगा, स्त्रियों को हानि पहुँचाना होगा।... इन असंभव बातों की आशा करके आप उनसे वे ही बातें चाहेंगे और उनके न मिलने पर आप उनसे चिढ़ेंगे और उन्हें व्यर्थ दोष देंगे।

इसलिए स्त्री का आध्यात्मिक दृष्टि से कमजोर स्वीकार करना उसके प्रति निर्दयता नहीं है, उस पर समता का आरोप करना निर्दयता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से कमजोर होने से मेरा आशय है कि वह अपने शरीर को अपनी आत्मा के अधीन उतनी मात्रा में नहीं रख पाती, वह बुद्धि में उतनी अधिक श्रद्धा रखती है जो स्त्रियों का स्वभाव है।

पारिवारिक जीवन

पारिवारिक जीवन तभी अच्छा हो सकता है, जब स्त्रियों को यह विश्वास दिला दिया जाए कि उन्हें सदा पति का अनुकरण करना चाहिए। मैंने लिखा है कि यह क्रम सृष्टि के आरंभ-काल से चला आया है और बच्चों के साथ पारिवारिक जीवन की जर्जर नौका पर तभी भवसागर को पार किया जा सकता है जब पतवार एक व्यक्ति के हाथ में हो और वह व्यक्ति पुरुष ही हो सकता है, क्योंकि उसे बच्चे पैदा करना और उन्हें पालना-पोसना नहीं पड़ता और वह अपनी स्त्री की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति से पतवार खे सकता है।

'पर क्या स्त्रियाँ सदा पुरुषों से नीची होती हैं?' नहीं। अविवाहित अवस्था में वे समान होती हैं। 'पर इसके क्या मानी कि स्त्रियाँ आजकल केवल समानता ही नहीं, श्रेष्ठता का भी दावा करती हैं?' इसके मानी यह हैं कि पारिवारिक जीवन में विकास हो रहा है और इसलिए पुरानी प्रथाएँ छिन्न-भिन्न हो रही हैं। स्त्री-पुरुषों के संबंधों को नए रूप देने की आवश्यकता है, पुराना रूप नष्ट हो रहा है।

नया रूप क्या होगा, कोई कह नहीं सकता, यद्यपि उसकी भिन्न-भिन्न रूपरेखा बनाई जा रही हैं। संभव है, भविष्य में अधिक संख्या में लोग ब्रह्मचर्य पालन करें, संभव है, अस्थायी विवाह प्रचलित हो जाए जो बच्चे पैदा हो जाने के बाद टूट जाए और स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य पालन के लिए अलग-अलग रहने लगें। संभव है, बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था समाज करने लगे। नए रूप क्या होंगे, कल्पना नहीं की जा सकती, पर यह निश्चित है कि नए रूप विकसित हो रहे हैं। पुराने रूप तभी कायम रह सकते हैं, जब स्त्रियाँ पुरुषों का अनुकरण करने लगें, जैसा कि सब जगह सदा से होता आया है और आज भी जहाँ सच्चा गृहस्थ-सुख वर्तमान है, ऐसा ही होता है।

शुद्ध-प्रेम पर उपन्यास

कल मैं सेयनकीविज की 'विदाउट डागमा' (रूढ़िरहित विचार) पुस्तक पढ़ रहा था। उसमें स्त्री के प्रति प्रेम का बड़ा सूक्ष्म चित्रण है, वह फ्रांसीसियों के वैषयिकतापूर्ण, अंग्रेजों के पाखंडपूर्ण अथवा जर्मनों के दंभपूर्ण चित्रण से कहीं अधिक सुंदर है। उसे पढ़कर मेरे मन में विचार उठा—क्या अच्छा हो कि पवित्र प्रेम का चित्रण करनेवाला एक उपन्यास लिखा जाए...ऐसा प्रेम जो वैषयिकता में नहीं उतर जाता, बल्कि वैषयिकता के विरुद्ध रक्षाकवच का काम देता है। क्या वैषयिकता से बचने का एकमात्र यही उपाय है? हाँ, यही उपाय है। इसी के लिए स्त्री और पुरुष की

उत्पत्ति हुई है। पुरुष स्त्री के निकट जाने पर ही अपना ब्रह्मचर्य खंडित करता है और उसी के साथ रहकर अपना ब्रह्मचर्य अखंड रख सकता है। जरूर इसे लिखना चाहिए।

मनुष्य और पशु

मनुष्य पशु होने के नाते जीवन-संघर्ष के नियम तथा वंश-रक्षा के हेतु विषय-संस्कार के आगे झुकता है। पर एक विवेकशील प्राणी होने के नाते वह इसके विपरीत नियम पर चलता है, वह प्रतिद्वंद्वी तथा शत्रु से संघर्ष नहीं करता, बल्कि उसके प्रति विनम्रता, क्षुद्रता तथा प्रेम प्रकट करता है, वह विषय-संस्कारों के वश नहीं होता, बल्कि संयम पालन करता है।

मनुष्य-जाति का एक प्रधान कर्तव्य ब्रह्मचारिणी स्त्रियाँ तैयार करना है।

शैतान की ख़ाला

कथाओं में वर्णित है कि स्त्रियाँ शैतान की ख़ाला होती हैं। सामान्य रूप से उनमें बुद्धि नहीं होती, पर जब शैतान के वश होती हैं तो शैतान उन्हें अपनी बुद्धि दे देता है। तब वे नीच कार्यों को करने में कमाल की बुद्धि, दूरंदेशी तथा दृढ़ता दिखाती हैं। पर जब कोई नीच कार्य नहीं करना होता, तो सीधी बात भी उनको समझ में नहीं आती, वे अपनी नाक से आगे नहीं देख पातीं, उनमें जरा भी धीरता या दृढ़ता नहीं रहती (केवल बच्चे पैदा करने तथा उनका पालन-पोषण करने के कार्य को छोड़कर)।

पर यह सब गैर-ईसाई स्त्रियों के लिए, कुलटाओं के लिए, कहा गया है। स्त्रियों को स्त्री-धर्म का गौरव समझाने की कितनी आवश्यकता है? मेरी की कथा निराधार नहीं है।

प्रत्येक लड़की से

स्त्री-धर्म सर्वश्रेष्ठ मानव-धर्म है जिसके बारे में मैं लिख चुका हूँ। गृहस्थ-जीवन की ब्रह्मचर्य-जीवन से तुलना करना, ग्राम्य-जीवन की नागरिक-जीवन से तुलना करने के समान है। खाली गृहस्थ-जीवन अथवा ब्रह्मचर्य-जीवन का मनुष्य के चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ब्रह्मचर्य-जीवन पवित्र भी हो सकता है और पापमय भी, इसी प्रकार गृहस्थ-जीवन भी पापमय हो सकता है और पवित्र भी।

प्रत्येक लड़की को और विशेष करके तुझे, क्योंकि तू आध्यात्मिकता की ओर बढ़ रही है, मैं सलाह दूँगा कि समाज में जो भी चीजें विवाह की आवश्यकता तथा उपादेयता बताती हैं, उनसे घृणा कर। इस प्रकार के उपन्यास, संगीत, फिजूल की गपशप, नाच, खेल-कूद, ताश, यहाँ तक कि तड़क-भड़क की पोशाक से भी दूर रह। शाम को बातूनी लोगों के साथ बैठकर ताश खेलने से अपनी कमीज़ सीना अधिक आनंदप्रद होता है (और अपनी आत्मा के लिए कितना कल्याणकर होता है)। समाज में प्रचलित यह विचार कि किसी युवती के लिए अविवाहित रहना, कुमारी रहना बड़ा, अपमानजनक है, नितांत मिथ्या है, सत्य से कोसों दूर है। ब्रह्मचारिणी रहकर मनुष्य जाति की सेवा करना, दीन-दुखियों की सहायता करना, किसी विवाहित-जीवन से कहीं अधिक श्रेयस्कर है। मैथ्यू के प्रवचन के अध्याय 19 में लिखा है—'सब मनुष्य यह शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते, इसे वे ही कर सकते हैं जिन्हें यह दी गई है।' सब युगों में संसार के सभी स्त्री-पुरुषों ने इस प्रश्न को इसी दृष्टि से देखा है और उन्होंने सदा ईश्वर-सेवा के निमित्त ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले स्त्री-पुरुषों का सदा बड़ा आदर किया है। हमारा समाज ऐसे स्त्री-पुरुषों पर हँसता है। पर वह तो, जो लोग ईश्वर-सेवा के निमित्त दरिद्रता का वरण कर लेते हैं, जो लोग धन के पीछे दीवाने नहीं होते, उन पर भी हँसता है। मैं प्रत्येक लड़की को, और तुझे भी, सलाह दूँगा कि अपना आदर्श ईश्वर की सच्ची सेवा बना, अर्थात् अपने भीतर आध्यात्मिकता की चिनगारी प्रज्वलित रख और यदि विवाह ईश्वर-सेवा में बाधक मालूम पड़े तो ब्रह्मचारिणी रह। यदि तू कभी किसी पुरुष के प्रेम में पड़कर विवाह कर ले, तो पत्नी तथा माता बनने पर प्रसन्न मत हो, गर्व मत कर, बल्कि जीवन के अपने मुख्य ध्येय-ईश्वर सेवा को सामने रख और यह कोशिश कर कि परिवार के प्रति तेरा विशिष्ट प्रेम ईश्वर-सेवा में बाधक न बने।

नवयुवकों को सीख

...तुम्हारी उम्र तथा परिस्थिति के सभी युवकों के लिए बड़ा खतरा होता है। जिस अवस्था में तुम्हारी आदतें बनती हैं, जो बाद में वज्रलेप के समान हो जाती हैं, उस अवस्था में तुम्हारे ऊपर कोई नैतिक या धार्मिक नियंत्रण नहीं रहता। उस समय तो तुम्हें बस खाली सबक घुटाया जाता है, जिससे तुम येन-केन-प्रकारेण भागने की कोशिश करते हो। तुम्हारे चारों ओर प्रलोभनों का बाजार लगा रहता है और उसके रास्ते तुम्हारे लिए खुले होते हैं। तुम्हें यह परिस्थिति बिल्कुल स्वाभाविक लगती है, और क्यों न लगे? तुम्हारा इसमें जरा भी दोष नहीं कि

तुम्हें यह परिस्थिति स्वाभाविक लगती है, क्योंकि तुम और तुम्हारे अन्य साथी इस परिस्थिति में बड़े हुए हैं। फिर भी यह परिस्थिति बड़ी अस्वाभाविक और खतरनाक होती है। खतरनाक इसलिए होती है कि यदि नवयुवक इच्छाओं की तृप्ति अपने जीवन का ध्येय बना लेते हैं, तो आगे उन्हें बड़े दु:ख उठाने पड़ते हैं। अच्छा खाने-पीने, पहनने आदि से जो आदतें बन जाती हैं, वे दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती हैं और नई-नई इच्छाओं को तृप्त करने के लिए नए-नए साधन खोजने पड़ते हैं, क्योंकि पुरानी इच्छाओं को तृप्त करने में थोड़े दिनों के बाद कोई आनंद नहीं मिलता।

सब इच्छाओं में विषयेच्छा सबसे दु:खदायी होता है। यह प्रणय-व्यापार, हस्तमैथुन और शीघ्र-ही स्त्री-संभोग की ओर ले जाती है। स्त्री-सुख का अनुभव कर लेने के बाद मनुष्य मद्यपान, धूम्रपान, उत्तेजक संगीत आदि कृत्रिम उपायों से आनंदोपभोग में वृद्धि करने का प्रयत्न करता है।

क्या गरीब, क्या अमीर, सभी युवक सामान्य रूप से (कुछ को छोड़कर) इसी पथ पर चलते हैं। यदि वे समय रहते सँभल गए, तो चुटैले होकर पवित्र जीवन की ओर बढ़ते हैं, पर यदि न सँभलें, तो बरबाद हो जाते हैं। मैं अपनी आँखों से सैकड़ों युवकों को बरबाद होते देख चुका हूँ।

तुम्हारे लिए छुटकारा पाने का एक उपाय है—जरा ठहरकर अपने जीवन पर विचार करो, अपने चारों ओर गौर से देखो और एक आदर्श नियत कर लो (अर्थात्, यह निश्चय कर लो कि तुम क्या होना चाहते हो), और उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करो।

प्रणय-पिपासा और विवाह

मेरा सदा से यह विचार रहा है कि किसी व्यक्ति के आचार-नीति के विषय में गंभीर होने का सबसे बढ़िया प्रमाण यह है कि वह कहाँ तक संयम पालन में दृढ़ है।

'एन' जिस जाल में फँस गया, वह एक सत्य और शील स्वभाववाले मनुष्य के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। उसने आपस में कायम हो गए संबंध को छिपाना नहीं चाहा, बल्कि उन्हें स्वीकार करके एक आध्यात्मिक रूप दे दिया।

मैं उसका विचार भलीभाँति समझता हूँ, प्रेम में पड़ने से जो मानसिक उथल-पुथल पैदा होती है, उसका उपयोग ईश्वर की सेवा में किया जाए। ऐसा संभव है। मैं समझता हूँ कि जो लोग ऐसी स्थिति में पड़ जाते हैं, वे अपनी शक्ति इस दिशा में लगाकर उसे बढ़ा सकते हैं, तथा असीम लाभ उठा सकते हैं। मैं स्वयं ऐसे कई

उदाहरणों को जानता हूँ। पर इस मामले में एक खतरा देखता हूँ, यदि व्यक्तिगत भावना खत्म हो गई (जो बहुत संभव है) तो शायद न केवल सारी स्फूर्ति गायब हो जाए, बल्कि शायद ईश्वर-सेवा के कार्यों में सारी दिलचस्पी भी जाती रहे। मैं ऐसे कई उदाहरण देख चुका हूँ। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर की सेवा बाहरी अवस्थाओं पर निर्भर नहीं करनी चाहिए, वह अपनी आत्म-प्रेरणा से करनी चाहिए, उसकी आवश्यकता स्वयं सिद्ध होनी चाहिए, वह स्वयं आनंद देनेवाली होनी चाहिए। इसी प्रकार प्रशंसा करके ईश्वर की सेवा के लिए अधिक स्फूर्ति प्रदान की जा सकती है, पर यहाँ वही खतरा है, कहीं प्रशंसा न मिलने पर ईश्वर-सेवा के प्रति उदासीनता न आ जाए।

यह सब हमने स्वयं अनुभव किया है और हमने लिखा भी है। मैंने पिछले पत्र में 'एन' से अपने सहमत होने की जो बात लिखी थी, उसमें मैं एक बात और जोड़ देना चाहता हूँ। मैंने लिखा था कि यदि स्त्री और पुरुष ईश्वर तथा मनुष्यजाति की सेवा करने के उद्देश्य से विवाह करें, तो वह शुभ होता है। वह शुभ इसलिए नहीं होता कि वैवाहिक संबंध से सेवा की शक्ति बढ़ जाती है, बल्कि शुभ इसलिए होता है कि कुछ लोग प्रणय के लिए विकल रहते हैं और विवाह होने से वह विकलता दूर हो जाती है, जो संपूर्ण शक्ति को सेवा-कार्य में लगा देने में बाधा डालती रहती है। इसलिए यद्यपि पूर्ण ब्रह्मचर्य सेवा-कार्य में सबसे अधिक सहायक होता है, पर कुछ लोगों के लिए विवाह, उनकी विकलता शांत करके, उनकी सेवा-शक्ति बढ़ाता है, लेकिन इस संबंध में मैं एक महत्त्वपूर्ण बात और कह देना चाहता हूँ। वह यह कि पुरुषों को यह समझ लेना चाहिए कि विवाह से पूर्व तथा बाद में जो प्रेम-पिपासा अथवा प्रणय-लालसा और उसके साथ मानसिक उथल-पुथल पैदा होती है, वह आनंदोपभोग या कलात्मक सृष्टि के लिए (जैसा बहुत लोग सोचते हैं) या ईश्वर-सेवा की शक्ति बढ़ाने के लिए (जैसा 'एन' का खयाल है) नहीं, बल्कि वह संतानोत्पत्ति करके काम-विकार से मुक्ति पाने के लिए शारीरिक सम्मिलन के उद्देश्य से पैदा होती है। इस लालसा को किसी और दिशा में लगाने से जीवन-पथ सरल नहीं होगा, बल्कि कठिनाइयाँ और अधिक बढ़ जाएँगी।

इसलिए मैं तुमसे इस बात में पूरी तरह सहमत हूँ कि यह बहुत खतरनाक जाल है और इससे बहुत अधिक सावधान रहना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं—'जिस प्रकार पुरुषों से मैत्री रखी जाती है, उसी प्रकार स्त्रियों से मैत्री क्यों नहीं रखी जा सकती?' मैत्री रखी तो जा सकती है, और यह अच्छा है, पर 'एन' जैसे सत्य और

शील स्वभाववाले व्यक्ति का कहना है कि स्त्रियों से संबंध कुछ विचित्र होता है। यदि कोई पुरुष अपने को धोखा नहीं दे रहा है, तो उसकी दृष्टि में तत्काल यह बात आ जाएगी कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों से संबंध सरलता से जुड़ जाता है और उसे बढ़ाने में प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। इसका कारण होना चाहिए, और एक नीतिवान् पुरुष की दृष्टि में जैसे ही यह बात आएगी, वह समझ जाएगा कि यह घनिष्ठता बढ़ते-बढ़ते विवाह अथवा विशिष्ट प्रेम की ओर ले जाएगी और यदि वह पतन की ओर बढ़ना नहीं चाहता तो तत्काल अपने को इस ढलुआ रास्ते पर बढ़ने से रोक लेगा।

संतति-निरोध

संतति-निरोध विषयक पुस्तिका मैंने देख ली है।

इस पर मैं क्या लिखूँ और कहूँ? यदि कोई कहे कि शव से संभोग करना आनंददायक और हानिकारक होता है, उसकी दलीलों का क्या खंडन किया जाए? ऐसे आदमी को समझाना और उसकी गलती दिखाना असंभव है जो यह अनुभव नहीं करता कि विषय-भोग, स्त्री और पुरुष दोनों के लिए पातक और घृणित होता है, अरे, पशुओं में हाथी[1] तक यह अनुभव करते हैं। विषय-भोग तभी क्षम्य होता है जब उसका उद्देश्य संतानोत्पत्ति हो। इसी के लिए घृणित और पातकी प्रवृत्ति मनुष्य की प्रकृति में उपजाई गई है।

मैं माल्थूज़ियन सिद्धांत[2] पर विचार नहीं करूँगा, क्योंकि वह एक धोखाधड़ी है, वह एक नैतिक-प्रश्न पर यथार्थवादी दृष्टिकोण (सो भी गलत दृष्टिकोण) से विचार करता है। न मैं यह उल्लेख करूँगा कि हत्या, कृत्रिम-गर्भपात तथा संतति-निरोध में कोई अंतर नहीं है।

मुझे क्षमा करना—इस विषय को गंभीरता से लेते हुए लज्जा और घृणा होती है। हमें तो इनकी निंदा नहीं करनी चाहिए कि समाज कहाँ तक पातक की ओर चला गया है, मनुष्य की नीतिशीलता किस हद तक मूर्छित हो गई है कि वह इन

1. *कहा जाता है कि हाथी बहुत कम मैथुन करता है। हाथियों को बंदी बनाने पर उनका जोड़ा लगाना बहुत कठिन हो जाता है, क्योंकि वे दूसरों के सामने मैथुन करने में बड़ा संकोच करते हैं।*
2. *मालथस 18वीं शताब्दी के प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि जनसंख्या की वृद्धि भोजन तथा वस्त्र की सुविधाओं पर निर्भर करती है, और इन सुविधाओं को छीन लेने अथवा महामारी, युद्ध, प्लेग आदि से जनसंख्या की वृद्धि रुकती है।*

कृत्रिम उपायों का अवलंबन करता है। इस विषय पर वाद-विवाद में पड़ने का समय अब नहीं, हमें तत्काल इन बुराइयों को दूर करने में जुट जाना चाहिए। एक अपढ़, शराबखोर रूसी किसान भी, जो अनेक अंध-विश्वासों का शिकार रहता है, इन उपायों से घृणा करेगा। वह विषय-भोग को हमेशा एक पाप मानता है। जो लोग इस प्रकार के जंगलीपन का समर्थन करने के लिए सिद्धांतों को घसीटते हैं, उनसे तो वह अपढ़ रूसी किसान बहुत ऊँचा है।

सबसे बड़ा पाप

ऐसा कोई अपराध नहीं, जिसे मनुष्य इतना अधिक छिपाने की कोशिश करता हो, जितना कि वह अपनी विषय-लोलुपता संबंधी अपराध को छिपाने की कोशिश करता है। ऐसा कोई अपराध नहीं, जो इतना व्यापक और भयानक हो, सभी मनुष्य जिसके दोषी हों। ऐसा कोई अपराध नहीं, जिसके संबंध में मनुष्यों के इतने परस्पर विरोधी विचार हों, कुछ तो उसे घृणित पाप समझें और कुछ साधारण सुख-भोग समझें। ऐसा कोई पाप नहीं, जिसके संबंध में इतनी मक्कारी प्रकट की गई हो। ऐसा कोई अपराध नहीं, जिससे संबंध लगाकर आसानी से पता लगाया जा सके कि मनुष्य कितना नीतिवान है। ऐसा कोई पाप नहीं, जो व्यक्ति और समाज की प्रगति के लिए इतना अधिक विनाशकारी हो।

जाकी जैसी भावना

जो सत्य की शोध में है, उसके लिए वे विचार बिल्कुल सरल और स्पष्ट हैं। जो सत्य की शोध के लिए नहीं, बल्कि अपने पाप और अनीतिपूर्ण जीवन को उचित ठहराने की गरज से दलील करना चाहता है, उसे वे विचार विचित्र, अद्भुत तथा अनुचित तक प्रतीत होंगे।

अगाध विषय

इस पुस्तक का अंत नहीं हो सकता। अब भी मैं बराबर इस समस्या पर विचार किया करता हूँ, मैं बराबर अनुभव किया करता हूँ कि अभी बहुत-सी बातें स्पष्ट करनी हैं। बहुत-सी बातें जोड़नी हैं। यह विषय इतना विशाल, महत्त्वपूर्ण तथा नया है और इसके मुकाबिले में मेरी शक्ति सच, इतनी कम तथा अयथेष्ट है कि ऐसा सर्वथा स्वाभाविक है।

इसलिए मेरे विचार में जिन लोगों को इस विषय में दिलचस्पी हो, उन्हें लिखना चाहिए। उन्हें अपनी शक्ति के अनुसार इस विषय की शोध करनी चाहिए

तथा इसका स्पष्टीकरण करना चाहिए। यदि सब लोग इस विषय पर अपने हृदय के सच्चे उद्गार और विचार लिखें, तो बहुत-सी अस्पष्ट बातें स्पष्ट हो जाएँगी, बहुत-सी छिपी हुई बातें प्रकाश में आ जाएँगी, बहुत-सी विचित्र लगनेवाली बातें अपनी विचित्रता खो बैठेंगी, और अनीतिपूर्ण ढंग से रहने के कारण जो बहुत-सी बातें सही लगती हैं, वे गलत लगने लगेंगी। मुझे कई सुविधाएँ थीं, जिससे मैं समाज का ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट कर सका। अब अन्य लोगों को इस विषय पर विविध पहलुओं से विचार करना चाहिए।

कुछ और विचार[1]

प्रेम

प्रेम दो प्रकार का होता है—शारीरिक और आध्यात्मिक। शारीरिक प्रेम संवेदना, काल्पनिक सुख से उत्पन्न होता है। इसके विपरीत आध्यात्मिक प्रेम अपने भीतर की पापवृत्तियों से युद्ध करने से—हमें घृणा नहीं प्रेम करना चाहिए—इस आत्म-बोध से उत्पन्न होता है। वह सदा शत्रुओं की तरफ दौड़ता है। यह प्रेम अत्यंत मूल्यवान् और सर्वश्रेष्ठ वस्तु है।

स्वाभाविक अवस्था

सभी लोग, विशेषकर नवयुवक, ऊँचे आध्यात्मिक क्षेत्र से फिसलकर तुच्छ वैषयिक क्षेत्र में गिर पड़ते हैं। हमें जानना चाहिए कि मनुष्य की कौन-सी अवस्था स्वाभाविक है, कौन-सी अस्वाभाविक है।

विवाह की शर्तें

वंशरक्षा के लिए विवाह एक शुभ और आवश्यक वस्तु है। पर इसके लिए आवश्यक है कि माता-पिताओं में अपने बालकों को शिक्षा देकर परान्नजीवी नहीं, बल्कि ईश्वर तथा मनुष्य-जाति के सच्चे सेवक बनाने की शक्ति हो। इसके लिए उन्हें दूसरों के श्रम पर नहीं, बल्कि अपने श्रम पर रहना सीखना चाहिए। वे समाज से जितना लें, उससे अधिक देने की क्षमता रखें। हम लोग अभिजातवर्गीय लोगों के इस नियम पर चलते हैं कि शादी तभी करनी चाहिए जब तुम दूसरे की गर्दन पर

---

1. सन् 1900 से लेकर सन् 1908 के बीच लिखी गई डायरियों तथा पत्रों से संकलित।

अच्छी तरह सवार हो जाओ, अर्थात् साधन-संपन्न हो जाओ। इसके विपरीत नियम पर चलना चाहिए। शादी उन्हीं लोगों को करनी चाहिए, जो बिना किसी साधन के गुजारा कर सकें तथा बच्चों को पाल सकें। ऐसे ही माता-पिता बच्चों का लालन-पालन उचित रीति से कर सकते हैं।

एक पत्नीव्रत

तुम पूछते हो—प्रत्येक पति को केवल एक ही स्त्री रखनी चाहिए तथा प्रत्येक स्त्री को एक ही पति, यह नियम किस सिद्धांत पर बना है और क्यों इस नियम को भंग करना बुरा है ?

यदि इस नियम को कि प्रत्येक पति को केवल एक ही स्त्री रखनी चाहिए तथा प्रत्येक स्त्री को केवल एक ही पति, एक धार्मिक नियम, अर्थात् आधारभूत, नियम, अनुल्लंघनीय नियम माना जाए, तो तुम्हारी शंका ठीक है। परंतु यह एक आधारभूत धार्मिक नियम नहीं है, बल्कि इस आधारभूत धार्मिक नियम से निकाला गया नियम है—अपने पड़ोसी को प्यार करो, उसके साथ ठीक वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम चाहते हो वह तुम्हारे साथ करे। यह वैसे ही निकाला गया है, जैसे 'जो काम नहीं करेगा, उसे खाना नहीं मिलेगा'। इस नियम से यह निकाला गया है कि चोरी मत कर, खाली मत बैठ, काम कर। ये सब नियम पुराने ऋषियों ने आधारभूत नियमों के आधार पर जीवन में व्यवहार के लिए बनाए हैं। भौतिक संबंधों को देखते हुए यह नियम बनाया गया है कि चोरी मत कर; जीविका प्राप्त करने के उपायों के संबंध में यह नियम बनाया गया है कि अपने लिए स्वयं परिश्रम कर, दूसरे के परिश्रम पर मत रह; मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों के लिए यह नियम बनाया गया है कि बदला मत ले, अपराधी पर वार मत कर, बल्कि सहन कर, उसे क्षमा कर; इसी प्रकार स्त्री-पुरुष संबंधों के लिए यह नियम बनाया गया है कि पति एक पत्नीव्रत रखे तथा स्त्री एक पतिव्रत रखे।

ऋषियों का कहना है कि मनुष्य यदि इन नियमों का पालन करेगा तो उसका कल्याण होगा। सांसारिक प्रथाओं पर चलने की बनिस्बत इन नियमों पर चलने से उसका अधिक कल्याण होगा। यदि एकाध उदाहरणों में इन नियमों का पालन न करने से कोई बुराई न हुई हो, तो भी इन नियमों का पालन करना उत्तम होगा, क्योंकि इन नियमों को भंग करने पर मनुष्य-जाति को अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा है। दूसरे, इस एक पत्नी-व्रत तथा अथवा एक पतिव्रत का पालन करने से मनुष्य ब्रह्मचर्य के आदर्श के अधिक निकट पहुँचता है।

मैं चाहता हूँ कि तुम एक युवक होने के नाते इस आदर्श के अधिक-से-अधिक निकट पहुँचो और अपनी अंत: शुद्धि का यथासंभव प्रयत्न करो, इसी में कल्याण है।

पति और पत्नी दो नहीं, एक शरीर हैं, बाइबिल के ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। ईश्वर सेवा अथवा आत्म-कल्याण के लिए भले ही तुम विवाह-ग्रंथि तोड़ दो, अलग-अलग हो जाओ अथवा परिवार में दुर्भाव उत्पन्न करनेवाला कोई कार्य कर लो, पर अन्यथा ये कार्य वर्जित हैं।

किसी स्त्री से संबंध हो जाने पर

मेरे विचार में किसी स्त्री से संबंध हो जाने पर, और विशेषकर उसके गर्भ रह जाने पर या उसके बच्चा हो जाने पर, पुरुष को उस स्त्री को कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

विवाह और विवाहित जीवन

...तुम्हारे पुत्र के विवाह के विषय में विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि विवाह तभी जायज और गौरवपूर्ण होता है जब पति-पत्नी आपस में प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि वे एक-दूसरे के प्रति वफादार रहेंगे, फिर वह चाहे मंत्रभूत न हो, तो भी कोई परवाह नहीं, इसलिए अपने निर्णय के अनुसार कार्य करो।

मेरे विचार में पति का अपनी स्त्री को, जिससे बच्चा हो चुका हो, छोड़ देना बहुत बुरा काम है। इसका परिणाम परित्यक्ता स्त्री के लिए उतना नहीं, जितना पति के लिए भयंकर होता है। मेरा खयाल है कि तुम भी इस सामान्य गलती में फँस गए हो कि विवाहित जीवन का उद्देश्य सुखोपभोग है। नहीं, ऐसा नहीं है। विवाहित जीवन में तो सुख घटते हैं, क्योंकि मनुष्य पर नए कठोर कर्तव्यों का बोझ आ पड़ता है। विवाहित जीवन का उद्देश्य, जिसकी ओर मनुष्य इतने प्रबल रूप से आकर्षित होते हैं, सुख-वृद्धि नहीं, बल्कि एक मुख्य कर्तव्य की पूर्ति—वंशरक्षा है।

प्रेम का स्वरूप

...मैं समझता हूँ कि तुम्हारे मन में भी यह हानिकारक अंधविश्वास घुस गया है कि प्रेम-बद्ध होने के मानी सचमुच प्रेम करना है, और यह एक अच्छी चीज है। नहीं, यह एक बड़ी हानिकर चीज है और इसका परिणाम बड़ा दु:खदायी होता है। यदि मनुष्य धर्म अथवा नीति से कोरा हो, तो वह ऐसे काम में फँस सकता है, पर प्रेम को

जीवन-धर्म मान लेने पर ऐसे काम में पड़ना बुरा है। प्रेम तभी तक सच्चा रहता है जब वह निःस्वार्थ होता है। ऐसा प्रेम अपनी स्त्री से ही प्राप्त होता है और वह आनंददायी होता है। पर यदि तुम किसी दूसरे के प्रेम में पड़ जाओगे तो तुम्हारा पतन होगा और तुम्हें दुःख मिलेगा।

तुम समझते हो कि तुम्हारा उद्देश्य उसको बचाना है, पर तुम अपने को धोखा दे रहे हो। यदि तुम्हारे अंदर यह भावना होती, यदि तुम विशेष रीति से उसकी नहीं, बल्कि एक मानव प्राणी की रक्षा करने की भावना रखते, तो तुम ऐसा पहले भी करते। तुम्हारे अंदर उसके प्रति काम उत्पन्न हो गया है। इसलिए, तुम यदि मेरी सलाह चाहते हो, तो मैं कहूँगा कि तुम उससे संबंध-विच्छेद कर लो, तथा सारी शक्ति एक व्यक्ति के प्रति नहीं, बल्कि समस्त मानव-जाति के प्रति प्रेम उत्पन्न करने में लगाओ। यही प्रत्येक मनुष्य का मुख्य जीवन-कार्य है।

विवेक मत त्यागो

मनुष्य के नाना दुःखों की जड़ विषय-संबंध है। इससे अनेक बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। इसीलिए अनादि काल से मनुष्य यथासंभव इन संबंधों को अहानिकर बनाने की चेष्टा करता आया है। उसने इसके लिए अनेक नियम बनाए हैं, जिनको भंग करने पर बड़े दुःख भोगने पड़ते हैं। इस जटिल, महत्त्वपूर्ण तथा कठिन विषय में विवेक का त्याग कर भावनाओं से परिचालित होना अपने को पशु बना देना है। लोग कहते हैं—'प्रेम उच्च नैतिक भावना है।' पर दुःख की बात तो यह है कि लोग अपनी वासना को ही उच्च नैतिक भावना मान लेते हैं। यदि वासना को प्रेम से अलग करने की कोई सच्ची कसौटी होती, तो अपनी भावनाओं से परिचालित होने में कोई बुराई न होती। पर ऐसी कोई सच्ची कसौटी नहीं है, अतः यदि तुम अपनी भावनाओं को ही अपनी पथ-प्रदर्शिका बनाओगे, तो लोग अपनी पशुत्वपूर्ण भावना को उच्च नैतिक भावना मानकर पशु बन जाएँगे और अपने को तथा अपनी संतानों को पाप के महासागर में डुबो देंगे।

मनुष्य-जीवन का कर्तव्य विकारों से मुक्ति पाने की सतत चेष्टा करना है। यह चेष्टा हर अवस्था में संभव है और शरीर पर विजय सदा प्राप्त की जा सकती है। केवल उसी को विजय नहीं प्राप्त होती जो इस बात में विश्वास नहीं करता। और इस बात में विश्वास करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य इस दिशा में प्रयत्न करे।

विकारोत्तेजक वस्तुएँ

पंचेंद्रियों को लुभानेवाली सभी वस्तुएँ, जैसे—घर की सजावट, भड़कीले कपड़े, संगीत, सुगंधि, स्वादिष्ट भोजन, चिकनी चीजें, ये सभी चीजें विकार बढ़ाती हैं। पर प्राकृतिक वस्तुएँ, जैसे—प्रकाश, सूर्य की छटा, पेड़-पौधे, हरी घास, आकाश, अलंकार-रहित मनुष्य शरीर, पक्षियों का गान, पुष्पों की सुगंधि, फल, ये सब विकार नहीं बढ़ातीं। बिजली की रोशनी, सजावट के सामान, संगीत, सुगंधि, स्वादिष्ट भोजन, चिकनी चीजें, ये सब विकार बढ़ानेवाली होती हैं।

सरल और स्पष्ट नियम

मनुष्य को बुद्धि और भाषा इसलिए नहीं दी गई है कि वह अपने पाशविक विकारों का औचित्य सिद्ध करने की युक्तियाँ ढूँढ़े। उसे बुद्धि और भाषा इसलिए दी गई है कि वह अपने विकारों से संघर्ष करे, अपनी विवेक-बुद्धि की वृद्धि करे और उसी के आदेशानुसार चले। बुद्धि का तकाज़ा है कि मनुष्य अपनी विषयेच्छा पर संयम रखे, अन्यथा वह बड़ी दु:खदायी सिद्ध होती है। इस विषय में सबसे सरल और स्पष्ट नियम यह है कि यदि स्त्री और पुरुष का एक बार शरीर-संबंध हो जाए, तो वे अपने को आजीवन बंधन में बँधा हुआ समझें और अन्य किसी से संबंध न रखें। इसी को विवाह कहते हैं। इस बंधन में बँधनेवालों की भलाई के लिए और बच्चों का लालन-पालन करने के लिए इस नियम का पालन आवश्यक है।

विवेकशील मनुष्य का कर्तव्य

जो पतन से बचा हुआ है, उसे चाहिए कि वह इसी तरह बचे रहने के लिए अपनी सारी शक्तियों का उपयोग करे, क्योंकि गिर जाने पर उठना हजार गुना कठिन होता है। विवाहित और अविवाहित, सभी को विकारों से संघर्ष करना चाहिए, अर्थात् संयम पालन का प्रयत्न करना चाहिए। तुम्हें शंका होती है कि क्या यह संघर्ष आवश्यक है? मैं इसका कारण समझता हूँ। तुम्हें इसलिए शंका होती है कि तुम ऐसे लोगों से घिरे हुए हो, जो यह कहते हैं कि संघर्ष आवश्यक और प्रकृति के विरुद्ध है।

यह समझने के लिए दिमाग पर काफी जोर देना पड़ता है कि एक विवेकशील प्राणी—मनुष्य—के लिए विकारों से संघर्ष करना उसकी प्रकृति के विरुद्ध नहीं, बल्कि उसके लिए प्राथमिक कर्तव्य है, क्योंकि मनुष्य इसलिए पशु से ऊँचा माना जाता है कि ईश्वर उसे बुद्धि दी है। पशु बहुत अधिक बच्चे पैदा करते हैं, पर

उनकी संख्या आपसी कलह (एक पशु दूसरे पशु को खा जाता है) तथा बाहरी अवस्थाओं (जिन पर उनका अधिकार नहीं होता) के कारण बढ़ने नहीं पाती। मनुष्य विवेकशील प्राणी है, इसलिए वह, एक तो, कलह के स्थान पर संयम पालन कर सकता है, दूसरे, वह आध्यात्मिक जीवन के लिए हानिकर बाहरी अवस्थाओं का प्रतिकार कर सकता है। यह सच है कि मनुष्य अभी अपने विवेक से काम नहीं लेता, और अपने ही समान दूसरे प्राणियों का नाश करता रहता है; कितने आबाल-वृद्ध शीत, रोग तथा अधिक परिश्रम से मर जाते हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि एक दिन वह समय आएगा, जब विवेकशील मनुष्य एक-दूसरे का नाश करना त्याग देंगे और अपनी जीवन-व्यवस्था इस प्रकार की करेंगे कि उनकी संख्या आजकल की भाँति इतनी तेजी से (आजकल मनुष्य-संख्या जिस ढंग से बढ़ रही है उस ढंग से बढ़ती रहने पर वह 50 साल में दूनी हो जाएगी) न बढ़ने पाएगी कि कुछ सौ साल के भीतर मनुष्य-जाति पृथ्वी पर समा ही न सके। क्या वे गरीब आदमियों की हत्या कर डालेंगे; अथवा एक-दूसरे का वध करने पर तुल जाएँगे? नहीं, यह सब असंभव भी है और अनावश्यक भी। अनावश्यक इसलिए है कि प्रकृति ने मनुष्य में वैषयिकता की, पाशविक वृत्ति के साथ पवित्रता की, संयम पालन की, आध्यात्मिक प्रवृत्ति भी उत्पन्न की है। यह प्रवृत्ति प्रत्येक निर्दोष युवक-युवती में वर्तमान रहती है। यह कल्याणकारी नैतिक प्रवृत्ति है। प्रत्येक मनुष्य को इस प्रवृत्ति की संरक्षा तथा संवृद्धि करनी चाहिए, चाहे उसका पतन हो गया हो, और चाहे न हुआ हो। नीतिशील व्यक्तियों के लिए पतन का अर्थ विवाह कर लेना अर्थात् एक पत्नीव्रत में अपने को बाँध लेना है, पर उन्हें विवाह कर लेने के बाद भी ब्रह्मचर्य-पालन का यत्न करते रहना चाहिए।

तुम्हारा पत्र पढ़ने पर मेरे मन में जो विचार उठे, मैंने लिपिबद्ध कर लिए हैं। शील तथा सत्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करनेवाले तुम जैसे युवक को मुझ बूढ़े की यही हार्दिक सलाह है कि अपनी सारी शक्ति से अपनी पवित्रता की रक्षा करो, प्रलोभनों से संघर्ष करो और कभी निराश मत हो, अपने प्रयत्नों में शिथिलता मत आने दो। तुम पूछोगे, 'संघर्ष कैसे किया जाए? मुझे क्या करना चाहिए? क्या न करना चाहिए?' निस्संदेह तुम व्यावहारिक उपदेश जानते होगे। अगर वे जानते हो तो नीति-विषयक कोई पुस्तक पढ़ लो। शराब मत पीओ, मांस मत खाओ, धूम्रपान मत करो, अंगभीर प्रकृति के साथियों, विशेषकर स्त्रियों की संगत मत करो। यह सब तुम जानते होगे और न जानते हो तो गाँठ बाँध लो। मेरी यही सलाह है, और इसे मैं अति महत्त्वपूर्ण मानता हूँ कि जीवन

का अर्थ समझो। जीवन का उद्देश्य विषय-सेवन नहीं, बल्कि ईश्वर-सेवा है; अपना जीवन विलासपूर्ण नहीं, बल्कि अधिकाधिक आध्यात्मिक बनाओ।

ब्रह्मचर्य का आदर्श

प्रत्येक अवस्था के मनुष्य को ब्रह्मचर्य के आदर्श की ओर बढ़ने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। तुम इस आदर्श के जितने अधिक निकट पहुँचोगे, उतना ही अधिक अपना कल्याण करोगे और परमात्मा के प्यारे बनोगे। मनुष्य विलासी बनकर नहीं; बल्कि ब्रह्मचर्य-पालन करके ईश्वर की अधिक-से-अधिक सेवा करता है।

● ● ●

टॉल्सटॉय एक पक्के सुधारक थे। उनका संपूर्ण जीवन (1828-1910 ई.) ऐशोआराम और भोग-विलास का नहीं, एक सच्चे साधक का जागृत जीवन था। वह प्रतिक्षण सोचते और प्रयोग करते रहते थे। किसी बात के अच्छे और नीति-युक्त होने में उनके दिल में संदेह उत्पन्न होते ही वह उसकी तह तक जाते थे। रात में नींद उनके लिए हराम हो जाती। ग्रंथ और मित्रों को टटोलते और चिंता करते-करते पागल हो जाते थे। अपने जीवन की असंबद्धता और निरुद्देश्यता पर अनुताप करते-करते आत्महत्या तक के लिए वह उतारू हो जाते; पर किसी बात को अधूरी नहीं छोड़ते। अंतरात्मा और दैनिक जीवन में असंबद्धता को वह कभी बरदाश्त नहीं कर सकते थे।

और इसका परिणाम क्या हुआ? सत्तावाद, पूँजीवाद, सेनावाद, धार्मिक संगठन और स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक संबंध पर उन्होंने अपने अद्‌भुत विचार प्रकाशित करके सारे यूरोप में एक स्पृहणीय क्रांति कर दी। इन विषयों पर लिखी हजारों पुस्तकों को व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण साबित कर दिया और मानव-जीवन के सरल-सनातन नियमों को पुनः समाज के सामने रखकर उसे आनेवाले खतरों से सचेत कर दिया।

'आध्यात्मिक साम्यवाद' उनके जीवन, शिक्षाओं और उपदेशों का निष्कर्ष है। उनका उपदेश यह नहीं था कि पूँजीपतियों और राजाओं को लूटकर उनकी संपत्ति गरीबों में बाँट दी जाए; यह तो निःसंदेह वह चाहते थे कि कोई व्यक्तिगत संपत्ति न रखे, सारी संपत्ति राष्ट्र की हो; परंतु उनका ढंग जुदा था। टॉल्सटॉय के साम्यवाद की कल्पना रामराज्य की कल्पना के समान है, जिसमें लोग दूसरे की संपत्ति को छीनकर अपने को उसके समान बनाने की चेष्टा नहीं करेंगे, बल्कि दूसरे की सुविधा और सुख का खयाल कर शुरू से ही संपत्ति का त्याग करेंगे और समान भाव से रहने की कोशिश करेंगे। अर्थात हिंसा नहीं, भ्रातृ-भावयुक्त त्याग हमारे सामाजिक जीवन का आचार-सूत्र हो।

टॉल्सटॉय की रचनाओं को पढ़ते हुए वही उल्लास होता है जो किसी भारतीय ऋषि की वाणी को पढ़ते हुए होता है। टॉल्सटॉय की शिक्षाओं में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का आधुनिक भाषा में जितना शक्तिशाली और विशद प्रतिपादन हमें मिलता है, उतना शायद ही किसी सुधारक की भाषा में हो।

हमारी सामाजिक मूर्च्छा भी यद्यपि है तो बहुविध, परंतु उसके टूटने का उपाय भी अत्यंत सरल है। हम इस ग्रंथ में उसी सरल उपाय को टॉल्सटॉय की वाणी में भारतीय समाज के सामने उपस्थित करते हैं। सूर्य की तरह महापुरुषों की वाणी भी सार्वभौम होती है। आशा है, हमारा समाज उनकी इन अमूल्य शिक्षाओं से अवश्य लाभ उठाएगा।

—माधव प्रसाद मिश्र

सस्ता साहित्य मण्डल

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

एन-77, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 23310505, 41523565

Visit us at : www.sastasahityamandal.org

E-mail : manager@sastasahityamandal.org

ISBN 978-81-7309-432-3

9788173094323